बाबू देवकुमार-स्मृति-अंक

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १८ किरण

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XVII. No.

JUNE 1951.

श्री बाबू देवकुमार-स्मृति-अंक

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १८ जून १९५१ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

श्री कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

श्रीमान् बाबू देवकुमार जैन

जन्म : चैत्र शुक्ल ८, सं० १९३३

मृत्यु : श्रावण शुक्ल ८, सं० १९६४
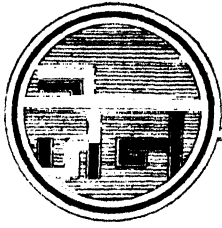
श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १८ | जून १९५१ । आषाढ़, वीर नि० सं० २४७७ | किरण १

जयतु दिवि श्री देवकुमारः

जयतु दिवि श्री देवकुमारः !

बाल्ये विहित-सुविद्याभ्यासः,
विहित-विविध बुध-कला-विलासः,
सतत-सत्य-व्रत-नियम-पालने—
रतः प्रणत उन्नतोऽस्युदारः !
जयतु दिवि श्रीदेवकुमारः ।

धर्ममतिर्यतिरिव गतरागः,
धर्म-विधौ कृत-भूरि-त्यागः,
जैन-समाज-सुधीः वसुधायां—
कोऽप्यासीत् देवतावतारः !
जयतु दिवि श्रीदेवकुमारः !

यस्य च दाने धनोपयोगः,
यस्य यौवने मर्त्य-वियोगः,
यस्य यशः प्रसरति दिशि-दिशि रे—
कुत्र सोऽद्य क्रियतामाधारः !
जयतु दिवि श्रीदेवकुमारः !

—रामनाथ पाठकः 'प्रणयी'
साहित्य-व्याकरणाचार्यः

बाबू देवकुमार जी की जीवनी

[ले०—स्व० श्री जैनेन्द्र किशोर जैन]

[स्व० बाबू जैनेन्द्र किशोर जी अपने समय के युगद्रष्टा निबन्धकार; सुकुमाल, मनोरमा, कमलिनी आदि उपन्यासों के प्रणेता; श्रीपाल, कलिकौतुक, अंजना और चन्द्रहास आदि नाटकों के सर्जक; अभिनय कला के मर्मज्ञ; अनेक पत्रों के संपादक; आरा-नागरी-प्रचारिणी-सभा के संस्थापक; स्याद्वाद-विद्यालय-काशी के मन्त्री एवं युगप्रवर्तक श्री बाबू देवकुमार जी के स्नेही मित्र थे। आपकी हस्त लिपि में यह 'जीवन काव्य' १६०८ से 'भवन' के संग्रहालय में सुरक्षित है।]

जैन सुजनके मानको, कारण देवकुमार।
अग्रवाल दीपक यही, धर्मी परम उदार॥
यथा नाम गुण भी तथा, पाये देवकुमार।
धर्मधीर गुण शीलयुत, जैनिनके हितकार॥

देव देव जाने कियो, पूरी मनकी आस।
जिमि दिनेशके उदय ते, जगमें होत विकास॥
धर्मधुरन्धर ज्ञानयुत, जैनिनके सिरताज।
तिनकी छोटी जीवनी, भेंट करों मैं आज॥

श्रीयुत प्रभुदयालजी, जैन जगत विख्यात।
पण्डित आरा नगर में, दूजो नहीं लखात॥
पण्डित दौलतरामके, समय भये मतिमान।
फैलो जैनसमाजमें, जिनको चहुदिशि ज्ञान॥

सोहै काशी नगर में, अस्सी भदैनो घाट।
श्रीसुपार्श्व जिनदेवको, मन्दिर रम्य विराट॥
संवत शतउनीस अरु, तेरह माहिं प्रमान।
देवालय को आपने, कीनोहै निर्मान॥

करी प्रतिष्ठा धूमते, सम्पति बहुत लगाय।
जुरे भविक चहुँ देश ते, प्रमुदित हिय हुलसाय॥
चन्द्रपुरीमें चन्द्रजिन, जनमे तीर्थ महान।
एक जिनालय यहाँ भी, सोहत परम प्रधान॥

एक जिनालय नगर में, सोहै अतिविख्यात।
यश कीरत की आपको, कहिये क्या २ बात॥
एकाहारी ये रहे, चालिस वर्ष प्रमाण।
आयू चौंसठ वर्ष में, पूरन भई सुजान॥

श्रीयुत प्रभुदयालके, सुत श्री चन्द्रकुमार।
इकतिसकी आयु भये, छोड़ि गये संसार॥
ज्येष्ठ तनय इनके भये, श्रीयुत देवकुमार।
यथानाम गुण भी तथा, जानत है संसार॥

होनहार तेहि अनुज ये, बाबू धर्मकुमार।
जाकी विद्या बुद्धि थी, अतिशय परम अपार॥
बी. ए. तक पाठी भये, धर्म ध्यान लवलीन।
पढ़े संस्कृत शास्त्र बहु, होनहार परवीन॥

अविवेकी यह काल है, कह्यो नहीं कछुजात।
कच्ची कली को तोड़ते, तनिक नहीं सकुचात॥
बाल वृद्ध बनिता वधू, सबको ये भखि जाय।
पर इस पापी क्रूर को, नहि कोऊ भी खाय॥

हाय! हाय! इस दुष्टने, दीने हृदय मरोर।
अन्त इन्हें भी भखि गयो, कीनो यतन करोर।
श्रीयुत देवकुमारकी, कही कहानी रोय।
जैसी हो होतव्यता, तैसी बातें होय॥

सम्बत शत उनीस अरु, तैंतिस चैत्रहि मास।
शुक्ल अष्टमी के दिना, जगमें भयो प्रकाश॥
बाल समय ही आपने, देखा पिता बियोग।
तथा अनुज ये ही भये, क्या २ कहिये सोग॥

धर्मवीर ने धैर्ययुत, सहन किये सब शोक।
रोते थे सब लोगही, इनकी दशा बिलोक॥
अंग्रेजीमें आपने, एफ. ए. कीन्हों पास।
धर्म पन्थ ये रत रहे, जगते सदा उदास॥

अहर्निश यही सोच थी, सुधरै जैनसमाज।
अन्त समय तक धुन यही, कीने बहु २ काज॥
जैन गजट उन्नति भई, निकले बहु उपदेश।
धर्म ध्वजा फहरत भई, याकी देश विदेश॥

याही आरा नगरमें, थापी एक चटशाल।
जामें शिक्षा पाया करें, निज जातीके बाल॥
जैन शास्त्र संग्रह किये, थापे एक भंडार।
बिरले ऐसे होत हैं, जातीके हितकार॥

कन्याशाला भी खुली, इनकी कृपा अधार।
अबला जन के बीचमें, शिक्षा होत प्रचार॥
काशी शालाको कियो, यथा रीति परबन्ध।
जाकी देश विदेश में, फैली चहुँ सुगन्ध॥

महासभा के आपही, हितकारी सिरताज।
करि अनाथ सबको गये, रोवत जैनसमाज॥
कर में जैन जहाजकी, थामी तो पतवार।
गये कहाँ किस भाँति, यहाँको बेड़ापार॥

जीकी, जी ही में रही, किये न, कछु उपचार।
काल बलीने क्या कियो, भाल्यो हृदय कुठार॥
सरस्वती भण्डार को, कीनो तो उत्थान।
करकमलोंसे नहि भयो, ऐसो कार्य्य महान॥

असोसियेशन जैनके, उपनेता थे आप।
सौंप गये किसपर इसे? क्या क्या करूं विलाप॥
हाय पिताकी उम्रमें, तुमने भी तजि दीन।
जगमें तुमसा कौन है, ज्ञानी परम प्रवीन॥

धर्म ध्यानमें आपने, तजि दीनों संसार।
नौका जन-समाजकी, छोड़ि गये मझधार॥
श्रावण शुक्ला अष्टमी, तुमने तजो शरीर।
जैनजाति सुनके भई, याते परम अधीर॥

चहुँदिक हाहाकार है, शोक महा संताप।
बालवृद्ध बनिता बधू, सबही करत प्रलाप॥
धैर्य २ ! ये भ्रात गण, यही जगत की रीत।
काल बलीके सामने, कछुनहिं नीत अनीत॥

माया जगकी अमित है, यह संसार असार।
एक दिना सब जायँगे, यही जगत व्यवहार॥
विभव सदा नहि रहि सकै, तथा शरीर अनित्त।
काल सदा सिर पर खड़ो, धर्महि दीजे चित्त॥

मृत्यु जबलों दूर है, जब लौं देह निरोग।
धर्मपन्थ साधन करो, वृथा जगतको भोग॥

बाबू देवकुमार जी का महान् त्याग

[श्री १०५ चुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी]

बन्धुवर, संसार में जो जन्मता है वह अवश्य मरण को प्राप्त होता है; किन्तु जो जन्म लेकर परोपकार कार्य कर जाता है, जन्म उसीका ही सार्थक है— हमारे स्वर्गीय बाबू देवकुमार जी का जन्म केवल स्वकल्याण में ही न गया, परन्तु आपके द्वारा ऐसे कार्य निष्पन्न हुए जिनसे प्राणी मात्र को लाभ पहुंच रहा है। आप ही की उदारता का फल है जो आज स्याद्वाद विद्यालय द्वारा अनेक छात्र प्रति वर्ष स्नातक होकर निकलते हैं— आपने केवल आर्थिक सहायता ही नहीं दी साथ ही साथ विद्यालय को गंगा के तटपर एक विशाल भवन भी दिया, जिसमें १०० छात्र अध्ययन कर सकते हैं, जिसका निर्माण वर्तमान में ५ लाख रुपये में भी होना सम्भव नहीं। यह आपका महान् त्याग है; इसकी समता करना अनुचित होगा। हमारा विश्वास है कि जैन समाज में प्रौढ़ शिक्षा का बीजारोपण इसी संस्था द्वारा हो रहा है; अतः इसका श्रेय बाबू साहब को अत्यधिक है। उनकी आत्मा स्वर्ग में भी विद्यालय की कीर्ति से प्रसन्न होती होगी। यही नहीं आरा में एक सरस्वती भवन भी खोल गए, जिसमें सहस्रों शास्त्र ताड़पत्र पर लिखे हुए विद्यमान हैं—इसके सिवाय शिखिर जी बीसपंथी कोठी के उत्तम प्रबन्ध में सहायक हुए तथा जिस समय कुंडलपुर क्षेत्र में महासभा हुई उस समय उसके सभापति आपही थे। उस समय ४०००० जनता वहां उपस्थित थी, आपने जो निर्भीक होकर भाषण दिया, यदि जैन जनता उस पर आरूढ़ होकर चलती तब उसका यह जो ह्रास देखा जाता है; न होता। अस्तु मैं उनके त्यागका सानुमोदक हूँ; आपके सुपुत्र बाबू निर्मल कुमार व चक्रेश्वर कुमार भी उसी मार्ग पर चल रहे हैं। आपने जिस विशाल भवन में गंगा तटपर जो विद्यालय चल रहा है, वह भवन स्याद्वाद विद्यालय को अर्पण कर दिया है।

आज तक जो व्यय भवन की मरम्मत में लगता था, आपके द्वारा ही दिया जाता रहा है, एतदर्थ मैं क्या सम्पूर्ण जैन जनता आपका शुभ स्मरण रखेगी। आपका कुटुम्ब मात्र धर्मज्ञ है; वर्तमान में जो जैन-बालाविश्राम जिसमें सैकड़ों जैन कन्या, महिला व विधवाएँ शिक्षा पा रही हैं, आपही के स्वर्गीय लघु भ्राता की धर्मपत्नी श्री ब्र० चन्दाबाई जी ने स्थापित किया है।

स्व० बा० देवकुमार जी की दानशीलता

[ले०—श्रीयुत् पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री]

जैन समाज के बहुसंख्यक विद्वानों का जनक श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी के गंगातट पर स्थित जिस विशाल भवन में अपने जन्मकाल से स्थापित है, क्या आपने कभी उसे देखा है? यदि देखा है तो क्या आपने उस भवन की महत्ता और सुरम्यता का अनुभव किया है? यदि किया है तो आप उस घराने की उदारता, धर्मप्रेम और सुरुचि का अनुमान सरलता से कर सकते हैं, जिसने उसका निर्माण कराया और उसे जैन समाज के उपयोग के लिये दे दिया।

मैंने स्व० बा० देवकुमारजी को नहीं देखा। किन्तु जब मैं श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में प्रविष्ट हुआ तो उसके भवन में उनका चित्र देखा और विद्यालय की स्थापना के साथ उनके जीवन के लगाव की कथा सुनी। फिर उसके वार्षिकोत्सव के अवसर पर उनके दोनों सुकुमार पुत्रों को देखा और अभिनन्दन के उत्तर में बोलते सुना उनके बड़े पुत्र बा० निर्मलकुमार जी को—'हम अपने पिता के पद चिन्हों पर चलने का प्रयत्न करेंगे।' स्व० बा० देवकुमार को देखने की मेरी बालसुलभ उत्कण्ठा तो शान्त हो गयी किन्तु ऐसे महापुरुष का केवल इकतीस वर्ष की अवस्था में उठ जाना बहुत कसका। और यह एक ऐसी कसक है जो कभी मिट नहीं सकती। सन् १९०८ के ५ अगस्त की रात्रि कालरात्रि थी। उसी कालरात्रि को ११ बजे कलकत्ता में वह पुण्य पुरुष विलीन हो गया और जैन समाज पर अन्धकार छा गया।

बा० देवकुमार जैसे धनिक और विद्वान थे, वैसे ही धर्मात्मा भी। साढ़े तीन महीने की कठिन बीमारी में भी मृत्यु के दिन तक कभी जिनेन्द्रदेव का दर्शन किये बिना आपने औषधि नहीं ली। अपना अन्त समय निकट जानकर आपने श्री नेमिसागर जी वर्णी को पहले से ही अपने पास बुला लिया था। अतः आपने समाधिपूर्वक इस शरीर का परित्याग किया। बीमारी में उन्हें असह्य कष्ट उठाना पड़ा, किन्तु अपने कर्मों का परिपाक समझ कर शान्ति के साथ उसे सहन किया।

उसी वर्ष आप कुण्डलपुर (दमोह) में दि० जैन महासभा के अधिवेशन के सभापति हुए थे। उस समय समाज की उन्नति के लिये आपने जो व्याख्यान दिया था उसकी सर्वत्र सराहना हुई थी। वह समय कई दृष्टियों से बड़े संकट का था। एक जो बाबू, पंडितों और सेठों के झगड़े का सूत्रपात हो चुका था और दूसरे उसी समय भारत के लार्ड मिण्टो ने यह हुक्म दिया था कि 'शिखर जी के पश्चिमी पर्वतों पर अंगरेज और पूर्वीय पर्वतों पर हिन्दुस्तानी अपने अपने बँगले बनवा सकते हैं।

बीच की पहाड़ियाँ जहाँ जैनियों के मन्दिर बने हैं, जमीन्दार की हैं। उसके लिये ऊंची से ऊंची रकम देकर कोर्ट ऑफ वॉर्डस् से खरीदने की अर्जी जैन लोग दें, अन्यथा वहाँ भी बँगले बनेंगे।'

इस हुक्म से समाज में तूफान उठ खड़ा हुआ। तभी यहाँ महासभा का अधिवेशन हुआ। मुझे एक सज्जन ने, जो उस अधिवेशन में मौजूद थे बतलाया कि लोगों में इतना जोश था कि प्रथम दिन ही अधिवेशन की कार्रवाई करना कठिन हो गया। सभापति बा० देवकुमार जी तो देवकुमार ही थे। आप बड़े ही सरल, सीधे, सहिष्णु, विनयी और बोलचाल तथा बर्ताव में अत्यन्त नम्र थे। किन्तु आपके साथ जो आपका कोई कारकुन था, वह बहुत ही चतुर था, उसने तुरन्त ही खड़े होकर कहा कि सरकार अत्याचार करने पर तुली है। और हम जीते जी शिखर जी पर कोई बँगला नहीं बनने देंगे। सबसे प्रथम शहीद होने के लिये मैं अपना नाम लिखाता हूँ। अब और भाई नाम बोलते जायें।

इतना सुनते ही लोगों की बोलती बन्द हो गयी और सोडावाटरी उफान शान्त हो गया। फिर सभा का काम शांति के साथ हुआ।

महासभा के उक्त अधिवेशन में दो काम उल्लेखनीय हुए। एक तो पं० गोपालदास जी के अत्याग्रह से महासभा का उद्देश्य धार्मिक विद्या और धर्म से अविरुद्ध लौकिक विद्या की उन्नति करना हो गया। दूसरा कार्य महाविद्यालय का स्थान सहारनपुर से बदलकर काशी में कर दिया गया। काशी में श्री स्याद्वाद पाठशाला की स्थापना पहले ही हो चुकी थी और बा० देवकुमार जी के पितामह पं० प्रभुदास जी के वर्तमान भवन में ही स्थापित थी। इसके प्रथम मन्त्री स्व० बा० देवकुमार जी ही थे। महासभा के महाविद्यालय को उसमें मिला देने से ही उसका नाम स्याद्वाद पाठशाला से स्याद्वाद महाविद्यालय रखा गया था। किन्तु बाद में महासभा का महाविद्यालय पुनः अलग हो गया। अस्तु,

स्व० बा० देवकुमार जी को प्राचीन शास्त्रों की सुरक्षा और धार्मिक शिक्षा से बहुत ही प्रेम था। आप अपने दोनों पुत्रों को भी पहले धार्मिक शिक्षा दिलाकर पीछे लौकिक शिक्षा दिलाना चाहते थे। इसके लिये आपने पं० लालाराम जी को बम्बई से बुलाकर अपने यहाँ रक्खा था। अपनी भ्रातृ-पत्नी श्री० पं० ब्र० चन्दाबाई जी को शिक्षा दिलाकर इस योग्य बनाने का श्रेय भी आपको ही है। विद्याप्रेम का इससे अधिक ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है?

जिनवाणी की रक्षा के लिये भी आप सदा प्रयत्नशील रहते थे। एक बार आप दक्षिण प्रान्त की यात्रा के लिये बम्बई गये। आपकी इच्छा थी कि दानवीर सेठ

माणिकचन्द जी की सहायता तथा संरक्षा में एक सरस्वती भण्डार स्थापित किया जाय, जिसके द्वारा सम्पूर्ण प्राचीन भण्डारों की फिहरिस्त तैयार कराके उनकी रक्षा की जावे, तथा जिन ग्रन्थों के जीर्णोद्धार की आवश्यकता हो, उनकी प्रतियाँ लिखवा लिखवा कर एकत्र की जावें और उनसे समाज को लाभ पहुंचाया जावे। इस विषय में आपने दो तीन सभाएँ भी की और स्वयं दो हजार रुपया देना चाहा, परन्तु चन्दा न हो सकने से काम नहीं हुआ। आपने आरा में एक सरस्वती भवन स्थापित किया, जो आपके सुपुत्रों के प्रयत्न से आज एक दर्शनीय संस्था है।

अन्त समय भी आप दस हजार रुपया एकमुश्त और पाँच हजार वार्षिक का दान कर गये थे। आपकी रुचि का पता उस दान की तालिका से लगता है। अतः वह नीचे दी जाती है, जिससे दानी सज्जन शिक्षा ले सकें कि दान किस मद में देना चाहिये—

१	जैन मन्दिर आरा	५००)	वार्षिक	ये मन्दिर आपके पितामह और पिता के बनवाये हुए हैं।
२	" भदैनीघाट बनारस	३००)	"	
३	" चन्द्रपुरी	२००)	"	
४	" गढ़वा (प्रयाग)	२००)	"	
५	सरस्वती भवन	१५००)	"	
६	छात्रवृत्तियाँ धर्मशिक्षा	५००)	"	
७	औषधालय सम्मेदशिखर	८००)	"	
८	तीर्थक्षेत्रों की रक्षा	२००)	"	
६	जैनधर्म का प्रचार करनेवालों की असहाय विधवाओं को	१००)	"	
१०	जैन पाठशाला आरा	५००)	"	
११	श्रवणबेल्गोल पाठशाला	२००)	"	
		५०००)	वार्षिक	

एकमुश्त

१	सरस्वती भवन	२०००)
२	जैन मन्दिर मन्दारगिरि	५००)
३	गोम्मटेश कलशाभिषेक	१७५)
४	गढ़वा के मन्दिर के प्रतिष्ठार्थ	५०००)
५	सम्मेदशिखर के रक्षार्थ	१५००)
६	जैन अनाथालय हिसार को २६ बीघा जमीन और	७५०)
७	अन्धे लगड़ों को	७५)
		१००००)

बाबू साहब ने जैन समाज का बड़ा उपकार किया, किन्तु उसने उनकी स्मृति में क्या किया। अपने उपकारी को भी भुला देना सब से बड़ी अकृतज्ञता है। किन्तु वह इस तरह न जाने कितनों को भुला चुका है। अतः उससे इस सम्बन्ध में अब कुछ कहना तो बेकार ही है। किन्तु उनके सुपुत्रों के सामने हमें एक दो सुझाव अवश्य रखना है। एक तो जैन-सिद्धान्त-भास्कर के ऊपर बा० देवकुमार जी का एक छोटा सा ब्लाक अवश्य रहना चाहिये। दूसरे उनके नामकी ग्रन्थमाला चालू रहनी चाहिये। वैसे भवन तो उनका जीवित स्मारक है ही।

स्व० श्री बाबू देवकुमार जी द्वारा संवर्द्धित दिगम्बर जैन मन्दिर चन्द्रपुरी (चन्द्रावती)
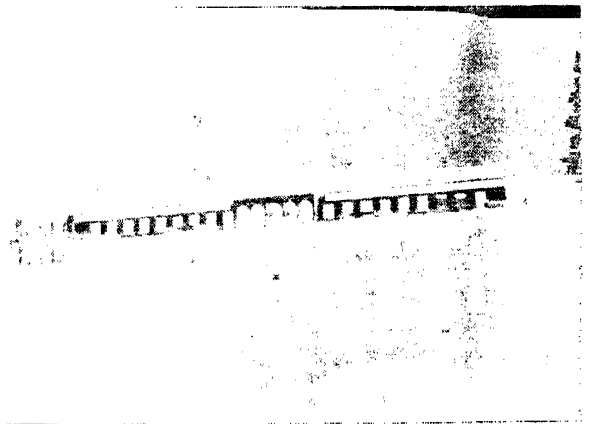
स्व० श्री बाबू देवकुमार जी द्वारा समर्पित भवन—
श्री स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय, भदैनी, काशी

स्वर्गीय बाबू देवकुमार : उदार स्वभाव

[ले०—श्रीयुत् पं० सकलनारायण शर्मा, महामहोपाध्याय]

बाबू देवकुमार मेरे बचपन के साथी थे। इनकी सम्पत्ति कोर्ट ऑफ वार्डस् में थी। उस समय इनके रहने का मकान बहुत बढ़िया नहीं था। इन्हें मितव्ययिता का अभ्यास था। बाबू देवकुमार और बाबू धर्मकुमार ये दोनों भाई आपस में अत्यन्त स्नेह से रहते थे। देवकुमारजो अपने छोटे भाई धर्मकुमार को योग्य बनाना चाहते थे। संस्कृत और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं का उनको पूरा ज्ञान था। देवकुमारजी ने बाबू धर्मकुमारजी को पढ़ाने के लिये अधिक वेतन पर प्रोफेसर और अध्यापकों को नियुक्त किया था। धर्मकुमार प्रतिभा, रूप और गुण में अद्वितीय थे।

हमें एक बचपन की घटना याद आ रही है। बाबू रामकृष्ण दास के अनाइट वाले उद्यान में बाबू जयबहादुर की बालमण्डली जब-तब क्रीड़ा और भोज के लिये चली जाया करती थी। इस बालमण्डली में बाबू देवकुमार भी शामिल रहते थे। भोज का प्रबन्ध सभी प्रमुख बाल लीडरों की ओर से होता था। बाबू देवकुमार इस भोज प्रणाली के विरुद्ध थे, अतः उनकी ओर से भोज का प्रबन्ध नहीं हुआ। एक दिन बालमण्डली ने तय किया कि आज गुप्तरूप से भोज का प्रबन्ध बाबू देवकुमार की ओर से किया जाय और निमन्त्रण भी उन्हीं की ओर से बाँटा जाय। फलतः सभी साथियों में बाबू देवकुमार के नाम से निमन्त्रण बाँटा गया और बगीचे में दो हलवाइयों को ले जाकर भोज के लिये सभी श्रेष्ठ खाद्य पदार्थ तैयार कराये गये।

बाबू देवकुमारजी को भी भोज का निमन्त्रण दिया गया। दैवात् उन्होंने निमन्त्रण को पढ़ा नहीं और वे बाबू जयबहादुर के साथ उद्यान में भोज में पधारे। भोज समाप्त होने पर उनके सामने हलवाई का बिल पेश किया गया और सारी घटना बतला दी गयी। बाबू देवकुमार इस घटना से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने तुरत अपनी कोठी से हलवाई का बिल चुका देने का आर्डर दे दिया। इस प्रकार बाल-मण्डली में एक खासी चुलहबाजी रही। यह बालमण्डली और नाना प्रकार के मनोविनोद और आमोद-प्रमोदों द्वारा अपना मनोरंजन, ज्ञानसंवर्द्धन एवं बौद्धिक विकास किया करती थी। सामयिक विषयों पर चर्चा करना, देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के अभ्युत्थान के लिये प्रोग्राम तैयार करना तथा भारतीय संस्कृति के उन्नयन के लिये प्रयास करना भी इस बालमण्डली का लक्ष्य था। केवल भोज करना

था कुछ खेल खेलकर जी बहलाना इसका लक्ष्य नहीं था; किन्तु अपना सर्वाङ्गीण विकास करना तथा सेवा के कार्यों में आगे रहना इस मण्डली का कर्त्तव्य था।

दान देने की प्रवृत्ति बाबू देवकुमार में आरम्भ से ही थी। अनाथों, छात्रों और विधवाओं को शक्ति अनुसार सदा दान दिया करते थे। नागरी प्रचारिणी सभा आरा को इन्होंने पुष्कल मासिक चन्दा दिया, इनकी देखादेखी और लोगों ने भी चन्दे की रकम बढ़ा दी।

बाबू देवकुमार को पुस्तक पढ़ने से अधिक रुचि थी। यह एकान्त में बैठकर अंग्रेजी और संस्कृत की पुस्तकें पढ़ते रहते थे। पढ़ने के साथ बचपन से ही मनन भी करते थे। जैनधर्म और जैनसंस्कृति के संरक्षण और संवर्द्धन की लगन इनमें आरम्भ से ही थी। इनका भाषण बहुत ही मधुर और ओजस्वी होता था। श्रोता मन्त्रमुग्ध की तरह इनका भाषण सुनते रहते थे। नौकरों पर हुक्म चलाने की अपेक्षा यह अपने हाथ से काम करना ज्यादा पसन्द करते थे। इनकी सूझ विलक्षण थी। किसी भी बात को खूब ठोक-पीट कर ही स्वीकार करते थे।

अन्तिम समय बाबू देवकुमार ने एक दान-ट्रष्ट किया है। इससे इनके द्वारा स्थापित श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा, श्री जैन कन्या पाठशाला आरा, धर्मार्थ धर्मकुमार औषधालय एवं कई जैन मन्दिर चल रहे हैं। बाबू देवकमार के साथ उनकी मृत्यु के समय धार्मिक गुरुओं के अतिरिक्त बाबू करोड़ीचन्द भी थे। इन्होंने सांसारिक माया-मोह को छोड़ कर बड़ी शान्ति और धैर्य के साथ प्राणों का त्याग किया था।

इनके द्वारा स्थापित जैन-सिद्धान्त-भवन आरा केवल जैनों के लिये ही गौरव की वस्तु नहीं है, किन्तु यह समस्त आर्य संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में सहायक है। बिहार तो इस संस्था से गौरवान्वित है ही, पर समग्र भारत में ऐसी संस्थाएँ थोड़ी हैं। इस संस्था का मुखपत्र जैन-सिद्धान्त-भास्कर ऐतिहासिक और पुरातत्त्व विषयक महत्त्वपूर्ण पत्र है। इसमें उच्चकोटि की साहित्यिक सामग्री रहती है। जैन इतिहास अभी भी अन्धकार में है; इस पत्र ने जैन इतिहास के अनेक महत्व पूर्ण निष्कर्षों को जनता के सामने रखा है। भारतीय संस्कृति की महत्ता और गौरव को प्रकट करने में जैन-सिद्धान्त-भास्कर का महत्वपूर्ण स्थान है।

बाबू धर्मकुमार की असामयिक मृत्यु के उपरान्त इन्होंने उनकी धर्मपत्नी चन्दाबाईजी को सब प्रकार से शिक्षा-दीक्षा देकर योग्य विदुषी बनाया था। इन्हींके विचारों के फलस्वरूप श्री जैन-बाला-विश्राम जैसी गौरवपूर्ण महिला-संस्था आज समाज को मधुर फल चखा रही है।

बाबू देवकुमार जी मेरे लंगोटिया साथी थे, नागरी प्रचारिणी सभा आरा की उन्नति में उनका योग था। बाल्यकालीन और यौवन कालीन उनकी अनेक स्मृतियाँ आज भी मेरे हृदय में ज्यों की त्यों वर्तमान हैं। उनका स्नेही और उदार स्वभाव भुलाये नहीं भूलता है। यों तो उनमें मानवोचित सभी गुण थे, पर सौहार्द, सौजन्यता के साथ उदारता उच्चकोटि की थी। यद्यपि भोग-विलास में मितव्ययी थे, पर परोपकार के कार्यों में सदा आगे रहते थे। मुझे विश्वास है कि वे यदि थोड़े दिन और जीवित रहते तो निश्चय ही जैन समाज को नवीन सांस्कृतिक चेतना प्रदान करते। मात्र ३१ वर्ष की आयु में उनका देहवसान हो जाना, समाज के लिये अभिशाप सिद्ध हुआ है।

श्रीदेवकुमारजी की दक्षिण-यात्रा

[ले०—श्रीयुत् पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री]

तिथि-संवत् स्मरण नहीं है। आप मितपरिवार के साथ आरा से चलकर इलाहाबाद-आगरा-जयपुर होते हुए गिरनार पहुँचे। वहाँ पर कुछ दिन ठहरकर दर्शनपूजन आदि अभीष्ट पुण्य कार्यों को सानंद संपन्न कर वहाँ से शत्रुञ्जय गये। आप शत्रुञ्जय की यात्रा निरंतराय समाप्त करके बम्बई आये। बम्बई में आप स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजी के सम्मान्य अतिथि रहे। उस जमाने में माणिकचन्द्रजी दिगम्बर जैन समाज के एक उज्ज्वल रत्न समझे जाते थे। दिगम्बर जैन समाज जबतक जीवित रहेगा, तबतक उपर्युक्त दानवीर के महान् उपकार को भूल नहीं सकता। आपने दिगम्बर जैन समाज के उत्कर्ष के लिये बहुत कुछ किया है। बल्कि यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वर्तमान युग में माणिकचन्द्रजी ने दिगम्बर जैन समाज को ऊपर उठाने के लिये जितना प्रयत्न किया था, उतना प्रयत्न आजतक किसीने नहीं किया है। उस जमाने में सेठ साहब से सारा दिगम्बर जैन समाज भले प्रकार परिचित था। आपके स्नेहपूर्ण विशाल हृदय में अपने कुटुम्ब की चिन्ता से भी अधिक चिन्ता समाज की रही। आप समाज के अभ्युदय के लिये रात दिन सोचा करते थे। दानवीरजी के जमाने में जैन समाज का कोई भी हितेच्छु अगर बम्बई आ जाय तो उसे अपने यहाँ आमंत्रित कर योग्य सत्कार बिना किये नहीं जाने देते थे। ऐसी परिस्थिति में देवकुमारजी का सेठ साहब के यहाँ ठहर जाना सर्वथा स्वाभाविक ही रहा। क्योंकि उस जमाने में माणिकचन्द्रजी के बाद समाज में आप ही का नाम लिया जाता था।

हाँ, यहाँ पर एक आवश्यक बात का उल्लेख करना मैं भूल गया था। वह यह है कि देवकुमारजी की इस पुण्य यात्रा के प्रेरक एवं मार्गदर्शक श्रद्धेय नेमिसागरजी वर्णी थे। वर्णीजी पर देवकुमारजी की असीम श्रद्धा और भक्ति थी। कुमारजी वर्णीजी को अपने एक अनन्य हितेच्छु ही मानते थे। प्रत्येक धार्मिक कार्य में आप वर्णीजी से राय लेते थे। आपको वर्णीजी की बातों पर बड़ी श्रद्धा थी। अतएव देवकुमारजी कौटुम्बिक उलझनों में भी कभी-कभी वर्णीजी से सलाह भी लेते थे। देवकुमारजी ने अपने मरणकाल में भी वर्णीजी को यहाँ से कलकत्ता बुलवाकर आप ही के हाथ से समाधिमरण का व्रत लिया था। हाँ, इस प्रसंग पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि वर्णीजी को अपने यहाँ आश्रय देकर आपके अध्ययन की ठीक ठीक व्यवस्था करने का पूर्ण श्रेय भी देवकुमारजी को प्राप्त था। वर्णीजी

ने आरा में रहकर ही विशेष पाण्डित्य हासिल किया था।

खैर, देवकुमारजी बम्बई से मैसूर आये। मैसूर में आप मोतिखाने अनंतराजय्य के यहाँ ठहरे। अनंतराजय्य एक धर्म श्रद्धालु श्रीमान् थे। उन्होंने देवकुमारजी का अच्छा आदर सत्कार किया। मैसूर में दो-चार रोज रहकर वहाँ के दर्शनीय स्थानों को देखकर देवकुमारजी बैलगाड़ी पर श्रवणबेल्गोल गये। श्रवणबेल्गोल की यात्रा सहर्ष संपन्न करके आप धर्मस्थल आये। उस समय धर्मस्थल में चंदय्य हेग्डे थे। देवकुमारजी श्रवणबेल्गोल से धर्मस्थल भी बैलगाड़ी पर ही आये। क्योंकि उस समय बस सर्विस आदि और कोई वाहनसौकर्य नहीं था। श्रवणबेल्गोल से धर्मस्थल, मूडबिद्री आदि स्थानों के लिये घने जंगलों के बीच चार्माड़ि घाटी से नीचे उतरना पड़ता था। पर ऐसे भयानक मार्ग में भी चोर लुटेरे आदि दुष्टों का कोई भय नहीं था। धर्मस्थल में देवकुमारजी का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। इसे देखकर गुजर धर्मचंदजी से जो कि यात्रा के ही उद्देश्य से देवकुमारजी के संघ में बम्बई में सम्मिलित हुए थे और जिनको नेमिसागरजी वर्णी की योग्यता पर कम विश्वास था, देवकुमारजी ने वर्णीजी की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। धर्मचंदजी ने भयंकर जंगलों में गुजरते हुए एक दिन देवकुमारजी से वर्णीजी के बारे में यहाँ तक कहा डाला था कि इस फकीर पर विश्वास करके आप इस भीषण जंगल में बाल बच्चों को लेकर कैसे आये। उस समय देवकुमारजी ने धर्मचंदजी को यह लाजवाब उत्तर दिया था कि आप इस फकीर को नहीं पहिचानते हैं। इनमें दो-चार नहीं पचास सिपाहियों का बल है।

अस्तु, धर्मस्थल में देवकुमारजी सकुटुम्ब कुछ रोज ठहरे। हेग्डेजी ने आपका बड़ा आदर-सत्कार किया। इस बीच में एक दिन वर्णीजी ने अपनी पूर्व भावनानुसार देवकुमारजी तथा हेग्डेजी के समक्ष मूडबिद्री में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित करने का शुभ प्रस्ताव रक्खा। साथ ही साथ इस कार्य के लिये आपने स्वर्गीय मल्लन शेट्टिजी के विशाल भवन को जो कि जैन मठ के सामने वर्तमान था, खरीदने का अभिप्राय भी व्यक्त किया। मल्लन शेट्टिजी का यह मकान आपको कोई संतान न होने के कारण सरकार के अधीन हो गया था। मूडबिद्री में एक धार्मिक पाठशाला स्थापित करने के प्रस्ताव का देवकुमारजी तथा हेग्डेजी दोनों ने सहर्ष समर्थन किया। हाँ, मकान खरीदने के लिये द्रव्य की आवश्यकता हुई। इसके लिये मूडबिद्री में एक सभा बुलाने की आयोजना सोची गयी। सभा बुलायी गई। उस सभा में मकान खरीदने में जितना रुपया लगेगा उसका आधा हेग्डेजी ने देने को कहा। शेष आधा

कट्टेमार दोड्डम्म शेट्टी से दिलाने को वर्णीजी ने वचन दिया। पाठशाला स्थापित करने का शुभ समाचार धर्मस्थल से ही अरलगुम्मएण शेट्टिजी को भी दिया गया था। सभा में आप भी सम्मिलित हुए थे। मूडबिद्री में देवकुमारजी देरम्म शेट्टिजी के यहाँ ठहराये गये थे और वहाँ पर आपकी कुल व्यवस्था सपरिश्रम पं० नेमिराजजी ने की थी। देवकुमारजी को लिवा लाने के लिये श्री पद्मनाभ शेट्टिजी, नेमि इन्द्रज आदि मूडबिद्री के प्रमुख वहाँ से ६-७ मील की दूर ही पर गये थे। मूडबिद्री में देवकुमारजी का अच्छा सम्मान हुआ। आप यहाँ पर कई दिन ठहरे। पाठशाला के प्रबन्ध के लिये यहाँ पर कुछ रोज ठहरना आवश्यक भी था।

अपनी पूर्व स्वीकृति के अनुसार मकान खरीदने के लिये हेग्डेजी ने पाँच हजार और दोड्डम्म शेट्टी ने पाँच हजार इस प्रकार दोनों ने मिलकर दस हजार चन्दा किया। पर जिलाधीश की उदार कृपा से मकान तो साढ़े आठ हजार में ही मिल गया। क्योंकि जिलाधीश धर्मश्रद्धालु व्यक्ति थे। बस, उसी समय मूडबिद्री में बाकायदा पाठशाला स्थापित हुई। बल्कि इसके उपरान्त देवकुमारजी की ही प्रेरणा से इसी यात्रा में अंग्रेजी पढ़नेवाले जैन विद्यार्थियों के लिये मंगलूर में एक छात्रालय एवं कारकल में एक संस्कृत पाठशाला और स्थापित हुई। इसमें शक नहीं है कि देवकुमारजी की यह यात्रा सर्वप्रकार से सफल रही और उत्तर प्रान्तवालों से खासकर आरावालों से यहाँ वालों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। बल्कि जैन-सिद्धान्त-भवन स्थापित करने की प्रेरणा भी आपको यहीं से मिली।

यह यात्राविवरण पूज्य वर्णीजी के द्वारा कही गयी बातों के आधार पर ही लिखा गया है। इसमें अपना कुछ भी नहीं है। बल्कि वर्णीजी का कहना है कि देवकुमारजी की यह यात्रा जिस शान से हुई थी उस शान से उत्तर प्रान्तवालों में से आजतक किसीकी नहीं हुई। इस यात्रा म दक्षिण के भाइयों ने आपका बड़ा सम्मान किया था।

ायें ऊपर से नीचे की ओर—

१ सन्तोष कुमार
●महेश कुमारी

२ प्रबोध कुमार
●नन्द रानी

३ प्रमोद कुमार
●ध० प० बा० निर्मल कुमार
●शशि प्रभा

४ योगेन्द्र कुमार
●बाबू निर्मलकुमार
●ब्र० पं० चन्दाबाई

५ प्रेम कुमार
●नेमसुन्दर बीबी (अनुजा)
●सोम प्रभा

६ विमल कुमार
●बा: चक्रेश्वर कुमार
●ध: प: बा: देवकुमार

७ अतुल कुमार
●धर्मपत्नी बाबू चक्रेश्वर कुमार
●रविप्रभा

८ सुबोध कुमार
●शान्ता देवी

९ सरोज कुमार
●कमला देवी
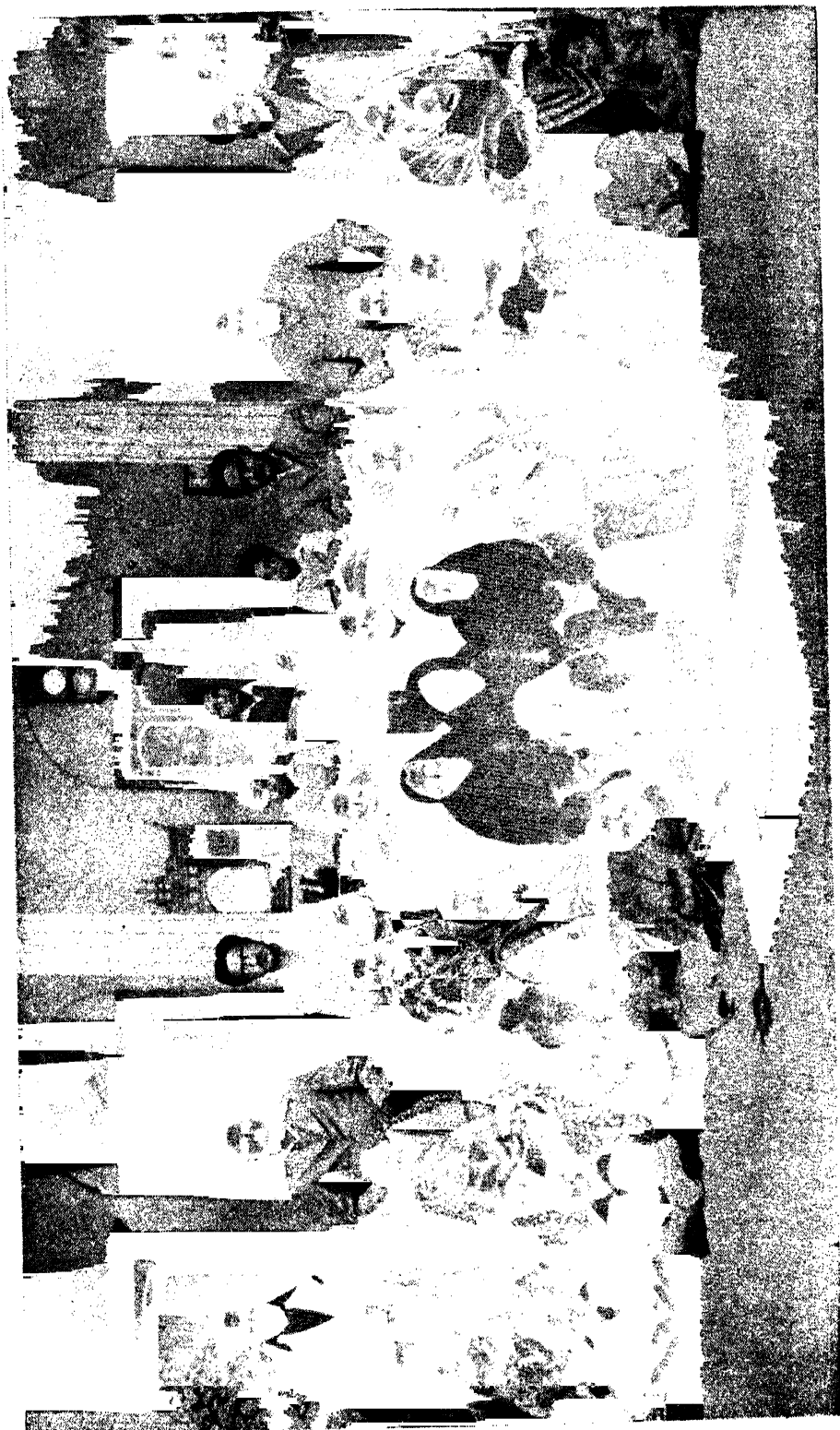
देव परिवार

पत्रकार स्व० श्री देवकुमार जैन

[ले०—श्रीयुत् बा० रामबालक प्रसाद साहित्यरत्न]

स्व० श्री देवकुमार जैन आरा शहर (जि० शाहाबाद) के एक धर्मनिष्ठ विद्वान् व्यक्ति थे। जिस जैन परिवार में उनका शुभ जन्म हुआ उस पर वीणापाणि सरस्वती तथा हरिवल्लभा लक्ष्मी की समान कृपा थी। एक ओर जमीन्दारी तथा वाणिज्य से प्रचुर धनागम था, तो दूसरी ओर स्वाध्याय और सेवा के सुयश से दिक्दिगन्त मदमत्त हो रहा था। लक्ष्मी की आराधना कभी साध्य नहीं बनी, साध्य तो मानव मंगल था; जिसके लिये अन्तिम क्षणों तक वे व्यग्र रहे। इस मानव मंगल की साधना उन्होंने कई प्रकार से की, पर पत्रकार के रूप में उन्होंने जो अमूल्य सेवा की उसके लिए प्राणीमात्र चिर ऋणी रहेगा। इस छोटे से निबन्ध में उनके पत्रकार-जीवन पर यत्किंचित् प्रकाश डालना अभीष्ट है।

पत्रकार लोक-चक्षु और लोक-जिह्वा है। वह संसार के लिए देखता और संसार के लिए बोलता है; वह जो स्वाध्याय करता है वह भी परहित के लिए। वह ठीक मुख के समान है जिसपर समाज रूपी अंगों का पालन-पोषण और संगठन का दायित्व रहता है। वह भूत का विश्लेषक, वर्त्तमान का संस्थापक और भविष्य का अग्रदूत है। उसके विशाल हृदय में शान्ति का सरोवर, जिह्वा में अग्नि स्फुलिङ्ग और लेखनी में कठोर तीक्ष्णता होती है। देवकुमार बाबू इन्हीं गुणों से अलंकृत एक यशस्वी पत्रकार उस युग में हो चुके हैं, जब भारत की पत्रकारिता शैशवावस्था में थी। उन्होंने सन् १८९५ से जैन गजट नामक एक मासिक पत्र का सम्पादन शुरु किया जो आरा निवासी श्री राजेन्द्रकुमार द्वारा प्रकाशित तथा समय समय पर लखनऊ के विभिन्न प्रेसों (जैन प्रेस, लखनऊ प्रिन्टिङ्ग प्रेस, दामोदर प्रेस आदि) में मुद्रित हुआ करता था। इसका वार्षिक मूल्य २) तथा अंग्रेजी के एक पूरक अंश के साथ २॥) था। सरकार द्वारा यह रजिस्टर्ड पत्रिका थी।

जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है समस्त भारत के जैन मतावलम्बियों को एक सूत्र में संगठित करना और उनको उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करना इसका मुख्य ध्येय था। भर्तृहरि का निम्नलिखित प्रसिद्ध श्लोक इस पत्रिका का आदर्श वाक्य था—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
सजातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

आगे चलकर (सन् १९०६ के लगभग) इस पत्रिका के मुख पृष्ठ पर निम्नलिखित एक दोहा भी छपने लगा—

जैन गजट जग में करे धर्म सूर्य्य प्रकाश।
करै अविद्या व्यर्थ व्यय आदिक तमको नाश॥

ऊपर लिखित आदर्श वाक्यों से स्पष्ट विदित होता है कि उक्त पत्रिका का ध्येय जाति और धर्म की सेवा था। अब देखना यह है कि चरितनायक के सम्पादकत्व में इस ध्येय की पूर्ति किस हद तक हुई तथा उन्होंने अपने कार्य में नीतिमत्ता का स्तर कितना ऊँचा रक्खा।

किसी पत्रिका में सम्पादकीय के अतिरिक्त सम्पादक की अपना कहने योग्य और कोई वस्तु नहीं होती। परन्तु, प्रकारान्तर से, पत्रिका में प्रकाशित सभी सामग्री उसीकी होती है, कारण उन सभी चीजों के लिए वह पूर्ण उत्तरदायी है तथा उन चीजों को उसकी पूर्ण सहमति प्राप्त रहती है। पत्रिका में विषय का चयन, रचनाओं का संकलन, उनका क्रम, सजधज आदि सभी चीजों से संपादक की रुचि और आदर्श प्रियता का परिचय मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नाम रूपात्मक जगत में आकाश का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान रहता है उसी प्रकार पत्रिका के सभी स्थलों में सम्पादक विद्यमान रहता है। इस मूल भूत सिद्धान्त को सामने रखकर आगे की पंक्तियों में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी कि पत्रिका ने अपनी प्रकाशित सामग्री रूपी श्री से जैन सम्प्रदाय को कितना कीर्तिमान बनाया है।

देवकुमार बाबू ने जैन गजट के लिए जो सम्पादकीय लेख लिखे उनसे उनके व्यक्तित्व पर पूरा प्रकाश पड़ता है। उन सम्पादकीय लेखों का दिग्दर्शन करा देना यहाँ अभीष्ट जान पड़ता है, ताकि तत्कालीन समाज की गतिविधियों की जानकारी हो और यह भी मालूम हो जाय कि समाजिक आन्दोलन को दृढ़ करने के लिए उस मनस्वी ने कितना प्रयत्न किया था। जैन गजट के प्रकाशन काल में भारत में राष्ट्रीय नव चेतना का आविर्भाव हो चुका था, यद्यपि इसे पल्लवित तथा पुष्पित होना अभी बाकी था। इस राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठ भूमि को मजबूत बनाने के लिए गण्यमान्य नेताओं की दृष्टि सामाजिक सुधार पर लगी हुई थी। आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि के प्रयत्न इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं। जैन सम्प्रदाय के विद्वान्, कवि, लेखक, साधु और मुनि आदि अपने मतावलम्बियों के अन्दर आये हुए सामाजिक कुप्रभाव को दूर कर धर्माचरण की ओर लगा देने का उन दिनों प्रयत्न करते थे। चरितनायक ने जून, १९०४ के एक सम्पादकीय में लिखा है:—

"जब हम यह विचार करते हैं कि हम 'जैनी' नाम करके प्रसिद्ध होते भी जैनी के करने योग्य कार्यों से क्यों अपने को सहस्रों कोस हटा पाते हैं तो हमारे खेद की सीमा नहीं रहती। वर्तमान काल के चाल व्यवहार की जिस समय प्रचीन शास्त्रोक्त चाल व्यवहार से तुलना की जाती है, तो हमें स्वप्न-सा प्रगट होता है। परन्तु जब उनकी उत्तमता पर लक्ष्य दिया जाता है और जब उन चाल व्यवहारों की कुछ कुछ झलक विदेशियों में दृष्टि पड़ती है तो यही कहना पड़ता है कि हम उन्हीं उत्तम प्राचीन वाक्यों को अपना धार्मिक व सामाजिक कानून मानते संते भी उस पर अमल करने के अतिरिक्त उसके विरोधी मार्गपर गमन कर अपने 'जैनी' नाम में बट्टा लगा रहे हैं"।

ऊपर के उद्धरण से विदित होता है कि जैनी भाइयों के शास्त्रोक्त आचरण नहीं करने से विद्वान् सम्पादक ने कितनी चिन्ता प्रकट की है।

समाज सुधार विषयक प्रश्नों में शिक्षा का प्रश्न उन दिनों मुख्य था। बालिकाओं को कौन कहे बालकों की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध नहीं था। किन्तु बालकों को अधिकाधिक शिक्षित बनाने की दिशा में प्रयत्न शुरु हो गया था। बालिकाओं की शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान अभी जाता ही नहीं था, उनमें यही मान्यता काम कर रही थी कि स्त्रियों को शिक्षित बना कर क्या होगा। जैन समाज से इस भाव को दूर करने के लिए देखिए उस मनस्वी ने क्या लिखा है:—

"स्त्री शिक्षा कितनी आवश्यक है, इसके प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि हमारे वे जैनी बालक जिन्होंने एक मात्र श्री पद्मपुराण ही का स्वाध्याय किया है धड़ल्ले के साथ कह उठेंगे कि स्त्रियाँ वैसे ही गुणों से भूषित होनी चाहिए जैसे कि पुरुष और प्राचीन काल में बालक बालिकाएँ सब ही विद्या के भंडार से भरपूर रहते थे। ... . गाड़ी बिना दो पहियों के नहीं चल सकती इसी तरह गृहस्थ धर्म सुशिक्षित स्त्री और सुशिक्षित पुरुष के संयोग के बिना नहीं चल सकता ...... बेमेल जोड़ी ने न मालूम कितनों के घरों को तबाह कर डाला ...... बेमेल जोड़ी ने भारत को गारद कर दिया। (जून १९०४ अंक १६)।

आपने जुलाई १९०४ के १७ वें अंक में मालवा के पं० शिवशंकर शर्मा द्वारा लिखित 'सत्य भाषण' शीर्षक एक निबंध प्रकाशित किया और उस पर अपना निम्न लिखित एक सम्पादकीय नोट लगाया, जिससे आपकी सत्यप्रियता का आभास तो मिलता ही है, साथ ही यह भी पता चलता है कि आप अपने विद्वान् लेखकों को ऐसे उपयोगी विषयों पर लिखने के लिए कितना प्रोत्साहित किया करते थे:—

"प्यारे भाइयों! सत्य वचन का अभ्यास नित्य करो। पंडितवर का उपरोक्त लेख सत्यता के सत्यरूप का सम्यक् दर्शक है, इसको विचार कर अपने हृदय का भूषण बनाओ, यही लौकिक और पारमार्थिक उन्नति का मुख्य हेतु है।"

भारतीय जीवन में तीर्थाटन पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। खासकर जैन मतावलम्बी इसे धर्माचरण का एक मुख्य अंग मानते हैं। पर तीर्थक्षेत्रों में यात्रियों को अनेकानेक कष्ट सहने पड़ते हैं। उस समय अखिल भारतीय जैन महासभा ने तीर्थक्षेत्रों की देखभाल के लिए एक समिति संघटित की थी। इस समिति के कुप्रबंध से तीर्थक्षेत्रों की दशा अच्छी नहीं थी। परदुःख कातर सम्पादक का हृदय विगलित हो उठा। उन्होंने जुलाई १९०४ के १८ वें अंक में जैन सम्प्रदाय का ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखाः—"पाठक गण! जिस समय हमारा मन अपनी वेगवती के बहाव में कभी तीर्थक्षेत्रों की व्यवस्था से टकराता है तो थोड़ी देर के लिए वहीं रुक

जाता है आज भी वैसा ही मामला है। एक ओर तीर्थक्षेत्रों की पवित्रता और पूज्यता का भाव आकर चित्त को प्रफुल्लित करता है। दूसरी ओर उनकी वर्तमान दशा का कुप्रबन्ध दर्शन दे चित्त को खेदित करता है। खेदित ही नहीं किन्तु थोड़ी देर के लिए आकुल व्याकुल कर देता है।" इसी सम्पादकीय लेख में आपने आगे चल कर तीर्थक्षेत्रों के कुप्रबन्ध को दूर करने के संबन्ध में अपना रचनात्मक विचार स्पष्ट ढंग से प्रकट किया है।

यद्यपि आप एक सम्प्रदाय विशेष का हितचिन्तन किया करते थे पर अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी आप बड़े उदार थे। हिन्दुओं में वेद वाक्य सा प्रचलित 'न गच्छेत् जैन मन्दिरम्' की आपने अगस्त १६०४ के २० वें अंक में आलोचना लिखी थी जो निम्न प्रकार है:—

"भाइयों! इस लोकोक्ति (द्वेषी जनों के वचन) ने हमारे भारतवर्ष का कितना अलाभ किया है व हमारे इस पवित्र जैनधर्म को कैसा तुच्छ जगत के मानवों के सामने दिखला दिया है कि हिन्दूमत का बच्चे से बूढ़ा तक जैनमत को न मालूम कितनी घृणा की दृष्टि से देखता है कि मसजिदों में जाने में हर्ज नहीं, ताजियों के साथ मर्सिये पढ़ने में हर्ज नहीं, दिहली, कुँआ, चाक पूजने में हर्ज नहीं पर जैनों के मन्दिरों में जाने से इतना हर्ज है कि कोई भूल से भी कदम नहीं रखता। चाहे हमारे जैनी भाई द्वेष न करके अपने हिन्दू भाइयों की सत्यनारायण की कथा में शामिल हों या देवी जी के भजनादि सुनने में कान लगाए बैठे रहें। पर हमारे हिन्दू भाई इसी उपरोक्त घड़न्त (न गच्छेत्...) को याद कर कभी भूल से भी जैनमत के सत्य उपदेश को नहीं सुनते।"

इस आलोचना में कीचड़ उछालने की प्रवृत्ति नहीं है, न कहने का ढंग ही टेढ़ामेढ़ा या व्यंगात्मक है। जो वास्तविकता है उसे स्पष्ट शब्दों में सरलता के साथ रख दिया गया है। यह शैली आलोचक की शिष्टता और सौम्यता की परिचायक है। समालोचना के खरापन में भी विनय का पुट है।

मैं शिष्ट समालोचना का एक दूसरा उदाहरण दूँगा जो अत्यन्त रोचक है। वेङ्कटेश्वर समाचार ने १५ जून, १६०६ के अंक में "साहित्य और विज्ञान" शीर्षक लेख में यह प्रकाशित किया कि यदि जैनियों के कथनानुसार रावण जैनी रहा हो और मेघनाद कुम्भकरण उनके धर्म-वाले रहे हों तो नहीं समझ सकते कि जैनी भाई उसके पापी, सुरापायी, गौ-ब्राह्मण-सन्तापी और हिंसा-प्रिय होने के कलङ्क को किन प्रमाणों से दूर करेंगे। यह भी प्रसिद्ध है कि रावण और उसके वंशवाले शैव थे। शिव की असामान्य पूजा करके रावण ने वर प्राप्त किया था, क्या जैनी भाई यह भी कबूल करेंगे कि उस समय के जैनी ब्रह्मा, शिव आदि की पूजा भी किया करते थे।"

इस आक्षेप के उत्तर में सम्पादक जी ने अपनी एक सम्पादकीय टिप्पणी (जुलाई, १६०६ अंक २७) में लिखा कि हम सहयोगी से पूछते हैं कि उसने रावण आदि का सुरापायी, गौ-ब्राह्मण

सन्तापी और हिंसाप्रिय एवं शैव होना किस जैनग्रन्थ में देखा है। यदि वह अपने पुराण के अनुसार कह रहा है'''तो इसका उत्तरदायित्व हम पर नहीं है। हां इतना अवश्य पूछेंगे कि क्या शैव लोग गो-ब्राह्मण सन्तापी हुआ करते हैं?" (मीठी चुटकी !) अन्त में पुराणों के पचड़े में नहीं पड़ने की प्रार्थना करते हुए वे लिखते हैं कि "अब वाद विवाद का समय गया, आजकल तो परस्पर वात्सल्य भाव की आवश्यकता है। इन्हीं वाद विवादों ने हिन्दू और जैनों में ऐसा वैमनस्य डाल दिया था कि एक दूसरे का मुंह भी देखना नहीं चाहते हैं। उस पुराने बैर-वृक्ष की लता अब सूख चली है उसे फिर लहलहाने की क्या आवश्यकता है। आइये हम-आप एक अहिंसा ही का उद्देश्य लेकर मिल जुल कर काम करें और भारतवर्ष से एकता की हवा से यहाँ के पुराने फूट तथा वैर वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर फेंक दें।"

किसीके कटु आक्षेप से देवकुमार बाबू का कोमल चित्त तिलमिला नहीं जाता था। ऐसे अवसर पर बड़ी शान्ति और धीरता से वे काम लेते थे। समालोचना के संबन्ध में उनकी बड़ी विशद धारणा थी। 'समालोचक बनना सहज नहीं है।' शीर्षक लेख में स्वयं लिखते हैं—"आजकल जिसे देखिए वही समालोचक बनकर डाक्टर जौनसन की कुर्सी पर बैठना चाहता है, परन्तु उसकी आशा दुराशा मात्र हो जाती है क्योंकि यथार्थ समालोचक होना बड़ा कठिन है। आजकल के समालोचक समालोचना के पर्दे में अपने दिल का बोखार तथा पुरानी गड़ी हुई अदावत निकालते हैं जिसका फल विपरीत होता है। समालोचना करते समय मर्य्यादा उल्लंघन करके अपने संकीर्ण हृदय का परिचय देना तथा अपनी विद्या के गर्व में आकर लेखनी की तीव्र छटा प्रदर्शित करना समालोचना का श्राद्ध करना है। .... समालोचक का काम केवल दोष दिखलाने ही का नहीं है, वरन् वह गुणों को भी प्रकट करता है।"

देवकुमार बाबू 'जैन गजट' के द्वारा भारतीय राष्ट्रीय जीवन पर भी यथा समय प्रकाश डालते थे, जिससे उनका देश-प्रेम परिलक्षित होता है। कलकत्ते की एक लिपि विस्तार परिषद् की वार्षिक रिपोर्ट पर सन्तोष प्रकट करते हुए तथा उसकी सहायता के लिए हिन्दी प्रेमियों से अपील करते हुए आपने लिखा था—"देशोन्नति के लिए तीन बातों का होना परमावश्यक है एक तो देश भर का एक धर्म होना चाहिए दूसरे देश भर की एक भाषा तथा लिपि होनी चाहिए, तीसरी बात देशभर में एक राज्य होना चाहिए। ''''''एक भाषा और एक लिपि प्रचार के विषय में यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का मौर देव नागरी अक्षर तथा हिन्दी भाषा ही के मस्तक पर बान्धा जा सकता है। अतः इसीके प्रचार में हम भारतवासियों को उद्योग करना चाहिए।" अभी हाल तक जो विषय इतना विवाद ग्रस्त बना हुआ था उस पर बहुत पहले ही आप का यह सुलझा विचार सर्वथा श्लाघनीय है तथा आपकी दूरदर्शिता का परिचायक है।

सित ,र १९०४ के २२ वें अंक में जैन जाति की संख्या का ह्रास देखकर आपने ह्रास का

कारण ढूढ़ने के लिए जनगणना की आवश्यकता पर जोर दिया था। आपने लिखा था कि सन् १६०१ की मर्दुमशुमारी में जैनियों की संख्या केवल १३½ लाख रह गई है जब कि १८६१ में १४ लाख थी। आप यह जानना चाहते थे कि इस कमी का कारण क्या है। कुछ लोग कहते थे कि अनेकानेक जैन प्लेग से मर गये, कुछ लोगों ने अन्य धर्म ग्रहण कर लिया, गरीबों की शादी ही नहीं होती इत्यादि। पर वास्तविक कारण जानने के लिए आपने यह सुझाव पेश किया कि प्रत्येक स्थान में समुचित ढंग से जनगणना हो, पूरी जानकारी गाँव के वृद्ध पुरुषों से पूछ कर लिखी जाय और उसकी रिपोर्ट जैन गजट के सम्पादक के पास भेजी जाय; तब ह्रास के कारण का पता लगाकर उसके निराकरण का उद्योग किया जायगा।

अखिल भारतीय पैमाने पर इतने बड़े कार्य को अपने हाथ में लेना असाधारण पराक्रम का परिचायक है।

चरितनायक के अग्रलेखों से जो उद्धरण ऊपर दिये गये हैं उनसे पाठकों को भलीभांति उनके व्यक्तित्व तथा मिशन के संबंध में पता चल गया होगा। अब उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित सामग्रियों के संबंध में भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है।

'जैन गजट' की फाइलों को देखने से जान पड़ता है कि सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन पर अधिक से अधिक लेख, कविता तथा वार्त्तालाप रहा करते थे। जिस प्रकार रोग ग्रस्त शरीर स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं कर सकता उसी प्रकार कुटेव ग्रस्त समाज भी उत्कर्ष की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। चरितनायक जैसे लोक हितैषी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि सामाजिक सुधारों पर ध्यान देते। जुआ, विषयानुराग, अभक्ष्य सेवन, पारस्परिक फूट, शराबखोरी, बेमेल विवाह, परदा प्रथा आदि दूषणों पर प्रत्येक अंक में पाण्डित्य-पूर्ण लेख भरे रहते थे जिनका उद्देश्य था लोगों को इन दूषणों से अलग कर सच्चरित्र बनाना।

कुछ स्वास्थ्य विषयक भी लेख रहा करते थे, जिनमें जैन बालकों के गिरते हुए स्वास्थ्य पर चिन्ता प्रकट की जाती तथा कसरत आदि पर जोर दिया जाता था। जैन-जगत लक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त कर इह लौकिक सुख की सामग्री एकत्र करने की तल्लीनता में मोक्षको जब भूल जाता तब जैन गजट के अनेकानेक लेख उसे परलोक की याद दिलाते थे। वेश्यागमन की निन्दा में इतनी सुन्दर सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित होती थीं कि उन्हें पढ़कर कितनाही बड़ा वेश्यागामी अपनी भूल पर सोचना अवश्य आरम्भ कर देगा। मैं नीचे एक कवित्त उद्धृत करता हूँ जिसे पाठक स्वयं देखें—

काया से काम जात, गाँठ हूं से दाम जात नारीहू से नेह जात,
रूप जात रंग से।
उत्तम सब कर्मजात कुल के सब धर्म जात गुरुजन से शर्म जात,
आपनि मति भंग से॥

रूप रंग दोऊ जात शास्त्र से प्रतीत जात प्रभुजी से नेह जात
बदन की उमंग से ॥
जप तप की आश जात सुरपुर को बास जात, भूषण
विलास जात वेश्या के प्रसंग से ॥

इटावा निवासी श्री चन्द्रसेन जैन रचित यह कवित्त 'जैन गजट' के १६ दिसम्बर, १६०३, अंक ४ में प्रकाशित हुआ था।

इसी प्रकार ऐसे भी लेख प्रकाशित होते थे जिनमें जैनियों के तमाखू पीने पर अत्यन्त क्षोभ प्रकट किया जाता था। एतद्विषयक कविताएँ भी प्रकाशित होती थीं, जिनके द्वारा साधारण जनों के हृदय पटल पर यह अंकित किया जाता था कि तमाखू पीना सर्वथा निन्दनीय है। उदाहरण स्वरूप एक कवित्त नीचे दिया जाता है।

आज के जमाने में चिलम एक बड़ी बात छोटे अरु मोटे दम सब
ही लगाते हैं।
बामन औ बनियां क्षत्री डोम की न पूछे जाति, भरी देख चिलम
तापै जाय झुक जाते हैं॥
जैसे जीव जगत बीच ओठ (झूठन) को पसारें हाथ तसे ले
ठीकरे (चिलम) को मुह से लगाते हैं॥
कहत कवि आखों देखी झूठ जनि मानौ मित्र चिलम चटोरे
ओठ (जूठन) सबही की खाते हैं॥

सामाजिक लेखों के अतिरिक्त धर्म विषयक लेखों की संख्या भी प्रचुर मात्रा में रहती थी। ऐसे लेखों में उन लेखों का बड़ा महत्व है जो दान, तप, व्रत, संयम, श्रद्धा, भक्ति, सेवा और सत्यभाषण के भाव को हृदयंगम कराने के उद्देश्य से लिखे जाते थे।

पुरातत्त्व और ऐतिहासिक महत्त्व के भी लेख यदा कदा प्रकाशित होते थे। इनमें मारवाड़ के बाली परगने के बीजापुर गाँव में संवत् ६६६ का लिखा हुआ राष्ट्रकूट मम्मट राजा का लेख जो जैन गजट १६०३ अंक ६ में प्रकाशित हुआ था, विशेष स्थान रखता है। विक्रमादित्य और शालिवाहन के संवत् और शक पर विचार करने के लिए ऐतिहासिक लेख भी एक जगह पाया गया है।

कभी कभी दार्शनिक लेख भी रोचक और बोधगम्य भाषा में लिखे हुए मिलते थे। इनका विषय रहता था 'सृष्टि और इसका कर्त्ता' आवागमन आदि।

जैन-जगत की एक मुख्य पत्रिका होने के कारण उस जगत के सभी ताजे समाचार उसमें प्रकाशित होते थे। जैन बन्धुओं से अपील करने तथा जातीय स्वार्थ के सम्बन्ध में सुझाव

पेश करने के लिये पत्रिका एक सुगम साधन थी। जैन हितैषिणी संस्थाओं के हिसाब-किताब तथा अन्य वार्षिक विवरण समय समय पर प्रकाशित होते रहते थे, जिससे प्रत्येक जैन भाई अपनी जातीय गतिविधि से पूर्ण परिचित रहता था। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्वार्थ के प्रमुख समाचार भी प्रकाशित होते रहते थे। यहाँ मैं दो एक ऐसे समाचारों के उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता—

बेतार का तार

सिगनर मैरकोनी ने केप ब्रटन और कार्नवाल के बीच में बेतार का तार लगाया है, कुछ खबरें आ जा चुकी हैं। इनमें एक तार अर्ल मिराटों ने बादशाह एडवर्ड को दिया था।

हिन्दी महाराजा के घर

राज राजेश्वर सप्तम एडवर्ड हिन्दी भाषा सीख रहे हैं—उनकी एक बहन ने हिन्दी में अच्छी योग्यता हासिल की है।

'जैन गजट' का युग राष्ट्रीय नवचेतना का युग था। स्वदेशी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी छिड़ चुका था। इसलिए राष्ट्रीय भाव को पुष्ट करने के लिए भी उत्तमोत्तम रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। दो एक उदाहरण देखें—

[एक हिन्दी प्रेमी जयपुर नरेश से हिन्दी-प्रचार के लिए निवेदन करता है]

कवित्त

जैपुर नरेश माधवेश भूपति सों मुकुलित कर कमल यह
अर्जी हमारी है।
अभय दान दीजे शरण हिन्दी जबान लीजे प्रभु हिन्दुमत
धर्म कर्म यही रखवारी है॥
हिन्दी पढकोरे रहै संपत अन्य भाषी चहै राज सभा
आदर बिन होत यह ख्वारी है॥
हिन्दू पति तोय जान भानुकुल शेषर मान हिन्दी सन्मान
हेतु चहै करुणा तिहारी है॥

स्वदेशी वस्तु प्रचार पर एक लावनी का कुछ अंश देखिये—

देशोन्नति किस प्रकार होवे जब इस पर किया गया विचार।
निश्चय हुआ बड़ा जरिया है देशी चीजों का प्रचार॥
मुफलिस और तंग दस्तों को खुशहाल बनाना चाहते हो।
बड़े दुष्ट रास्ते को छोड़ सतमार्ग चलाना चाहते हो॥
तो करलो यह अहद देश की चीज खरीदेंगे हरबार।
निश्चय हुआ बड़ा जरिया है देशी चीजों का प्रचार॥

इन समाचारों के अतिरिक्त कुछ फुटकर स्थानीय समाचार भी यथा स्थान छापे जाते, जिनमें अधिकतर आरा नागरी प्रचारिणी सभा, आरा जैन हितकारिणी सभा आदि संस्थाओं के समाचार तथा कार्यवाही की रिपोर्ट छपा करती थी।

अबतक 'जैन गजट' के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट है कि स्व० बाबू देवकुमार जैन ने इस पत्रिका के द्वारा जो सेवा की है वह उनके नाम और यश को बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। जहाँ तक पत्रकारिता का सम्बन्ध है, हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में उनका एक उल्लेखनीय स्थान है। जिस जमाने में हिन्दी के नाम पर पढ़े लिखे लोग नाक भौं सिकोड़ते थे उस जमाने में हिन्दी में गद्य और पद्य से सुसज्जित ऐसा सुन्दर पत्र निकालना कोई साधारण बात नहीं थी। 'जैन गजट' की कोई भी प्रति हाथ में लीजिये, जान पड़ता है यह उस युग का दर्पण है। क्या धार्मिक, क्या साहित्यिक और क्या सामाजिक सभी प्रकार की समस्याएँ और वहीं उनके समाधान की ओर संकेत भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इस पत्रिका के सम्बन्ध में रतलाम निवासी श्री दरयाव सिंह हीराचन्द जैन के उद्गार नीचे उद्धृत कर मैं इस लेख को समाप्त कर देना चाहता हूँ।

"यह जैन गजट क्या है? क्या अन्य अन्य समाचार पत्रों की नाईं यह भी अखबार है। क्या यह पत्र किसी एक आदमी द्वारा अपने स्वार्थ साधन निमित्त निकाला जाता है? नहीं! नहीं; भाइयो! यह हम सब भाइयों को मोह निद्रा से जगाकर धर्म के सन्मुख करनेवाला महोपदेशक है यह एक वही परम मित्र है जो अपने पूरे भोजन को भी न पाकर पेट बाँधे हुए परोपकार में तत्पर रहता है। यह वही निधि है जिसके द्वारा इच्छित पदार्थ की प्राप्ति हो सकती है। यह एक जैन जाति का वह महत्पुरुष है जो अपने वात्सल्य भाव द्वारा जाति भर में एकता फैलाने में उद्यत रहता है। यह उसी उत्तम मार्ग से सहानुभूति रखनेवाला है जो मोक्ष मार्ग का सहकारी है।"

इस प्रशस्ति के प्रत्येक वर्ण से उस महान् व्यक्ति की प्रतिभा का परिचय मिलता है। आज वह हमारे बीच नहीं है पर उसकी अमल कीर्तिचन्द्रिका हमारे वर्त्तमान परिताप के शमन के लिए पर्याप्त है।

अभिनन्दनीय का अभिनन्दन !

[रचयिता—श्रीयुत् बा० वीरेन्द्र प्रसाद जैन अलीगंज]

संसृति के रङ्ग-मञ्च पर हैं,
होते अभिनव अभिनय अनन्त;
प्रतिपल अभिनय होता रहता,
जन बनते खल तो कभी सन्त।

प्रतिप्राणी अभिनय दिखलाता,
अपने-अपने कर्म्मानुसार;
उसकी स्मृति अवशेष, किन्तु,
रह जाती, जो रहता उदार;

अथवा निज-पर कल्याण हेतु,
जो करता अभिनय आकर्षक;
जो ज्ञान-सत्य को फैलाने,
आता भू'र बन अभिनायक;

उसका जीवन-नाटक रहता—
प्रति मानव-मानस पर अंकित;
वह मरने पर जीवित रहता,
करता सबको आश्चर्य-चकित।

भारती या कि वह सरस्वती,
करती उसका है यशोगान;
इस भाँति युगों तक है करती-
उसकी सुकीर्ति का वह बखान।

इन युग-पुरुषों की श्रेणी में,
अबतक अगणित हैं सुजन हुए;
इन महा मानवों में ही तो,
हैं विविध क्षेत्र के रत्न हुए।

इन रत्नों में ही एक रत्न—
थे देवकुमार सुजन सच्चे;
जिनके जीवन से ले सकते,
शिक्षोत्साह अल्हड़ बच्चे।

उनकी स्मृति भी आज हमें,
देता उनका 'सिद्धान्त-भवन'
इस ज्ञान भवन के निर्माता,
थे देव तुल्य वे ही सज्जन।

उनके 'सिद्धान्त-भवन' से है,
'भास्कर' की किरण सदा आती;
जो जन-जन के अन्तस् में है,
सत् ज्ञान उजाला भर जाती।

उनके सिद्धान्तों का 'भास्कर'—
निकले युग-युग तक भासमान,
जिसके प्रकाश से मुखरित हो,
सम्पूर्ण धरा और आसमान।

अभिनन्दनीय का अभिनंदन,
करता, करना चाहिए सत्य;
स्मारक सौम्य रहेगा ही,
'सिद्धान्त-भवन' है अमर कृत्य।

श्री बा० देवकुमार : जीवन और विचारधारा

[ले०—श्री प्रो० चन्द्रसेन कुमार जैन, एम० ए०]

भारतीय इतिहास का वह महान् विप्लव, दो संस्कृतियों का वह भीषण संघर्ष, दो युगों को पृथक् करने वाला वह क्रान्तिकारी बवण्डर अपनी रोमाञ्चकारी स्मृति छोड़कर शान्त हो चुका था। देश की धमनियों से प्रवाहित रक्त के फुहारे कुछ काले धब्बे बन कर सूख चुके थे। पीछे छूट चुके थे गौरव और समृद्धि के चमकीले दिवस। पश्चिम ने पूर्व पर विजय प्राप्त की। पूर्व ने घुटने टेक कर इसे ईश्वरीय वरदान के रूप में स्वीकार कर लिया। मिथ्यादंभ, आत्म-विस्मरण, शोषण और विलास का नव-शासन प्रारंभ हो गया।

अविद्या, अहंकार, आडंबर और अनाचार के इस देशव्यापी साम्राज्य में जैन जाति ही किस प्रकार अछूती बच सकती थी। निःकषाय मुनियों से वंचित और अल्पज्ञ पंडितों से प्रभावित इस असंगठित समाज के प्रत्येक कार्य्य अपनी ही जाति और धर्म को मिटा देने के लिये कृतसंकल्प हो रहे थे। यश-प्राप्ति की लोलुप लालसा ने इसे परिग्रह के भयंकर दलदल में फँसा दिया था। समाज का अधिकांश भाग धर्म के मूल सिद्धान्तों से अनभिज्ञ रह कर कुछ विधि-विधानों के मिथ्या प्रदर्शन द्वारा आत्मकल्याण की आशा में मग्न था। इधर अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित इने गिने नवयुवक अपनी संस्कृति से आँखे मोड़कर विदेशी आचार विचार ही नहीं ग्रहण कर रहे थे, प्राचीन धार्मिक भावना का उपहास कर जातीय गौरव को भी नष्ट कर रहे थे। लक्ष्मी का संकलन और प्रदर्शन ही इस जाति की विशेषता बन गया था, जिसका सारा भाग कुसंस्कारों में व्यय होता था। धार्मिक शिक्षा के लिए न तो कोई व्यक्तिगत रुचि थी और न समाज की ओर से कोई संगठित आयोजन ही सफल होता था। बही-खाता और चिट्ठी-पत्री की योग्यता इस जाति की शिक्षा की सीमा रेखा थी।

शिक्षा और कला-कौशल से विहीन नारीवर्ग मिथ्यादृष्टि, पारिवारिक कलह और कुरीतियों का केन्द्र बन गया था। इसी वातावरण में पल कर भावी सन्तति अदूरदर्शी, निकम्मी और भौतिक-वादी बनती जा रही थी। वस्त्राभूषण का अनवरत संग्रह इनके जीवन का महानतम उद्देश्य था। धार्मिक आचरण भी उस लक्ष्य के साधन मात्र थे। बाल-विवाह की प्रथा ने समाज में विधवाओं का एक विशाल वर्ग उत्पन्न कर दिया था, जिनका जीवन समाज के स्वनामधन्य ठेकेदारों के स्वार्थ साधन के कारण नारकीय हो रहा था। अन्य धर्मावलम्बियों की कुत्सित रीतियाँ इस समाज में भी घर कर चुकी थीं।

समाज, सभाओं, महामण्डलों और समितियों की भरमार थी, परन्तु योग्य नेता के अभाव में इनका क्षणिक जातीय आवेश केवल वार्षिक अधिवेशनों की वक्तृता से आगे नहीं बढ़ पाता था।

पण्डित दल और बाबूदल अथवा नरमदल और गरमदल की पारस्परिक नोकझोंक से विवाद का प्रसार मात्र हो रहा था, समस्याओं के समाधान की कोई रचनात्मक चेष्टा नहीं प्रकट होती थी। स्वार्थमयी व्यापारिक नीति के कारण यह समाज अन्य हिन्दुओं की घृणा का पात्र बन गया था। युग के अनुकूल अपनी संस्कृति की मौलिक विशेषताओं के द्वारा मानवता के विकास में सहायक बनने का उत्साह एकदम लुप्त हो चुका था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में त्याग की अपेक्षा भोगवाद की प्रधानता ही दृष्टिगोचर होती थी।

कोयले की खान में हीरे मिलते हैं। अभिशप्त जनसमाज पुरुषरत्न उत्पन्न करता है। इस सत्य का ज्वलन्त प्रमाण था पतनोन्मुख जैन जाति में आरा नगर के श्रीयुत पं० प्रभुदास जैन का स्मरणीय घराना। संस्कृत साहित्य की अगाध विद्वत्ता, गंभीर शास्त्राध्ययन, उदार स्वभाव, धर्म-निष्ठा और व्रत-पालन की दृढ़ता से अनुप्राणित प्रभुदास जी का उज्ज्वल व्यक्तित्व इस जाति का मानों पुंजीभूत कीर्तिस्तंभ था। उनकी जीवन-साधना थी देवालयों और धर्मशालाओं के निर्माण द्वारा धर्मवृद्धि। दीन दुखियों की सेवा, विद्यार्थियों की सहायता और धार्मिक अनुष्ठान इनकी लक्ष्मी के शृंगार थे। आज भी काशी में भदैनी घाट पर जिनमन्दिर और धर्मशाला, भगवान् चन्द्रप्रभु स्वामी के जन्मस्थान चन्द्रपुरी में निर्मित मन्दिर और स्वयं आरा में प्रतिष्ठित जिनालय इनकी उत्साहपूर्ण जिनभक्ति के सजीव चित्र हैं। चालीस वर्षों तक अनवरत एकाहार का व्रत पालन कर अपनी दृढ़निष्ठा का परिचय देनेवाला जैन समाज का यह उज्ज्वल नक्षत्र चौसठ वर्ष की आयु में परलोक का यात्री बन गया।

फूल अपनी सुरभि बिखेर कर सूख गया, परन्तु समाज उसके फल से वंचित न रहा। योग्य पिता के योग्य पुत्र श्री चन्द्रकुमार जैन ने पिता के चरण-चिन्हों को अपने जीवन का पथप्रदर्शक माना। कौशाम्बी में जैन मन्दिर का निर्माण कर इन्होंने भी पिता के कार्य्य को अग्रसर किया। अभी समाज इस अधकचरे फल के मिष्ट स्वाद से तृप्त होने की आशा ही कर रहा था कि काल-वात्या ने इसे असमय में ही झकझोर कर वृन्त से अलग कर दिया। चौतीस वर्ष की आयु में ही सर्व-गुण-संपन्न होनहार नवयुवक ने अपने परिवार और समाज दोनों को अन्धकार में भटकने के लिए छोड़कर पितृलोक का अनुसरण किया। इस विमल ज्योति के शेष चिन्ह रह गये थे दो नन्हें से रक्ताभ जिनका भविष्य कभी आशा की मुस्कुराहट प्रकट करता तो कभी निराशा के काजल में छिपने की चेष्टा।

नव बसन्त पूर्ण यौवन को प्राप्त होकर चतुर्दिक् उल्लास और मादकता बिखेर रहा था। उसके साम्राज्य में प्रकृति अपने समस्त रंगीन वास्त्राभूषणों से सुसज्जित हो झूम रही थी। नवलतिकाओं को सहारा देने वाले वृक्ष रक्तिम किसलयों की सुरभि से वायु को बोझिल कर अपने कायाकल्प का प्रमाण दे रहे थे। ऐसे समय में जब भारत का कोना कोना पतझड़ की उदासीनता को दूर कर

नवजागरण की जीवन शक्ति से अनुप्राणित हो रहा था, उमंगहीन निष्क्रिय जैन जाति मरघट की शान्ति अपनाये हुए थी। भौतिक स्वार्थपरता की काई से आच्छादित नीरव सरोवर में जातीय उत्थान की एक लहर भी नहीं देखी जा सकती थी।

क्रान्ति के अग्रदूत भगवान् महावीर के इन मृतप्रायः उपासकों में प्रगति की चेतना विस्फुरित करने के लिए स्वयं एक स्वर्गीय विभूति को मानव-शरीर धारण करना पड़ा। संवत् १९३३ के चैत्र मास में जब स्वच्छ नीलम के पर्दे पर चन्द्रमा अपनी आठवीं कला का शुभ्र प्रकाश फैला रहा था, एक दिव्य ज्योति आरा के उसी प्रसिद्ध घराने में अवतरित हुई जो पहले से ही इसे धारण करने के लिए पवित्र बनाया जा चुका था। नवीन शिशु का प्रतिभाशाली मुखमण्डल और उसका अलौकिक सौन्दर्य्य इस तथ्य को सिद्ध कर रहा था कि एक उजड़े हुए समाज को बसाने के लिए किसी देवकुमार को कष्ट करना पड़ा है। अनुभवी पिता ने अपने पुत्र की योग्यता के अनुकूल ही उसका नामकरण किया।

इस सुन्दर बालक ने अभी जीवन के दस बसन्त भी नहीं देखे थे कि पिता ने उसे जीवन-यज्ञ की वेदी पर अकेला छोड़ दिया साथ में रोने के लिए था एक नन्हां सा भाई धर्म कुमार, जिसने अभी तक यह भी नहीं जाना था कि जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर है। जब इस परिवार से सहानुभूति रखने वाले इन वियुक्त बालकों के भविष्य का अनुमान करते, उस समय ये अपनी बाल सुलभ मुस्कुराहट से उस अंधकारमय भविष्य में मानों आलोक की रेखा खींच देते। कठिन अवसरों पर भी धैर्य्य धारण करने की कला सीखने का सुयोग इन्हें बचपन में ही मिल गया। भविष्य का निर्माण माँ की गोद में ही काल की करालता पर मुस्कुराने लगा।

दस वर्ष के किशोर देवकुमार ने पैतृक उत्तराधिकार में एक बड़ी जमीन्दारी के साथ अपने पूर्वजों की उदार दानशीलता, धार्मिक उत्साह और जातीय गौरव की भावना को भी अपना लिया। अप्राप्तवय होने के कारण इनकी जमीन्दारी राजकीय कोर्ट आव् वार्ड्स के अधिकार में चली गयी। बालक देवकुमार की शिक्षा-दीक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका। तीव्रबुद्धि, परिश्रम, अध्यवसाय और धैर्य्य के बल पर इन्होंने आइ० ए० तक कालेज की शिक्षा प्राप्त कर ली। इसके पूर्व ही सत्रह वर्ष की कोमल वय में इनके हाथ पीले किये जा चुके थे। इनकी पत्नी श्री अनूपमाला देवी स्थानीय एक प्रतिष्ठित जैन-परिवार की सुशील कन्या थीं, जिन्होंने प्रत्येक अवस्था में अपने जीवन-सहचर को उत्साह और सहारा देते रहना ही अपना कर्त्तव्य समझा और आज भी उन्हीं के पथ का अनुसरण कर रही हैं।

महत्वाकांक्षी युवक कुमार की हार्दिक इच्छा विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा ग्रहण करने की थी, परन्तु पारिवारिक परिस्थिति ने इनकी अग्रगति में बाधा डाल दी। जिलापति के आदेशानुसार इन्हें अपने नन्हें सुकुमार कन्धों पर जमीन्दारी और परिवार की देखरेख का भारी

बोझ सँभालना पड़ा। कुछ वर्ष पश्चात् राज्य ने आनरेरी मैजिस्ट्रेट का सम्मानीय पद प्रदान कर इनकी योग्यता प्रमाणित की! कई वर्षों तक इस पद का सुयोग्य संचालन कर इन्होंने भी राज्य कार्य में सहायता प्रदान की। अखिल भारतीय दि० जैन महासभा के दसवें अधिवेशन में प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य तथा बारहवें अधिवेशन में सभापति के उत्तरदायित्व पूर्ण पदों पर मनोनीत हो इन्होंने समाज की नौका को खेने का भी गुरुतर कार्य्य संपादन किया। सन् १९०२ से जीवन पर्य्यन्त ये तीर्थक्षेत्र कमेटी के सभासद बने रहे। काशी के स्याद्वाद विद्यालय का मन्त्रित्व पद भी आरम्भ में इन्होंने संभाला। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक क्षेत्र के विभिन्न महत्वपूर्ण कार्य्यों में अनवरत संलग्न रहने पर भी इनकी ज्ञानपिपासा सदैव जाग्रत रही। सारे लौकिक झंझटों के बीच भी उत्साही देवकुमार आध्यात्मिक और साहित्यिक अध्ययन के द्वारा आत्मविकास करने का समय निकाल ही लेते थे।

अचल पाषाणखण्डों से टकरा कर अग्रवाहिनी सरिता प्रबल वेग से उछलती है। सांसारिक विघ्न-बाधाएँ किसी कर्मठ जीवन में द्विगुणित उत्साह भरने वाली प्रेरणा-शक्ति बन जाती हैं। व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष ने कुमार जी को समस्त जैन-जाति की तन्द्रा भंग करने के लिए प्रोत्साहित किया। जातीय गौरव की पताका लेकर यह अमर सेनानी अपने समाज के विद्वानों के प्रति विह्वल होकर मार्मिक पुकार करता है :—

"हे हमारे परोपकारियों! हे हमारे भाइयों! हे हमारे जैन जाति की अवनति देखकर आँसू बहाने वालो! उठो, प्रमाद-निद्रा छोड़ो, शोककंटक का मुख तोड़ो और धार्मिक प्रीति में भरकर मजहबी जोश का डंका बजाओ।"

कौन हैं वे शत्रु जो हमारी जाति को अशेषचिह्न कर देने के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं?

"देखो २ अविद्या राक्षसी इसको घसीटे लिये जाती है। मिथ्यात्व राक्षस इसको इधर ढकेल रहा है। फूट चुड़ैल बीच में सहारा देकर अवनति के गढ़े में फेंक रही है। प्यारे भाइयों अब कोई कसर है?"

इनका दृढ़ विश्वास था कि ज्ञान के प्रचार बिना किसी भी जाति का उत्थान असंभव है। 'जैन गजट' के संपादकीय वक्तव्यों के द्वारा ये सदैव जैनियों को सभी प्रकार की शिक्षा और कला-कौशल में पारंगत होने की प्रेरणा देते रहे। लौकिक और पारमार्थिक सभी दृष्टियों से विद्या ग्रहण के पक्षपाती होने पर भी विशुद्ध ज्ञान की परिभाषा देते हुए ये कहते हैं :—

"जो ज्ञान विषयानल का वर्द्धक हो, अन्य जीवों के विकास में बाधक हो, प्राणी को मान पर्वत पर आरोहित करता हो, जो अपने आपको विस्मरण कराकर पर्वत की तलहटी में में पटक देने वाला हो, वह ज्ञान किसी प्रकार अज्ञान से कम नहीं।

अतः—

"ज्ञान भी सांसारिक मोह की आकुलता से व्याकुल रहता है तो अज्ञान अंधकार की संज्ञा में ही आ जाता है।"

स्पष्ट है कि आध्यात्मिक विवेक से युक्त ज्ञान को ही वे वास्तविक ज्ञान मानते थे। अविद्या राक्षसी से बचने के लिए इसीकी आवश्यकता है।

इसी वास्तविक ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से वंचित रहकर हमारी जाति आज भी अंधकार में भटक रही है, मिथ्या संस्कारों में उसे आत्मकल्याण की मरीचिका के दर्शन हो रहे हैं परन्तु सुख, शांति और समृद्धि का दिन प्रति दिन ह्रास होता जा रहा है। कुमार जी ने समाज की नाड़ी पहचान ली थी और रोग का उपचार भी बतला दिया था। नारीत्व और पुरुषत्व के सम्यक् विकास से ही पूर्ण मनुष्यता का निर्माण संभव है। यदि समाज का एक अंग निष्क्रिय बना हो और दूसरा अर्द्धांग रोग से पीड़ित हो तो समाज व्यावहारिक जीवन में कितनी दूर आगे बढ़ सकता है ? नारी-शिक्षा ही समाज से मिथ्याज्ञान के विनाशकारी राक्षस का अन्त कर सकती है। इसीलिए कुमार जी कहते हैं:—

"हे भाइयों इस न्याय से कि जब तक गाड़ी के दोनों पहिए ठीक न होंगे गाड़ी नहीं चल सकती। आपको लड़कों की भाँति लड़कियों को भी पढ़ा लिखा कर विवेकवान कर देना चाहिए जिसमें पढ़े हुए दम्पत्ति आनन्द से गृहस्थ-धर्म की गाड़ी चला सकें।"

हमारे समाज में बाल-विवाह की कुप्रथा ने ही बालक-बालिकाओं के व्यक्तिगत विकास में रोड़े अटकाये हैं। कुमार जी का विचार ठीक ही था कि लौकिक ज्ञान और आध्यात्मिक विचार में पुष्ट हो जाने के पश्चात् ही बालक-बालिकाओं का विवाह एक सुखमय परिवार की स्थापना कर सकता है और समाज की समृद्धि बढ़ सकती है। समाज की जन संख्या पर भी इसका प्रभाव पड़ता है, यह कुमार जी जैसे दूरदर्शी व्यक्ति ही समझ सकते थे। इस संबन्ध में कितने क्षोभ के साथ वे कहते हैं—

"यह कमबख्त बाल-विवाह बालक-बालिकाओं को विद्यालाभ से वंचित रखने के अतिरिक्त उनके जीवन को बेकार ही नहीं किन्तु दुखदायी कर देता है। यहाँ तक कि बहुत से घरों का सत्यानाश हो जाता है और ताले लग जाते हैं। ....१० वर्ष के अन्दर आध लाख जैनियों के कम हो जाने का बड़ा भारी कारण एक बाल विवाह भी है।"

एक ओर इस प्रकार समाज की प्रगति रोकी जा रही है और दूसरी ओर समाज का वह अंग जो अपने वर्षों के अनुभव से अगली पीढ़ी को लाभ पहुँचा सकता था, विषयानल में समाज की कच्ची कलिकाओं को झोंक कर विधवाओं की संख्या ही नहीं बढ़ा रहा है, युवक समाज के समक्ष एक विनाशकारी आदर्श उपस्थित कर उसके भविष्य पर भी कुठाराघात कर रहा है। वृद्ध-विवाह

का कोई भी समाचार कुमार जी के हृदय में शूल की तरह चुभ जाता था। उनका हृदय रो उठता था। अबला जीवन के आँसुओं से उनकी वाणी सिक्त हो जाती थी। निम्न उदाहरण ही उनके हृदय की थाह लेने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता :—

"एक जैनी ने १३ वर्ष की बालिका को चौंसठ वर्ष के वृद्ध पुरुष के साथ विवाह दिया। हाय! पाठकों! इस भयंकर समाचार के बाँचने से क्या आपके कलेजे उस बिचारी अबला के दुःख सहने के क्लेशों को विचार कर भर न आये होंगे?"

मानसिक विकास के लिए शारीरिक शक्ति अनिवार्य साधन है; जो संयम, शील और सम्यक् आचार के द्वारा ही प्राप्य है। इस विषय पर कुमार जी अपने समाज का ध्यान सदैव आकर्षित करते रहे। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि समाज की उन्नति के लिए उसके सभी अंगों का विकास आवश्यक है। इस विकास के प्रधान साधन हैं (१) योग्य उपाय (२) योग्य मुखिया (३) हार्दिक सहायता। परन्तु पाण्डु रोग से ग्रसित इस जर्जर समाज की आँखें तो केवल पीले धब्बे ही देख सकती थीं। समाज के पिछड़े हुए व्यक्तियों को सहारा देकर संपूर्ण समाज की प्रगति में हार्दिक सहायता पहुँचाने की आवश्यकता हमारे योग्य मुखिया नहीं समझ पाते। परिणाम है समाज के एक एक कीर्तिस्तंभ का पतन और नवीन प्रतिभा का संकोच। कुमार जी के सामाजिक विचारों का मूल मन्त्र था—

"प्रत्येक मानव की चित्त भूमिका में ऐसे २ भाव रूपी बीजों को बोना कि जिनके द्वारा उस व्यक्ति की मानसिक शक्ति प्रबल होकर दृढ़ता के साथ जगत में व्यवहार करने योग्य हो जाय।"

कुमार जी के उपर्युक्त वाक्य के प्रत्येक शब्द में जैन-समाज के उत्थान का बीज छिपा हुआ है। आज जबकि सहस्रों वर्ष से पिछड़ी हुई जातियाँ भी अपने जातीय गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने में समर्थ बन रही हैं, एकमात्र केवल जैन-जाति भारतीय रंगमंच से अपना अस्तित्व भी खोती जा रही है। पूर्व गौरव के ढोल पीट कर कोई जाति अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकती, उसे वर्तमान की समस्याओं का निर्भीकता पूर्वक सामना करना पड़ेगा। खेद है कि कुमार जी की जातीय-भावना का लेश भी आज के जैन-समाज में नहीं रह गया। यही कारण है कि इस जाति का विलयन बड़ी तेजी से प्रारंभ हो गया है।

कुमार जी जैन-जाति के उत्थान में उस सांस्कृतिक चेतना के उत्थान का स्वप्न देखते थे, जो सदैव मानवता को संकटकाल से मुक्त कर जगत में सुख, शान्ति और समानता का संदेश फैलाती रही। जैन-संस्कृति के प्रसार में ही वे देश और विश्व का कल्याण मानते थे। पाश्चात्य संस्कृति के कुप्रभावों पर दृष्टिपात करते हुए वे कहते हैं—

"ऐसे समय पर जबकि चहुँ ओर आत्म धर्म लुप्त होकर एक ऐसी मायावी धर्माभासिनी देवी जगत के प्राणियों को विमोहित कर रही है कि जिससे वे सर्व सद्गुणों को पददलित कर शरीर को

सुन्दर वस्त्रों से आच्छादन करने में, पैरों को विलायती बहुमूल्य चर्म-पादुकाओं से सुशोभित करने में, खानपान में भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार छोड़ खड़े बैठे व सोये जो कुछ भी आया खा लेने में, अपनी बाहरी चालढाल की चमक दिखला जगत के मानवों में 'चतुर' कहलाने की चतुराई करने में तथा अपने स्वार्थ के सम्मुख पर के न्याययुक्त अर्थ को भी अपने सहस्रशः उद्यम के बल से दूर कर देने में अपना गौरव समझते हैं............।"

पाश्चात्य जगत की इस भोगवादी, उच्छृंखल, बाह्याडंबरयुक्त और स्वार्थमयी प्रवृत्ति ने ही हमारे देश की सुख-समृद्धि को नष्ट कर दिया है। इसका प्रभाव दूर करने के लिए त्यागमयी, संयत, आत्मविकासयुक्त और परमार्थमयी जैन-संस्कृति का प्रसार ही एकमात्र उपचार है। कुमार जी जैन-संस्कृति का प्रचार करने के लिए देश में ऐसे उपदेशकों का जाल बिछा देना चाहते थे जो देशी और विदेशी भाषाओं को जानते हों, प्रचलित हिन्दी में सुन्दर भाषण कर सकते हों, संस्कृत के धर्म ग्रन्थों से पूर्णतः परिचित हों, और सभी धर्मों के मूल तत्वों को हृदयङ्गम किये हों। वर्तमान वस्तुवादी भावधारा कुछ आध्यात्मिक मुनियों के उपदेशों से दूर नहीं हो सकती। ये नवीन उपदेशक देशकाल के अनुसार व्यावहारिक उपदेश देकर जनता में धर्म का सम्यक् प्रचार कर सकेंगे। कुमार जी इनका वेतन भोगी होना आवश्यक समझते थे। स्पष्ट है कि ये जैन-संस्कृति को कुछ अन्धभक्तों की दिखावटी श्रद्धा का विषय बनाना नहीं चाहते थे, बल्कि उसे युग की समस्याओं का समाधान करने वाला महान् साधक बनाना चाहते थे। खेद है कि इस प्रकार की योजना अबतक सफलता पूर्वक कार्य्य नहीं कर सकी, केवल इसलिए कि हमारे पूंजीवादी जैन समाज ने इसमें मुनाफे की कोई गुंजाइश नहीं देखी। इसके सामने तो परोपकार और धर्मप्रदर्शन के कुछ सधे सधाये नुस्खे तैयार हैं। परिणाम है कि एक ओर संपत्ति और शोषण के बल पर एक जनवर्ग देश की समृद्धि बढ़ाने वाले उत्पादन कार्य्यों से विरत रहकर केवल उपभोग को ही जीवन का लक्ष्य बना रहा है और दूसरी ओर साधन और अवसर से वंचित विशाल जनवर्ग भिक्षावृत्ति के द्वारा पेट पालने में ही जीवन की सार्थकता मान बैठा है। उत्पादन के बिना उपभोग देश को निर्धन बनाता जा रहा है। इस सम्बन्ध में कुमार जी के शब्द आज भी विचारणीय हैं :—

"खेद की बात है कि हमारे भारत में भी लाखों ऐसे भिखमंगे बच्चे घूमा करते हैं जिनको हमलोग पैसे दे दे कर हमेशा के लिए भिखारी तथा बदमाश बना देते हैं। क्या अच्छा हो यदि कोई परोपकारी इन सबको यथोचित शिक्षा दिलाने के लिए आश्रमों का यत्न करे और तब कोई किसी बच्चे को पैसा आदि बिना काम लिये न देवे। क्या यह कार्य्य देश सुधार की श्रेणी में गणना योग्य नहीं है?"

निर्धन भिखमंगों से भरा हुआ देश कुछ पूंजीपतियों के रहने से ही समृद्ध नहीं कहा जा सकता। प्रसिद्ध है कि 'बुभुक्षितं किन्न करोति पापं।" भूखा भारत धर्म, ज्ञान, रीति और नीति को

नहीं समझ सकता। ऐसे देश की संस्कृति का नाश अनिवार्य्य है और इसका मूल है उत्पादन से उदासीनता; स्पष्ट है कि कुमार जी ने अपने युग का कितना गंभीर अध्ययन किया था और उनके विचार युग से कितने आगे थे। जैन-संस्कृति इसी भोगवाद को दूर कर कर्मवाद की पक्षपाती है। इसीलिए इस संस्कृति के विकास की आवश्यकता है।

कुमार जी के अनुसार अपनी संस्कृति की रक्षा का दूसरा उपाय है अपनी भाषा का पठन-पाठन और उसके व्यवहार का प्रोत्साहन। वे न तो विदेशी शिक्षा के विरोधी थे और न पाश्चात्य कला-कौशल के विरुद्ध। उन्होंने भारतीय विद्वानों के लिए अंग्रेजी शिक्षा को आवश्यक माना, केवल इसलिए कि हम पाश्चात्य जगत से अपनी संस्कृति के अनुकूल नवीन भावनाओं को ग्रहण कर अधिक व्यावहारिक बन सकें। यदि हम मिथ्या स्वाभिमान के वश में पड़कर दूसरों के गुणों को भी त्याज्य समझने लगेंगे तो हमारी संस्कृति एक संकुचित परिधि में रहकर नष्ट हो जायगी। वही संस्कृति उन्नत हो सकती है जो प्रत्येक देश, काल और अवस्था में ग्राह्य बन सके।

शिक्षा का प्रसार होने से मानसिक विकास तो हो जायगा, परन्तु देश की निर्धनता को दूर करने का प्रधान उपाय शिल्प और कला की उन्नति है; जिससे अपने देश के प्राकृतिक उपादान और जनशक्ति के प्रयोग द्वारा हम विदेशों में निर्वासित अपनी लक्ष्मी का पुनः स्वागत कर सकेंगे। विदेशी वस्तुओं का प्रयोग हमारी उत्पादन शक्ति के लिए सबसे घातक अस्त्र हैं। स्वदेशी कल-करखानों की वृद्धि पर बल देते हुए वे कहते हैं —

"इसलिए जरूरी है कि हम कपड़ा, दियासलाई, लैम्प, आदि कुल चीजों के इतने कारखाने खोलें कि जिसमें हमें विलायत से मंगाने की जरूरत न पड़े"।

इस कार्य्य के लिए--

"हमको इस देश में ऐसे कलों व कारखानों के काम के जानकार मनुष्य पैदा करने चाहिए"।

और इसका सारा भार हमारे जैन-समाज पर है जो अपनी व्यापार बुद्धि के लिए प्रसिद्ध हो चुका है। विदेशों में जाकर इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करने वाले उनके ये शब्द हैं--

"हमारा तो यह विश्वास है, जबतक हमारे भारत के व्यापारप्रिय मारवाड़ी महाशय के विद्यार्थी अमेरिका जाकर शिल्प-विद्या लाभ न करेंगे तबतक इस देश में कारखानों का बढ़ना कठिन है।

इस सांस्कृतिक उत्थान के पुण्य कार्य्य में धर्म को बाधक मानना केवल अज्ञता का परिचय देना है। कुमार जी कहते हैं--

"जैन शास्त्रों में राजाओं और सेठों के जो चरित्र हैं उनमें बहुतों ने समुद्र यात्रा की थी, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अमेरिका व इंगलैण्ड में बिना मांस भक्षण किये कोई रह

नहीं सकता, यह भी गलत है। लाखों आदमी विलायत अमेरिका आदि में मांस व मदिरा त्यागी मौजूद हैं"।

देश में सांस्कृतिक जागरण की नवीन लहर तब तक उद्वेलित नहीं हो सकती, जब तक हम स्वयं अपनी संस्कृति को उसके शुद्धतम रूप में पहचानने योग्य नहीं बन जाते। सदियों की आत्म-विस्मृति ने हमारे सांस्कृतिक व्यवहारों की उपादेयता पर इतना पर्दा डाल दिया है कि हम उसके महत्व को समझ ही नहीं पाते। समाज में प्रचलित त्योहारों और अनुष्ठानों की विकृति ने उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को धूमिल कर दिया है। उदाहरणार्थ दीपावली के विषय में कुमार जी की सूक्ष्म दृष्टि देखिये—

"यह एक जैनियों का ही त्योहार है। कार्तिक वदी १५ के रोज प्रातःकाल श्री महावीर स्वामी का मोक्ष-कल्याणक हुआ और उसी रोज श्री गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसी रोज इनकी गंधकुटी रची गई, १२ सभाएँ लगीं, जिनमें स्त्री-पुरुषों ने आकर श्री गौतम स्वामी अर्थात् गणेश (गणधर) की अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी सहित पूजन की और धर्मोपदेश सुना"।

परन्तु आज हमारे जैन-समाज में क्या हो रहा है ?—

"हमारे अज्ञानी स्त्री-पुरुषों ने वीतरागी श्री गणेश (गौतम स्वामी) के पूजन को त्याग कर मिथ्या प्रवृत्ति को यहाँ तक मान लिया है कि रात्रि को हटरी रखकर मिट्टी के गणेश-लक्ष्मी की पूजन करने से अपने कुटुम्ब व धन की वृद्धि समझते हैं।

यह है आध्यात्मिक-संस्कृति को त्यागकर वस्तुवादी प्रवृत्ति की ओर आकर्षित होने का परिणाम कि हम अपने स्मरणीय लक्ष्य का वास्तविक स्वरूप भी भूल गये। संस्कृति का ह्रास इससे अधिक अब क्या हो सकता है ?"

कुमारजी की दृष्टि केवल अपनी जाति के उत्थान तक ही सीमित नहीं रह सकती थी। वह तो राष्ट्रीय उत्थान का एक अंगमात्र है। राष्ट्र के प्रत्येक घटक का विकास राष्ट्रीय-विकास का पूर्वाभास है। वे युग की प्रत्येक राष्ट्रीय भावधारा का समर्थन करने में सदैव तत्पर रहे हैं। स्वदेशी आन्दोलन इनके विचार के अनुकूल था। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग में ये देश की समृद्धि का विकास देखते थे।

"भावार्थ यह कि हमको महंगे, सस्ते, फैशन, गैरफैशन का खयाल छोड़कर अपने देश की की बनी चीजों का व्यवहार करना चाहिये, जिसमें यहाँ की कारीगरी चमक उठे और फिर हमें दुर्भिक्ष फंड खोलना न पड़े और न भारत की आरत की कहानी बयान करनी पड़े"।

भारतवासियों ने अभी तक इस पर ध्यान नहीं दिया है जिसका परिणाम है कि एक ओर तो हम अपने देश की बहुमूल्य उपज कच्चे माल के रूप में सस्ते दामों में विदेशों को भेज रहे और दूसरी ओर पेट बजा बजा कर दो मुट्ठी चनों के लिए समस्त संसार में अपनी अति करुण कहानी के

गीत गाते हुए लजा का अनुभव नहीं करते। देश में औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में इनके विचारों का सारांश हम पहले ही जान चुके हैं। विदेशों में स्वावलम्बन को कितना महत्व दिया जाता है और इस भवना को राष्ट्र के भावी कर्णधारों में किस प्रकार बैठा दिया जाता है इस पर दृष्टिपात करते हुए वे कहते हैं—

"अमेरिका में लोग अपने पुत्रों को स्वपोषण (Self help) का नियम सिखाने के वास्ते उनको आप खाना कपड़ा नहीं देते हैं बल्कि वे खुद मिहनत करके पैदा करते और कालिजों में विद्यालाभ करते हैं। .... पर खेद है हमारे लड़के आराम की कोठरी में बैठकर विद्या प्राप्ति करना चाहते हैं। भला कहीं मसनद की गद्दी पर बैठकर तप होता है ?"

क्या हमने कभी यह विचार करने की चेष्टा की है कि हमारा झूठा सन्तान-प्रेम स्वयं उसके भावी जीवन को कष्टदायक बना देता है और देश को निकम्मी जनसंख्या से भर देता है ?

बंगालियों ने जब स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार करने के लिए सभाओं का आयोजन किया तो ये कहते हैं—

"ऐसी सभा स्थान २ नगर २ और गाँव २ में होनी चाहिये कि भारत के व्यापार, शिल्प, कला-कौशल आदि की उन्नति हो। हमारे जैनी भाइयों को भी देश की भलाई में सम्मिलित होना चाहिए"।

अंग्रेजी सरकार के प्रति विद्रोह का प्रथम विस्फोट बंग-भंग के विरोध में मिलता है। उस समय कुमार जी शतशः जनता के पक्षपाती रहे। उनके शब्दों से कितनी दूरदर्शिता टपक रही है ?

"इस प्रकार प्रजा की पुकार पर ध्यान न देना एक भारी राजनैतिक भूल है और बुरे परिणामों से खाली नहीं है"।

परन्तु वे किसी भी राष्ट्रीय अन्दोलन में नीति का भंग करना उचित नहीं समझते थे। उपदेश देकर सरलता से काम निकलने में उन्हें विश्वास था। परन्तु समाज, राष्ट्र और संस्कृति के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझने और तदनुसार कार्य्य में तत्पर होने की क्षमता हममें उसी समय आ सकती है जब हम अपने धर्म को समझलें अर्थात् विचारने और कार्य्य करने की उस प्रणाली को हृदयङ्गम करलें जो देश, काल और अवस्था के अनुकूल हमारी मौलिक प्रकृति से सामञ्जस्य रखती हो। सामाजिकता मनुष्य की मौलिक प्रकृति है और मस्तिष्क उसकी सबसे बड़ी विशेषता। इसीलिए निःस्वार्थ कर्म और दूरदर्शिता मानवधर्म के अभिन्न अंग हैं। जैन-धर्म के इस गूढ़ तत्व ने कुमार जी को आकर्षित कर लिया था। जिसे उन्होंने बड़े सरल शब्दों में व्यक्त भी किया है —

ऋषियों के वाक्यों पर.........ध्यान दीजिए। वे कहते हैं, हे भव्य जीवों! संसार के

दुःखों से छूटने के लिए अपने कर्मों की निर्जरा कीजिए.......कर्मों को दूर करने का उपाय ध्यान है....... ध्यान ज्ञान और वैराग्य से होता है .... ज्ञान और वैराग्य परिग्रह की ममता को दूर करने व सत्संगति से प्राप्त होते हैं।

वह धर्म वास्तविक नहीं कहा जा सकता जो हमें, परलोक की सुनहली आशा में फँसाए रखकर इसलोक में अकर्मण्य बना दे। सच्चा धर्म तो लौकिक क्षेत्र में भी उन्नति का पथ प्रदर्शित करता रहता है और भविष्य से भी निश्चिन्त बना देता है। ऐसे आत्म धर्म का सच्चा परिचय पाने के लिये अनुभवी साधक के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं। जिस जाति में ऐसे धर्म गुरुओं का अभाव हो गया उसका भविष्य अन्धकारमय नहीं तो और क्या? इसीलिए कुमार जी दुःख के साथ कहते हैं:—

"यद्यपि दो या चार क्षुल्लक हमें इधर उधर दिखलाई पड़ते हैं पर ये विद्याहीन व ध्यान के मार्ग से अनभिज्ञ होने के कारण न तो अपना भला न दूसरों का भला कर सकते हैं।"

परन्तु आज भी हमारे पास अपने पूर्वजों की वह अतुल निधि वर्तमान है जिसे उपयोग में लाकर हम अपनी इस प्रज्ञात्मक दरिद्रता का ही नाश नहीं कर सकते; किन्तु संसार के समस्त आकांक्षी आत्माओं को मुक्तहस्त दान देकर तृप्त भी कर सकते हैं। हमारे शास्त्र मुक्त आत्माओं के अनुभवों, विचारों और सन्देशों के अक्षय भण्डार हैं। आवश्यकता है इनके जीर्णोद्धार की और उनके आधार पर आधुनिक भाषाओं में छोटे छोटे ग्रन्थों के निर्माण की। परन्तु यह तो तभी संभव है जब हमारे हृदय में उन शास्त्रों के प्रति आदर का भाव हो, उनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग को हम अपनी उन्नति का एकमात्र सहारा समझें और उनपर ध्यान देना लौकिक दृष्टि से भी आवश्यक मानलें। परन्तु आज क्या अवस्था है?

"भाई साहब आपको हँसी आवेगी लेकिन इतने शास्त्र सुने कि पूरे ४०, ४५ वर्ष सुनते हो गए, परन्तु अभीतक यह भी मालूम नहीं पड़ा कि जो शास्त्र जी बाँच रहे हैं, उनका नाम क्या है। यदि कभी पंडित जी पूछ बैठते हैं कि कहो साहब! कल क्या पढ़ा गया था और आज क्या पढ़ा गया है, तो हम सुनकर हँस देते हैं और झट कह देते हैं कि पंडित जी इनकी तो हमें कुछ भी खबर नहीं है। अब आप ही बताइये हमारा परलोक कैसे सुधरेगा।"

परलोक ही नहीं आत्मबल, आत्मगौरव और आत्मचिन्तन को भूल कर आज हम इस लोक में भी बिगड़ते जा रहे। आत्म-धर्म की हानि का एक विशेष कारण भी है। कुमार जी द्वारा तथ्य की सूक्ष्म अनुभूति देखिए:—

"यदि शास्त्रों के स्वाध्याय से व किसी कारण से किसी का चित्त संसार से उदास भी हुआ और ज्ञान तथा वैराग्य के सन्मुख भी हुआ तो उसको कोई स्थिर करने वाला व दिलासा देनेवाला व उसके विचार को सराहने वाला नहीं मिलता है, जिससे.......उसका वैराग्य क्षणस्थायी रहकर

सदा के लिए अन्त हो जाता है।

यह उनलोगों की कहानी है जो लंबे तिलक से आभूषित होकर धार्मिक कृत्यों की पहली पंक्ति में उचकते हुए देखे जाते हैं। आधुनिक यान्त्रिक सभ्यता को मानवता का चरम विकास मानने वाले सुसभ्य नवयुवकों के लिए तो ये ग्रन्थ पुरातत्ववेत्ताओं के लिए ही उपयोगी हैं और ऐसे व्यक्ति चिड़ियाखानों में सुशोभित होने योग्य। कुमार जी धर्म के सामाजिक महत्व से पूर्णतः अवगत थे उनका विचार था कि धर्मरक्षा के लिए किसी धर्मावलंबी की सामाजिक एकता भी आवश्यक है अन्यथा उस धर्म का भी नाश होने लगता है।

धर्म प्रचार के लिए वे ईसाई मिशनरियों की पद्धति का प्रयोग इस युग के अनुकूल समझते थे। धर्मोपदेशकों की योग्यता के विषय में उनके विचार हम जान चुके हैं। उसके अतिरिक्त वे कहते हैं:—

"यदि हमारे जैनधर्म की भी पुस्तकें छोटी छोटी लिखकर इस प्रकार पढ़े लिखे लोगों में बाँटी जायँ तो जिनधर्म का महत्व सर्व साधारण पर प्रकट हो जाय।"

जैन-धर्म के प्रति इनके विचारों का सार 'जैन गजट' में प्रकाशित एक सूचना में मिल जाता है:—

"बड़े दिनों की तातीलों में उस धर्म की सभा होगी जो धर्म संसारी जीवात्माओं को परमात्मा बना देने के मार्ग का निरूपण करने वाला है।"

स्पष्ट है कि इस धर्म के प्रधान तत्व विश्वबन्धुत्व और कर्मयोग पर इनका अटूट विश्वास था।

अपने धर्म के प्रति एकनिष्ठा रखते हुए भी कुमार जी सांप्रदायिकता की मनोवृत्ति से लिप्त न थे। उनका कथन है कि—

"·······निष्कारण कटाक्ष रूप वचनों की वर्षा अन्य मतों पर करना छोड़ कर न्याय और योग्यता को अपने हृदय का हार बनावे, जिससे जगत में लज्जित न होना पड़े।"

परन्तु अपने धर्म की मर्य्यादा भंग करने वाली कोई भी घटना सुन कर ये उबल पड़ते थे। पालीताना के ठाकुर साहब एकबार जूता पहने एक जैन मन्दिर में प्रवेश कर गये। इस घटना की आलोचना करते हुए ये निर्भीकता पूर्वक कहते हैं:—

"·······जैनी क्या कोई भी धर्मावलंबी अपने देवालय में किसी को जूता पहन कर नहीं जाने देगा। ·······श्रीमान को उचित है कि देशमात्र के धर्मों का गौरव बनाये रखें।"

मानव-धर्म का सम्यक्-विकास करने के लिए उत्कृष्ट साहित्य का विकास भी आवश्यक है क्योंकि इसीके माध्यम से हम अपने पूर्वजों के विचार जान सकते हैं और अपने जीवन में उनका उपयोग कर सकते हैं। कुमार जी ने इस युग की प्रचलित भारतीय भाषा हिन्दी का पक्ष ग्रहण

किया, क्योंकि इसके द्वारा जनसमाज में किसी विचार का प्रसार अत्यन्त सुलभ और प्रभावोत्पादक हो सकता है। विदेशी भाषा से यह कार्य्य कठिन हो जाता है और हमारी उन्नति की गति धीमी पड़ जाती है। उनका कहना है—"हमारे लिखने का यह प्रयोजन नहीं है कि विदेशीय भाषा न सीखी जाय, किन्तु यह है यदि हम अपनी मातृभाषा में विज्ञान की चर्चा, डाक्टरी की पुस्तकें, वकालत के ग्रन्थ आदि पढ़ने लगें तो हमारा कितना समय बचे और वह बचा हुआ समय उस हुनर की उन्नति में लगाया जाय तो हमारे यहाँ विद्या का प्रकाश कितनी जल्दी हो।"

इसलिए अपनी मातृभाषा का साहित्य भाण्डार भरने के लिए—

"हमारे स्वदेशवासियों का यह कर्त्तव्य है कि वे नाना प्रकार की विद्याओं की पुस्तकों का उलथा विदेशीय भाषाओं से सुगम देवनागरी भाषा में करके धीरे धीरे इस बात का प्रचार बढ़ावें कि सामान्य नागरी जाननेवाला महाजन व दूकानदार भी उन पुस्तकों को पढ़कर उस विद्या के ज्ञान से तो विज्ञ हो जाय।"

नहीं तो निश्चित है कि—

"देश की उन्नति बिना स्वदेशीय भाषा का आश्रय लिए तथा विद्या की प्राप्ति में विदेशीय भाषा का आश्रय छोड़े नहीं हो सकी है।"

भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में ये सरलता के पक्षपाती थे—

"संस्कृत शब्दों की अधिकता.............विशेष रुचिकर न होगी। उनके स्थान में आजकल के बोलचाल के शब्दों में वस्तुओं के स्वरूप को समझाने से विशेष लाभ होने की आशा है।"

इसीलिये वे हिन्दी-प्रचार में जैनियों को भी सहयोग देने का परामर्श देते हैं—

"आरा नागरी प्रचारिणी सभा हिन्दी प्रचार में यथोचित यत्न करती रहती है। हम इसकी सफलता के इच्छुक हैं। देशोपकारी जैनियों को भी उक्त सभा के साथ विशेष सहानुभूति रखनी चाहिये।"

हिन्दी-साहित्य के विकास में सर्वप्रधान बाधा रही है, ग्रन्थकारों के प्रति प्रोत्साहन का अभाव; नहीं तो—

"भारतवर्ष में हिन्दी लेखकों का टोटा नहीं है। परन्तु उनके ग्रन्थ द्रव्याभाव से नहीं छपते और पड़े पड़े सड़ जाते हैं। ग्रन्थकार भी समुचित आदर तथा पुरस्कार नहीं पाकर हताश हो जाते हैं।"

ये स्त्रियों को भी लेखन कार्य्य के लिए उत्साहित करते रहते थे। साहित्य के कुछ अंगों के प्रति इनके व्यक्तिगत सिद्धान्त भी विचारणीय हैं। नाटक के अभिनेता के गुणों का निरूपण करते हुए ये कहते हैं—

"नाटक में उसी एक्टर (खिलाड़ी) की प्रशंसा होती है जो कि उसी भाव में भींगकर मानो वही हो जाता है।"

क्योंकि भारतीय दृष्टि से भावों का साधारणीकरण ही नाटक की सफलता है और—

"हजारों मनुष्यों के चित्तों में अपने चित्त का भाव खींच देना उसी समय संभव है जबकि उस रूप हो जाय।"

पारसी नाटकों के प्रति घृणा का यही कारण है—

"साहित्य की उन्नति का अंग नाटक भी है किन्तु आजकल भारतवर्ष में नाटकों की श्रद्धा पारसी नाटकों ने उठा दी है।"

उत्कृष्ट नाटक देश की उन्नति में कितने सहायक होते हैं!—

"यदि श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र जी भारतेन्दु के नाटक खेले जायँ तो आज भी भारतवर्ष इंगलैण्ड के समान उन्नति शिखरावलंबी हो जाय।"

परन्तु 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' सिद्धान्त निरूपण सरल है अपने जीवन में उन्हें कार्य्यरूप में परिणत करना किसी बिरले महापुरुष के लिए ही संभव है। कुमारजी ऐसे ही दुर्लभ व्यक्तियों में अपना स्थान रखते थे। उन्होंने जो कुछ कहा उससे अधिक स्वयं कर दिखलाया।

केवल बाईस वर्ष की आयु में एकमात्र जीवन-साथी प्रिय अनुज बा० धर्मकुमारजी को इनसे छीनकर मानो विधाता ने इन्हें बलात् कर्मयोग की कठिन परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया। अभी कुछ मास पहले ही विवाहित, उनकी चतुर्दशवर्षीय विधवा पत्नी श्री पं० चन्दाबाई का भविष्य इनकी सफलता का प्रमाणपत्र था। इन्होंने इस कठिन कार्य्य के सम्पादन में जिस धैर्य्य और व्यवहारकुशलता का परिचय दिया, उसके फलस्वरूप आज 'जैन-बाला-विश्राम' उस विदुषी पण्डिता के संरक्षण में नारी-जागरण की पताका फहराता हुआ देशभर में इनके नारी-शिक्षा के सन्देश को प्रवाहित कर रहा है। नारी-शिक्षा को ही ये देशोन्नति का आधार-स्तम्भ मानते रहे और उसी कार्य्य से इनकी सामाजिक सेवा का श्रीगणेश भी हुआ। आरा में कन्या पाठशाला की स्थापना कर, स्त्री लेखिकाओं को पुरस्कार इत्यादि के द्वारा जैन-गजट में लेख देने के लिए प्रोत्साहित कर, जैन-गजट की प्रतियाँ शिक्षित स्त्रियों को निःशुल्क बाँटकर, और उनकी धार्मिक शिक्षा का यथोचित प्रबंध कर इन्होंने इस कार्य्य में आशातीत उन्नति की। कुमारजी के परिश्रम का ही फल है कि आज आरा के जैन-समाज में एक भी निरक्षर महिला ढूँढ़ने से भी नहीं मिल सकती और 'विश्राम' से शिक्षा-प्राप्त स्नातिकाएँ किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय के स्नातकों से कम योग्यता नहीं रखतीं।

समाज के बालकों को अपनी संस्कृति और सभ्यता का प्रज्वलित आलोकस्तंभ के रूप में देखने के लिए भी उन्होंने कम प्रयत्न नहीं किया। अखिल-भारतीय जैन महासभा के एक

वार्षिक अधिवेशन में इन्होंने शिक्षा सम्बन्धी जो प्रस्ताव उपस्थित किये वे इनके लक्ष्य पर प्रकाश डालते हैं।

(१) पाठशालाओं की संभाल के लिये एक जुदा मन्त्री होना चाहिये।

(२) परीक्षालय का काम 'बालबोधिनी परीक्षा' से 'पंडित परीक्षा' तक मय अंग्रेजी के ठीक किया जाय।

(४) महाविद्यालय को सच्चा जैन कालेज बनाने के लिए कम से कम.........मासिक आमदनी......... का प्रबन्ध किया जाय.............महाविद्यालय में एक बहुत योग्य अंग्रेजी पढ़े बी० ए० जैनी को सुपरिन्टेन्डेन्ट नियत किया जाय जो कि विद्यार्थियों की शारीरिक व मानसिक और विज्ञानीय उन्नति की ओर सदा ध्यान रक्खे।

इसी ध्येय की पूर्ति के लिये इन्होंने १२ जन सन् १९०५ को काशी में स्याद्वाद पाठशाला की स्थापना की थी जो बाद में एक महाविद्यालय के रूप में परिणत होकर आज भी स्याद्वाद दर्शन की शिक्षा से जैन-नवयुवकों को अपनी संस्कृति की ओर आकर्षित कर रही है। जैन बालकों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए आरा में भी इन्होंने एक जैन-पाठशाला की स्थापना की थी जो समाज से उचित सहयोग न पाने के कारण उनके जीवन-पर्य्यन्त ही सुचारुरूप में काम कर सकी। इन्होंने जैन-धर्म की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम-निर्धारण और उनके संचालन में सहयोग देकर परीक्षार्थियों का उत्साह भी बढ़ाया।

लुप्त होती हुई जैन-संस्कृत के पुनर्विकास का प्रयत्न तो इनके जीवन का सर्वप्रधान ध्येय बना रहा। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के पाक्षिक मुखपत्र जैन गजट की संपादकीय टिप्पणियाँ इनके सतत् जागरूक विचारों से सुषुप्त जैन-समाज को झकझोरती रहीं। आरा में एक जैन धर्म प्रचारिणी सभा की स्थापना कर नियम पूर्वक प्रत्येक सप्ताह उपदेशपूर्ण व्याख्यानों की आयोजना द्वारा ये समाज में धर्म-भावना का संचार करते रहे। इनके जीवन का सबसे महत्व-पूर्ण कार्य्य जिसने उन्हें सदा के लिए अमर ही नहीं बना दिया, जैन-संस्कृति के पुनरुद्धार में आशातीत नवचेतना उत्पन्न कर दी; इनका दक्षिण के मन्दिरों में भ्रमण कर प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थों का चयन था। सन् १९०७ में इन्होंने यह पुण्य-कार्य प्रारंभ किया था। इनके साथ चुने हुए उपदेशक, भजनीक और पंडित भी थे। दक्षिण में छिपे हुए उस विशाल रत्नभण्डार को प्रकाश में लाने का श्रेय एकमात्र इन्हींको है। अनेक ग्रन्थों की मूल प्रतियाँ तथा अन्य की प्रतिलिपियाँ संग्रह कर इन्होंने आरा में एक विशाल शास्त्रागार की स्थापना की। "जैन-सिद्धान्त-भवन" आज उन अमूल्य रत्नों को सबके लिए सुलभ बना रहा है जो हमारी संस्कृति के प्रकाशपुंज है। इन्होंने सभी स्थानों पर वहाँ के निवासियों को पुस्तकालय स्थापित करने का परामर्श दिया और इस कार्य्य की उपयोगिता पर ध्यान दिलाया। दक्षिण के मन्दिरों में हिन्दू-

मन्दिरों की पण्डागिरी का बोलबाला था। उसे दूर करने के लिए इन्होंने अथक परिश्रम किया और आज वह बहुत कुछ मिटाया जा चुका है। श्री बाहुबली स्वामी की प्रतिमा के समक्ष इन्होंने प्रण किया कि जबतक जैन-धर्म से संबन्धित संपूर्ण साहित्य की खोज पूरी नहीं हो जायगी और उसकी सुरक्षा का यथोचित प्रबन्ध नहीं हो जायगा; मैं ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करूँगा।

इस प्रकार बम्बई, श्रवणबेलगोला, मैसूर, बंगलोर तथा अन्य स्थानों के सभी मन्दिरों का निरीक्षण करते हुए ये मूड़बिद्री पहुँचे। यहाँ पर प्राप्त जैन मूर्त्तियों और पुरातत्त्वों के विशाल भण्डार से वहाँ के अनभिज्ञ जैन-समाज को उदासीन देखकर इन्होंने एक सभा का आयोजन किया और उन्हें धर्म तथा शिक्षा के प्रति श्रद्धान्वित किया। फलस्वरूप वहाँ के जैनियों में एक नवीन जाग्रति फैल गयी और शीघ्र ही पर्य्याप्त धन इकट्ठा कर इनके द्वारा प्रदर्शित कार्य्यक्रम का अनुष्ठान आरंभ हो गया। इस प्रकार इन्होंने समस्त दक्षिण-प्रान्त के जैन-समाज को अपनी संस्कृति से अवगत कराकर लुप्त जैन-संस्कृति को फिर से स्थापित किया।

कुमार जी ने अखिल-भारतीय-जैन-महासभा को भी अपनी अद्वितीय जीवन-शक्ति से अनुप्राणित कर उसे जैन-समाज का सच्चा प्रतिनिधि बना दिया। सन् १६०७ में उक्त महासभा के कुण्डलपुर के अधिवेशन में सभापति के आसन से इन्होंने जो विचार प्रकट किये वे आज भी जैन-समाज के भावी-कार्य्यक्रम की आधारशिला बनने की योग्यता रखते हैं। इनके द्वारा निरूपित जैन-समाज की आधुनिक अवस्था का दयनीय विवरण जातीय गौरव से युक्त किसी भी जैनधर्मावलम्बी में उत्साह उत्पन्न करने के लिए पर्य्याप्त है।

कुमारजी अपने व्यक्तिगत जीवन में भी धार्मिक आचरणों को कितना महत्व देते थे इसका परिचय इसीसे मिल सकता है कि भाद्रपद के पवित्र मास में इन्हें जैनगजट के प्रत्येक अंक में दो चार पृष्ठ सम्पादकीय देने का नियम भी त्यागना पड़ जाता था। धार्मिक ग्रन्थों की सूची निर्माण करने के लिए इन्होंने १६ अक्टूबर सन् १६०५ को एक सूचना प्रकाशित की थी—

"हम भारत मात्र के जैन शास्त्रों की सूची बनाना चाहते हैं। जहाँ जहाँ जैन शास्त्रों के भण्डार हों वहाँ वहाँ के भाई हमसे फार्म मंगा लें और भरकर भेज दें तो बड़ी कृपा हो"।

यही नहीं इन्हीं के उद्योग से 'जैन यंगमेन्स ऐसोसियेशन' नामक धार्मिक ग्रन्थ प्रकाशक कमेटी का संगठन भी हुआ, जिसके ये स्वयं वाइस-प्रेसिडेन्ट थे। ये सदैव योग्य छात्रों को तमगे और वजीफे देकर उत्साहित करते रहते थे। जैन एसोसियेशन के छठे अधिवेशन में इन्होंने शुद्ध संस्कृत उच्चारण के लिए तथा जैन-धर्म पर एक पुस्तक लिखने के लिए दो तमगे बाँटे थे। अपनी जाति के विस्मृत लोगों को पुनः संस्कृत करने के कार्य्य में ये अत्यन्त तत्परता दिखलाते थे। राँची के पास बुंदू नामक स्थान में कुछ आत्मविस्मृत जैन जाति का पता पाकर इन्होंने शीघ्र ही जैन गजट में यह सूचना प्रकाशित की—

—यदि महासभा कोई उपदेशक इस डूबती हुई जाति के उद्धारार्थ भेज दे तो इसके व्यय आदि का प्रबन्ध 'जैन यंगमेन्स एसोसियेशन' की आरा ब्रान्च करने को तैयार हैं।

कहना नहीं होगा कि यह प्रबन्ध पूर्णतः कुमार जी की व्यक्तिगत उदारता पर निर्भर था।

जैन-जाति और जैन-धर्म के पुनरुद्धारक कुमार जी को हम अपने युग के प्रगतिशील साहित्य-निर्माता के रूप में भी पाते हैं। इनके द्वारा संपादित "जैन गजट" केवल एक सांप्रदायिक वर्ग का पत्र नहीं था, इसमें हमें उस युग की प्रत्येक हलचल का परिचय मिल जाता है। देश-विदेश के समाचार, राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं पर विचार विनिमय, साहित्यिक लेख और राजनैतिक महत्व के विषय भी इसमें यथोचित स्थान पाते थे। यही कारण है कि इनके प्रबन्ध में आने के पश्चात् शीघ्र ही यह पत्र इतना प्रसिद्ध हो गया कि इसे पाक्षिक से साप्ताहिक कर देना पड़ा। हिन्दी-प्रचार में सक्रिय भाग लेते रहने के कारण ही संवत् १९६२ में 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा' का प्रथम अधिवेशन इन्हीं के सभापतित्व में मनाया गया।

कुमार जी स्वयं अपने युग के प्रसिद्ध लेखकों में स्थान रखने की क्षमता रखते थे। इनकी भाषा प्रचलित उर्दू शब्दों से समन्वित शुद्ध हिन्दी होती थी। यद्यपि कहीं कहीं व्याकरण की भूलें भी मिल जाती हैं परन्तु उस युग में जब द्विवेदी जी का लौह-पंजा अभी भाषा के परिष्करण की ओर झुका ही था, इसपर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सकता।

उनकी लेखनी से प्रसूत परिमार्जित अलंकारमयी भाषा में एक गुम्फित वाक्य का उद्धरण उनकी शैली को समझने के लिए पर्य्याप्त होगा:—

"हम विशेष न लिखकर अपने विचारवान भाइयों से प्रार्थी हैं कि वे इस परम धार्मिक कार्य्य को विशेष उत्तेजना के साथ चलाने के लिए अवश्य अपने अपने नगर में आगामी वर्ष अधिवेशन की अनुमती का पत्र द्वारा व स्वयं दो चार प्रतिनिधियों को सभा में भेजकर अपने हौसले का फूल खिला देंगे जिसमें दर्शकों का मन आनन्द से भर जाय और कार्य्य कर्त्ताओं को उस फूल की सुगन्धि विशेष रूप से प्राप्त हो जाय जिसमें उनके मस्तिष्क एक बड़ी भारी शक्तिके साथ महासभा की सेवा में लवलीन हो सकें।"

एक रथ यात्रा के वर्णन में उनकी निरीक्षण शक्ति और वर्णन शैली का स्वरूप मिलता है—

"झंडियों की बहार और बाजों की ध्वनि मानो पुकार २ कर दूर २ से धर्म के प्रेमियों को बुला रही है और यह सूचित कर रही है कि यदि संसार के दुःखों से बचना है तो श्री वीतराग भगवान की सवारी का दर्शन करो और उनके उपदेशों को भजनों के द्वारा सुनकर चित्त में विराजमान कर लो। इतने में श्री अरहन्त देव की शुक्ल पाषाणमयी मूर्ति एक बहुत बड़े सुवर्ण के रथ पर विराजमान दर्शित हो रही हैं।"

सूक्ष्म अनुभूति, कल्पना और अभिव्यक्ति की वक्रता इत्यादि साहित्य के सभी प्रधान गुण उपर्युक्त पंक्तियों में वर्तमान हैं।

कुमार जी सुन्दर कविता भी करते थे। इनकी काव्य-रचना में खड़ी बोली का जो परिमार्जित स्वरूप मिलता है वह उस युग के लिए प्रशंसनीय है—

"सुवर्णगर्भा इस भारत को कहते थे सब लोग।
भारतवासी हुए भिखारी चहुंदिक छाया शोक॥
हृदय आपका हिल जायेगा भारत दशा निहार,
शोक शोक की धूम मची है चहुं दिक हाहाकार॥
अचल कीर्ति का अपना स्वामी कीजे यहाँ प्रचार।
स्वागत! श्री युवराजमहोदय! स्वागत राजकुमार॥

उपर्युक्त पंक्तियाँ एक राष्ट्रीय विचारधारा को व्यक्त करने वाली मार्मिक अभिव्यक्ति से सिंचित हैं। कवि जन समाज के हृदय तक पहुँच कर उसकी अभिव्यक्ति में भी सफल हुआ है। करुण-रस के सभी अंग इस छन्द में वर्तमान हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि कुमार जी जातीय गौरव से पूर्ण, धर्मधीर, उदार, विद्वान्, विचारवान, व्यावहारिक, राष्ट्रप्रेमी, लोकहितैषी, परिश्रमी, अध्ययनशील और सहृदय जन-सेवक थे। उनके जीवन का एक निर्दिष्ट लक्ष्य था और उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उनके सामने था एक व्यवस्थित कार्यक्रम। क्षणिक आवेश में किए गए किसी कार्य्य को वे महत्व नहीं देते थे। उनका कहना था—

"प्रबन्ध कर्ताओं को कार्य्य के आरंभ में यह अवश्य देख लेना चाहिए कि हम इस कार्य्य को चिरस्थायी करते हैं न कि थोड़े दिन के लिए"।

कुण्डलपुर के वार्षिक अधिवेशन में समाज के समक्ष प्रगति का कार्य्यक्रम उपस्थित कर जब ये लौटे तो तदनुसार कार्य्यक्षेत्र तैयार करने की आयोजना करने लगे। परन्तु 'मेरे मन कुछ और है विधि के मन कुछ और' नीति के अनुसार वहाँ से आते ही ये भयानक रोग से पीड़ित हो गये। साढ़े तीन मास तक ये रोगशय्या पर पड़े रहे। इस अवस्था में भी वे अपने धार्मिक नित्यकर्मों में कुछ भी अन्तर नहीं आने देते थे। घातक रोग की भीषणता से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके समक्ष केवल जाति का भविष्य था और जिह्वा पर भगवद्नाम का जप। प्रसिद्ध जैन विद्वान् और साधु श्री वर्णी नेमिसागर जी सदैव इनके पास रहकर आध्यात्मिक वातावरण के द्वारा इनकी आत्मा को तृप्त कर रहे थे। ज्यों ज्यों रोग बढ़ता गया संसार की ओर से विरक्ति होती गयी और आत्मचिन्तन में ये लीन रहने लगे। जैन-साहित्य की रक्षा और समाज सुधार का काम सुचारु रूप से चलता रहे, इस दृष्टि से इन्होंने लगभग दस हजार रुपये वार्षिक आय की एक लाख से अधिक की संपत्ति समाज को दान कर उसके प्रबन्ध के लिए एक ट्रस्ट का संगठन कर दिया। कुमार जी का यह अन्तिम उद्योग आज जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा कन्या पाठशाला, स्याद्वाद महाविद्यालय

बनारस, श्री धर्मकुमार दातव्य औषधालय आरा, तथा विभिन्न जिनालयों को आर्थिक सहायता प्रदान कर उनके जीवन की साधना को चिरस्थायी बना रहा है। समाज के प्रति उनका अन्तिम सन्देश यही था कि वे जैन संस्कृति को मानव-विकास का साधन बनाना चाहते थे और भगवान महावीर के अनुयायी होने के नाते उनके शान्तिमय विचारों से समस्त विश्व को सांसारिक ज्वाला से मुक्त करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे।

अन्तिम अवस्था में शल्य-चिकित्सा के लिए कुमार जी कलकत्ता ले जाये गये। चिकित्सक इनकी आरोग्यता से निराश हो चुके थे और अब इनकी भी इच्छा जीने की नहीं रह गयी थी, बल्कि यथाशीघ्र मृत्यु को आलिंगन कर नव जीवन प्राप्त करने की थी। मृत्यु के छः घण्टे पहले इन्होंने सल्लेखना व्रत धारण कर लिया और जीवन लाभ करने पर भी अनाहार का निश्चय कर लिया। इसके बाद इन्होंने अपने पास से नेमिसागर वर्णीजी को छोड़ कर सबको हटा दिया और स्वयं आत्म-चिन्तन और शास्त्र श्रवण में मग्न हो गये। इसी शान्तिमय अवस्था में संवत् १६६४ की श्रावण शुक्ला अष्टमी को जैन-समाज का यह प्रकाशपुंज उस विद्युत रेखा के समान चमक कर अदृश्य हो गया जो भयानक मेघमण्डल से आच्छादित गगन के अन्धकार में आगे बढ़ते हुए पथिक को मार्ग की अस्पष्ट झाँकी देकर विलीन हो जाता है ; समाज को पुनः अन्धकार में टटोलने के लिए असमय में छोड़ देने वाले इस मार्ग प्रदर्शक से वंचित होकर संपूर्ण जैन समाज ही नहीं आसमान भी अश्रुधारा बरसा रहा था। परन्तु इस क्षणिक आलोक में ही उन्होंने हमें मार्ग का जो आभास दिया है, उसे ग्रहण कर हम सरलता पूर्वक आत्म विस्मृति को इस भयानक अँधियारी में आगे बढ़ते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं जहाँ पर है केवल शान्ति, सौहार्द, सन्तोष और समृद्धि।

बाबू देवकुमार जी के प्रति

[रचयिता—श्री महेन्द्र 'राजा']

धन्य हो तुम ध्रुव यशस्वी, ज्ञान-मन्दिर के पुजारी,
वन्दनीय, विशाल-वन्दित, दीन-जन के कष्टहारी।
हृदय था सुविशाल पाया, निष्कलंक चरित्र थे तुम,
शान्ति के एकान्त सेवी, छात्र-हितकारी बने तुम ॥

तुम वदान्य-वरेण्य राजा, कर्ण से थे महादानी,
एक निष्ठ, सजीव प्रतिमा, त्याग की थे निरभिमानी !
तुम न भूले संस्कृत को, संस्कृति के पुजारी तुम,
देव ! आरा सत्य ही तो बन गया अब 'देव-आश्रम' ॥

तुम्हारी दृष्टान्तभूत चरित्र-निर्मलता कहें क्या ?
सत्यवादी, सुहृद, विद्यारसिक तुम सब थे; नहीं क्या ?
हुआ कातर हृदय दुःख लख, दूसरों का नयन-भर-जल,
मुस्कराये दूसरे क्षण दे दया का दान निर्मल ॥

किया निर्भय दीन-जन को; वह तुम्हारी थी मनुजता,
वह मनुजता थी कि या थी, वह मनुज-हृद की सरलता।
तुम न हँसते थे कभी, पर हृदय में था हास्य रहता,
सहज, मन्द सुमधुरता का एक मौन प्रपात बहता ॥

तुम न सामाजिक-जगत में कभी पीछे हटे, बढ़ते—
ही गये तुम सदा ही, निष्काम-भावी चरण धरते।
मूक-वाणी के स्वरों में, कह रहा है 'देव-आश्रम'
यह तुम्हारी सजग स्मृति, यह तुम्हारा 'बाल-आश्रम' ॥

तुम रहे सिद्धान्त के पक्के, चले सिद्धान्त लेकर,
आज गाथा गा रहा तेरी, 'भवन-सिद्धान्त' सुन्दर।
देव ! कवि के स्वर मिला लो, आज अपनी साधना में,
कवि न विस्मृत भूल जावे, कह रहा क्या भावना में ?

बाबू देवकुमार जी : एक संस्मरण

[ले० —श्रीयुत् पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ]

संस्मरण दो प्रकार का होता है निर्जीव तथा सजीव। जिसके संस्मरण से सार्व-जनीन कार्यों के लिए कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिले वही निर्जीव संस्मरण है अन्यथा सजीव। मानवरूप में अवतीर्ण बाबू देवकुमारजी ने औदार्यपूर्ण विश्वजनीन कार्यों से अपने को अक्षरशः-अमर सिद्ध कर दिया है।

भूतकाल की पूर्णता की पराकाष्ठा को पार किये हुई अर्थात् आज से लगभग ५० वर्ष की बातें मैं लिख रहा हूं; क्योंकि उन दिनों १९-२० साल का नवयुवक था और अब तो मेरा अगला डग ७० की सीढ़ी पर जमा हुआ है। वस्तुतः ऐसे सजीव संस्मरण के लिए सजीव, बहुमुखी एवं स्फूर्तिप्रद लेखनी की ही आवश्यकता होती है। किन्तु उदारहृदय, निष्कलंकचरित्र, छात्रकल्पवृक्ष, नैष्ठिक एवं शान्ति के एकान्तसेवी अपने आश्रयदाता स्व० बाबू देवकुमार जी के सजीव संस्मरण में मेरी निर्जीव लेखनी एकाध पंक्ति लिखकर कृतकृत्य होने से भला कब बाज़ आनेवाली है? और मैं भी अपने को तभी भाग्यशाली समझूँगा, पर पाठक इसे मखमल की तोशक पर मूंज की बखिया ही समझें।

हां!!! वह दिन मुझ से भुलाये भी नहीं भूलता, जिस दिन मैली-कुचैली मिरजई पहने, एक बड़ा सा गमछा लिये और मलयज चन्दन ललाट पर लेपे हुए मैंने दो तल्ले की पक्की इमारत के निचले भाग के एक कमरे में श्रीचन्दनमिश्रित केसरके श्रीमुद्रांकित तिलक से अंकित ललाट वाले और तांबूल रसका आस्वादन करते हुए आपको शान्त तथा गंभीर मुद्रा में देखा था। बात यह थी कि दो ही तीन महीने के पितृ-वियोग से जर्जर मैं जीविकोपार्जन करने के लिए आरा आया हुआ था। महामहो-पाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा विद्यावाचस्पतिजी (गुरुवर्य) की शिक्षणशाला (नारायण विद्यालय) में मैं प्रविष्ट भी हो गया था। संस्कृत-छात्रों के अनन्य आश्रय-दाता श्री गुरुजी ने मेरे भोजनादि का समुचित प्रबन्ध भी कर दिया था किन्तु मुझे देनी थी काव्य की मध्यमा परीक्षा। पुस्तकें मेरे पास थीं नहीं। कई छात्रों ने मुझसे कहा कि "आप बाबू देवकुमारजी की कोठी में जाकर उनसे मिलें, वह आपकी पुस्तकें मँगवा देंगे। पढ़ने के निमित्त असमर्थ और होनहार छात्रों की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्हें आप आरा में वदान्य-वरेण्य राजा कर्ण ही समझें।" बस,

देर अब किस बात की। मैं कुछ पुष्प लेकर आपकी कोठी को चला। पर छात्रों से आपकी सात्त्विक दानशूरता की प्रचुर प्रशंसा सुनकर मेरे असात्त्विक अन्तःकरण में समुदित छल-छद्म ने आपसे तत्कालीन आवश्यकता से भी अधिक मांग करने को मुझे प्रोत्साहित कर दिया। कुछ आशीर्वादात्मक श्लोक पढ़कर दो-एक पुष्प आपके करकमल में मैंने रख दिये। आपने मेरी ओर देखकर कहा—'आपका घर कहां है? कौन हैं? कैसे आये?" इनके उत्तर में जाति ग्रामादि कहकर कैसे आये—इसका उत्तर देते समय आपकी तेजस्विता-पूर्ण आंखों की जाज्वल्यमान ज्योति मेरी तमःपूर्ण आंखों में पड़ते ही जिस प्रकार तपोनिष्ठ ऋषियों के आश्रम में आये हुए हिंसक जीव भी उनके तपःप्रभाव से प्रभावित हो अपनी सहज-हिंसावृत्ति से विरत हो जाते हैं उसी प्रकार आप-जैसे आदर्श मानवमुकुट के मिलन से मेरी पूर्व-चिन्तित लोभग्रस्ति नौ दो ग्यारह हो गयी और झट अपनी प्रकृत माँग—काव्यकी मध्यमा दे रहा हूँ, पाठ्य पुस्तकें नहीं हैं—आपके समक्ष मैंने प्रस्तुत की। आपने अपने सहज सौम्य भाव से कहा कि "पुस्तकें जहाँ मिलती हों वी० पी० से भेज देने को लिख दें। वी० पी० आ जाने पर डाकिये को लिये यहाँ आजाइयेगा—कोठी से रुपये मिल जायेंगे।" मैंने तत्क्षण जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ते को पुस्तकें वी० पी० से भेज देने को लिख दिया। पुस्तकें यथा समय आगयीं तथा कोठी से रुपये भी मिल गये।

अस्तु, अब मेरा अध्ययन सुचारु रूप से चलने लगा। मेरे गुरुजी आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापक, मंत्री या यों कहिये उसके सर्वेसर्वा थे। हिन्दी के प्रायः सभी समाचारपत्र वहाँ आया करते थे अतः मुझे भी हिन्दी की कुछ-कुछ गन्ध लग गयी थी। मेरे गुरुजी से बा० देवकुमारजी की बड़ी मधुर मैत्री थी। सभा के लिए आर्थिक साहाय्यकी आवश्यकता होने पर गुरुजी आपसे उसकी पूर्तिकी अधिक अपेक्षा करते थे। क्योंकि सार्वजनीन साहाय्यापेक्ष्य कार्यों में आपकी औदार्यपूर्ण दानधारा बड़े प्रखर वेग से प्रवाहित होती रही थी। एक दिन गुरुजी ने मुझसे कहा कि "बाबू देवकुमारजी ने अपने अष्टवर्षीय बच्चे को हिन्दी पढ़ाने के लिए मुझसे एक छात्र देने को कहा है। तुम्हें ही वहां भेजने को मैंने सोचा है। एक पत्र मैं दिये देता हूँ—इसे लेकर तुम उनसे मिलो।"

उन दिनों दुर्दान्त दमे की व्याधि से ग्रस्त होने के कारण आप कोठी छोड़कर सपरिवार अपनी मैनेजरी कोठी में ही रहा करते थे। मैंने वहीं जाकर गुरुजी का दिया हुआ परिचयपत्र आपको दे दिया। पत्र पढ़ और मेरी ओर देखकर आपने कहा कि "परीक्षा पास कर ली।" मैंने संकुचित होकर कहा, नहीं श्रीमन्! क्यों?

मैंने कहा कि पांच प्राणी के भरण-पोषण की अस्त-व्यस्तता से समुचित अध्ययन नहीं होने के कारण मैं असफल रहा। कुछ चिन्तित हो ठुड्डी पर हाथ रखकर आपने कहा—"आपके ऊपर परिवार-पोषण का भी भार है? साधारणतया कितने में आप अपनी गुजर कर लेते हैं?" मैंने कहा "दस रुपये में।" वस्तुतः मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए जब कि पक्की तौल से १४ सेर का चावल, १२ सेर का आटा, १२ की दाल और १ रु० में पौने दो सेर का घी मिलता था—प्रति व्यक्ति २ रु० मासिक भोजनाच्छादन के लिए पर्याप्त थे। इन दिनों तो प्रतिप्राणी के लिये ३५ रु० पड़ जाते हैं; पर भोजनाच्छादन पूर्वानुपातः निकृष्टतम। आपने कहा कि १० रु० के लिए कितने घंटे लग जाते हैं। मैंनेकहा कि ५-६ घंटे। आपने कहा कि पण्डितजी से मैंने कहा था कि १२ बजे से ४ बजे तक हिन्दी पढ़ाने के लिए एक छात्र दें, जिन्हें १० रु० वेतन में मिलेंगे। पर मैं अब सोच रहा हूं कि आप १२ से २ ही बजे तक पढ़ायें और १२ रु० मासिक आपको कोठी से मिलेगा। किन्तु परिश्रम करके इस साल परीक्षा पास कर लें। अन्यथा मैं समझूँगा कि आप विद्यार्थी नहीं प्रत्युत केवल अर्थार्थी हैं। परीक्षा पास कर लेने पर आपकी वेतनवृद्धि की भी चेष्टा की जायगी। आप आज ही से पढ़ाना प्रारंभ कर दें। मुझे तो मांगी-मुराद मिली—मनमें कहा कि मैं आज अपने सौभाग्य-सुरतरु के आश्रय में आ गया। अस्तु चि० बड़े बब्बू (बा० निर्मलकुमारजी) बुलाये गये। आप भीतर बँगले से निकल आये। अवस्था लगभग आठ साल की होगी। दुबले-पतले लालिमा लिये हुए तेजस्विता की प्रतिमूर्ति चि० निर्मलकुमारजी को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। यही पं० जी आज से आपको पढ़ायेंगे—किताब कापी लेते आइये। बाबू साहब के निकट ही एक कालीन-बिछी चौकी पर मैं बैठ गया। चि० बड़े बब्बू हिन्दी की एक पुस्तक और दो एक कापियाँ लिये मुझ अदृष्टपूर्व अध्यापक को एकटक देखने लगे। मैंने पढ़ाना प्रारंभ कर दिया। यों मेरा अध्यापन अविच्छिन्न रूप से चलने लगा। प्रतिदिन आपके निकट मुझे पढ़ाना पड़ता था। भले ही विशेष पढ़े लिखे न हों, पर ब्राह्मण प्रकृत्या अपने को वर्णज्येष्ठ तथा ज्ञानज्येष्ठ समझने में उन दिनों भूल नहीं करते थे। अतः मेरी धारणा थी कि बाबू साहब एक बड़े जमींदार हैं। कुछ पढ़े लिखे होंगे। आपको हिन्दी की विशेषज्ञता कहां? यही कारण था कि बिना कुछ सोचे-समझे निर्भीकतापूर्वक पढ़ाता था। एक दिन किसी दोहे का अर्थ उल्टा सीधा पढ़ा रहा था। "आप झट टोक बैठे—पं० जी क्या पढ़ा रहे हैं?" मैंने कहा कि यही दोहा। आपने कहा इसका अन्वय और शब्दार्थ तो कहिये। मैंने जरा सँभलकर अन्वय और शब्दार्थ कह दिये। तब इसका अर्थ क्या होगा?

उसका प्रकृत अर्थ भी मुझसे आपने कहलवा दिया। और कहा कि पहले आपके कथित अर्थ से इस अर्थ में कुछ अन्तर है? मैंने संकुचित होकर कहा कि मैं अशुद्ध पढ़ा रहा था। मेरे सिरपर मानो सौ घड़े पानी पड़ गये। स्तब्ध और कुण्ठितकंठ देखकर मुझे आश्वासन देते हुए आपने कहा कि अध्यापक को छात्रों को पढ़ाने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। आप दोहे का अन्वय तथा शब्दार्थ जानते हुए भी इनका सदुपयोग नहीं कर शीघ्रता में मनमाना अशुद्ध अर्थ कर रहे थे। अस्तु, अबसे ऐसी शीघ्रता पढ़ाने में न करें। मैंने डेरे पर आकर गुरुजी से यह घटना कही। आपने कहा कि बाबू देवकुमारजी अन्यान्य जमींदारों और कोठीवालों की तरह गद्दीपर बैठे निरक्षरता का निदर्शन बन हमेशा चापलूसों से घिरे रहकर अपने जीवन को कृतकृत्य तथा धन्य-धन्य समझनेवालों में से नहीं हैं। यह एक सुदक्ष, ग्रैजुएट, उर्दू-फारसी के अतिरिक्त हिन्दी के अच्छे मर्मज्ञ तथा अपने समाजिक पत्र "हिन्दी जैन गजट" के सफल सम्पादक हैं। जैन महासभा के किसी वार्षिकोत्सव के वह सभापति भी हो चुके हैं, जिनका गवेषणापूर्ण भाषण मैंने जैन पत्रों में पढ़ा है। आप पटना ला कालेज में भी ६-७ महीने तक कानून का अध्ययन कर चुके हैं। बा० देवकुमारजी संस्कृत के अधिक जानकार नहीं होने पर भी संस्कृत के अनन्य प्रेमी हैं। क्योंकि अपने एकमात्र अनुज बा० धर्मकुमारजी को अंग्रेजी के साथ संस्कृत के एक अच्छे पण्डित रखकर उच्च शिक्षा दिलवाई थी। बा० धर्मकुमार जी धाराप्रवाह के साथ संस्कृत बोलते और लिखते थे। क्योंकि, व्युत्पत्ति के साथ उन्होंने समूची कौमुदी पढ़ ली थी। ऐसे होनहार एवं १७ वर्ष की उम्र में ही बी० ए० में पढ़नेवाले अपने दक्षिण भुजतुल्य भाई की अप्रत्याशित मृत्यु हो जाने के कारण बा० देवकुमारजी के स्वास्थ्य को बड़ा गहरा धक्का लगा है। इनका उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख स्वास्थ्य देखकर भावी दुर्घटना की चिन्ता हम मित्र-मण्डली को सदा डाँवाडोल किये रहती है। संस्कृति-पंडितों तथा छात्रों के लिए देववृक्षप्रतिम बा० देवकुमारजी स्वास्थ्य-सम्पन्न होकर चिरायुष्मान् रहें, यही शुभकामना सबों के अन्तस्तल में सदा जागरूक रहती है। इनकी दृष्टान्तभूत चरित्र-निर्मलता, सत्यवादिता, सहृदयता, विद्यारसिकता एवं परदुःखकातरता आरा की अग्रवाल मण्डली को ही नहीं प्रत्युत बड़े से लेकर छोटे तक सर्वसाधारण जनता को इनमें सच्ची श्रद्धा प्रकट करने को विवश किये रहती है। तुम अपना अहोभाग्य समझो कि इनके आश्रय में पहुंच गये। तुम्हें २ घंटे के ४ रु० के बदले १२ रु० मासिक छात्रवृत्ति दे रहे हैं न कि पाठनवृत्ति।

मेरा अध्यापन अबाध गति से चलने लगा एवं गुरुजी से बाबू साहब का प्रकृत परिचय पा और गुणवर्णन सुनकर मैं बड़ा ही प्रभावित हुआ तथा साथ ही अब आपको बहुत निकट से देखने भी लगा। आपके यहाँ अन्याय विषयों के विद्वानों का भी समागम रहता था। कभी किसी मौलवी को हाथ में तसवीर लिये बातें करते देखता था तो कभी किसी पण्डित को तात्विक विचार करते। मयूरपिच्छधारी कौपीनी जैन साधुओं के आगे तो भक्तिविह्वल एवं प्रणत मैंने आपको अनेक बार देखा था। हाँ, उन दिनों आरा के आस ही पास रहनेवाले पं० मुरलीधर शर्मा नामक एक अच्छे नैयायिक विद्वान् सदा आपके पास रहा करते थे। जब-तब बाबू साहब को पं० जी से शास्त्रीय विचार-विनिमय करते भी देखता था। प० जी बड़े ही निस्पृह, चिन्तनशील, आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत तथा ज्ञानगरिमासे गंभीर प्रकृति के मुझे जान पड़ते थे। किन्तु दुःख की बात है कि पंडितजी ने अपने लिए "व्याघ्रचर्मावृत शृगाल' की लोकोक्ति को ही चरितार्थ कर दिखाया। क्योंकि कालान्तर में मुझे ज्ञात हुआ कि पं० जी के गांव के निकट ही बाबू साहब के सैकड़ों बीघे जीरात के खेत हैं। 'दर्शनशास्त्र की पाठशाला खोलकर मैं निश्चिन्त हो घर पर ही छात्रों को पढ़ाना चाहता हूँ' यह कहकर आपसे कई बीघे जमीन उन्होंने वृत्तिरूप में लिखवा ली, जिसका मूल्य कम से कम ५० हजार रुपये होता है, किन्तु प्रस्तावित पाठशाला अपने प्रकृत रूप में न रहकर पं० जी के परिवार-पोषण में ही परिणत हो गयी। अन्त में पं० जी ने बहुत दिनों तक पागल होकर बड़े कष्ट से ऐहिक लीला समाप्त की। किसी ने सच कहा है— 'धोखा खाना कहीं अच्छा है धोखा देने की अपेक्षा।"

बाबू साहब में एक अपूर्वता मैंने यह देखी कि आप कभी हँसते नहीं थे। आप से बातें करते अन्यान्य शिक्षित-समुदायको प्रसंगानुसार ठहाका लगाते मैं भले ही देख लूं। हाँ-पण्डिताचार्य स्वामी नेमिसागरजी वर्णी के साथ जब धार्मिक बातें छिड़ जाती थीं तो हास्यप्रसंग पर कभी-कभी आपके प्रशान्त मुखमंडलपर स्मितमुद्रा की एक क्षीणरेखा बिजली-सी कौंध जाती थीं। वस्तुतः हमारे पण्डिताचार्य वर्णीजी महाराज विशुद्ध वीर, करुण, हास्य एवं शान्तरस का अवतरण करने में सिद्धहस्त हैं। आप ही जैसे कर्मठ सच्चे साधुओं की समाज को आवश्यकता है।

मैं ऊपर एक जगह कह आया हूँ कि आप सार्वजनीन कार्यों में भाग लेना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। ऐसी दशा में अमर भाषा संस्कृत की दौहित्री, प्राकृत की पुत्री तथा अन्यान्य अपभ्रंश भाषाओं की सहेली आर्यभाषा हिन्दी की ओर आपकी सदय दृष्टि होनी कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। उन दिनों गुरुजी के

सम्पादन में आरा नागरी-प्रचारिणी सभा से पुस्तकें प्रकाशित होती थीं। 'तर्कशास्त्र' नाम की भी एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। एक बार सभा में एक विशेष बैठक का आयोजन हुआ था। उस बैठक में सम्मिलित हो आपने उक्त पुस्तक के लेखक को एक सुवर्णपदक से पुरस्कृत कर सम्मानित किया था। युगों की बात है, पूज्य गुरुजी के मुँह से मैंने सुना था कि जिस समय बाबू देवकुमारजी मृत्युशय्यापर पड़े हुए अन्यान्य अपनी संस्थाओं के लिए निर्बाध स्थायी रूप से मिलनेवाली मासिक वृत्ति के निमित्त अपनी लाखों की भूसंपत्ति अन्तिमवृत्ति दानपत्र (Endowment) में लिखवाकर उसे राजमुद्रांकित (Registered) कर रहे थे, उस समय उन्होंने आरा नागरी-प्रचारिणी सभा को भी यादकर मुझे बुलवाया था; किन्तु पार्श्ववर्ती लोगों ने टालमटूल कर दिया। अन्यथा सभाके लिए भी कुछ न कुछ मासिक वृत्ति की स्थायी व्यवस्था अवश्य कर देते। जो हो, आपकी अन्तिमावस्था की सच्चेष्टा ने हिन्दी की व्यापकता तथा प्रामाणिकता के प्रसार के लिए अलक्षित रूप से अमूल्य तथा असीम साधन "जैन-सिद्धान्त-भवन" (The Central Jain Oriental Library) में इकट्ठा रक्खा है। यहाँ हिन्दी के प्राणस्वरूप अपभ्रंश की अपूर्व निधियाँ संचित हैं जो देशी भाषाओं की एक सबल शृंखला है। साथ ही इस "जैन-सिद्धान्त-भवन" को प्राक्कालीन विषयकोविदों की जिज्ञासा-पिपासा की परितृप्ति के लिए उनके साध्य की सिद्धिका असाधारण साधन समझना कोई अत्युक्ति नहीं कहा जायगा।

आप धार्मिक शिक्षा तथा संस्कृत-प्रसार के प्रबल पक्षपाती थे। क्योंकि आपने बच्चों को धर्मशिक्षापूर्वक संस्कृत पढ़ाने के निमित्त पं० लालारामजी शास्त्री को बड़े आग्रह के साथ बुलाकर सम्मानपूर्वक रक्खा था। चौबीसों घंटे शास्त्रीजी की ही देखरेख में रहकर दोनों बच्चे कातन्त्रव्याकरण पढ़ते तथा धर्मशिक्षा ग्रहण करते थे। आपकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि आरा की जैन जनता अपनी सामाजिक एवं धार्मिक रीति-नीति की विशुद्ध परम्परा का पालन करने में कभी शिथिलता नहीं आने दे। क्योंकि आप कहा करते थे कि अपने धर्मका मर्म नहीं जानने एवं दैनिक कार्य-क्रम में धर्मको प्राधान्य नहीं देने से भारतीयता की समुज्ज्वल प्रभा सदा के लिये निर्वाणप्रायः हो जायगी। अंग्रेजी-दाँ लोगों से बातें करने में बड़ी दृढ़ता एवं निर्भीकता से कहा करते थे कि भारतवर्ष की आध्यात्मिकता एवं संस्कृति के सुललित सुवर्णसूत्रको पाश्चात्यशिक्षा-दीक्षित बहुसंख्यक भारतीय अपने कन्धे से उतार फेंकने में ही अपनी नव्य भव्यता तथा आत्मसम्मान-वृद्धि की समुचित सुव्यवस्था समझते हैं।

सच बात तो यह है कि पूर्व पुरुषों के सुसंस्कार अथवा कुसंस्कार आगे आनेवाली पीढ़ियों में अलक्षित रूप से संक्रान्त होते रहते हैं। और उन संस्कारों का ह्रास अथवा विकास मात्रानुसार हुआ करते हैं। आपके पितामह बाबू प्रभुदासजी संस्कृत के मर्मज्ञ तथा धर्मप्रवण व्यक्ति थे। यह रहस्य मुझे तब ज्ञात हुआ जब मैं "जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा" में पुस्तकाध्यक्ष के पदपर रहकर स्वर्गीय सेठ पद्मराज रानीवाले के सम्पादन में भवन से निकलनेवाले "जैन-सिद्धान्त-भास्कर" में निर्जीव-सी कुछ तुकबन्दियाँ और ऊलजलूल एकाध लेख भी दिया करता था। उसमें आदिपुराण के मंगलाचरण और प्रशस्ति भी मुझे देनी पड़ी। भवन में संरक्षित आदि-पुराण की प्रति बड़ी जीर्ण-शीर्ण थी। उसे बार-बार उलटते-पुलटते मुझे देखकर बाबू साहब के पूज्य मामा बाबू बच्चूलालजी ने कहा कि पंडितजी आदिपुराण की इसी प्रति का चि० निर्मलकुमार के प्रपितामह बाबू प्रभुदासजी प्रतिदिन स्वाध्याय करते थे। और सब लोग उन्हें पण्डित कहा करते थे। यही कारण है कि परम्परागत यह संस्कार उत्तरोत्तर विकासोन्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है।

एक उल्लेखनीय बात मैं भूल ही रहा हूँ। बात यह थी कि काशी की यशोविजय श्वेताम्बर जैन पाठशाला के अधिष्ठाता परम विद्वान् तथा प्रकृत विरक्त श्री धर्मविजय सूरिजी महाराज पाठशाला के १५-२० छात्रों तथा एक व्याकरणाध्यापक के साथ आरा में पधारे थे। यहाँ आपका शुभागमन कैसे हुआ था, यह मुझे ज्ञात नहीं। क्योंकि आरा में श्वेताम्बर श्रावक एक भी नहीं था। बहुत संभव है कि धार्मिक भावना से ओत-प्रोत बाबूसाहब आरा की जनता को कृतार्थ करने के लिए श्री सूरिजी महाराज को आग्रहपूर्वक यहाँ लिवा लाये हों। आप ही सूरिजी महाराज के अनन्य आतिथेय थे। श्रीसूरिजी चार-पाँच दिनों तक यहाँ रह गये थे। एक बड़े भारी जैनाचार्य आये हुए हैं, नगर में इसकी बड़ी धूम थी। श्री शान्तिनाथजी के विशाल मन्दिर के सुविस्तृत प्राङ्गण में प्रतिदिन आपका प्रवचन होता था जिसका सदुपयोग जैन-मंडली बड़ी श्रद्धा से करती थी। श्रीसूरिजी के विदाई के दिन बाबू साहब ने पूज्य गुरुजी को भी बुलाया। आपका अन्तेवासी मैं भला क्यों नहीं साथ में रहता? आपने श्री सूरिजी से परिचय दिया कि हमारे यह पं० जी बिहार के गण्य-मान्य विद्वानों में है। और हम सबों का सौभाग्य है कि आप यहीं के रहनेवाले हैं। सूरिजी ने अपनी सहज शान्तिशीलताकी सुधाधारा प्रवाहित करते हुए जैनदर्शन तथा षड्दर्शन-सम्बन्धी विचार-विनिमय करके कहा कि आप जैसे सद्विवेचक विद्वान् ही जैन दर्शन के स्याद्वाद-सिद्धान्त के प्रति जो अन्यान्य ब्राह्मण विद्वानों के हृदय

में भ्रान्त धारणा घर कर गयी है उसे दूर कर सकते हैं। अन्त में गुरुजी से आपने कहा कि मेरे साथ में कुछ छात्र आये हुए हैं। इनकी आप परीक्षा लें। गुरुजी प्रत्येक छात्र से पाठ्य विषयक मार्मिक बातें पूछकर उनके संतोषजनक उत्तर से तो आप अत्यधिक प्रभावित हुए ही। अन्त में सब छात्रों को ' राजते महती सभा" यह समस्या पूर्ति करने को दी। सबों ने बहुत शीघ्र भावपूर्ण समस्या पूर्ति करके दे दी। किन्तु एक श्याम वर्ण प्रज्ञाचक्षुजी ने सब पूर्तियों से विशिष्ट वीररसाप्लुत अतएव ओजोगुण-गर्भित अपनी सुन्दर पूर्ति सिंहनाद स्वर में कह सुनायी। गुरुजी ने सूरिजी से कहा कि यह प्रज्ञाचक्षुजी कालान्तर में बड़े अपूर्व विद्वान् होंगे। यह दिव्य दृश्य देखकर उस समय बा० देवकुमारजी के रोम-रोम मानो हर्ष-गद्गद, भक्तिविह्वल एवं तन्मय से हो रहे थे। ज्ञात होता था कि आपकी धर्मप्रवणता तथा विद्यारसिकता रूपी उत्ताल तरंगमय तटिनी-पति अपनी मर्यादा का अब उल्लंघन करना ही चाहता है। अन्त में आपने प्रचुर मात्रा में बहुत मूल्यवान् द्रव्यादि से सभी छात्रों और अध्यापक महोदय को पुरस्कृत कर अपनी अनुत्तर उदारता एवं पुनीत-आतिथेयता का परिचय दिया। अन्ततोगत्वा आपके भक्तिभरित तथा सात्विक आतिथ्य सत्कार और नैष्ठिकता से परम प्रसन्न एवं प्रभावित होकर सूरिजी ने कहा ही कि बाबू देवकुमारजी बड़े ही निश्छल एवं दूरदर्शी जैन धर्मात्मा हैं। यदि अन्यान्य धनी-मानी जैनी भी आप ही के समान धर्म और विद्या के प्रचार से समाजोत्थान की चेष्टा करें तो जैनधर्म का महत्व व्यापकता को धारण कर ले और "जैन" शब्द के पीछे जो श्वेताम्बर और दिगम्बर ये मतभेद सूचक शब्द जुड़े हुए हैं—कालान्तर में निरथक से जान पड़ने लगें।

दक्षिण प्रान्त हिन्दू और जैन धर्म का एक दुर्लङ्घ्य दुर्ग-सा है। अथवा सनातन भारतीय संस्कृति का एक जीता-जागता मूर्त्त प्रतीक उसे कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मेरे संस्मरणीय बाबू साहब अपने प्रभविष्णु भ्राता के निधनजन्य आदासीन्य से उद्भ्रान्त से हो दक्षिणतीर्थ यात्रा की धुन में लग गये और अविलम्ब स्वजन परिजन दल-बल के साथ सपरिवार यात्रा को निकल ही तो पड़े। साथ ही वहाँ स्वामी नेमिसागरजी वर्णी का सम्मिलन सोने में सुगन्ध का काम कर गया। वहाँ आपकी दर्शनीय वस्तुओं में प्राथमिकता थी शास्त्र-भाण्डार की ही। धर्म की ज्ञानगरिमा का अनन्य साधन शास्त्रों को दीमक, कीड़ों-मकोड़ों का खाद्य बनते देखकर आपके रोंगटे खड़े हो गये। दक्षिण के शास्त्र-भाण्डार के अधिपति शास्त्रों का दर्शन कराना शास्त्रापमान समझते थे। किन्तु बहुत अनुनय-विनय करने तथा वर्णीजी के सहयोग से शास्त्रों के दर्शन करने में आपको अधिक अड़चन नहीं पड़ी।

जिस जैनधर्म का "देव, शास्त्र, गुरु" इन त्रिदेवों के अतिरिक्त दूसरा कोई आधार है ही नहीं, उसके एक महत्वपूर्ण सर्वोत्तम अंग (शास्त्र) की ध्वंसोन्मुखता देखकर भला किस धर्मात्मा का हृदय नहीं दहल उठेगा ? अस्तु, भाण्डारों में अरक्षित शास्त्रों की अपनी ओर से अलमारियों तथा वेष्टन के कपड़े का पर्याप्त प्रबन्ध कर वहाँ तात्कालिक रक्षा की व्यवस्था अपनी ओर से आपने कर दी। दक्षिण प्रान्तस्थ सभी शास्त्रागारों को आपने छान डाला। जहाँ जैसी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति कर शास्त्ररक्षा करना ही एकमात्र ध्येय अपना बनाते हुए तीर्थप्रवास से आप लौटे। किन्तु स्वास्थ्य आपका साथ देने से विरत हो चला। अतः मृत्युमहोत्सव का दिवस निकटस्थ देखकर शास्त्ररक्षा-विषयक अपना अन्तिम उद्गार निम्नांकित रूप में प्रकट किया, जो भवन में संरक्षित आपके चित्र के नीचे अंकित है—

"आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मन्दिरों और शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिये, क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्व का अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी चिन्ता में था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जबतक इस कार्य को पूरा न कर देता तबतक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभाग्योदय से मुझे इस परम पवित्र कार्य के करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ, अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तम्भ-स्वरूप हैं, इसलिए इस परम आवश्यक कार्य का संपादन करना आप सबका परम कर्तव्य है।"

यह भीष्मप्रतिज्ञा आपने तीस वर्ष की अवस्था में की थी। जैन समाज के प्रति आपका यह कारुणिक अतएव मार्मिक निवेदन पढ़कर मुझे राम-वनवास की बात याद आ जाती है। अवध-नरेश राजा दशरथ की आज्ञा से राम, सीता और लक्ष्मण को सुमन्त ने रथ में बैठाकर वनमें पहुचा दिया है। वटवृक्ष के नीचे राजवेश-भूषाका परित्याग कर वटक्षीर से रामचन्द्रजी अपनी तथा लक्ष्मणजी की जटा की रचना कर तपस्वि-वेष की सज्जा से सज्जित होने लगे। उस समय वृद्ध सचिव सुमन्तजी ने यह दुर्दृश्य देखकर कहा है कि हा ! हन्त !! दुर्दैव !!! जिन रघुवंशी राजाओं ने चौथेपन में राज्य का शासनभार अपने समर्थ पुत्रों को सौंपकर संन्यास निमित्त वनका आश्रय लिया था, उसी रघुकुल के ये नवांकुर दुधमुंहे बच्चे वन में तपस्वियों-जैसा बाना बनाकर रह रहे हैं। मैं जैन-सिद्धान्त-भवन में वर्षों लगातार लायब्रेरियन के पदपर रह चुका हूँ। तीर्थयात्रियों में बहुसंख्यक सहृदय जैन यात्री भवन में आपके चित्र के

नीचे समुद्धृत आपका हृदयद्रावक मार्मिक निवेदन पढ़कर रो पड़ते थे। और विवश हो मेरी भी आँखें भर आती थीं।

बाबू साहब बड़ी अबोधावस्था में अपने दोनों बच्चों को छोड़ गये थे।' किन्तु बाघ के बच्चों को सिखावे कौन ? यह जनश्रुति चरितार्थ हो रही है। आपके चि॰ पुत्र और पोते आपकी लक्ष्यसिद्धि के लिए अथक परिश्रम कर रहे हैं। इसके निदर्शन रूप आपके नामका देवाश्रम नामका सुविशाल प्रासाद तथा जैन-सिद्धान्त-भवन का भव्य भवन ही पर्याप्त है। आपकी अनुजवधू ब्रह्मचारिणी पण्डिता चन्दाबाईजी ने तो जैन-बाला-विश्राम द्वारा आपकी कीर्ति में चार चाँद लगा दिये हैं। सच पूछिये तो बाबू देवकुमारजी की वैद्युतरूप चेष्टा से सबके सब अनुप्राणित हो रहे हैं।

कुमार का सफल स्वप्न

[रचयिता—श्री पं० कमलाकान्त व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, आरा]

१

अर्घ्य-सामग्री लिए

श्रद्धालुओं का वर्ग आता—

राज पथ पर अर्चना-हित

वासुपूज्य-महान की, था नगर शोभावान,

थी अनन्त चतुर्दशी की यामिनी अम्लान।

२

बाल-वनिता-वृद्ध-नर—

नारी, सभी होकर समुत्सुक

देखते पूजन-महोत्सव,

भव्य आरा नगर में था स्वर्ग ही साकार,

सम्मिलित थे अर्चना में मान्य देवकुमार।

३

हैं अनेक विभिन्न छविमय

हेम-शिखर विशाल देवालय—

नगर में सोभते, हैं—

पूर्ण श्रद्धायुक्त जनता, पर न प्रशाशष

सोच, देवकुमारजी को हुआ अतिक्लेश।

४

हो गया अवसान पावन—

अर्चना का, ले हृदय में—

भक्ति नव, सानन्द जनता—

आरती-अभिषेक करके गयी निज निज धाम,

इधर मानस में जगी कुछ भावना अभिराम।

५

हुए शय्यागत हमारे—

चरित नायक, भावना में—

व्यस्त उनका हृदय मानों
ध्यान में मग्न, प्रायः गयी रजनी बीत,
ब्रह्म-वेला में हुआ तब एक स्वप्न पुनीत।

६

"एक था प्रासाद अतिशय—
उच्च, उसमें थे बने नव—
नव प्रकोष्ठ सुभव्य एवं
बत्तियों से जगमगाये, किन्तु थे वे रिक्त,
धर्म-मानव था पड़ा, थे नयन जल से सिक्त।

७

रो उठा वह देख इनको,
कहा— दो अवलम्ब मुझको,
बाह्य मेरा रूप सुन्दर,
किन्तु अन्तर्शून्य होता जा रहा हूँ हाय!
ज्ञान-शास्त्रों के बिना हूँ हो रहा निरुपाय।

८

हो रहे थे कण्ठ-गत कुछ—
शब्द उनके सान्त्वनामय,
खुल गयी तब नींद, इससे—
जागने पर की प्रतिज्ञा-'धर्म है साकार!
ज्ञान के हित मैं करूँगा सतत शास्त्रोद्धार।

९

जागते ही चकित होकर—
एक नूतन योजना-निर्माण—
करके आपने निज—
मन्त्रिवर के सामने तब रख दिया सानन्द,
था हृदय साह्लाद एवं हुआ परमानन्द।

१०

योजना वह बन गयी—
अंकुरित एवं पल्लवित—

होकर हमारे देश का—
सुमहान् शास्त्रागार अतिशय भव्य नव्य तुरन्त,
शास्त्र संग्रह में लगे श्रम और द्रव्य अनन्त।

११

छान डाला देश, भारत—
वर्ष का कोई न कोना—
रह गया अवशेष, जिसमें—
पड़ा दुर्लभ ग्रन्थ को, जिसकी न पायी थाह,
आपने सर्वस्व की भी की न कुछ परवाह।

१२

अब बताना था न—
विद्वानों तथा जिज्ञासुओं को,
वे सभी आने लगे—
सर्वत्र से स्वाध्याय करने, बढ़ी कीर्ति अपार,
आपका वह स्वप्न सुन्दर हो गया साकार।

१३

'बस' न इतने से हुआ, मन—
रम गया इस कार्य्य में तब—
तो नगर में 'नागरी' के
भी प्रचारों में लगे, बन गया एक समाज,
नगर के पश्चिम खड़ी है वह सभा ही आज।

१४

एक त्रिंशत् वर्ष की लघु-
आयु में इस दिव्य मानव ने-
किये शुभ कार्य जितने,
है गिनाने की न कविता-शक्ति मुझको प्राप्त,
यही श्रद्धाञ्जलि-सुमन है भेंट,
गीत समाप्त।

युगावतारी श्री बाबू देवकुमार

[ले०—श्रीयुत बा० अजित प्रसाद एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ]

परम पूज्य श्रद्धेय बाबू देवकुमारजी युगावतारी पुरुष थे, वह दिव्य रूप थे; कुमार बल्कि राजकुमार तो थे ही।

प्रचुर सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी धन से अनासक्त थे। वह अपनी पैतृक सम्पत्ति को धर्मार्थ धरोहर, अमानत समझते थे और अपने को उस सम्पत्ति का अमानतदार, मुनीम, खजानची खयाल करते थे।

उनका रहन-सहन सादगी का था, पर शरीर की कान्ति दिव्य थी। ऊँचा ललाट, चौड़ा वक्षस्थल, लम्बी भुजाएँ प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थीं। शरीर इनका दास था, उसे धर्मसाधन का निमित्त मानते थे। यह इन्द्रिय संयम का पालन करते थे। अपने ऊपर पूरा नियन्त्रण करना और वासनाओं से विरक्त रहना कुमार का नैसर्गिक स्वभाव था। मैंने कुमार का साहचर्य बहुत दिनों तक किया है। उनके गुण और स्वभाव की अमिट छाप आज भी मेरे हृदय पटल पर अंकित है। इनकी कार्य प्रणाली विचित्र थी। कठिन से कठिन कार्यों को भी बड़ी आसानी से कर डालते थे। इनकी वाणी में जादू था, श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर इनका भाषण सुनते रहते थे। जिस बात को यह कहते थे, उसे कर दिखाना तथा उसकी पूर्ति के लिये प्राणपण से लग जाना इनका स्वभाव था। कहना कम और कर दिखाना ज्यादा, सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करते थे।

समाज की हितचिन्ता अहर्निश किया करते थे। तन, मन, धन तीनों द्वारा जैन समाज में शिक्षा-प्रचार करने, कुरीतियों का निवारण करने तथा समाज को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने में कुमार साहब ने अटूट श्रम किया है।

आपने भारतवर्ष के समस्त जैन-तीर्थों की यात्रा की; प्रत्येक स्थान की त्रुटियों का अवलोकन किया और शक्ति के अनुसार प्रचुर दान देकर सुव्यवस्था भी की। आप उन दानियों में नहीं थे, जो केवल अपने दान का ढ़िढोरा पीटते हैं और दान के बदले में ख्याति प्राप्त करते हैं। आप काम करना जानते थे, नाम से सदा दूर रहे। जीवन के अन्तिम क्षण तक परोपकार करने में लगे रहे।

लक्ष्मीपुत्र होने के साथ कुमार साहब पर सरस्वती की असीम कृपा थी। जितना अच्छा आप भाषण देते थे, उतना ही अच्छा आप लिखते भी थे। आपके इन गुणों से मुग्ध होकर ही आपको महासभा के मुखपत्र जैन गजट का सम्पादक निर्वाचित

किया गया था। आपने उस पत्र का सम्पादन जिस योग्यता और क्षमता के साथ किया वह पत्रकार जगत् में सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

१२ जून १९०५ के दिन स्याद्वाद विद्यालय काशी की स्थापना के अवसर पर आपने अपने पितामह पं० प्रभुदास जी द्वारा निर्मित भदैनीघाट की विशाल धर्मशाला विद्यालय के पठन-पाठन, छात्रावास के वास्ते प्रदान कर दी, मासिक सहायता भी देते रहे, ध्रौव्य कोष में भी प्रचुर भेंट की तथा यावज्जीवन विद्यालय के मन्त्रित्व की जिम्मेदारी का भार सहते रहे।

जीवन के अन्तिम समय में कई महीने श्वास रोग से पीड़ित रहे। रोगावस्था में वर्णी नेमिसागरजी को धर्म साधन के सहायतार्थ सदा अपने पास रखते थे, बेहोशी की दवा सुंघाये जाने पर शास्त्रोपचार के अवसर पर सल्लेखना व्रत ग्रहण कर लिया; होश में आते ही अर्हत शब्द उच्चारण किया। भू शय्या ग्रहण की सर्व प्रकार का खाद्य, स्वाद्य, पेय, लेह्य आहार का त्याग कर दिया। ब्रह्मचर्य व्रत तो मुद्दत पहले से ही ले चुके थे। आपने अन्तिम श्वास तक स्तोत्रादि ध्यान से सुनते-सुनते चेतनापूर्वक, धर्म ध्यान निमग्न ५ अगस्त १९०७ की रात्रि को ३२ वर्ष की युवावस्था में देवगति प्राप्त की। अल्प जीवन काल में इतना जैनधर्म का प्रचार कर किया, जितना अन्य व्यक्ति ८० वर्ष में भी न कर सके।

सिकन्दर महान्, श्री शङ्कराचार्य, स्वामी रामतीर्थ, कुमार देवेन्द्र प्रसाद सब ३२ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी हुए। श्री मद्रायचन्द्र, जीसस क्राइस्ट, विख्यात कवि (Shelley) ३३ वर्ष में संसार से विदा हुए। श्री माणिकचन्द्र वकील खण्डवा ३६ वर्ष में देह छोड़ गये। स्वामी विवेकानन्द ने ३९ वर्ष में शरीर त्यागा।

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा, अनुपम, अद्वितीय अखिल भारतीय संस्था है। वहाँ एक सुन्दर विशाल सदन में शीशे की शोभनीय अलमारियों में ताड़पत्र पर खुदे हुए प्राचीन जैनागम, तथा अर्वाचीन जैन तथा अजैन साहित्य, सुसज्जितरूप से स्थापित है। Central Jaina Oriental Library Arrah की व्यवस्था प्रशंसनीय है।

बाबू देवकुमारजी ने, और उनके पुत्र निर्मलकुमार, चक्रेश्वर कुमारजी ने कई गाँव की आमदनी आरा में श्री शान्तिनाथ जिनालय तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं को समर्पित कर दी है। और उन संस्थाओं के सुप्रबन्ध की देखरेख रखते हैं। आरा जैनधर्म का पुण्य क्षेत्र है।

श्री बाबू देवकुमारजी के शुभ नामपर लेखक नत मस्तक होकर शत शत प्रणाम करता है। बाबू देवकुमार सदा जयवन्त प्रवर्तें जैन शासन की जय।
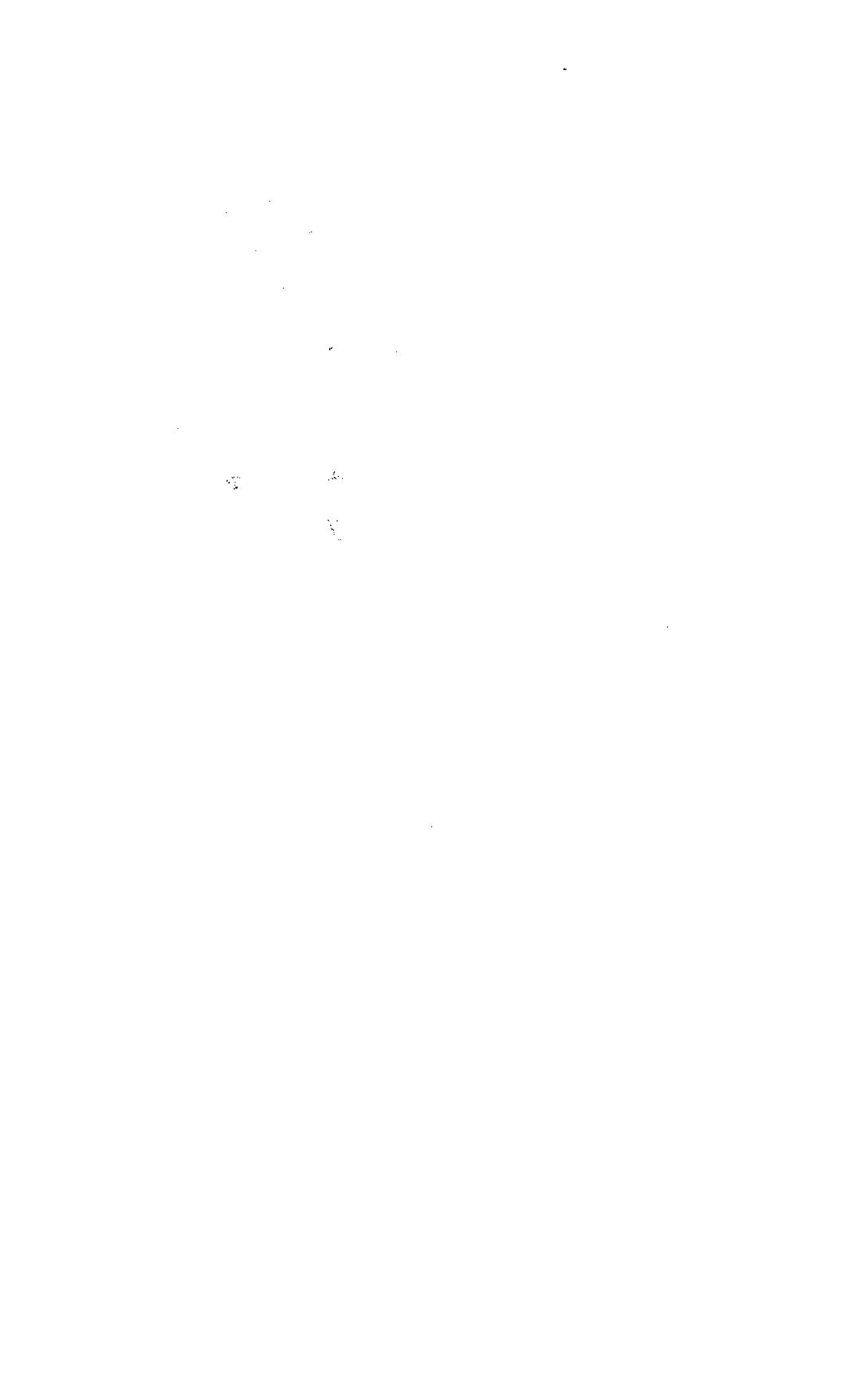
श्रीमती ब्र० अनूपमाला देवी,
धर्मपत्नी स्व० श्री बाबू देवकुमार जी

श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाई
अनुजवधू स्व० श्री बाबू देवकुमार जी

कतिपय मधुर संस्मरण

[ले०—श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाई अधिष्ठात्री, जैन-बाला-विश्राम आरा]

किसी भी पुण्य व्यक्ति के संस्मरण जीवन की सूनी, नीरस घड़ियों में मधु घोलकर उन्हें सरस बना देने में सक्षम हैं। मानव-हृदय, जो सतत वीणा के समान मधुर भावनाओं की झंकार से झंकृत रहता है, पुण्य चरित्रों के स्मरण से पूत हो रसानुभूति में निमज्जित होने लगता है। मानव की अमर्यादित अभिलाषाएँ नियन्त्रित होकर जीवन को तीव्रता के साथ आगे बढ़ाती हैं। फलतः पुण्य-पुरुषों के संस्मरण जीवन की धारा को गम्भीर गर्जन करते हुए सागर में विलीन नहीं कराते, बल्कि हरे-भरे कगारों की शोभा का आनन्द लेते हुए उसे मधुमती भूमिका का स्पर्श कराते हैं; जहाँ कोई भी व्यक्ति वितर्क बुद्धि का परित्याग कर रसमग्न हो जाता है और पर-प्रत्यक्ष का अल्पकालिक अनुभव करने लगता है।

स्वनाम धन्य स्व० श्री बाबू देवकुमारजी का पुण्य चरित्र ऐसा ही महान् है। आपका एक-एक संस्मरण अपने दिव्य आलोक से जीवन तिमिर को विच्छिन्न करने में सक्षम है। आपका जैसा सरल, शुद्ध, पवित्र और उदार हृदय कम ही व्यक्तियों का होता है। आप सादगी, सरलता, सहृदयता, मिलनसारता, पर दुःख कातरता एवं विद्वत्ता की मूर्ति थे। आपका व्यक्तित्व जैन जगत् की ही विभूति नहीं है, किन्तु समस्त हिन्दी जगत् और आर्य-जगत के लिये गौरव की वस्तु है। बाबूजी के महान् व्यक्तित्व के इतने मधुर स्मरण आज भी धूमिल स्मृति कोष में संचित हैं, जिनका यथार्थ चित्रण करना संभव नहीं। उनका प्रत्येक कार्य, चाहे वह छोटा था या बड़ा प्रेरणा और स्फूर्ति देने के लिये महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उनके कार्यों की सफलता का प्रधान कारण था, जीवन में धर्म को उतारना। उनका बहिरंग और अन्तरंग जीवन धार्मिक संस्कारों से ओत-प्रोत था। एक शब्द में उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाय तो यों कहा जा सकता है कि बाबूजी अन्तरंग में सदा बालक और बहिरंग में युवक थे। उनका हृदय सतत बालक के समान निर्विकारी रहा था। अपनी स्टेट का शासन कार्य करते हुए भी वे आवेश और आवेग से रहित थे। सांसारिक प्रलोभनों से वह कभी अभिभूत नहीं हुए। समाज को अपना परिवार समझना; समाज का उतना ही ध्यान रखना, जितना अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य की सुख सुविधा का ध्यान रखा जाता है, बाबूजी की विशेषता थी। बाबूजी बराबर कहा करते थे कि अपने लिये कीड़-पतंग भी जीवित हैं; अतः यदि हमारा जीवन भी अपने ही उदर-पोषण में समाप्त हो जाय तो हमारी मानवता क्या रही ? मानव का अर्थ ही है कि जो विचारशील हो और परस्पर में सहयोग रखता हो, जिसका प्रत्येक क्रिया व्यापार अपने समुदाय के हित के लिये हो।

हमें स्मरण है कि एकबार कोई जैनी भाई श्री सम्मेद शिखर के यात्रार्थ आरा आये हुए थे।

यह आगन्तुक सज्जन जब कोठी में आये तो बाबूजी ने इनका स्वागत-सत्कार किया, दूसरे दिन जैन-तीर्थों की अव्यवस्था और कुप्रबन्ध को लेकर घण्टों चर्चा हुई। बाबूजी ने उन्हें आश्वासन दिया कि हम अपनी इस पर्याय में शास्त्र-संरक्षण और तीर्थ-संरक्षण अवश्य करेंगे। जैसे परिवार के व्यक्तियों का मेरी सम्पत्ति में अधिकार है, उसी प्रकार समाज का भी। समाज और परिवार को मैं भिन्न नहीं मानता हूँ। यदि हमारे आत्मोत्थान के प्रतीकों का अभाव हो जाय तो फिर हमारा जीवित रहना किस काम का है? श्री सम्मेद शिखर, राजगृह और पावापुर तीर्थों की व्यवस्था और संरक्षण का भार तत्काल अपने ऊपर ले लिया और उसी समय से जैन संस्कृति की रक्षा में संलग्न हो गये।

बाबूजी समाज का परिष्कार करना चाहते थे, उनका श्रमशील कलेवर समाज में क्रान्ति और सुधार करने के लिये आतुर था। लक्ष्मी के कृपापात्र होकर भी सरस्वती के भक्त थे तथा परिश्रम के ऊपर उनका अटल विश्वास था। उन्होंने समाज सुधार के लिये महासभा के मुखपत्र जैन गजट द्वारा आन्दोलन किया तथा बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह को समाज से दूर भगाने में सफलता भी प्राप्त की। वैयक्तिक चरित्र को उज्वल बनाने के लिये बाबूजी ने बहुत जोर दिया। वह सर्वदा कहा करते थे कि आदर्श व्यक्ति ही आदर्श समाज का निर्माण कर सकते हैं। उनके हृदय में समाज की वेदना का निर्मल स्रोता प्रवाहित होता था। इसी कारण समाज सुधार के लिये इतने अधिक व्यग्र थे कि उन्हें अहर्निश जैन समाज की कमियाँ दिखलायी पड़ती थीं।

बाबूजी का सम्पर्क मेरे जीवन के उत्थान में बड़ा भारी सहकारी है। उनकी साधुता की छाप मेरे ऊपर अमिट है। उनके अलौकिक और पावन जीवन का दिव्य प्रकाश आज भी मेरी अनेक समस्याओं का समाधान कर पथ प्रदर्शन कर रहा है। बाबूजी अपने कर्त्तव्य में कितने सजग थे तथा जीवन की यथार्थता का अनुभव किस प्रकार करते थे, यह निम्न संस्मरण से स्पष्ट हो जायगा।

सन् १९०५ के चैत्रमास में, जिस समय वसन्त अपनी प्रौढ़ अवस्था पर था। आम्र मंजरियाँ अपनी सुरभि द्वारा दिग्दिगन्त को सुरभित कर रही थीं। रंगीन भौंरे गन्ध-विभोर हो मधुपान का पुनीत पर्व मना रहे थे। वन वृक्ष पूरी तरह नवीन तरुण कलियों से लदे थे। मानव हृदय विश्वमाधुरी का पान कर अपनी सुध-बुध खो रहा था। जड़-चेतन सभी वासन्ती समीर से उद्बुद्ध हो अलसाई आँखें खोलने में संलग्न थे। पुष्प कलिकाएँ अलसित आँखें खोल वीरुध कुञ्जों को अपना सुरभित दान दे रही थीं। ऐसे सुन्दर सुहावने समय में बाबूजी आत्मचिन्तन के लिये अपने बगीचे के बँगले में गये। परिवार के अन्य सदस्य भी साथ में थे, किन्तु बाबूजी सर्वदा प्रकृति से आत्मोत्थान की प्रेरणा ही प्राप्त करते थे, उन्हें इसी कारण पवित्र और सुन्दर

एकान्त से अधिक प्रेम था। एक दिन प्रातः काल सूर्योदय होने के कुछ समय बाद तक आपका शयनगृह बन्द रहा। घरवालों को इससे चिन्ता हो गयी और कारण ज्ञात करने के लिये चेष्टा करने लगे। दम्मे की बीमारी के कारण यदा कदा आपका स्वास्थ्य खराब हो जाता था; अतः स्वास्थ्य खराबी की आशंका से सभी लोग चिन्तित हो गये और किवाड़ के झरोखे से झाँककर देखने लगे।

लोगों ने देखा कि अध्यात्म प्रेमी बाबूजी समस्त वस्त्रों का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा में खड़े होकर सामायिक कर रहे हैं। बाबूजी के इस कृत्य से सभी लोग आश्चर्य में डूब गये और बड़े-बूढ़ों को आत्मग्लानि भी हुई। सोचने लगे कि एक युवक इस प्रकार तपश्चरण करे और सब लोग इस अवस्था में भी आत्मशोधन से विमुख रहें, यह कितने परिताप का विषय है।

सामायिक समाप्त कर बाबूजी कमरे से बाहर आये और नित्यकर्म से निवृत्त हो पूजन-पाठ में लग गये। जब जलपान करने के उपरान्त लोगों ने उनसे पूछा कि आप अभी से इस प्रकार सामायिक क्यों करते हैं? श्री बाबू बच्चूलालजी ने हँसकर दो-चार कड़ुवी-मीठी बातें भी सुनायी। इस पर बाबूजी ने कहा कि इस नश्वर संसार में अपनी पर्याय का क्या विश्वास? गृह-कार्यों को अनासक्त भाव से करते हुए आत्मशोधन के लिये सर्वदा तत्पर रहना चाहिये। उन्होंने आत्म-विश्वास पूर्वक कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को होश संभालने के क्षण से लेकर मृत्यु के क्षण पर्यन्त सर्वदा सावधान रहना चाहिये। अन्तकाल तभी सुधर सकता है, जब पहले से अभ्यास रहे। मेरी आन्तरिक प्रेरणा सदैव आत्मशोधन के लिये प्रेरित करती रहती है। मेरा हृदय सतत कहता रहता है कि पौराणिक कथाओं में प्रतिपादित पात्र जिस प्रकार मेघाच्छन्न आकाश, प्रकाशहीन सायंकाल, चंचल पवन आदि के चांचल्य से विरक्ति की प्रेरणा प्राप्त करते रहते थे, उसी प्रकार इस मनोरम प्रकृति से अपने कल्याण की प्रेरणा क्यों नहीं प्राप्त करूँ। इस वाटिका में जब से मैं आया हूँ, मेरी सामायिक की क्रिया अबाध गति से निरन्तराय चल रही है, मुझे इसमें जो आनन्द आ रहा है, उसका मैं विवेचन करने में असमर्थ हूँ।

इस तपोवन सदृश वाटिका में तीनों काल आत्म-शोधन और इन्द्रिय नियन्त्रण के लिये मैं सामायिक करता हूँ। मैं इसमें अपने जीवन का प्रत्यावलोकन करता हूँ, अतीत जीवन को दुहराता रहता हूँ। जीवन-यात्रा के अन्तिम विराम-स्थल—पड़ाव पर पहुँचने के पूर्व मैं पीछे देखता हूँ कि कहाँ से चलकर किधर-किधर भूल-भटक कर आया हूँ। कहीं मेरी यह यात्रा, *जीवन पथ के पहाड़, तराइयाँ, नदी-नाले, झाड़-झंखाड़ और आँधी-पानी के कारण अधिक लम्बी न हो जाय; और गन्तव्य स्थान को मैं विलम्ब से प्राप्त कर सकूँ अथवा मार्ग भूलकर* इधर-उधर मारा-मारा घूमता फिरूँ। अतएव मैं सर्वदा जीवन-यात्रा के पाथेय—सामायिक को ग्रहण कर निराकुल रूप से इस दुर्गम पथ को तय करना चाहता हूँ।

श्री बा० बच्चूलालजी जो साथ ही रहते थे, तथा अवस्था और रिश्ते में भी बाबूजी से कुछ बड़े थे, कहने लगे—लड़के होकर ये सब बुड्ढों की बातें छोड़ दो। तुम्हें मुनि नहीं बनना है, जिससे दिगम्बर होकर सामायिक करते हो। तुम एक जमीन्दार और रईस व्यक्ति हो, पूर्वजों की मान-मर्यादा की तुम्हें रक्षा करनी है; अतः मन लगाकर कामकाज करो। आज सन्ध्या को सभी लोग कोठी वापस चलेंगे; यहाँ अब रहने की आवश्यकता नहीं है। जब से तुम बगीचे में आये हो एक न एक ऊट-पटांग काम करते रहते हो, न मालूम तुम्हें क्या हो गया है? अब यहाँ से जल्द घर-कोठी वापस चलना होगा, यह मेरी आज्ञा है।

बाबूजी श्री बच्चूलालजी का बहुत सम्मान करते थे, बड़े होने के कारण उनकी आज्ञा पालन भी धर्म समझते थे। अतः सहमते हुए दबी जबान से इतना ही कहा—मामाजी मैं कोई बुरा काम नहीं कर रहा हूँ; मुनि होना सहज नहीं, बड़े सौभाग्य से इस पद की प्राप्ति होती है। यहाँ उन्मुक्त वातावरण और कोलाहल से दूर रहने के कारण मेरा मन सामायिक और आत्म-शोधन में ज्यादा लगता है और अब मेरी इच्छा आत्मकल्याण करने के लिये उत्कट हो रही है। हाँ, आप आज्ञा दे रहे हैं, तो मैं सभी लोगों के साथ आज ही कोठी चला चलूँगा।

वास्तविक बात यह थी कि इधर छः सात दिनों से दोपहर को बाबूजी किसी पेड़ के नीचे बैठकर एक घंटे तक सामायिक करते थे; कभी-कभी छाया के हट जाने से धूप भी उनके ऊपर चली आती थी। श्री बच्चूलालजी, जो कि उनसे अत्यधिक स्नेह करते थे, उन्हें धूप में बैठा देखकर रुष्ट हो जाते थे। स्वास्थ्य खराब रहने के कारण बाबूजी का धूप में बैठना श्री बच्चूलालजी को बहुत खटकता था। इसी कारण उन्होंने क्रोधित होकर कोठी चलने की आज्ञा दी थी।

× × × ×

तिथि स्मरण नहीं है, पर एक दिन बाबूजी के स्नेह और सेवा का एक दृश्य मैंने विचित्र देखा। बाबूजी का हृदय बहुत ही मृदुल था, दूसरे की तनिक भी पीड़ा उनसे देखी नहीं जाती थी। एक दिन एक गरीब यात्री कोठी में आया और मार्ग व्यय की याचना करने लगा। बाबूजी ऊपर थे, अतः वह श्री बच्चूबाबू के पास गया। श्री बच्चूलालजी भी बाबूजी की अनुपस्थिति में कुछ काम कर दिया करते थे। यात्री ने रोते-गिड़गिड़ाते अपनी स्थिति उनके समक्ष प्रकट की और मार्ग व्यय के लिये १०) दस रुपये माँगे। श्री बच्चूलालजी ने सर्वदा के अनुसार ५) रुपये का बिल पास किया। यात्री अंग्रेजी नहीं पढ़ा था, अतः वह बिल लेकर श्री चन्दी बाबू के पास आया और बिल देकर रुपये माँगने लगा। श्री चन्दीबाबू ने बिल लेकर ५) रुपये उसको दिये।

यात्री ने प्रार्थना की कि १०) रुपये से कम में मेरा काम नहीं चल सकता है अतः मैं ५) रुपये नहीं लूँगा। पहले तो उन्होंने उस यात्री को समझाया और कहा कि बिल जितने रुपये का पास किया गया है, उससे अधिक नहीं मिल सकते हैं। तुम एक बार इसे मालिक के पास फिर ले जाओ, यदि वह बढ़ा देंगे तो १०) रुपये दे दिये जायँगे। बेचारे भोले-भाले यात्री को बिश्वास नहीं हुआ और वहीं १०) रुपये पाने के लिये गिड़गिड़ाने लगा। वह जितना रोता-गिड़गिड़ाता था, खजांची महोदय उसे उतना ही डाँटते थे। इससे कुछ हल्ला भी नीचे से सुनाई दिया। हल्ला सुनकर बाबूजी नीचे आये और यात्री की करुण कथा स्वयं बुलाकर सुनी। उनका कोमल हृदय पिघल गया और यात्री से क्षमा माँगते हुए कहने लगे—भाई, आपको बड़ा कष्ट हुआ। मेरे कारण आपको कष्ट उठाना पड़ा, इसके लिये मुझे दुःख है। आप जितनी दूर जाना चाहते हैं, १०) रुपये में आपका काम नहीं चल सकेगा। इतने रुपये तो केवल टिकट खरीदने में लग जायँगे। खाने-पीने तथा अन्य खर्च के लिये १०) रुपये और चाहिये; तभी आप पहुँच सकेंगे। आप जैनी हैं, तीर्थयात्रा के लिये आये हैं अतः आप हमारे लिये पूज्य हैं। श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करने से आत्मा पवित्र हो जाती है, पाप-वासनाएँ दूर भाग जाती हैं। अतः आपका सम्मान करना हमारा परम कर्त्तव्य है। पहले आप भोजन कीजिये, रसोई तैयार है; इसके पश्चात् आपका सारा प्रबन्ध हो जायगा। हमारा यह अहोभाग्य है कि आपने सेवा के लिये अवसर दिया। धर्मात्मा व्यक्तियों के दर्शन पुण्योदय से ही होते हैं। बेचारा यात्री बाबूजी की बातों को सुनकर रोने लगा और उनके पैर पकड़ लिये तथा कहने लगा कि आप वस्तुतः देव कुमार हैं। बाबूजी ने यात्री को दो दिन तक अपनी कोठी में रखा, पीछे मार्ग व्यय देकर उसे रवाना किया।

बाबूजी ने अपने समय में किसी भी व्यक्ति को अपने यहाँ से निराश नहीं जाने दिया। जो भी उनके पास आता था, वह उसके साथ सौजन्यता का व्यवहार करते थे। दानी होने की अहंमन्यता उनमें नहीं थी। व्यवहार उनका इतना मधुर था, कि सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति उनसे सर्वदा प्रसन्न रहे। उनके देव तुल्य व्यवहार ने उन्हें लोकप्रिय बनाया था।

× × × ×

सन् १६०७ में हम लोग सपरिवार दक्षिण के तीर्थों की यात्रा के लिये रवाना हुए। रास्ते में बाबूजी के स्वभाव और गुणों का प्रकाश मुझे अत्यधिक मिला। इतने वर्षों के बाद भी आज उस समय की स्मृतियाँ हृदय-कपाटों को खोलने में सक्षम हैं। बम्बई से रवाना होकर जब हमलोग कुछ आगे चले तो एक तेरह-चौदह वर्ष का बालक भिक्षा मांगने के लिये हमारे डिब्बे में आया बाबूजी ने बड़ी आत्मीयता के साथ उससे बातें की और उसका कुल पता ठिकाना पूछा। बालक कहने लगा— कि मैं बम्बई प्रान्त के एक छोटे कस्बे का रहनेवाला हूँ। मेरे माता-

पिता का बचपन में देहावसान हो गया। मेरी देख-रेख मेरे एक चाचा करते थे। मैंने केवल चौथी कक्षा तक पढ़ा है, अधिक पढ़ने की मेरी तीव्र अभिलाषा है; किन्तु साधनों के बिना मैं नहीं पढ़ सका। मेरे साथ मेरी चाची का व्यवहार बहुत ही क्रूर था, अतः दिनरात उनका अन्याय, दण्ड मुझे सहन करना पड़ता था। एक दिन चाचा कहीं बाहर गये हुए थे, चाची ने मुझे भोजन भी नहीं दिया तथा खूब काम कराया। मेरा बाल-हृदय बगावत कर बैठा और मैं घर से चल पड़ा..., कहाँ के लिये, इसका मुझे स्वंय परिज्ञान नहीं है। मुझे घर से निकले अभी पन्द्रह दिन हुए हैं। मैं भीख मांग कर अपने जीवन को खोना नहीं चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि कोई मुझे काम दे दें अथवा मेरे अध्ययन का प्रबन्ध कर दें।

बाबूजी को बालक की बातों का विश्वास हो गया और उससे पूछने लगे कि तुम पढ़ना चाहते हो, कितने रुपये महीने की आवश्यकता होगी? अपना पता नोट करादो, हम तुम्हें सहायता देंगे। आज से भीख माँगना बन्द कर दो, अच्छे लड़के भीख नहीं मांगते हैं; अतः किसी स्कूल में नाम लिखाकर पढ़ो। लौटने के बाद बाबूजी बराबर उस विद्यार्थी को सहायता भेजते रहे। शिक्षा के वह बहुत बड़े हिमायती थे।

× × × ×

जब हमलोग कारकल की धर्मशाला में पहुँचे तो बाबूजी ने श्री नेमिसागरजी वर्णी से कहा— महाराज जी! क्या हमारा जैन महिला समाज यों ही अज्ञानान्धकार में पड़ा रहेगा। हमारी आन्तरिक अभिलाषा है कि छोटी बहू पढ़-लिखकर नारी-जागृति का कार्य करे। इनकी पात्रता तो आपने इनके भाषणों से ज्ञात करली ही होगी। हमारा विश्वास है कि यदि इन्हें सुअवसर प्रदान किया जायगा तो निश्चय ही यह सेवा के क्षेत्र में आगे बढ़ सकेगीं। आप आज इनकी परीक्षा लेकर देखिये, इनका अध्ययन कितना हुआ है।

श्री वर्णीजी विद्या व्यसनी थे ही, अतः बाबूजी की बातें सुनकर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई और कहने लगे— आपकी छोटी बहूने इसी यात्रा में द्रव्य संग्रह और क्षत्र चूड़ामणि समाप्त कर लिये हैं। हिन्दी का परिज्ञान तो इनका बहुत अच्छा है, मैं इनकी परीक्षा क्या लूँ, मेरी मातृ-भाषा कन्नड़ है, अतः आपही इनकी परीक्षा लीजिये।

बाबूजी मुस्कुरा कर कहने लगे— महराज जी! हमारे यहाँ के पर्दे के रिवाज से आप सुपरिचित ही हैं; हम कैसे इनकी परीक्षा लें? अतएव विदुषी बहन मगन बाई जी से इनका साक्षात्कार करायेंगे और उन्हींसे इनकी योग्यता का परीक्षण भी। हम दूर बैठ कर इनका व्याख्यान सुनते हैं, बड़ा आनन्द आता है। बोलने की शैली बहुत सुन्दर है, विषय का प्रतिपादन बड़ी खूबी के साथ करती हैं। इसी कारण हम चाहते हैं कि इनका विकास हो और सेवा के क्षेत्र में यह बढ़ सकें।

बम्बई पहुँचने पर श्री मगनबाई जी ने भाषा विषयक ज्ञान की जाँच के लिये तुलसीकृत रामायण की कतिपय चौपाइयों का अर्थ पूछा। यथार्थ अर्थ सुनकर सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए तथा उसी समय वर्णी जी ने संस्कृत की भी परीक्षा ली। बाबूजी इन परीक्षाफलों को अवगत कर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि इन्हें प्रौढ़ विदुषी बनाने का प्रयत्न अवश्य किया जायगा। कुछ दिनों के उपरान्त धर्मशास्त्र का शिक्षण देने के लिये उन्होंने श्री पं० लालारामजी शास्त्री को आरा बुलाने के लिये पत्र लिखा तथा संस्कृत शिक्षा का पूरा प्रबन्ध किया।

बाबूजी की उदारता, सेवावृत्ति परोपकारता, शास्त्रीय ज्ञान, समाज की अहर्निश मंगल-चिन्ता और जैन संस्कृति के संरक्षण के लिये उत्कट भावना अनुकरणीय है। अपने परिवार से अधिक चिन्ता उन्हें समाज की थी। कभी-कभी रात को इसी चिन्ता के कारण नींद भी नहीं आती। घंटों बैठकर समाज के विकास और जैनधर्म के संरक्षण तथा प्रसार के लिये स्कीम बनाते रहते थे। श्री स्याद्वाद विद्यालय काशी को तो अपनी सन्तान से भी अधिक स्नेह करते थे। बाबूजी का सम्पर्क मुझे थोड़े दिन तक मिल पाया, परन्तु उतने से ही मुझे जो प्रेरणा मिली उसने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।
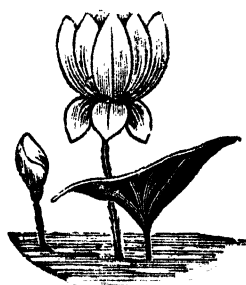
प्रशस्तिः श्री देवकुमारस्य

(प्रस्तोता—श्री ब्रह्मदत्त मिश्रः, वेद-साहित्य-धर्मशास्त्राचार्यः)

श्रीमान् धनी देवकुमारजैनः आरा नगर्यां नितरां यशस्वी ।
आसीत् सदा धर्मविचारशीलः दिगन्तकीर्त्तिर्द्विजसाधुसेवः ॥१॥
श्वेताम्बरश्चापि दिगम्बरश्चः जैनौ द्विधा यद्यपि विश्रुतौस्तः ।
दिगम्बरस्यास्य तथापि कश्चित् न भेदलेशः हृदि सन्निविष्टः ॥२॥
मतद्वयस्यास्य समन्वयाय यत्नो महानस्य सदैव चासीत् ।
विलक्षणेयं प्रतिभा किलैवं अभिन्नभावस्य विभेदबुद्धिः ॥३॥
विद्या प्रचारेऽप्यथधर्मचारे उदारभावस्य किलस्य हिन्दी ।
भाषाप्रचारेऽविरतां प्रवृत्तिं सिद्धान्त गेहः सततं ब्रवीति ॥४॥
तीर्थाटने दक्षिणसंगमेऽस्य अरक्षिताः पुस्तकपुञ्जगेहाः ।
नैके सदा पुस्तकवस्त्रदानैः सुरक्षिताः कीर्तिमितो वदन्ति ॥५॥
सत्संगमेनार्जितपुण्य राशेः धर्ममतिः संततमस्य चासीत् ।
देवालयाः जीर्णतमाह्यनेन चोद्धारिताः सन्ति पुरा कियन्तः ॥६॥
विद्यालयानां च सहायतायाः लोकप्रसिद्धा नहि वर्णनीया ।
कथा यतोऽतः प्रियसाधु वृत्तेः अहं कथं वर्णयितुं समर्थः ॥७॥
यच्छास्त्रचिन्तापरिचिन्तितार्थाः लोकोपकाराय सदा समर्थाः ।
कृतोपकारस्य यशोधनस्य करोमि किंतत् प्रतिकारमस्य ॥८॥
दीनाः सदा यद् गृहमेत्य नैके भिक्षन्ति तुष्टाः नितरां प्रसन्नाः ।
सदा शिष्टां राशिमहो गृणन्तः यान्तिस्म धन्यं कथयन्त एव ॥९॥
लक्षाधिकं रूप्यकमंहतोऽस्य संस्था विशेषे व्ययतिं करेण ।
पुरार्जितादर्थजनात् स्वहस्तैः निष्काश्य भक्त्या किल धर्मबुध्या ॥१०॥
समीपमागत्य च भिक्षुकगवावा विद्यार्थिनोवाप्यथ साधवो वा ।
अन्येऽपि ये केचन याचका वा परामुखा नैव यतो बभूवुः ॥११॥
वस्त्रान्नपानादिकपुस्तकादिदानेन तुष्टाः द्विजबालकाश्च ।
गृहीतविद्याः ह्यधुनार्जनेन कुटुम्बराशिं परिपालयन्ति ॥१२॥
आत्मा सुतो जायत एव वेदे लेखानुसारेण तदात्मजोऽयं ।
तदात्म रूपोऽप्यथनिर्मलादिं जातः कुमारः सुकुमारबुद्धिः ॥१३॥
पराजयं चेच्छति पुत्रतो यत् एतेन धर्मः पितुरर्जितोऽपि ।
भक्त्यासहस्त्रं गुणिश्चचकास्ति लोकोत्तरस्ते न च निर्मलोऽयम् ॥१४॥

श्री बाबू निर्मलकुमार जैन, रईस
प्रथम पुत्र श्री स्व० बाबू देवकुमार जी

बाबू देवकुमार जी की समाज को देन

[ले०—श्रीयुत् बा० छोटेलाल जैन, कलकत्ता]

इस परिवर्तनशील विश्व में उन्हीं का जन्म लेना सार्थक है, जो अपना अक्षय यश मृत्यु के उपरान्त भी इस लोक में छोड़ जाते हैं। श्री बाबू देवकुमारजी ऐसे ही मनस्वी थे, जिनका अपरिमित यश आज भी विद्यमान है।

चालीस वर्ष से अधिक की बात है, जिस समय मैं विद्यार्थी था। एक दिन पिताजी देरी से घर में पहुंचे तब माताजी ने पूछा कि आज कहाँ देरी हो गयी, तो कहने लगे कि आरा के एक बड़े धर्मात्मा प्रतिष्ठित घराने के जमींदार और विद्वान् चिकित्सा के लिये यहाँ आये हैं। और उनसे मिलने के लिये मैं कलकत्ते के कई लोगों के साथ गया था। रोग तो भयानक है किन्तु जैन समाज के भाग्योदय से ऐसे सज्जन की जीवन रक्षा हो जाये; यह सभी लोगों की हार्दिक भावना और चेष्टा हो रही है। इसके अतिरिक्त और भी कई बातें कहीं, जिन पर समय का आवरण पड़ चुका है। पिताजी प्रायः उनके पास जाया करते थे और मेरी बड़ी उत्कण्ठा होती रहती थी कि मैं भी उन्हें देख आऊँ, किन्तु पिताजी कह देते थे कि बालकों का काम वहाँ नहीं है।

कई दिन बाद पिताजी ने मुँगेर अपने एक सम्बन्धी को तार दिया कि तुरन्त एक घड़ा सीता कुण्ड का पानी भेजो। तार मिलते ही दूसरे दिन पानी पहुंच गया और पिताजी उसे देवकुमारजी के पास ले गये; डाक्टरों ने कहा था कि सीता कुण्ड का पानी दिया जाये तो शायद कुछ लाभ हो, पर लाभ कुछ न हुआ। और हठात् एक दिन इस नश्वर शरीर को छोड़कर चले गये। कलकत्ते में ही नहीं किन्तु सारे जन समाज में अत्यन्त शोक छा गया और उनके अनेक गुणों की चर्चा करते हुए लोगों ने बहुत ही दुःख प्रकट किया।

इस घटना के अनेक वर्षों के बाद जब स्वर्गीय बाबू करोड़ीचन्दजी जैन से परिचय हुआ और जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से जैन-सिद्धान्त-भास्कर प्रकाशन के सम्बन्ध में उनसे बातें होने लगीं तब स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी के अनेक गुण और विविध कार्यों का परिचय मिला, जिसका प्रभाव मुझपर आज भी अमिट है।

इसके पश्चात् तो बाबू साहब के घराने से बहुत बन्धुत्व हो गया और फिर पूज्य ब्र० पं० चन्दाबाई जी और स्वर्गीय बाबू देवेन्द्र कुमारजी जैन से घनिष्ठ परिचय हो गया तब तो और भी स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी के अनेक गुण ज्ञात हुए।

एक बार पूज्य पं० चन्दाबाईजी अपनी दक्षिण यात्रा की बातें कहने लगीं, उससे मालूम हुआ कि आरा में रईसों के यहाँ बहुत ही अधिक पर्दा महिलाओं के लिये रखा जाता है, यहाँ तक कि रेल में चढ़ते समय डिब्बे के दोनों तरफ कनात लगाकर डोली से उतर कर स्त्रियाँ रेलपर चढ़ा करती थीं। तो भी उनके जेठजी दक्षिण यात्रा में विविध स्थानों के महिला समाज की सभा बुलवाकर उनका व्याख्यान करवाते थे और स्वयं किसी कोने की आड़ से व्याख्यान सुना करते थे। बाईजी की उज्ज्वल होनहारता को उन्होंने भली प्रकार समझ लिया था और यह भी समझा था कि जैन समाज की उन्नति के लिये 'स्त्रीशिक्षा' को कितनी आवश्यकता है। जबतक उनका जीवन रहा, बराबर बाईजी के अध्ययन और साहस वृद्धि का प्रयत्न करते रहे।

स्वर्गीय बाबू साहब ने स्वयं उच्चकोटि के विद्वान् होने के कारण यह भी अनुभव किया था कि बिना साहित्य प्रचार के कोई भी समाज और धर्म उन्नति नहीं कर सकता। इसकी पूर्त्ति के लिये जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की योजना उन्होंने की और यह तो सभी जानते हैं कि बिना विद्वान् के न धर्म टिक सकता है न उसका प्रचार हो सकता है और इसकी पूर्त्ति के लिये काशी के श्री स्याद्वाद महा विद्यालय के लिये विशालभवन और आर्थिक सहायता प्रदान की थी।

उस समय के जैन समाज में न तो विद्या का विशेष प्रचार था और न विशेष विद्वान् थे और न विशेष संस्थाएँ; अतः स्वर्गीय सेठ माणिकचन्दजी बम्बई, स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी आरा और स्वर्गीय ब्र० शीतल प्रसाद जी की विविध सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों को बाद दे दिया जाय तो जैन समाज कुछ नहीं रह जाता। जो कुछ हम आज अपनी उन्नति देख रहे हैं उन कार्यों का बीजारोपण और पनपना इन तीनों ही स्वर्गीय आत्माओं की देन है।

आज स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी की दी हुई ४ अमूल्य निधियाँ हमारे पास हैं— (१) श्री स्याद्वाद जैन महा विद्यालय काशी, (२) श्री जैन-सिद्धान्त भवन, आरा (३) अनेक गुण सम्पन्न तपस्विनी महिलारत्न ब्र० पं० चन्दाबाईजी (४) दो पुत्र-रत्न— बाबू निर्मलकुमारजी और बाबू चक्रेश्वर कुमारजी, जिन्होंने जैनधर्म और समाज को तन-मन-धन से जो सेवाएँ अर्पण की हैं और कर रहे हैं वे सबको ज्ञात हैं।

अतः बाबू देवकुमारजी की जैन समाज को उपर्युक्त देन सर्वदा इस समाज के अक्षय कोष में संचित रहेगी, तथा समाज उनके उपकारों का निरन्तर स्मरण रखेगा। ऐसे स्वर्गीय महानुभाव और उपकारक के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धांजलि अर्पण करना सभी का कर्त्तव्य है।

श्रीमान् बाबू चक्रेश्वर कुमार जैन, बी० एस सी०, बी० एल०,
द्वितीय पुत्र श्री स्व० बाबू देवकुमार जी

राजर्षि बाबू देवकुमार

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य]

अनासक्त कर्म योगी संसार में "जल तैं भिन्न कमल है" के समान निवास करते हैं। श्री बाबू देवकुमार जी भी ऐसे ही महात्मा थे, जिन्होंने अपनी मानव सुलभ शक्तियों का विकास कर समाज में श्रद्धास्पद गौरव प्राप्त किया था। प्रायः देखा जाता है कि जो सम्पन्न कुल में उत्पन्न होता है, सुसंस्कृत समाज में पलता है, उच्चात्युच्च शिक्षा की सीढ़ियों पर चढ़ता जाता है, वह बहुधा असामान्य बन जाता है, उसकी गर्वानुभूति में 'अहं' का भाव घर कर लेता है, उसके मन-वचन-कर्म में सम्पन्नता और भद्रता का दर्प तथा वैभव की विलासिता धूप-छाँह की तरह झिलमिलाती रहती है; किन्तु बाबू साहब का व्यक्तित्व इससे भिन्न था। आपके व्यक्तित्व वृक्ष के पुराने पत्ते झड़ गये थे, रईसों की विलासिता और जमीन्दारों का आक्रोश आपको छू भी नहीं गया था। विद्या-बुद्धि वरेण्य बाबू साहब गृहस्थी और जमीन्दारी के द्वन्द्वों में पड़कर भी भस्मावृत्त अंगारे के समान जाज्वल्यमान थे, विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता के मणिकाञ्चन संयोग ने परिस्थितियों के ग्रहचक्र में भी आपको सदा ध्रुव नक्षत्र रखा।

१७-१८ वर्ष की अवस्था में जब जमीन्दारी का भार बाबू साहब ने अपने सबल कन्धों पर धारण किया, उस समय रागारुण सूर्य ने अपनी सहस्र रश्मियों के मणिदीपों को संजोकर आरती उतारी, मुक्तकुन्तला प्रकृति ने उल्लास से भरकर मधुर राग अलापा। प्रकृति के अणु अणु को विश्वास था कि यह युवक "यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वं" को प्राप्त कर निश्चय ही राग-रंग में लीन रहेगा; पर बाबू साहब सचमुच में राजर्षि रहे। आपकी पवित्रता से भयभीत हो वैभव का मद आपका स्पर्श भी न कर सका; रईसों के चोचलों ने आपके पास फटकने का साहस भी नहीं किया। यद्यपि आपके अभिभावकों और हितैषियों ने सभी प्रकार की विलास सामग्री एकत्रित की थी। शीत, उष्ण और वर्षा ऋतु पर विजय पाने एवं मनोरंजन के लिये नाना प्रकार के मोहक कृत्रिम साधन संकलित किये गये थे, पर विवेकी बाबू साहब अनासक्त रहे। इन साधनों ने विलासिता के बदले आपमें विरक्ति ही उत्पन्न की। गृह कार्य करते हुए भी संसार से अलिप्त रहे। साधन सामग्रियाँ भोग के स्थान में राजयोग का कारण बनीं। बाबू साहब पक्के राजयोगी थे, विलास वैभव आपको सर्वथा हेय नहीं प्रतीत हुआ; किन्तु आप इसके बीच रहकर भी साधना के मार्ग में रत रहे।

आप बचपन से ही विचारशील और एकाग्रचित्त रहते थे। दृष्टिगत होने वाले

पदार्थों का सूक्ष्म दृष्टि द्वारा निरीक्षण करना और उन पर गम्भीर विचार करना आपका सहज स्वभाव था। सच है कि सदैव विचारशील रहे बिना किसे महत्ता प्राप्त हुई है ? अतएव आप युवावस्था के सुख भोगते हुए भी यौवन क्या है ? इसके आरम्भ और अन्त में क्या है ? मनुष्य केवल स्वोदर-पोषण के लिये जीवित है या समाज के प्रति भी उसका कुछ कर्त्तव्य है ? मानव जीवन की सार्थकता क्या है ? जैन संस्कृति को किस प्रकार जीवित रखा जा सकता है ? आदि प्रश्न पहेलियों पर निरन्तर विचार करते रहते थे। यद्यपि आपने महात्मा बुद्ध के समान महाभिनिष्क्रमण नहीं किया था, घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार छोड़ा नहीं था; पर सम्राट् भरत के समान अलिप्त रहकर आप आत्म-ज्योति प्रज्वलित करते रहे। घर छोड़ कर साधु बन जाना सरल बात है, पर घर में रहते हुए अनासक्त रहना अत्यन्त दुष्कर और अभ्यास साध्य। इतिहास और शास्त्रों के पन्ने उलटने पर भी ऐसे उदाहरण इने गिने ही मिलते हैं, जिनमें अनासक्त कर्म योगियों का जीवन चरित्र प्रतिपादित किया गया हो। अधिकांश उदाहरणों में घर छोड़ वन में आत्म-शोधन करने की बात कही गयी है। बीसवीं शताब्दी में जैन समाज में आप जैसा राजर्षि, जिसके हृदय में समाज की वेदना, जिसकी आँखों में समाज के आँसू और जिसके मस्तिष्क में समाज कल्याण की चिन्ता वर्तमान हो, दूसरा नहीं हुआ। समाज के दुःख-दैन्य, आडम्बर, अज्ञान, कुरीतियाँ आदि का आपने यथार्थ अनुभव किया; अतः जमीन्दारी के शासन का भार ग्रहण करने के साथ ही आप समाज परिष्कार में लग गये।

बाबू साहब ने अपनी भावना-प्रवण अंगुलियों से निर्मल तूल की बत्तियाँ बटकर उन्हें लघु दीपक में संजोया और अपने तन-मन-धन की स्नेह धारा से सिक्त कर एवं युग-युग से संचित अरमानों की लहलहाती लौ से लगाकर समाज और साहित्य के घने अन्धकार को विच्छिन्न किया। आपने अपने भावों के तुमुल आवेग से भरे करों द्वारा अर्चना थाल को उठाकर जैनतीर्थों की आरती उतारी। जिन पवित्र तीर्थों को पण्डे और पुजारियों ने अपनी पण्डागिरी द्वारा बदनाम कर दिया था, जहाँ वीतरागी प्रभु की विडम्बना की जाती थी, वहाँ बाबू साहब ने सात्त्विकता का प्रचार किया तथा मिथ्यामार्ग को सम्यक्त्वमार्ग के रूप में परिवर्तित किया। मन्दारगिरि सिद्धक्षेत्र को, जहाँ से वासुपूज्य भगवान् ने निर्वाण लाभ किया है, पण्डों ने अपनी चालबाजी से हथिया लिया था। बहुत दिनों तक इस जैनतीर्थ को पण्डे लोग धनार्जन के लोभ से अजैनतीर्थ घोषित करते रहे; परन्तु आपने इस निर्वाण भूमि को मुकदमा लड़कर पुनः अपने अधिकार में किया तथा इस क्षेत्र की सुव्यवस्था का प्रबन्ध भी किया। दक्षिण भारत के

जैनतीर्थों की सुव्यवस्था में आपने अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया।

जैन समाज में व्याप्त अविद्या और अज्ञान के साम्राज्य को मिटाने में आपका अथक परिश्रम इतिहास में सर्वदा स्मरणीय रहेगा। आपने अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग अज्ञान को दूर करने और ज्ञानके प्रसार करने में व्यय किया। अध्ययनशील अनेक छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दीं, उच्च अध्ययन के लिये पुरस्कार दिये एवं विद्या मन्दिरों की स्थापनाएँ कराईं। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध जैनतीर्थ श्रवणबेलगोल के विद्यामन्दिर की स्थापना में आपका सहयोग प्रशंसनीय रहा था। श्री स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशी के संस्थापकों में आपका नाम अग्रगण्य है। आपके मन्त्रित्व काल में ही इस ज्ञान मन्दिर ने स्थिरता प्राप्त की तथा उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। आप की इस विद्या प्रचार की वृत्ति और प्रवृत्ति का जैन समाज को असाधारण लाभ मिला।

बाबू साहब में ज्ञान प्रचार की बुभुक्षा इतनी प्रबल थी कि आप निरन्तर सार्वजनिक ज्ञान-संस्थाओं की सेवा और संरक्षण में संलग्न रहते थे। आरा नागरी प्रचारिणी सभा के आप अनन्यतम सहयोगी रहे थे, उसके वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष पद से आपने जो मार्मिक भाषण दिया था, वह आज भी हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के लिये नवीन है। आपने इस संस्था को आर्थिक सहयोग तो प्रदान किया ही, साथ ही अपना सक्रिय सहयोग देकर इस हिन्दी हितैषी संस्था को हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा के लिये प्रोत्साहित किया। बिहार-बंगाल जैन यंगमेनस् एसोसियेशन के अध्यक्ष रहकर आपने समाज की अपूर्व सेवा की। यह संस्था अपने युग की जीती-जागती जीवट संस्थाओं में से एक थी। बाबू साहब तथा आपके कई मित्रों की अपूर्व कार्य क्षमता के कारण इस एसोसियेशन का प्रधान कार्यालय आरा में ही रहा। बाबू साहब समय-समय पर इसकी पुष्कल धन द्वारा भी सहायता करते रहे। जैन समाज में आपस के विरोध को मिटाने में इस संस्था ने बहुत बड़ा काम किया था। नवीन साहित्य के निर्माण के लिये इस कर्मठ एसोसियेशन से कई पुरस्कार घोषित किये गये। इस एसोसियेशन ने जैन समाज की कुरीतियों के निवारण और संगठन विधान का कार्य बड़े ही उत्तम ढंग से सम्पन्न किया।

बाबू साहब के व्यक्तित्व में सरलता, सादगी, सहृदयता, उदारता, विद्वत्ता, मिलनसारिता, परोपकारवृत्ति आदि विशिष्ट गुणों का अद्भुत मिश्रण था। आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ही तत्कालीन सरकार ने आपको ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त किया था। इस पद का निर्वाह आपने जिस क्षमता से किया, उसके प्रमाण

स्वरूप गवर्नर जरनल, कमिश्नर साहब आदि द्वारा प्रदत्त प्रमाण पत्र आज भी विद्यमान हैं। एक बार भी जो आपके सम्पर्क में आ जाता था, आपके सहृदय व्यवहार से सदा के लिये प्रभावित हो जाता था। छोटे-बड़े, गरीब-अमीर आदि सभी के प्रति आपका सहज स्नेह इतना आदरमय होता था कि वह आपका अपना बन जाता था। श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करने वाले सैकड़ों यात्री प्रतिवर्ष आपके सम्पर्क में आते और सभी आपके व्यवहार, सम्मान आदि से सन्तुष्ट होकर आपकी प्रशंसा करते हुए लौटते। उस समय के यात्रियों में आज जो जीवित हैं, वे बाबू साहब के सम्बन्ध में कितनी ही अद्भुत बातें बतलाते हैं। गतवर्ष पर्यूषण पर्व के अवसर पर जब मैं अजमेर गया था तो वहाँ पर जयपुर निवासी वयोवृद्ध श्री पं० जवाहर लाल जी शास्त्री ने मुझे बाबू साहब के विषय में कई विलक्षण बातें बतलायीं। आपने बाबू साहब के मार्दव और आर्जव गुण को अभिव्यंजित करने वाली निम्न घटना सुनाई।

सन् १९०३ की बात है, बाबू साहब अपने सीमित परिवार तथा मुनीम, कर्मचारियों के साथ श्री सम्मेदशिखर की वंदना के लिये गये। आप वहाँ रात में लगभग १२ बजे पहुंचे। कोठी के दरवाजे पर साथ के कर्मचारियों ने कई आवाजें लगाईं, पर दरवाजा न खुल सका। साथ के मुनीम जी ने जब बहुत हल्ला मचाया, तब दरवाजा खुला। उन दिनों बीस पन्थी कोठी के कार्यों का संचालन बाबू साहब के तत्त्वाधान में ही होता था तथा अध्यक्ष होने के कारण उनका कर्मचारियों पर विशेष प्रभाव था। जब मुनीम पन्नालालजी को बाबू साहब के आने का समाचार मिला तो वह बेचारे आँखें मलते हुए बाबू साहब के पास आये, तथा बाबू साहब से दरवाजा देर में खुलने के लिये क्षमा याचना करने लगे। बाबू साहब ने उलटे हाथ जोड़कर उनसे क्षमा मांगी और कहा— पुण्योदय से इस क्षेत्रके दर्शन होते हैं, मुझसे आपको अधिक कष्ट हुआ है। मेरे साथ के व्यक्तियों ने इस माघ की रात में आपको कष्ट दिया। मैंने तो बाहर रहने की सलाह दी, पर ये लोग माने नहीं। मैं बार-बार आपसे क्षमा याचना करता हूं। मैं यहाँ पुण्यार्जन के लिये आया हूं, किसी को कष्ट देने या स्वयं अशान्त होने के लिये नहीं। इस घटना से बाबू साहब के व्यक्तित्व का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है। संसार भोगों से आप कितने उदासीन थे तथा जैन साहित्य, जैन संस्कृति और जैन समाज का दर्द आपके हृदय में कितना था, यह इतने से ही स्पष्ट है कि आपने मात्र २९ वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं जबतक अन्धकाराच्छन्न जैन शास्त्रों, जैन शिलालेखों, ताम्र पत्रों आदि का संकलन कर समुचित व्यवस्था न करा दूँगा, अखण्ड ब्रह्मचारी रहूंगा। संसार के ऐश्वर्य का त्याग कर

संयमी का जीवन व्यतीत करूँगा। इस कार्य की पूर्त्ति के लिये आपने प्रचुर सम्पत्ति का व्यय किया। समग्र भारत में प्रचारकों और अन्वेषकों को भेजकर जैन शास्त्रों का संकलन कराया। अनेक शास्त्रागारों की सुन्दर व्यवस्था की तथा नष्ट होने से अनेक ग्रन्थगारों को बचाया। आपने केवल मन्दिर और धर्मशालाओं का ही निर्माण नहीं कराया, प्रत्युत सरस्वती भवन जैसी सांस्कृतिक संस्थाएँ भी स्थापित कीं। वणिक् वंश में जन्म लेने पर भी आपमें क्षत्रियोचित उदारता थी। अहिंसा धर्म के प्रचार के लिये आपने अपनी एक आसामी को दस बीघे जमीन पुरस्कार में दे दी थी। वृद्ध पुरुषों से मालूम हुआ कि उस व्यक्ति ने आरम्भ में अहिंसा धर्म का प्रचार किया, पर अन्त में उसने अहिंसा धर्म का प्रचार छोड़ दिया। परिणाम यह निकला कि वह व्यक्ति पागल होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। बाबू साहब ने इसी प्रकार ८० बीघा जमीन जैनधर्म के प्रचार के लिये और भी दान की थी। राजाओं के समान प्रसन्न होकर कई व्यक्तियों को आपने जागीरें भी दी थीं। आज भी जागीर पाने वालों के वंशज बाबू साहब का गुणगान कर रहे हैं। बाबू साहब उन दानियों या समाज सेवियों में नहीं थे, जो नाम कमाने के लिये दान देते हैं या अपने दान का ढिंढोरा पीटते हैं। आपके दान को कोई जानता भी नहीं है. आप चुप-चाप सहायता करने वाले निस्वार्थी, यश की आकांक्षा से दूर रहने वालों में थे। आपके पास ऐसी एक भी वस्तु नहीं थी, जो समाज के कल्याणार्थ अदेय हो। आप अपना सर्वस्व समाज हित के लिये समर्पित कर चुके थे।

बाबू साहब की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, आप उन युगनिर्माताओं में से थे, जिन पर समाज और देश को गर्व होता है। आप जैन शासन और जैन संस्कृति के सतत जागरूक प्रहरी थे। समाज की आपने निस्सीम एवं निस्वार्थ सेवाएं की हैं, आपके इस महान् ऋण से समाज कभी भी मुक्त नहीं हो सकता है। आपकी लोकोत्तर सेवाएँ धार्मिक और सामाजिक इतिहास में सर्वदा अमर रहेगीं। समाज के अजातशत्रु होने के कारण बाबू साहब का प्रत्येक कार्य समाज प्रगति का कारण बना। आजका जैन समाज सेठ माणिकचन्द पानाचंद बम्बई तथा बाबू साहब के द्वारा निर्धारित रूपरेखा पर ही चल रहा है। सचमुच में भौतिक ऐश्वर्य के बीच रहकर अलिप्त रहने वाले राजर्षि संयमी बाबू देवकुमार जी जैनों के चक्रवर्ती भरत और वैष्णवों के महाराज जनक थे।

श्रद्धाञ्जलियाँ

युग प्रवर्तक—

इस युग में जैन समाज का निर्माण जिन व्यक्तियों द्वारा हुआ है, उनमें श्री बाबू देवकुमारजी का स्थान सर्वोच्च है। आपने तन-मन-धन से समाज का उत्कर्ष किया। आपका तेजस्वी व्यक्तित्व, परोपकारी स्वभाव और सेवा की लगन आज भी समाज की प्रगति में सहायक हैं। आप उन गिने-चुने व्यक्तियों में थे, जिनपर कोई भी देश या सामाज गर्व कर सकता है। रईस-अमीर होते हुए भी आपने जनता की समस्त आवश्यक सेवाओं में योगदान दिया। विद्याप्रचार, शास्त्रोद्धार, तीर्थोद्धार एवं जैन समाज के संगठन में आपने अद्भुत कार्य किया था। धनी-मानी होने के साथ-साथ आप उच्चकोटि के विद्याव्यसनी और शास्त्रज्ञ विद्वान् थे। वस्तुतः आपकी सेवाएँ अकथनीय और अनुकरणीय हैं।

बाबू देवकुमार मेरे घनिष्ठ प्रिय मित्र थे। जैन समाज के इस महान नेता की स्मृति से ही मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। अन्तःकरण के भावकंज मुकुलित हो आपके पादपद्मों में पहुँचने को लालायित हो उठते हैं। आपके आदर्श जीवन के सद्गुण मानवमात्र को प्रेरणा और स्फूर्त्ति देते हैं। महासभा के कर्णधार बनकर आपने बहुत समय तक जैन जाति के पोत का संचालन किया। जैन गजट के संपादक रहकर समाज को अपने विचारों का परिचय दिया और गिरी हुई दशा को सुधारा। जिस अवस्था में साधारण मानव विषय की ओर अन्धा बनकर दौड़ता है, आपने उसी युवावस्था में मात्र २६ वर्ष की आयुमें अखंड ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया, जिसका जीवन पर्यन्त पालन करने में रत रहे। आपकी दूर-दर्शिता, देव-शास्त्र-गुरु की अनन्यभक्ति, दानशीलता एवं त्याग जैन समाज के लिये युग-युगान्तर तक शुभ मार्ग दिखलाते रहेंगे। जैन संस्कृति और जैनधर्म के प्रसार के लिये बाबू साहब ने अपने युग में अथक परिश्रम किया था। मैं अपने इस अद्वितीय, आदर्श नेता की पुण्यस्मृति में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना परम धर्म समझता हूं। मेरा विश्वास है कि स्वर्ग में भी आपकी आत्मा जैन समाज के उत्कर्ष को देखकर आह्लादित हो रही होगी।

(रावराजा सर सेठ) हुकमचन्द स्वरूपचन्द इन्दौर

अनुकरणीय नेता—

"श्री देवकुमारजी सा० जैन समाज के महान सेवकों में से रहे हैं, जिन्होंने अपना जीवन समाज व धर्म के संरक्षण तथा संस्कृति के प्रचार में लगाकर समाज

की सेवा की है। जैन-सिद्धान्त-भास्कर उनकी स्मृति में विशेषांक प्रकाशित कर रहा है, यह बड़े हर्ष की बात है। मैं देवकुमारजी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ तथा आशा करता हूं कि उनके आदर्श जीवन का अनुकरण कर समाज के भावी युवक लाभ उठावेंगे।"

(सरसेठ) भागचन्द सोनी, अजमेर

तीर्थभक्त—

जैन समाज को श्री बाबू देवकुमारजी ने अपने दान, ज्ञान और त्याग द्वारा जो प्रदान किया है, वह इतिहास में सदा अमर रहेगा। तीर्थभक्त और जिनवाणी की सच्चो सेवा करने वाले बाबू देवकुमारजी थे। जिन दिनों जैन समाज में कोई नेता नहीं था, समाज पथ-भ्रष्ट हो रहा था, उन दिनों बाबू देवकुमारजी ने समाज का नेतृत्व किया, जैन समाज को रास्ता बतलाया और उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचाने का कार्य किया। साधारण व्यक्ति जिस काम को १०० वष की आयु प्राप्त कर भी नहीं सकते हैं, उसी काम को उन्होंने मात्र ३१ वर्ष की अवस्था में पूरा किया। यह जैन समाज का दुर्भाग्य था, जिससे इतने बड़े महापुरुष को अल्पायु प्राप्त हुई। महासभा की प्रगति और उन्नति में भी आपका पूरा हाथ था, समाज और संस्कृति संरक्षण के लिये आप अन्त तक सचेष्ट रहे। मैं इस पुण्य पुरुष के चरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूं।

रतनचंद जैन

महामंत्री, अ० भा० तीर्थक्षेत्र कमिटि, बम्बई

महान् नेता—

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के अधिकारियों द्वारा हमें यह जानकर बहुत हर्ष हुआ कि वे स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी आरा की स्मृति में जैन-सिद्धान्त-भास्कर का देवकुमारांक प्रकाशित कर रहे हैं।

श्री बाबू देवकुमारजी आरा जैन समाज के प्रधान नेता थे और भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभा के तो प्राण ही थे। आप जैन समाज की उन्नति, सेवा और परोपकार की भावनाओं से ओत-प्रोत थे। जिस जमाने में लोग अपने को जैन कहते हुए डरते थे उस जमाने में आपने धर्म और समाज की महान् सेवाएँ की हैं। शिक्षा के लिये भी आपने विद्यालय और पाठशालाएँ स्थापित कराई हैं। आप महासभा के कुंडलपुर और कानपुर अधिवेशन के सभापति भी बने थे।

जैन गजट के ६ - ७ वर्ष तक संपादक रहकर महान सेवा की है। आप कुरीतियों को हटाने, सुरीतियों का प्रचार करने, बालक-बालिकाओं को धार्मिक शिक्षा से ओत-प्रोत करने, स्त्री समाज में शिक्षा का प्रचार करने, लोगों में सदाचार की भावना जागृत करने और जैन समाज में उपदेशक तथा संपादक तैयार करने के लिये विद्यालयों में इनकी पढ़ाई की व्यवस्था का प्रचार कराने के लिये उद्यत रहते थे। इन शिक्षाओं की आज भी उतनी ही आवश्यकता है। स्त्री शिक्षा के तो आप विशेष हामी थे। आपने एक बार अपने वक्तव्य में लिखा था कि 'समाज की उन्नति तथा महत्व की कुंजी 'घर' है या यों कहिये कि समाज की उन्नति तथा महत्व का मूल स्त्रियां ही हैं।' इससे इन्हें शिक्षित करना यानी अपनी उन्नति करना है।"

आपमें धर्म की भावना पूर्णरूपेण विद्यमान थी। आपने सन् १९०६ में संपादकीय टिप्पणी में लिखा था कि हम ऐसे प्रमादी हैं कि जबतक हमारे शरीर ठीक हैं तबतक धर्म धारण नहीं करते हैं और मरने के समय धर्म ग्रहण करना चाहते हैं, परन्तु बन नहीं पड़ता क्योंकि अभ्यास तो अशुभ कर्मों के करने का है फिर अन्त समय क्या ध्यान टिके।

आप निर्भीकता से लोगों में धार्मिक भावना जागृत करने के लिये सदैव कुछ न कुछ लिखा ही करते थे। आप सन् १८९९ से महासभा के सभासद् रहे। आपने जैन गजट की गिरती हुई हालत को संभाला और महासभा को इसके बोझ से मुक्तकर दिया था। आपने जिनवाणी के उद्धार के वास्ते एक जैन-लाइब्रेरी खोलने का प्रस्ताव किया और २००० मुद्रा देने का वचन दिया था।

तीर्थरक्षा के कार्य में आप सदा अग्रसर रहते थे। श्री सम्मेद शिखर जी के संबंध में जब जब काम पड़ता, आप हमेशा हिस्सा लेते रहे। आप बड़े सीधे-सादे और शांति प्रिय स्वभाव के थे। सबसे बड़ी खूबी की बात आपमें यह थी आप अंग्रेजी में एफ. ए. और उर्दू के अच्छे जानकार थे, फिर भी गर्व आपको छू न पाया था

दुःख है कि ऐसे महान नररत्न का असमय में ही वियोग हो गया। यदि कुछ समय और आप इस विनश्वर देह में रहते तो समाज की और धर्म की कितनी सेवा आपके द्वारा होती, इसका वर्णन किया नहीं जा सकता। लेकिन दैव दुर्निवार है। स्वर्गीय श्रद्धेय पूज्य अपने महान नेता के प्रति हम अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

परसादी लाल पाटनी

महामंत्री, अ० भा० दि० जैन महासभा, दिल्ली

नारी जाति के उद्धारक--

श्रीमान् पूज्य बाबू देवकुमारजी नरेन्द्र के रूप में अवतरित देवेन्द्र थे। आपने पतनोन्मुख समाज का उत्थान किया था। सोयी हुई प्रेरणा को अपनी नेह-वाणी द्वारा जागृत किया था। जैन समाज के अज्ञान तिमिर को दूर करने का अहर्निश प्रयत्न किया। विद्यामन्दिरों की स्थापना कराई और अपने सदुपदेश तथा निबन्धों द्वारा जनमन को शुद्ध और संस्कृत करने में अपरिमित सहायता प्रदान की।

सदियों से दलित और अत्याचारों से पीड़ित नारी की करुणध्वनि को आपने सुना तथा अज्ञानता के बन्धन में जकड़ी नारी को स्वतन्त्रता का आस्वादन कराने के लिये आपकी आत्मा तड़फड़ाने लगी। आपने ही सर्व प्रथम जैन समाज में नारी शिक्षा की शंखध्वनि की तथा नारियों को भी पुरुष के समान शिक्षा पाने का अधिकार है। वे भी समाज निर्माण में अपना प्रमुख हाथ रखती हैं तथा उनकी उन्नति पर ही समाज की उन्नति अवलम्बित है, यह सबसे पहले आपने ही सिखलाया। शिक्षा के प्रति आपके मन में अगाध प्रेम था, आपने अपनी इसी हार्दिक आकांक्षा के अनुसार नारी शिक्षा का आन्दोलन उठाया और प्रबल तूफान के समान इसे भारत व्यापी रूप दिया। परिणाम स्वरूप जैन समाज में उच्च शिक्षा प्राप्त अनेक विदुषियाँ तैयार हुईं।

श्री बाबू देवकुमारजी नारी के उस आदर्श रूप के पक्षपाती थे, जो समाज में अपनी सहनशीलता, ज्ञान, चरित्र और त्याग के बल से सुख-शान्ति और समृद्धि की स्थापना कर सके। हाँ नारी जाति पर होनेवाले अत्याचारों की आप जी भर कर भर्त्सना करते थे, स्वार्थ और अहंकार की भावना, जो कि अशिक्षा के कारण प्रायः नारियों में पायी जाती है; आप उसका उन्मूलन करने के लिये बद्धकटि थे। आपका सिद्धान्त था कि समाज का निर्माण माता की गोद में होता है, अतएव नारी जाति को शिक्षित करना हमारा पहला कर्त्तव्य है। जब तक समाज में सुशिक्षा का प्रचार नहीं किया जायगा, माता और बहनों को साक्षर नहीं बनाया जायगा; समाज का कल्याण होने का नहीं। आदर्श समाज की प्रतिष्ठा शिक्षित महिलाएँ ही कर सकती हैं। नारियों की संकीर्णता, स्वार्थबुद्धि, अनुदारता और असहनशीलता ने ही आज समाज को तबाह कर दिया है।

नारी-शिक्षा प्रचार के लिये बाबू साहब ने सन् १९०५ में आरा में स्वयं कन्या पाठशाला स्थापित की तथा जैन समाज में सर्वत्र नारी-शिक्षा का आन्दोलन चलाया।

जैन गजट के अनेक सम्पादकीय लेखों में नारी-शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया तथा नारियों में प्रविष्ट अन्धविश्वास, कुसंस्कार एवं मिथ्या आडम्बरों को दूर करने का शक्ति भर प्रयास किया। वस्तुतः भारती के उपासक युगान्तरकारी इस अमर दूत ने नारी जाति के उद्धार के लिये अथक श्रम किया और सफलता भी पायी! श्री जैन-बाला-विश्राम (जैन-महिला-विद्यापीठ) आरा, नारी-जाति के इतने बड़े हिमायती और हितैषी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है। श्री बाबू देवकुमारजी की आत्मा स्वग में इस संस्था द्वारा की गयी नारी-सेवा को देखकर निश्चय प्रसन्न होती होगी।

संचालिकाएँ, शिक्षिकाएँ और समस्त छात्राएँ

श्री जैन-बाला-विश्राम (जैन-महिला-विद्यापीठ)

धमकुंज, आरा

अनुपम विभूति—

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आप स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी की पुण्य स्मृति में जैन-सिद्धान्त-भास्कर का विशेषाङ्क निकाल रहे हैं। यह कह देने में मुझे जरा भी संकोच नहीं होता कि इस समय जैन समाज में जो कुछ भव्य, मनोहर, आकर्षक और प्रभावक दीख पड़ता है उसका जिन दो-चार सत्पुरुषों को श्रेय है उनमें से बाबूजी भी एक थे। वे निःसन्देह जैन समाज की विभूति थे। यद्यपि उनके साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ पर उनकी यशोगाथाएं मैंने जरूर सुनी हैं। मैंने सुना है कि एक बार कसाई खाने को जाती हुई पाँच सौ गायों के लिए उन्होंने अपने सेवकों को आदेश दिया था कि ये सब की सब खरीद ली जायं। उनकी परोपकारिता, दयार्द्रता और महत्ता को बतलाने के लिए यह एक ही उदाहरण पर्याप्त है।

—चैनसुखदास न्यायतीर्थ

प्रिंसिपल, जैन संस्कृत कालेज, जयपुर।

इस युग के महान्—

आरा में वीर सं० की २४ वीं २५ वीं शताब्दी में अनेक गणनीय पुरुष हुए हैं जिनके कारण जैन संस्कृति की ठोस सेवा हुई है। उनमें श्रीमान् स्व० बा० देवकुमारजी का प्रमुख स्थान है। उन्होंने श्री स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय बनारस की नींव डाली, एतदर्थ अपनी विशाल धर्मशाला अर्पण की, जैन-सिद्धान्त-भवन आरा स्थापित

किया, जैन-सिद्धान्त भास्कर का उदय भी उन्हीं की स्मृति में हुआ है। भा० दि० जैन महासभा के कुण्डलपुर अधिवेशन के अध्यक्ष पद से उन्होंने अपनी मूककार्य क्षमता का परिचय दिया। उनके पदचिन्हों के अनुसरण स्वरूप आज आरा में जैन महिलाओं की आदर्श शिक्षा संस्था 'श्री जैन-बालाविश्राम, प्रगति पथ पर चल रही है। श्रीमती विदुषी ब्र० चन्दाबाई जी आपके ही घर की आदर्श महिला हैं। जैन समाज के दुर्भाग्य से बाबूजी असमय में स्वर्गारोहण कर गये अन्यथा वे समाज हितके अनेक असाधारण कार्य करते। उनका व्यक्तित्व युगनिर्मापक मूकसेवक, ठोस कार्यकर्त्ता के रूपमें था।

अजितकुमार जैन, शास्त्री
दिल्ली।

नररत्न—

बाबू देवकुमारजी अपने समय के एक चमकते हुए उज्ज्वल नर रत्न थ। उन्होंने उस समय जैन साहित्य और जैन पुरातत्त्व को प्रकाश में लाने का अनोखा प्रयत्न किया, जबकि समाज इस ओर सर्वथा सुप्त था और उसके महत्व को जानता नहीं था। किन्तु बाबूजी एक दूरद्रष्टा युगपुरुष थे, जिन्होंने इस विषय में सर्व प्रथम उसके महत्व को जाना और अपने सम्पूर्ण प्रयत्नों से समाज का इस ओर ध्यान आकर्षित किया। जैन-सिद्धान्तों को प्रचारित करने के लिये अथक प्रयत्न किया। प्राचीन शास्त्रों के संग्रह का उनका प्रेम आज हमारे लिये पथ-प्रदर्शक का काम करता है। यदि वे असमय में ही न चले जाते तो उनसे धर्म व समाज की बड़ी सेवा होती फिर भी वे अपने पीछे जो जैन-सिद्धान्त-भवन के रूप में हमें एक अद्वितीय स्मारक दे गये हैं वह और उनके साथ उनका यश सहस्रों वर्षों तक स्थायी रहे, यही मेरी उनके प्रति श्रद्धांजलि है।

दरबारीलाल, न्यायाचार्य
मुख्याध्यापक, श्री समन्तभद्र विद्यालय, देहली

सहज देवत्व की प्रतिमूर्त्ति—

'वृत्तानि सन्तु सततं जनताहिताय' इस आदर्श भावना का सुन्दर समन्वय बाबू देवकुमारजी में था। वस्तुतः आप सहज देवत्व की प्रतिमूर्त्ति थे। सार्वजनीन कार्यों को जितनी दक्षता और तन्मयता के साथ आपने निष्पन्न किया था, उतनी

दक्षता से उस युग में अन्य किसी ने नहीं। दिग्विमूढ़ जैन समाज को दिशा ज्ञान और मार्ग प्रदर्शन के लिये आपने अटूट श्रम किया। जैन-सिद्धान्त-भवन की स्थापना के समय आपसे अनेक बार मेरा विचार-विमर्श हुआ। आप एक ऐसी केन्द्रीय संस्था स्थापित करना चाहते थे, जो सभी दृष्टियों से जैन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करे। साहित्य और कला के संचयन के साथ जिसे यथार्थतः आगम मन्दिर कहा जा सके। जिसमें जैनागम को दीवालों पर अंकित कराया गया हो। आपकी यह इच्छा समग्ररूप से पूर्ण नहीं हो सकी; फिर भी आपने जैन संस्कृति के संरक्षण और संवर्द्धन के लिये बहुत कुछ किया है। आप आदर्श गृहस्थ थे, श्रावक के व्रतों का सम्यक्रूप से पालन करते थे तथा संयम का पालन करते हुए समाज कल्याण के लिये चिन्तित रहते थे। आपका प्रत्येक कार्य 'लोकहिताय' होता था। आप काम करने की धुनि में सदा रत रहते थे। नाम से दूर रहकर समाज की सच्ची सेवा आपने की है। आप लेखक, वक्ता और समाज निर्माता थे। मानवता का यह कीर्त्ति-स्तम्भ युग-युग तक समाज को प्रेरणा देता रहेगा। मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं।

जवाहरलाल शास्त्री,
जयपुर।

सरस्वती पुत्र —

श्री देवकुमारजी की धुँधली-स्मृति आज चल-चित्र की तरह मानस-पटल पर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी है। 'जैन-भास्कर' के संचालकों ने भास्कर का देवकुमाराङ्क निकालकर प्रशंसनीय एवं मौलिक कार्य किया है।

जन-धारणा है कि लक्ष्मी और सरस्वती में मेल नहीं खाता। उनके भिन्न-भिन्न वाहन हैं। परन्तु श्री देवकुमारजी इस परंपरागत सिद्धान्त के अपवाद स्वरूप थे। आप धनी और विद्याव्यसनी दोनों थे। आपकी अटूट धार्मिकता, कट्टर सांप्रदायिकता नहीं, सत्य-अहिंसा एवं दया-दान के रूप में, मानव में ही नहीं प्राणिमात्र में भी व्याप्त थी। आपके जीवन काल में देश की हजारों संस्थाएँ आपके पैसों से जीवित थीं एवं अनेकों वृद्ध विधवाएँ हिन्दू-मुसलमान तथा परिगणित जाति की परवरिश पाती थीं।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग और बीसवीं के आरंभ में, आरा का नव साहित्य निर्माण बाबू साहब की सहायता, प्रेरणा तथा उत्साह से हुआ है। आपका जैन-सिद्धान्त-भवन, विश्व विख्यात ओरियंटल लाइब्रेरी के रूप में है। आप आरा

नागरी-प्रचारिणी सभा के परम पृष्ठ-पोषक थे। आर्थिक सहायता के अतिरिक्त आप भाषणों और लेखों द्वारा भी सभा की प्रशंसा करते एवं धन-दान की प्रेरणा भी देते थे। हमारी हार्दिक कामना है कि देवकुमाराङ्क प्रकाशित करने के बाद 'देवकुमार स्मारक-ग्रन्थ' अवश्य प्रकाशित किया जाय। क्योंकि उस पीढ़ी के कुछ वृद्ध जन स्मृति-रत्न संजोये अभी जीवित हैं।

'भास्कर' के इस अङ्क में एक लेखक के रूप में सम्मिलित न होने का मुझे हार्दिक दुःख है। हम भी इस पुनीत अवसर पर आरा नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से वीतरागी, गृहसन्यासी स्वर्गीय बाबू देवकुमारजी को विनीत मधुर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं। आप यथार्थनामा देवकुमार थे।

रामप्रीत शर्म्मा
प्रधान मंत्रीः—नागरी-प्रचारिणी : सभा, आरा।

हिन्दी हितैषी—

पिछले कितने दिन बीत चुके। उस समय हिन्दी अपनी जवानी की अंगड़ाई लेने के लिए कसमस कर रही थी। आप इसके आकर्षण में बँध चुके थे। काफी मस्ती और दिलेरी के साथ एक दिन आप अपने कई सहकर्मियों के साथ इसके सौन्दर्य और सौष्ठव का आकर्षक प्रदर्शन करते हुए मैदान में उतर पड़े। आपने इसकी आरती उतारने के लिए अनेक मंदिरों का निर्माण किया। आज जैन-सिद्धान्त-भवन एक सजीव मूर्ति के रूप में हमारी आँखों के समक्ष वर्त्तमान है।

आपने हिन्दी-मंदिरों का सिर्फ निर्माण ही नहीं किया, बल्कि हिन्दी की साधना में निरंतर निरत रहे। हमें आपकी साधना पर गर्व है। हिन्दी-जगत आपकी अटूट एकांत साधना के समक्ष चिरकाल तक नतमस्तक रहेगा।

साधक का हृदय पवित्र होता है। आपमें वही पवित्रता वर्त्तमान थी। याचकों ने आपको सर्वदा दरिद्रनारायण के रूप में देखा, और परीक्षकों ने उदारता और सज्जनता की प्रतिमूर्त्ति के रूप में। जनता की भी आपकी ओर दृष्टि अवश्य गयी; लेकिन उसने आपको एक ठोस और कर्मठ पुरुष की उपाधि दी। आलोचकों और गंभीर पाठकों ने भी आपकी साधना की परीक्षा की। उनकी निगाहों में आप एक सफल कलाकार सिद्ध हुए।

सफल कलाकार आसुरी वृत्तियों से परे रहता है। संभवतः इसीलिए आप मानवता की एक सच्ची मूर्त्ति बन गये। आपकी दृष्टि में सभी प्राणी बराबर थे। आप का व्रत था—प्राणियों की सेवा करना। क्या लोगों ने आपको महात्मा की उपाधि देकर अनुचित किया? मैं कहता हूं—नहीं।

हे स्वर्गीय महान आत्मा ! हे श्री देवकुमार के रूप में पृथ्वी पर विख्यात होने वाले मानव ! संसार आप को चाहे जो कहे; लेकिन मैं आपको मानवता की चरम सीमा पर दृढ़ता के साथ स्थिर रहने वाला एक कलाकार मानता हूं। आपके प्रति मेरे अन्तस् में जो अटूट श्रद्धा और स्नेह का रस-स्रोत प्रवाहित हो रहा है, उसे अपनी आँखों की अंजुलि में समेट कर आपके चरणों पर चढ़ाता हूं।

बनारसी प्रसाद 'भोजपुरी'

प्रधान-मंत्री, शाहाबाद हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

स्मरणीय —

स्व० देवकुमारजी के मैंने एक ही बार दर्शन किये थे, जब वे महासभा के कुंडलपुर (दमोह) अधिवेशन के सभापति हुए थे और उसके कुछ ही वर्ष बाद उनका स्वर्गवास हो गया था। साक्षात् परिचय और वार्तालाप का कभी मौका नहीं आया। परन्तु उनके दान से जैन-सिद्धान्त-भवन की स्थपना होने के कारण उनकी स्मृति मेरे मन में सदा जागृत रही है और भवन के प्रति ममता भी।

नाथूराम प्रेमी

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

कर्मठ त्यागी—

श्री बाबू देवकुमारजी उन महात्माओं में से थे, जो अपनी सेवा और त्याग द्वारा देश एवं समाज को उन्नत बनाते हैं। उनके कर्मठ त्यागी जीवन से हमें स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है। अतः उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर मैं अपने को गौरवान्वित मानता हूँ।

बुद्धनराय वर्मा एम. एल. सी.

अध्यक्ष, शाहाबाद पुस्तकालय संघ

युवकों के पथ प्रदर्शक—

श्री बाबू देवकुमारजी से हम युवकों को अनेकानेक प्रेरणाएँ मिलती हैं। वस्तुतः वे हमारे एक पथ प्रदर्शक सच्चे नेता थे। उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना प्रत्येक युवक का परम कर्त्तव्य है।

माधवराम शास्त्री, न्यायतीर्थ

आरा

महान्—

श्री बाबू देवकुमारजी की सेवाओं से अधिकांश तथा जैन समाज परिचित है। आप जैन समाज के प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ परोपकारी सज्जन थे।

आपके हृदय में जैनधर्म के प्रति विशेष अनुराग था और उसके प्रचार की उत्कट भावना आपकी नस नस में भरी हुई थी। आपने अपने ३१ वर्ष के अल्प जीवन काल में जो सेवा कार्य किये हैं, वे समाज से छिपे हुए नहीं हैं।

परमानन्द जैन शास्त्री, सरसावा

कृतज्ञता—

अजनि देवकुमार इति क्षितौ प्रतिदिशं प्रथितः प्रथितान्वयः।
हसति यस्य पुरी मगधस्थिता सुरपुरीमपि भव्यजनाश्रया ॥१॥
पितामहस्तस्य जगत्प्रसिद्धो बभूव धन्यः प्रभुदाससंज्ञः।
गुणानिदानीमपि यस्य लोकः सगौरवं गायति नित्यमेव ॥२॥
यस्यात्मजौ राजसमानतेजोविराजमानौ विदिताभिधानौ।
निजान्वयाम्भोनिधिपूर्णचन्द्रौ सद्धर्मकर्मोत्सववीततन्द्रौ ॥३॥
निर्मलकुमारनामा प्रथमोऽप्रथमश्च सद्गुणागारः।
चक्रेश्वरः कुमारः परमोदारावुभावेव ॥४॥
ताभ्यामुभाभ्यामतिसज्जनाभ्यां हर्म्यप्रदानाद्गुणसंश्रयाभ्याम्।
काशीस्थविद्यालयमुख्यनामस्याद्वाद एषोऽद्यकृतः कृतार्थः ॥५॥
यद्भ्रातृपत्नी विदुषीह चन्दाबाई प्रसिद्धा महिलासमाजे।
तद्यत्नसंस्थापितजैनबालाविश्रामसंस्था नितरां विभाति ॥६॥
आरापुरीमध्यविराजमानं यज्जैनसिद्धान्तगृहं विशालम्।
तन्मूलहेतुर्नररत्नदेवकुमार एवेति नवेत्तिकोऽत्र ॥७॥
विद्यालयस्यास्य च सूत्रपाते यो मुख्यहेतुः कृतहर्म्यदानः
अर्थप्रदानं समयानुरूपं व्यधात्सदा मासिक-दानरूपम् ॥८॥
तत्साचिव्यकृतोत्कर्षः स्याद्वादोऽयं कृतज्ञताम्।
श्रद्धा श्रद्धाञ्जलि द्वारा व्यनक्त्युपकृतिं स्मरन् ॥९॥

काशीस्थ श्रीस्याद्वादमहाविद्यालयतः

श्री बाबू देवकुमार जी का वसीयतनामा

[अपनी मृत्यु के पूर्व ४ जून सन १९०८ बाबू देवकुमार जी ने एक वसीयतनामा २९०० रुपये के स्टाम्प पर लिखा है। जो उर्दू भाषा में है, यहाँ पर उसके कुछ उपयोगी अंश अनूदित कर दिये जाते हैं। इससे बाबू साहब के उदार हृदय की विशाल झाँकी तथा उनकी आन्तरिक अभिलाषाओं का साक्षात्कार पाठक कर सकेंगे]

मैं बाबू देवकुमार सुपुत्र स्वर्गीय बाबू चन्द्रकुमार मोहल्ला महाजन टोली नं० १ आरा नगर निवासी हूँ। मेरा व्यवसाय जमींदारी और जाति का अग्रवाल जैन हूँ। चूँकि मैं सदा अस्वस्थ रहा करता हूँ और इस समय अत्यन्त रुग्ण हूँ तथा जीवन का कुछ भी ठिकाना नहीं अतः मेरी यह इच्छा है कि मैं ऐसा प्रबन्ध करूँ, जो मेरी मृत्यु के पश्चात् भी सदा के लिये स्थिर रहे और मेरा तथा मेरे वंश का नाम अमर रहे, मेरा परलोक भी बने; इसलिये मैं स्वेच्छा और निजी प्रेरणा से विचार विनिमय पूर्वक, बिना किसी दबाव और अन्य की प्रेरणा के अपनी पूर्ण चैतन्यता में नीचे लिखे अनुसार प्रबन्ध करता हूँ; जो मेरी मृत्यु के बाद काम में लाया जाय।

मिस्टर डिक्डरउल वो शी० शी० राबिन्सन से २७ अगस्त सन् १९०५ ई० को खरीदी हुई आरा नगर की १७ धूर जमीन, जिसकी सीमा निम्न प्रकार है और जो मेरे अस्तबल के काम में लाई जाती है; मकान सहित इस अस्तबल को श्री चन्द्रप्रभु जी के मन्दिर को अपनी इच्छा पूर्वक प्रदान करता हूँ।

सीमा—पूर्व में बाग बलदेव दास, पश्चिम नाली और उसके बाद सड़क सरकारी, उत्तर बरामदा मन्दिर; दक्खिन रामगोविन्द कुर्मी।

श्री महावीरचन्द सुपुत्र स्वर्गीय श्रीकृष्णचन्द्र आरा नगर निवासी, जो कि मेरे फुफेरे भाई हैं और जिनके प्रति मेरा कुछ कर्त्तव्य है, मैं आरा नगर में महाजन टोली का एक किता मकान, जिसकी सीमा निम्न है; इन्हें प्रदान करता हूँ और इसकी मरम्मत के लिये १५००) रुपये भी देता हूँ। यह मकान उनके वंशज का होगा।

सीमा—पूर्व में गली आने-जाने की, पश्चिम मकान छेदी मियां, उत्तर में गली और दक्खिन में गली लक्ष्मी प्रसाद अग्रवाल के मकान में जाने की।

मैंने श्री पार्श्वनाथ जी का एक मन्दिर मु० गढ़वा, परगना कराली, थाना पश्चिमसरीरा, तहसील मंझनपुर, जिला इलाहाबाद में निर्माण कराया था, जिसमें कुछ काम अभी बाकी है और पार्श्वनाथ जी की प्रतिष्ठा भी अभी तक नहीं हुई है। यदि इलाहाबाद की दि० जैन पंचायत इस मन्दिर के प्रबन्ध करने का भार अपने ऊपर ले ले और प्रतिष्ठा का प्रबन्ध करले तो मेरे उत्तराधिकारियों और प्रबन्धकों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे ५०००) रुपये पंचों को दे दें और यदि पंच तैयार न हों तो हमारे उत्तराधिकारी और प्रबन्धक इन्हीं रुपयों से प्रतिष्ठा और मन्दिर का प्रबन्ध करें।

मैंने अपना परलोक सुधारने के लिये कुछ दान देने की प्रतिज्ञा की है, जिसकी शर्तें निम्न प्रकार हैं। परन्तु अभी तक यह चन्दा दिया नहीं गया है, अतः मेरे उत्तराधिकारियों, प्रबन्धकों का कर्त्तव्य है कि वे उन सब दानों की रकमों को अगली सूची के अनुसार देने से इंकार न करें जिससे मेरी सदिच्छा और ध्येय पूरा हो।

दि० जैन महासभा के कुंडलपुर के प्रस्ताव के अनुसार जैन गजट को चिरस्थायी बनाने और उसकी उन्नति के लिये एक जैन प्रेस कम्पनी स्थापित की गयी है, जिसके मैंने ५० हिस्से (शेयर), जो कि प्रत्येक १०) रुपये का है, जिनकी कुल रकम ५००) रुपये हैं, खरीदे हैं। परन्तु अभी तक उनका पूरा रुपया नहीं दिया गया है, अतः मेरे प्रबन्धकों और उत्तराधिकारियों का कर्तव्य होगा कि वे पूरा रुपया देकर सब हिस्से (शेयर) प्राप्त कर लें। यह रुपया जनरल स्टेट की आमदनी से दिया जाय। जब इन सभी शेयरों का रुपया चुक जाय तो इन शेयरों का सारा मुनाफा जैन गजट को मिले और इन शेयरों पर जैन गजट का ही स्वत्व रहे।

महावीरचंद सुपुत्र स्वर्गीय श्रीकृष्णचन्द, जो मेरे फुफेरे भाई हैं, जिनको मैंने मकान दिया है और जिनके भरण-पोषण के लिये मासिक सहायता भी दी जा रही है; उनके ऊपर आज तक हिसाब करने से हमारा ३३३६॥≈)॥। निकलता है। मैं स्वेच्छा से उनकी अवस्था पर सहानुभूति प्रकट करते हुए इन रुपयों को छोड़ता हूँ और हिसाब साफ करता हूँ। मेरे प्रबन्धकों और उत्तराधिकारियों को उनसे तकाजा करने का अधिकार नहीं है।

भादों २१ फसली सन् १३११ में २६ बीघा खेत जो गाँव डीहपुर, परगना भोजपुर जिला शाहाबाद में है, २० बीघा ५ कट्ठा रैयती जमीन जो २५ जुलाई १९०५ में और ६ बीघा जमीन तारीख १६ फरवरी १९०७ में खरीदी गई है; उसे तथा बंगाल बैंक बाँकीपुर के सेविंग बैंक खाते में ७५०) रुपये, जो हमारे मुनीम व खजाँची गोपीनाथ के नाम से जमा हैं; जैन जाति के अनाथ और विधवाओं के भरणपोषण की सहायता के लिये दान करता हूँ। मेरा यह उद्देश्य रहा है कि जैन जाति के अनाथ और विधवाओं का समुचित संरक्षण किया जाय, इसलिये मैं अपनी उपरोक्त जायदाद को उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये जैन अनाथालय हिसार (पंजाब) को दान करता हूँ। यह अनाथालय इस जायदाद से हमारे उद्देश्य की पूर्त्ति करेगा।

दीन मुहम्मद खाँ सुपुत्र चिराग अली खाँ, गाँव रानीसागर, परगना बिहीय, जिला शाहाबाद जो हमारे पिता के समय से मुख्तार और कारिन्दा रहे आये हैं, यह हमारे शुभचिन्तक और आज्ञाकारी हैं। मैं इनसे सदा प्रसन्न रहा हूँ। इनको इस समय २५) माहवारी वेतन दिया जाता है, हमारी इच्छा है कि जब तक यह स्टेट का काम करने लायक रहें, २५) माहवारी के हिसाब से वेतन दिया जाय। यदि ये किसी कारण काम करने लायक न रहें तो स्टेट से २०) रुपये माहवारी पेनसन दी जाय।

दान-सूची

१	मन्दिर मरम्मत श्री वासुपूज्य स्वामी मन्दारगिर, जि० भागलपुर	५००)
२	जैन सरस्वती भवन के निर्माणार्थ तथा नये-पुराने जैन शास्त्रों के संकलन और प्रचार के लिये	२०००)
३	श्री सम्मेद शिखर जी तीर्थरक्षा कमिटी के लिये	१५००)
४	मूडबिद्री के मन्दिर के लिये १०८ कलशा बनवाने को	१७५)
		४१७५)

जमीन नं० १ फिहरिस्त A

दान दी गयी जायदाद अर्थात् मौ० प्रहाप, परगना नोनउर, जिला शाहाबाद जिसका तौजी नं० ३२५९ है; का आमद खर्च का विवरण निम्न प्रकार है—

जमाबन्दी रकम		७५६०॥-)।
सरकार में जमा की जानेवाली रकम		२६६२॥।)।
मालगुजारी सरकारी	२२७६॥)	
वेतन कर्मचारी	१५०)	
वेतन पटवारी और मुंशी	२३६।)।	
	२६६२॥।)।	

अवशेष मुनाफा मौजा प्रहाप का, जिसका उल्लेख वसीयतनामा की ३ री धारा में किया गया गया है, निम्न प्रकार खर्च किया जायगा।

१	प्रबन्ध मन्दिर खास आरा	५००)
२	प्रबन्ध मन्दिर भदैनी, बनारस	३००)
३	प्रबन्ध मन्दिर चन्द्रावती	२००)
४	सरस्वती भवन	१५००)
५	जैन पाठशाला तथा कन्या पाठशाला आरा	५००)
६	छात्र वृत्तियाँ, पाठशाला काशी तथा अन्यान्य पाठशालाओं के छात्रों को धार्मिक शिक्षा की उन्नति के लिये	५००)
७	ऐसे जैनधर्म प्रचारक, जो अपना समय जैनधर्म के प्रचार में लगावें और उनका कोई वसीला न हो तो उनकी स्त्री को दिया जाय	१००)
८	जैन पुरातत्त्व संग्रह एवं शिलालेखादि संरक्षणार्थ	२००)
९	औषधालय श्री सम्मेद शिखर	८००)
१०	मन्दिर गढ़वा (इलाहाबाद)	२००)

नोटः—यदि बचत में कुछ रुपये रह जायँ, तो शास्त्र खरीदने और लंगड़े-लूले आदि की सहायता में खर्च किये जायँ।

I have executed this will.
Sd. DEVA KUMAR.

Sri Babu Deva Kumar Commemoration Number

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVII JUNE 1951 No. I.

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya.

Published at :

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :

Inland Rs 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Re 1/8.

CONTENTS .

Om

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XVII No. I | ARRAH (INDIA) | June 1951.

BABU DEO KUMARJI JAIN

By
Sri, Birendra Kumar, Editor "Nagrik", Arrah,

The lives of great men of culture, learning and spiritual attainments are best studied as a whole but generally the closing periods of such lives are the most sublime, the quintessence of the whole life as they are.

This we find fully illustrated in the life of Danvir Babu Deo Kumar Jain, who has left a landmark in the cultural and educational advancements of the Jain community throughout India.

Before his death he remained confined to bed for three and half months. During this period not a day passed when he did not perform his strict religious duties regularly. Though the disease was a fatal one, he was quite unmindful of the consequences. There was no body to look after his family consisting of his wife and two young sons just within their teens but this fact did not produce any disturbing effect on his mind, resigned as he had everything of his in the hands of Providence. The only idea which occupied his mind was to die peacefully with the name of the Supreme Being on his lips. So in order to keep a spiritual atmosphere around him,

he had requisitioned the services of a high class Jain Sadhu named Varni Nemisagarji, who remained with him all the twenty four hours reciting holy books. His disease grew worse but his mind drew nearer to extra-mundane things. He was taken to Calcutta for operation. No doubt the doctors were not very hopeful of recovery but unlike an ordinary wordly man he struggled not for life but for death, which seemed to be more alluring to him. Six hours before his death he took 'Sallekhana'[1] and resolved not to eat or drink anything even if his life be saved anyhow. Then sending off everybody from his presence he absorbed himself in hearing scriptures from the aforesaid Nemiji and passed away in perfect peace and tranquility.

This incident portrays a strength of mind and a spirit of renunciation seldom found in a man leading family life. Let us now look into his career to find the sources of such extraordinary and sterling qualities of head and heart.

Babu Deo Kumarji was born in an ancient, high and cultured Zamindar family of Arrah on the 7th March 1877. His grandfather Babu Prabhu Dasji who was a great scholar of Sanskrit and a man of charitable and religious disposition, got constructed many temples in different parts of India and a big Dharamshala on the bank of the Ganges at Benares.

The father of Babu Deo Kumarji, Babu Chandrakumarji was also a pious man and had made a Jain temple at Kousambi. But unfortunately he died at an early age. At that time Babu Deo Kumarji was only ten years old. He inherited a big estate and along with it also the charitable disposition and religious zeal of his father and grandfather. Being a minor his estate went under the control of 'Court of Wards'. He was married at the age of seventeen. When he passed the I. A. examination, the District Magistrate pressed him to drop his studies and look after his zamindari. He was very much desirous of graduating but circumstances compelled him to take the burden of his estate and family on his young shoulders. After a few years he was appointed an Honorary Magistrate and he

1. This is one of the most difficult Jain vows according to which a person suffering from some serious illness, resolves to give up for ever the enjoyment of one or more things in case his life is saved.

stuck to that post for many years. But in the midst of all these tiring occupations he always found time to study religious books and hold religious discourses with scholars.

In the year 1900 his younger brother Babu Dharam Kumarji, died of plague at Parasnath Hills where he was on pilgrimage. He was married only a few months before in Mathura. He was a very brilliant student reading in B. A. Babu Deokumarji was very much shocked but he bore it peacefully and at once felt his duty towards his brother's wife Pandita Chanda Baiji Jain who was only fourteen years old at that time. He appointed big scholars of Jainism so that her tender mind might become religious. He also appointed learned teachers to teach her English, Hindi and other subjects. Besides this, he himself taught her from time to time. As a result of all these she is now a living monument to Babu Deokumarji's spirit of renunciation and zeal for service to Society. It is she who founded the Jaina Bala Vishram at Arrah in 1921 and has been conducting it with great success. She also edits the Jain Mahiladarsh and the *Akhil Bhartiya Jain Mahila Parishad.*

Babu Deokumarji had a very fine grasp of the Jain Philosophy and he realised the the potentialities of the tolerant preachings of "Syadbad"[1] philosophy, so much needed in the Indian Society, torn with religious strife and dissensions. So on the 12th of June 1905 he established a "Syadbad Pathshala" in Benares which in a few years grew to "Mahavidyalaya" and made a gift of the "Dharamashala" made by his grandfather for housing it.

Now he rivetted his attention towards South India which is a veritable arsenal of religious faiths. He knew there was a mine of Jain Literature lying in oblivion unexploited by scholars, So in the year 1907 he started for a pilgimage in the South India with his whole family. He also took with him chosen lecturers and musicians. He visited almost each and every place of pilgrimage and was filled with a sense of pride at the immensity of Jain Literature and things of Jain art and culture like the 56 feet high and 1200

1. This is an important branch of Jain Philosophy, which holds that every thing can be viewed in more than one aspect, So what is real in one sense can be unreal in another.

years old stone image of 'Sri Bahubali Swami' but he was much grieved, at the same time, to see that there was none to look after or appreciate these things which were on the verge of ruin by the ravages of time. He then and there took a vow of leading a 'Brahmachari' life till he collected all the available literature of Jainism and made provision for their safe upkeep. Accordingly where-ever he went, he spurred people to open libraries to collect and preserve these things. In many places he himself laid the foundation stone of such libraries.

Thus making an extensive tour of the Bombay Presidency, Sravanbelgola, Mysore, Bengalore, Mangalore and other places, his party reached Mudbidri. Here he met with a number of archaeological finds and Jain images of exquisite beauty made of diamonds, rubies, emeralds and other valuable stones. But to his utter surprise and pain he found the people indifferent to their enviable surroundings and possessions due to the their ignorance So he called a meeting of the Jain community there and through lectures and persuasions brought home to them the need of religious and educational institutions. The response was prompt and sufficient money was collected to start the institution at once. Now with the same zeal and fervour he proceeded to Belgaun and several other places exhorting people to follow the same line of action as suggested by him in Mudbidri and the response was equally good every where. Now returning from his South India pilgrimage and being in possession of several resuscitated ancient Jain Literatures, he felt the necessity of establishing a centre at his own headquarters at Arrah where he could preserve those valuable materials and make them available to research scholars.

With this end in view he established "The Central Jain Oriental Library" which is now housed in a beautiful up-to-date building, built at the cost of several thousands of rupees The library has now become a growing institution having thousands of high class books on different topics concerning all the religions and almost all the schools of philosophy of the world, four thousand and five hundred manuscripts on 'Bhojaptra' a good many collection of rare coins, stamps and antique sacred paintings. Under the auspices of this library is also published 'The Jain Sidhanta Bhasker' a high class

periodical which is subscribed by most of the intellectual aristocracy of the country and the centres of research works. It is these characteristics of this library which won the approbation of Mahatma Gandhi, Pandit Madan Mohan Malviya and other great personalities of India when they happened to visit this part of the country. It has also attracted scholars from Germany and America who specially came to this place in connection with research works.

Again Babu Deokumarji, being an advocate of female education, established, at the same time, a Primary Girls' School at Arrah. The effect produced by this institution is evident from the fact that today we find not a single illiterate woman in the Jain community at Arrah.

He also worked for the All India Digamber Jain Mahasabha which aims at roping in all the scattered elements of the Jain community and organising them into a homogenous body. He was to a large extent responsible for the popularity of the Mahasabha. In the Kundalpur session of the Mahasabha held in April 1907, he was elected President. His presidential speech was vibrant with the same religious spirit as was evinced during his south India pilgrimage and in his editorials of the 'Jain Gazette'. He chalked out in his speech several programmes for the emancipation of Jain community which still serve as a beacon light to social and religious reformers of the community. The speech on the whole was bristling with gems of noble thoughts—provoking ideas, and I may crave the indulgence of the readers if I quote a few passages from it here :—

The reason why we fail today in all our undertakings, that all our activities are divorced from Religion, and accordingly all our movements aimed at the betterment of society is bound to fail. Hopps said "You can not, if you wished it, suddenly reverse the policy of generations and abolish the machinery that has set the pace and determined the products of hundred years." Mr. Humphry Wood said "The world cannot get on without morals. They are the binding forces for solidarity and continuity. I take my stand on morals, and if you give me morals, you must give me the only force that can guarantee them—dogma,—and ritual,—and superstition,—and all the foolish ineffable things that bind mankind together, and send them

to face the music in this world and the next. Some how or other you must get conduct out of the masses or society goes to pieces. But you can only do so through religion i. e. the organization, which can ever get conduct out of the ignorant in the way they understand."

It is well known that reform of the individual is easy but the reform of the nation is a difficult task, one may be responsible for the act of the one but for the act of the whole, the whole must be responsible, one cannot be responsible for all, for this, unity is essential. Community work is for the whole Community, Social work is for the whole Society. Neither work for any one nor depend on any one. "A nation has to learn self govt, just as it has to learn every thing else, and nothing helps so much as to put the nation, in charge of its own destiny.

"Our community has been the blind imitators of others, unmindful of the situation of our own country, the time, the formation, organisation and policy of the society. This has robbed us of our faculty of independent thought and action. We are here for bringing about reformation in the society, and society being comprised of individuals we should spare no pains in working for the welfare of the widows and the orphans; we should provide for the education of children, character-formation of youngmen, right use of the money of the aged and big persons and never allow them to go astray of the right path, so that they may attain salvation in the end."

He further added "The world cannot progress without 'Dharma' and for its establishment we have got to banish age-worn customs, superstition and fears of all description. This alone will place the society on a firm basis and make it immortal."

In the end he diagnoses the real disease of the body politic when he says "The most painful factor in our society is that we are not tolerant towards people differing from us in religion, thought and action", and exhorted the audience thus "We should appreciate and respect any one, belonging to any community who has worked for the betterment of his community in however small a degree it may be."

Coming back from Kundalpur conference while he was planning fresh fields of activities and services, Providence was planning.

otherwise. He fell seriously ill soon after and breathed his last in August 1908, in the extraordinary circumstances already enumerated.

We have already seen how peacefully and manfully he embraced death. At that time he had no anxiety about any thing except the preservation of the ancient scriptures and the uplift of the community. So for this purpose he created a trust of a property worth more than a lac of rupees fetching an annual income of about ten thousand rupees. This Trust now maintains the Central Jain Oriental Library, Arrah; the Girls School Arrah, finances the Syadbad Mahavidayala Benares, charitable dispensaries at Shri Parsvanath and at Arrah and several Jain temples at different places. Besides these it renders financial help to poor and deserving students irrespective of caste and creed. He further made an appeal to the members of his community and its leaders in the following words :—

' My last request to my Jain brothers and the leaders is that they should immediately strive for the preservation of ancient 'Shastras' 'Puranas'. It is these things that will proclaim the loftiness of Jain religion and propogate its light throughout the world, making it immortal. This was my aspiration since long and I had taken a vow of leading a life of celebacy till I fulfil this work. I am deeply pained not to have the good fortune of accomplishing this holy task. Now it is for you to take a vow for the completion of this holiest of holy tasks. The responsibility is now entirely yours."

This last message of his, spurred the entire community into action and his two illustrious sons, Babu Nirmal Kumar Jain Ex. Member Council of State and Babu Chakreshwar Kumar Jain, B. Sc., B. L., Ex. M. L. A., even in the midst of their manifold preoccupations leave no stone unturned to see that every word of the message and the purposes mentioned in the trust ars completely fulfilled.

In the end when we have surveyed the volume of works done by Babu Deokumar Ji and see that he accomplished all these at the early age of thirty, we are simply wonder-struck and are reminded of the very apt saying that "Man lives not in years but in deeds."

A NOBLE SERVER OF THE NOBLE CAUSE

By

Sri. Jyoti Prasad Jain M.A., LL. B., Meerut.

History is race memory. If a nation knows nothing of its history, it has lost its memory and so its identity. It now becomes a new nation with all to learn anew. And it cannot have a true feeling of nationhood. It is its history which gives the key to the spirit of a nation. The present has grown out of the past which cannot be understood without a knowledge of history.

And as Thomas Carlyle has oftly observed in 'Heroes and Hero-worship', "universal history, the history of what man has accomplished in this world, is at bottom the history of the greatmen who worked that." In every age, men who rose head and shoulders above their fellows, by strong character, dominant personality intellectual genius—have been the modellers, patterners, creators of whatsoever the general mass of men contrived to do or attain. It is why Ralph Weldo Emerson said, "All history resolves itself very easily into the biography of a few stout and earnest persons." Moreover, by reading about great persons, our mind becomes peopled with many noble and great figures, and we come to feel a deeper interest in humanity as a whole.

And what is true about humanity as a whole or about a race, nation or country, is equally true about a community or cultural unit, however small. In fact, the history of a nation is nothing but a summing up of the histories of the various communities, societies and cultural units it consists of. Particularly, in the case of our own country, we cannot think of a history of India in any particular period without taking into account the cultural contributions and the efforts in advancing progress of the numerous and various communities that people this land.

Like the Hindus, Muslims, Sikhs, Parsees, Christians, Budhists and others the Jains have all along the historical times formed themselves into a definite and distinct community as well as a cultural group, while unlike most of them Jainism is a purely indigenous

and highly ancient system with its votaries distributed all over the land and amongst all classes. In every age, they have had contributed their own quota to the cultural advancement of the country and to the building up of its history.

After the great Indian struggle for Independence in 1857, there was a general awakening in India. A new era had dawned bringing in its train movements for social and religious reforms, political conciousness, civic sense, education and literacy, the need of popularising studies of ancient literature, preservation, restoration and publication of old manuscripts and monuments, and encouraging deeper studies, investigation and research work in the various branches of Indian learning and culture. Fortunately, the Jains too did not lag behind their fellow countrymen in this revolutionary epoch of reconstructing the nation's destiny, and in keeping pace with the march of time. The credit really goes to about a dozen or so towering personalities who in the first half of the last hundred years made the present Jaina community what it is. No doubt, they were also the product of their own age, and a horde of lesser men too made their contributions which were by no means small or insignificant. Yet if we survey the history of the Jaina community in the past hundred years, it will easily be found to resolve itself into the biographies of those few eminent servers of the cause of progress.

And the late Babu Deokumar of Arrah occupies a very prominent place in that galaxy of the makers of present Jaina community. He came of a highly respectable Zamindar and Rais family of Arrah (Bihar). His grandfather was the wellknown Pt. Prabhudas and his father's name was B. Chandra Kumar. B. Deokumar was born in 1876 and of an early age inherited his patrimony. But unfortunately he could not enjoy a long life and met a premature death when he was barely thirty one years of age, in 1907. Though he died so young, the things that he achieved in so short a span of life are marvellous and bear testimony to his ardeous zeal, selfless devotion and high intellectual powers. He was ordinarily well educated and was quite at home in English, Persian, Sanskrit, Urdu and Hindi. He was such an ardent lover of education that he wanted to set an example through his beloved younger brother Dharma Kumar but

this boy also died very young breaking the heart of his elder brother and leaving behind a widow, Pandita Chandabai, in whom the community found its greatest lady leader of modern times. B. Deokumar was a true patron of art and learning. He patronized various organization instituted for the propagation of these things, was an active patron of the Arrah Nagri Pracharni Sabha, gave scholarships and other subsidies to deserving but poor students of whatever caste or creed. He founded the Central Jaina Oriental Library at Arrah which has one of the best collections of ancient manuscripts and research literature, atleast in the Jaina community, was one of the founders and first Secretary of the Syadvada Mahavidyalaya, Kasi and donated a suitable building for the same. He was also a founder and one of the early leaders of the Digambra Jain Mahasabha and for some time edited its weekly organ the Hindi Jaina Gazette. He paid visits to many Jaina places of pilgrimage and munificently spent money for the restoration and preservation of ancient monuments in those places. It was again due to his zealous efforts that the Dhaval, Jayadhaval commentries of Digambara Jaina canonical works, which lay buried in the Jaina Matha of Sravan Belagola (Mysore state), saw the light of the day. The preservation and restoration of the old manuscripts, inscriptions and monuments was lso dear a thing to his heart that while in the full bloom of his youth, he took the difficult vow of perfect celebacy till this work would be completed. When death came, so unexpected and early, the first and the last thing he exhorted his friends to do after him was the same above mentioned work that had ever been his life mission.

A great and noble soul which lived and died with thoughts for the good of others, for the uplift of society and for the propagation of religion and culture, Babu Deokumar made himself immortal. Numerous institutions and organizations, individual scholars, all both Jaina and non-Jaina freely received his active patronage and generous help. And there was hardly any Jaina movement of his time in which he was not an active participant. He is trully one of the real makers of Jaina history in modern times. And we can best pay our homage to his sacred memory by pursuing his path and by helping to serve the cause he so devotedly served all his life

श्री बाबू देवकुमार जी द्वारा संस्थापित श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा
(The Central Jain Oriental Library, ARRAH)

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY.

By

Sri C. S. K. Jain, M. A.

Late Shree Rabindra Nath Tagore, the famous literary personality of international reverence, has rightly remarked that 'literature intimately connects man with man, the far with the near and the past with the present.' Had it remained merely the best thought, expressed in the best and attractive manner, having a momentous effect, it would not have received a value, higher than a table-talk, only to be forgotten the next moment It is this special characteristic which compelled mankind to get such expressions preserved. Really civilazation starts from the day, man has learnt the way to preserve his thoughts for future observance, meditation, guidance and proper use. Written records, mostly books, have proved themselves to be the most competent agents in this respect; and so, the word 'literature' has been confined for a collection of written works in any language.

In course of innumerable years of its march toward perfect civilization, mankind has been found always a devotee of literature, but with some narrow-mindedness. Every country, cast, creed or race thought it a right judgment to suppose its own literature, the most valuable of the rest. Sometimes racial or religious conflicts goaded them to satanism, resulting in destruction of such literatures which do not concur with their own way of thinking. Even moral degradation, and indifference to learning caused peoples to extinguish the highlights of their own forefathers. Those who tried to safegaurd such ancestral valuables from the furies of devillish actions, hid them in such a way that it never saw the sunlight again. Some virtully faced living graves, flames of burning hearths and even the regular actions of natural denuding agents. General negligence is not to be less blamed for this devastation. Between the teeth of an army of demons, it is not astonishing to loose the best part of our literature; and what is left, should be embraced as the remains of a chain of continuous destruction.

Recounting the importance of literature in human progress and its dreadful fate, one is unable to judge the high altitude of such persons who bestowed their life and all the resources at their desposal upon research, collection and preservence of literature, without any prejudice to some caste, creed or religion, and managed suitably to make it available for general observance. If literature is the best friend of a person, prophet of a community, leader of a nation, and benefactor of the Universe, a library-builder is one and all in the same personality. His service can do more good to mankind than what hundreds of writers, thinkers and leaders can do together. He is the medium to bring the thinkers of all the ages face to face with the general mass of the present world and maintain the best of the present for future generation. He is the builder of a nation and his library is the nucleus of human progress and prosperity. He promotes the very motive of literature. And so was Shree Dev Kumar Jain, the founder of the Central Jain Oriental Library of Arrah, locally famous as The Saraswati Bhawan.

Running through the din and bustle of vehicles and hawkers on a dusty rugged narrow road in the heart of town, you suddenly stop only to have a glance at the charming exhibit of architecture, placed on the upper story of a spetacular building. Seated on a milky goose, the image of Saraswati, with a guiter in two hands, a book in the third and a lotus flower in the fourth, prompts you to stop into the small iron fencing and ascend over a few marble stairs, guarded by lofty palm trees on both the sides. You reach a spacious verandah and cannot check yourself from peeping into the front door leading to a big marble-floored hall.

You are at a fix to see the big portrait of a young person with serenity, grandeur and deep meditation. A long ray of small desks below, scatterred with the news of the day, invites you to take seat for a while on the white sheeted floor. You survey arround yourself with a feeling of curiosity mixed with awe and lo! a long chain of furnished almirahs are staring at you with eagerness to place before you a number of Socrateses, Kalidasas, Chanakyas, Paninis and several other thinkers of the past and present, they have in store for you. A person, sitting before a table, behind the two big marble pillar-pairs, is anxious to serve you at your com-

mands. The walls are decorated with valuable paintings, unavailable manuscripts and portraits.

In a corner you find the wooden staircase that leads to the upper floor. Stepping the last srair above you bow down with reverence before the bronze image of Saraswati. Passing through the packed-up almirahs and a narrow balcony, you come to the art-gallery. Collections of old coins, postage stamps, match lables, matchless drawings and playing cards etc. simply fascinate your feeling. Some of these are scarce treasures of the collection. You should not avoid to have a view of old manuscripts on palm-leaves and tree-bark, a few of which are hanging on the walls in wooden frames and the rest are resting in the almirahs. Other gems of this big collection need a close research of a scholar.

At present the library has a collection of about 7500 printed books in several Indian languages i.e. Prakrit, Sanskrit, Hindi, Marathi, Gujrati, Kannad, Tamil and Telgu etc. The number of published English books have reached upto 3250. Besides the library is rich with its 6378 of manuscripts on palm-leaves, paper or tree-bark. The library has always tried to get true copies of manuscripts from distant parts of India, so for as its financial condition may allow. It has been the centre of literary and cultural meetings of such associations as Sahitya Mandal, Sahitya Parishad, Zila Hindi Sahitya Sammelan and several local Jain institutions. Men of renown like Mahatma Gandhi, Pt. Madanmohan Malviya, Shree Sachitanand Sinha, Diwan Mirza M. Ismail, Dr. Walther Schubring (Germany), W. Norman Brown (America) etc. have visited the library and expressed their hearty satisfaction towards its good management and value of collections.

To recall the birth and development of the library, a few words about the activities of its founder and his successors would not be unjustified The library was first installed in 1903 A. D. in the name of "Jain Dharma Pustakalya" by late B. Devkumar Jain, under the presidentship of Shree Bhattarak Harshakirti Ji. It contained a number of manuscripts collected privately by Pt. Prabhudas Jain, a scholar of Sanskrit and the grandfather of B. Devkumar. Harshkirti Ji also collected some manuscripts from local householders. It was

then situated in a big side-hall of the temple of Shree Shanti Nath Ji, just by the side of its present site.

According to the last will of B. Devkumar, who died in 1908, its name was changed into ' The Central Jain Oriental Library" before a large gathering of prominent scholars of far and near. The site remained the same. His request was as follows :—

"Before you all bretheren, particularly to the leaders of our Jain Community, my last request is that an emergent protection of old religious books, temples and inscriptions is urgently required, because these are the saviours of Jainism in the world. I was anxious for this but death is taking me away, all of a sudden. I had promised to practice celibacy till the fulfillment of this work, but as ill luck would have it, I could not get the virtue of completing this sacred act. Now you all are the pillars of this holy deed and it is your duty to accomplish it."

Though Dev Kumar Ji was a patron of learning and old culture from his very boyhood, this idea dawned upon him when he was on pilgrimage to the sacred shrines of the South, in 1907. He had the occasion of visiting the collections of religious books at several places and was moved to see their ill fate, facing gradual destruction due to mismanagement. He managed to instruct the local people, the importance of those valuables of the community and the way to save them. He brought several books with himself while got some others re copied. Then he gave birth to this lively idea that is now at its full youth.

Late B. Karori Chand, the first secretary of the institution, served it much by enriching it with manuscripts, specially those on palm-leaves. He owed much to Reverend Shree Nemi Sagar Ji Varni, without whose help, the work would have been an impossibility. A large sum was invested in sending missionary to Karnatak and Tamil countries for collection of books and preparing a catalogue of all the famous Jain Libraries of the South. Year 1912, is the most commemorating period for the inaguration of "The Jain Antiquary", the only magazine of its kind, under the editorship of Shree Padmaraj Ji Jain. But its publication was discontinued only after an year because suitable help and financial stability was lacking.

In this connection B. Devendra Prasad Ji is worth remembering as the best helping hand to B. Karori Chand in all his sacred activities. A collection of photographs of all the Jain Pilgrimage places of India was his exceptional service. Upto his last days, he held the post of assistant secretary of the library. After him it was benifitted by the valued services of Shree Suparshvadas Gupta. B.A. upto 1922. A Catalogue of all the publications and manuscripts of the collection in Prakrit and Sanskrit was his commendable work.

In April 1923, B. Nirmal Kumar Jain, the eldest son of B. Dev Kumar, took up the management to himself. Fortunately he got the chance of adding the services of an eminent scholar like Shri K. Bhujbali Shastri as the librarian. He prepared a correct and authentic catalogue of all the books and manuscripts of the library. Publication of anlogies of important unpublished manuscripts into two volumes under the title, "Prashasti Samgrah" was his praisworthy activity which was hailed by research scholars all our India. Translation and publication of *Munisubrat Kavya* into elegant, eloquant and simple Hindi is another feat of the library.

A new age in history of the library begins with the construction of the present palatial building in 1924. Though B. Devkumar had left a sum of Rs. 2000/- only for the work, it was exceptionaly due to the generous gift Rs. 25000/- by his son B. Nirmal Kumar that such a praiseworthy work was completed. During these years the library progressed speedily towards publication of rare books also. Jnan Pradipika and palmistry, Vaidya Sar Samgrah (with notes), Tiloypannati Pt I., Pratima Lekh Sangrah, Prashasti Samgrah and Jain Literature are the publications of the library so far. The work is now stand-still on account of sacarcity of paper. But 'The Jain Antiquary' reapparred in 1935 and is still regularly satisfying the the mental appetite of scholars.

The library also subscribes a number of periodicals most noteworthy of which are The Kannad Sahitya Parishat Patrika, Prabudh Karnatak, Bharati, Karnatak, Sub-dh, Triveni, Vivekabhvudaya, Sharan Sahitya, Ādhyatma Prakash, Shakti, Jai Karnatak Bandhu, Kanthirav, Kishore, Balak? Vishwavani, Viruani, Vir, Jain Darshan, Jain Sandesh, Jain Mitra, Jain Gazette, Khandelwal Jain Hitechhu,

Jin-vijay, Jain Bodhak, Ānekant, Ārya Mahila, Adarsha Jain Charit-mala, Golapurva Jain, Digamber Jain* etc.

Really Jain Siddhant Bhawan is the unique institution for research and study of Jain literature, history and antiquary. It was a bolt from the blue when the founder of such an institution was snatched away from us in the prime youth of 34 only. It is for the present Jains to recognise the real estimate of this pride of the community and help the progress of mankind by enriching it to the utmost.

---

*Besides these the the Library subscribes to many important daily and monthly magazines of Hindi, Gujarati, Kannad, Marathi, Telegu, Sanskrit and English and the full list of these appears on pages 76-77 of Shree Jain Sidhanta Bhaskar Vol. 17 No. I.

DEVA-VANI.

Extracts from the writings and speeches of B. Deo Kumar.

Collected by Prof. Dinendra Chand Jain M. Com.

[Shree Deo Kumarji was gifted with a remarkable sense of values and a prophetic insight into philosophy. He combined in himself the spirit of a social reformer and the vision of a prophet His learned essays and editorial comments are a guide for the understanding of the philosophy of Jainism and throw light on matters relating to the welfare of Society. He edited the Jain Gazette right from the year 1895 to his last breath. His presidential address at the 12th Conference of the All India Digamber Mahasabha, which is full of religious, moral and philosophical ideas, helps us estimate his personality. Here are some of his reflections.

—Editor]

PHILOSOPHICAL IDEAS.

Samyaktwa (Right belief, etc)

Keeping firm belief in one's soul, leaving aside unspiritual actions and to be engrossed in spiritualism is Samyaktwa. No belief except Samyak Darshan can enlighten the soul. Right belief is the only boat to cross this ocean of worldly life. Unless this torch is in the hand, it is very difficult to steer safe through darkness and storm.

Self-confidence is very helpful for the progress of humanity. The real importance of life can be judged from self-confidence. If there is self-confidence, one can, without any effort, get rid of worldy passions and attachments. Soul is quite different from the body. It is structure-less, minute and a store-house of spiritual qualities like knowledge and philosophy. Because it is structureless, it can not be seen from the naked eyes. Merely the concrete body comes into vision. The soul residing within the body can be felt simply by realisation When the vision becomes Samyak, soul is gradually realised. When there is some Mithyatwa or doubt, the body is mistaken for the soul. No real work can be done by taking body as the soul, any better than can be expected from sand assumed as gold.

Principles of Karmas (Deeds)

The living beings themselves are the doers of Karmas (deeds)

and the users of its fruits. Karma is a substance which prevails every where. Every living being gathers atoms of Karmas due to attachment tendency in his thoughts, speeches and deed. The number of atoms of Karmas sticking to the soul depends upon the degree of the worldly attachment. When the attachment is great, these atoms come to the soul in large quantity and vice-versa. Similarly, if there are strong Kashayas (ie. anger, passion etc.) these Karma-atoms remain for a longer period with the soul and produce stronger results. Conversely, when they are less they remain for a shorter period and have smaller effects By its own efforts and endeavours, the soul after destroying its Karmas can achieve salvation. When this effort diminishes, the chain of Karmas becomes longer and stronger. Sorrows or happiness arise due to the rise, decline or destruction of the Karmas. God or man is quite unable to bring happiness or sorrow to any body. Vitragi God, who is not the least attached with the world has been unnecessarily and wrongly conceived as the giver of rewards and punishments of Karmas. Really speaking, God never makes or mars anything. Human beings, animals and other creatures have taken shapes due to Nam-Karma (a type of Karma) and not because of any invisible power.

Anekant

The correct decision of anything can be made only by the principle of Anekant The fact is that many characteristics and properties are to be found in a matter. We can make only one sided analysis of the matter having varied properties. All sided consideration is not possible without a wider vision. The man who tries to prove a view as untrue simply after hearing it or is excited to hear the opposite view is far away from truth.

The principle of Anekant makes man thought-enduring and liberal. We can not prove hastily any principle to be false or absurd. Co-ordination of opposite views can be made only by embracing the principle of Anekant.

God.

Every soul is capable of becoming God. Fundamentally, soul is pure and full of knowledge. All the virtues of God are present in it. When any one, by his good behaviour, learning and right belief

destroys the collected atoms of Karmas and wipes out the darkness of the soul, he becomes God. Really, pure soul itself is God. There is no God different from purified soul. As long as there are the shackles of Karmas, virtues like Jnan (knowledge), Darshan (right belief), Sukh (happiness) and Virya (valour) are masked but on its becoming loose, the soul becomes God The soul is liberated only when it attains salvation.

Salvation.

The perfect free state of the soul is called salvation. When human beings by their meditation penances and power of Yoga remove the shackles of all Karmas, they achieve salvation, and then appear the Eternal Happiness, Eternal Knowledge, Eternal Darshan and Eternal Power in the soul. Here the soul has no pains. This is the end of soul.

ETHICAL IDEAS.

Devotion.

Devotion is the feeling of heart. Wordly creatures, through devotion in Vitragi God can increase their happiness. Worship of Jinendra Bhagwan removes sin, troubles, miseries, and diseases. It is the sacred duty of every individual to worship God daily. By devotion sentiments are purified, spiritual powers develop, and Kashayas diminish. Moreover, it helps the development of spiritual virtues.

Charity.

Everybody should part with atleast one-tenth of his honestly earned income for charity. If out of miserliness, one does not give charity in religious works, his wealth soon diminishes and disappears. Charity should never be given for name and fame. If somebody wants name in return for his charity, he, thereby, commits sin. Even birds and animals fulfil their necessities but charity is possible only in human life.

Swadhyaya (Studying religious books).

Swadhyaya is very essential and beneficial in this Kaliyug (sinful age). By constantly acquiring knowledge, man gets the way to happiness. Kashayas disminish by daily Swadhayaya which helps defeat worldly passions. It provides incentive for spiritual development

and self realisation. Those who while away their time in useless gossips, should take recourse to swadhayaya to change their habits. Swadhaya in this age is a great penance because, due to constant contemplation over spiritualistic words and meanings, dirty ideas are checked and pious ones come in.

Swadhayaya is a good method for peace of the soul. Nirjara (i. e. dimunition) of Karmas is attained by it. The darkness of Mithyatwa is washed away from the soul with the achievement of Samyaktwa. Swadhyaya is a means to control the will. It is rather beyond one's power to narrate all the advantages of Swadhayaya.

Ahimsa (Non-violence).

The presence of Rag-Dwesh (anger, passion etc.) in the heart is violence. Those who do not trouble any creature with their thought, word and action, and preserve peace, are non-violent. The power of the Non-violent is limitless. Brave alone can be non-violent. In fact, Ahimsa Dharma is the religion of Kshatriyas. It teaches the lesson of chivalry. A non-violent is a brave man. No temptation of the world can deviate him. Violence is beastly and non-violence is a devine power. The lesson of humanity can be learnt from Ahimsa.

A non-violent has first to purify himself and has to remove the inner defects. Then alone he can observe Ahimsa. Complete self purification can only to achieved through Ahimsa.

Ahimsa is such a power whose shelter children, men and women young and old can seek. The entire world can be made happy only by Ahimsa Dharma. By observing Ahimsa, strength is gained by which the strongest opposers can be faced.

Kindness.

There is no religion like kindness. Where there is no kindness, there is no humanity. The touchstone of humanity is kind feeling. He can be called kind, whose heart is moved to see others in trouble, and overflows with sympathies. Kindness is of eight types, Drabya Daya, Bhawa Daya, Sawa-Daya, Pur-Daya, Anubandh-Daya, Vyavhar-Daya, and Nishchaya Daya. We may be at present proud of showing kindness, to others, but we are not at all kind upon ourselves. Kashayas and Vikaras, which are detrimental to our soul, are being

taken as our own. And this is our cruelty upon ourselves. So long we are not keen towards our own progress, we can not be called kind upon ourselves.

Dharma or duty.

Dev Puja (worship of God), Guru Bhakti (devotion to the preachers), Swadhayaya. (studying religious books) Sanyam (forbearance), Tup (penance) and Dan (charity) are the six daily duties of every Grihastha. Not allowing Rag Dwesh to enter into one's own heart and not doing an act, which pains others, is 'Dharma'. All men of the world are equal for a Dharmatama (dutiful man).

Love

Love is a miracle. We can win the cruelest heart through love. Even the ferocious wild animals can be enslaved through love. There is difference between love and infatuation. The former is commendable whereas the latter condemnable. Infatuation is connected with attachment whereas love totally discards it. Jealousy, bickerings, and disunity are prevailing to-day in society because we have forgotten the mantra of love. Everywhere to-day in the family and society is the predominance of wranglings. There is jealousy between man and man, society and society resulting in troubles and disorders. Hence, everybody should live peacefully showing due love to others. Love is the key to happiness and peace.

Distrust.

When we suspect somebody, he too, in turn distrusts us. The result is that no work is done decently. There is no greater enemy to the society than distrust. The work done with full trust is certainly completed. Where there is trust there comes the will-power.

Morality.

The best way to make life happy is to make it moral. Humanity is at stake if we do not distinguish between right and wrong, duty and no duty. It is a great ignorance to spend this life in sensual enjoyments.

Vanity.

Men insult others simply out of vanity and think themselves great. It is a great demerit and it is the sublime duty of all to

remove it. It is vain to be proud of transient and perishable things of the world.

Brahmacharya.

There is no power like Brahmacharya on the earth Control on senses is essential for non violence. Brahmacharya should be maintained even in married life. Marriage means partial observance of Brahmacharya and not enjoyment of sensual pleasures. Those who think marriage as the passport of reckless sexual indulgence are on the wrong path. Men without restraint are of no where.

Service.

It is the duty and Dharma of every man to render service. Will-power develops in rendering services. It is a Dharma by which man can do good to others. Selfish man can not understand the greatness of this Seva-Dharma.

Modesty.

He who has no modesty and sobriety, has fallen from humanity. Modesty indicates the greatness of man. If one has to increase the circle of his friends, one must embrace modesty.

Determination.

The success of any act depends upon determination. Men of weak determination seldom succeed. Great things can be done through firm determination.

Perseverence.

Continued devotion to an object is perseverence. No work can be successful in its absence. When any country, society, race or community becomes idle, and ceases to exert, its fall becomes inevitable. Knowledge, wisdom, wealth and respect can be acquired through perseverence. Ordinary men by perseverence and determination can do extra-ordinary work. All the great men of the world were industrious. A foolish and poor man, on the strength of perseverence, can be wise and rich.

Good Conduct.

Men of gentle behaviour command respect. Even the religious and rich men and high authorities fall due to misconduct. To set the conduct right and look into one's defects through self-inspection

is humanity. Good conduct is the torch light of human civilisation. If leads us from darkness to light.

LITERARY, SOCIAL AND CULTURAL IDEAS.

Literature

Human civilisation can be preserved only through literature. The country, race or community which has not got its literature is dead. Religion too lives due to literature.

Literature expounding non-violence can alone be beneficial to humanity. The youths of to-day, by studying vulgar and dirty literature are losing their morality. Food which is the builder of the body, if taken in a wrong way, becomes fatal.

Quick arrangements should be made for preservation of Jain literature. Who will not feel the eating away of our valuable texts and literature in thousands by moths and ants? Jain religion is existing to-day only due to its rich literature.

Unity.

Unity is essential for the growth of society. As long disunity, jealousies and bickerings prevail, the progress of society remains checked up.

Ideal Society.

That society can be called an ideal whose members are literate and of high thoughts. The society makes its march due to education. Useless luxury, drinking and smoking are such defects which lead the society towards decline. Ideal society can be organised only on its being literate.

Education.

Education is essential for social and cultural development. Men and women should be imparted education equally. Unless female education becomes prevalent in the society, progress of society is not possible. The key to social progress is education.

Aim of Education.

The aim of education is to make a balanced growth of physical, mental and spiritual powers of man. The education which generates pride, vanity and misconduct can never be beneficial. The knowledge which leads to sensual indulgence and is detrimental to the

progress of other living beings, which carries vanity to the peak and which pushes one down deep into the mountain valley, is in no way more than ignorance.

Early Marriage.

The greatest enemy of society is early marriage. Illiteracy is prevailing in the society due to early marriage of promising boys. How far is it proper and just to put the burden of a family in a period which should be earmarked for studies and development? If society is to be made literate and strong, early marriage must end in no time.

Marriage in old age.

Like early marriage old age marriage too, leads the society towards hell. An overwhelming number of widows are present in the society due to old-age marriage. The basic reason of evil practices and corruption is this old-age marriage. It is a sin to marry after forty.

Ways to Social Progress.

There are three factors for social progress—viz. proper efforts, good leadership and mutual co operation.

Jain Culture.

The welfare of the world is possible only by the dissemination and diffusion of Jain culture. Society can not march by disorderly and showy tendencies. Non-violent behaviour, dress and food are the gist of Jain culture. Jain culture favours Karm-vad discarding Bhog-vad Spiritualism and not materialism has been given predominance here.

Hindi language.

A way to preserve Indian culture is the study of Hindi language. Love and interest towards Indian culture will arise by the study of Hindi. Every kind of ideas can be well expressed in Hindi-language. The language is too easy and any body can learn it very well in a short period.

Devnagri Script.

Devnagari script is the most scientific in comparison to other scripts of the world. There is a great need of its common usage.

Ideals of Sadhus.

There is a great need of Munis and Sadhus (saints and preachers) for the preservation of Jain culture. But they must be great scholars. Foolish and illiterate sadhus are a great burden to the society and they can harm the society and culture.

The true servant of society and religion are the Vitragi Munis. Those in whom anger, vanity, deception and lust are present, whose knowledge and ethics are defiled, do not deserve respect simply because they are dressed as Sadhus. Neither their own welfare nor of other's is possible by them. Knowledge should be acquired before becoming a Muni. Diksha (consecration) should be taken only after full detachment from the world. It is very difficult to maintain Muni-pad. It is highly reproachable to keep wordly desires after holding such a high rank. True Tyagis (sacrificers) are the torch bearers of society, whereas society has to suffer due to showy and deceptive Sadhus.

Ideal Grihastha.

An Ideal Grihastha is one whose behaviour is good, who is kind and benevolent, earns his livlihood honestly, is always engaged in Sanyam, charity and Swadhayaya and daily worships and meditates God, and speaks sweetly with an open heart and fears sin.

Late B. Devakumar Jain and his Jaina-Siddhanta-Bhavana-Publications.

By

Prof. R. D. Mishra.

I

The Devakumar-Jain memorial volume of the Jaina Siddhanta Bhaskara is in the hands of the reader. The editors and the publisher of this issue deserve congratulations for bringing it out. I am sure Late B. Devakumarji will be remembered long inspite of this volume. He has done enough services that way, and as such the importance of the publication lies in another direction. He was a greatman and died at a comparatively young age, about 44 years ago. By this time only a handful of his contemporaries live to recount his life and greatness of a great life is not to be seen in his massive works only. A great man is great in every moment of his life and an account thereof would remind everyone of us high and low, that "we can make our lives sublime." The reader would find many articles in this volume to serve this end.

B. Devakumarji belonged to the class of big Zamindars. In a few months to come, the whole class will be effaced from the Indian Economy and Social structure. Had the bulk of Zamindars lived a life like that of Late B. Devakumarji, their history would have been different. They had enough money and time but they did not know how to use them best, a thing which the late lamented Jainji knew and he acted up to it most splendidly.

The author of this article has privilege to know the members of the family of Jainji, and had occasions to listen to his friends.

Knowing his family means to know him as an ideal family head. When one listens to his friends recounting his acts, he finds Jainji a friend in need and a friend in deed and thus a friend indeed. Jainji was a saint both at home and abroad—a rare ideal of life in these days of hypocracy. Arrah people will remember him as a founder of an institution of international fame thereby making Arrah a place of high importance, people of Shahabad remember him as a

very benevolent Zamindar. The All India Jaina community remem-mers him as one of its greatest benefactor, and scholars, all over the world, are forever grateful to him for his "Bhavana."

II

The Bhavana, Jain Siddhanta Bhavana, or Saraswati Bhavana as it is commonly known, was founded by him in 1905. Its purpose was twofold; one being to collect and preserve valuable manuscripts of all types, especially those that belong to the Jaina literature, the other being to publish many valuable Jain literature, both ancient and modern. To the latter end, a research Journal is being pub-lished regularly from this Bhavana. But till the year 1929, no proper attempt was made to bring out books of Jaina literature. In the same year, in confirmity of the objects of the Bhavana, the first book came out under the Devakumar Jain series founded on the donation of B. Nirmal Kumarji the son of the late Jainji and the then secretary of the Bhavan.

The book published first in the series is श्रीमुनिसुव्रतकाव्यम् of श्री अर्हद्दास It was edited by Pandit K. Bhujabali Shastri and Haranath Dwivedi incorporating editors' preface, the publisher's remark and Sanskrit explanatory notes and Hindi translation of the verses. In the editor's preface, we find a few lines on the author's biography and a literary appreciation of his work. There they have omitted the sources on which their text is based —a thing which has found place in publisher's note where we also find the history of origin of the series.

The काव्य referred to above, depicts the life of श्रीमुनिसुव्रतनाथ who was the prince of the Rajagriha kingdom and became the king thereof later on. He gave up the life he had so far lived and took to penance according to the Jaina theology and attained the states of a तीर्थंकर।

The काव्य consists of ten सर्ग's, each सर्ग having a proper name viz भगवदभिनजवर्णन, भगवज्जननी-जनकवर्णन, भगवद्गभीवरतणवर्णन, भगवज्जनमोत्सववर्णन, भगवन्मंदरानयनवर्णन, भगवज्जन्माभिषेकवर्णन. भगवत्कौमारमिवनदार कर्मसाम्राज्यवर्णन, भगवत्परिनिष्क्रमणवर्णन. भगवत्तपोवर्णन, and भगवदुभयमुक्तिवर्णन। On the average, number of stanzas per canto is thirty five, In many other respects the काव्य confirms to the criteria of a महाकाव्य

and the descriptions run on traditional lines. Verses mostly belong to उपजाति group.

A work of a similar theme is the बुद्धचरितम् of श्री अश्वघोष. But it is much higher in many respects than the काव्य in question, so far pure poetry is concerned. But both the poets have discussed the main philosoplical ideas of their respective religions in equally excellent style. Traditional ideas have also been adhered to at many places, as for example, the dream of a white elephant to the mother of the तीर्थंकर when she concevied.

Yet another thing. Looked from the very conservative point of view, incorporation of Canto II cannot be justified. Such descriptions as we find in the canto do not become of a devotee. It is on account of this that even Kalidas has been sacked for writing the कुमारसंभवम् by many orthodox critics.

The Sanskrit annotation of the काव्य is very fine. It comprises paraphrasing, grammer and explanations of various philosophical terms. But unlike other exp annotaters this annotater has omitted the name of the metre everywhere.

The Hindi Translation is not satisfactory. The printing is satisfactory but for a few mistakes.

The second publication in the series is a combined volume of two Sanskrit works ज्ञानप्रदीपिका and सामुद्रिकशास्त्रम्. It was published in 1934 and is edited and translated in Hindi by Sri Ramvyas Panday of the Banaras Hindu University. The volume, besides the texts, contains a short preface by the editor and an article in introduction to ज्योतिष by Pt. K. Bhujabali Shastri. In the latter article we find the sources of the text. Then the whole text of the first work namely ज्ञानप्रदीपिका is given follwed by two texts again with Hindi translation stanzawise.

The ज्ञानप्रदीपिका is a book on प्रश्नतन्त्र, It consists of twenty-seven काण्ड's in over 500 verses in all, named after the topics discussed therein. They cover great variety of subjects relating to human life e.g. जीवन-मरण, पुत्रोत्पत्ति, विवाह, नौयात्रा, etc.

The method adopted in the discussion is the प्रश्न-लग्न method, and it has been detailed from every point of view. The author says that wise man should predict only after considering various factors such

as बलाबल of the planets etc. Then there considerations have been discussed in detail at appropriate places.

The style points out that the book belong to केरल School. The स्वप्नकाण्ड contains an original thing—it is the life to come after death.

The Hindi translation is not satisfactory for at places it has failed to bring out the meaning. The portion of the text with translation contain s misprints.

The other book, सामुद्रिक शास्त्र् is a very small book of about 109 verses in all divided into two parts (or पर्व) one detailing the nature and prospects of a man as judged from his features and the other of the same theme but referred to women. These two branches of ज्योतिष are empirical in nature and therefore one cannot say with much confidence about their ultility and accuracy. Yet they cannot be summarily discarded

The third inorder of publication is जैनप्रतिमा-लेखसंग्रह, edited by Sri Kamta Pd Jaina. The editor has collected and edited the inscription as found on the Jaina images of Manpuri. Many of the inscriptions are very old. They contain references to many rulers big and small, many श्रावक and आचार्य. Some of them are complete and rest is incomplete. The editor has tried to fill up the gaps by giving explanatory notes as far as posible. However it is very difficult to reconstruct a continuous history out of them. The editor has given the discription of many places in his explanatory notes. He has also made references to the origin of the various castes among the Jaina e.g. अग्रवाल, जैसवाल etc. This has enhanced the ultility of the book much. The printing is fair.

The fourth publication of the series is a book on Aurveda entitled वैद्यसार. It came out in 1942 and is edited and translated by Pt. Satyandhar Jaina Aurvedacharya Kavyatirtha. In the beginning of the book there are two introductory prefaces, one by Pt. Kanahiya Lal Jain of Kanpur and the other by Pt. K.B. Shastri and on behalf of the publisher, B. Nirmal Kumar Jain. The two prefaces contain much information. The first comprises things like the cause and the result of the disease according to the Aurveda theory, the difinition of the Aurveda Science, its different departments and essential features. It also discusses place of Aurveda in Jainism and the

contribution of the Jains to that branch of learning. Here we come to know of the reason as to why the work under discussion contains Rasayanik prescription only. It is so because आसव,' अरिष्ट, etc. contain germs and as such the Jains cannot take it.

The second preface discusses what we may call the achievements of the ancient India in the branch of medical science. There we have references to the surgical instruments, etc

Coming to the work itself it seems to be an antholoy of well-tried prescriptions. There are hundred and seventy-two drugs on about forty different diseases.

Many of the medicines are not altogether original but a variance of the ingredients of the medicines of the same names in other books on Aurveda. However there are a few new drugs one for example being कन्दर्परस a drug on veneral disease.

The printing is quite good.

The fifth publication is "the Jaina Literature in Tamil" by Prof A. Chakravarti M. A. I E S (Retd). It is a very useful book written by a master mind in a masterly style. The first three essays, namely Cultural Background of Jainism, Jainas in the Tamil country and Three Saṅgams and Jaina influence give much information to the reader. To many of the confirmist readers it may seem strange to know that many wars, events of extraordinary importance which have changed the course of time and of many big personalities have their origin in ब्राह्मण-क्षत्रिय conflict which has raged for thousands of years. However it does not mean that all Brahmins were on one side and the Kshtriyas on the other The author has considered this point again as the conflict between the Western Aryans and the Eastern Aryans, in the former Brahmins and their sacrificial ritualism predominating which in the latter Kshtriyas and their Ātamavidyā predominating. Then he describes the impact of the Jaina culture with the contemporary non-Jaina culture of South India and their actions and reactions. Then the rest of the book discusses in detail a few Tamil books of the Jainas.

प्रशस्ति-संग्रह is the sixth publication of the series. It was published in the year 1942 under the editorship of the Pt K. B. Shastri the librarian of the Bhavana. There is an introductory note by A.

Shamasastry followed by the editor's preface and then the text itself. As written by Shamasastry, the work, प्रशस्ति-संग्रह, is a good descriptive catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts bearing Nos from 196 to 263 and 54 to 78 about 54 mss in all." All the manuscripts belong to the Jaina Oriental Library. The editor's preface speaks of everything that led to the publication—a pioneer thing so far as the Digambar Jainas are concerned.

The work is a collection of such portions of works of different authors as help in their identification. It is a matter of great regret that many of the authors of the days of yore did not speak anything about themselves. This stands much in the way of assessing the merits of the works themselves and we fail to reconstruct our history uninterrupted The प्रशस्तिसंग्रह helps us much that way. The manuscripts included in the work include various branches of learning, e.g. philosophy, medicine, Jyotish etc.

It is a very thoroughly edited book. The value is much enhanced because of the annotations here and there and the index. The printing is fair.
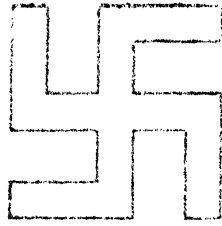
श्री सरस्वती प्रिंटिंग वर्क्स् लि॰, आगरा।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १७ किरण १
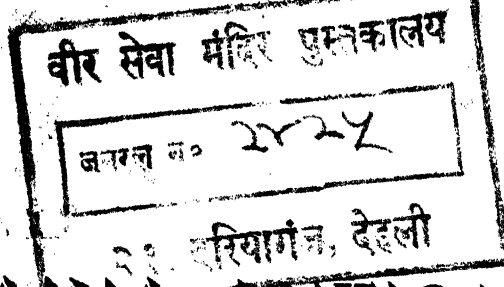
THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XVI No. 1

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.

Prof. G Khushal Jain. M. A. Sahityacharya.

Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.

Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.

Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya,

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH (Bihar)

Inland Rs. 3. Foreign 4s 8d. Single Copy Rs. 1/8

JUNE, 1950.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाणमासिक पत्र

भाग १७ | जून १९५० | किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

श्री कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३।) | एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १७ } जून, १९५०। आषाढ़, वीर नि० सं० २४७६ { किरण १

चन्द्रगुप्त और चाणक्य

[ले०—श्रीयुत बा० ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ]

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और मन्त्रीश्वर चाणक्य भारतीय इतिहास क्षितिज के प्रारंभिक प्रकाशमान नक्षत्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत के प्रथम प्रबल प्रतापी सम्राट् होने का तथा शक्तिशाली विदेशी शत्रुओं और आक्रमणकारियों के दांत खट्टे कर उनसे अपने साम्राज्य को सुरक्षित बनाये रखने का श्रेय है, तो आचार्य चाणक्य उक्त साम्राज्य की स्थापना में मूल निमित्त और उसके प्रधान स्तंभ थे। वे सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजनीतिक गुरु, समर्थ सहायक, और उसके राज्य के कुशल व्यवस्थापक एवं नियामक थे। राजनीति के ये महान गुरु और इनका प्रसिद्ध अर्थशास्त्र, अपने समय में ही नहीं वरन् तदोत्तरकालीन भारतीय राजनीति और राजनीतिज्ञों के भी सफल मार्गदर्शक रहे हैं।

प्राचीन यूनानी लेखकों के वृत्तान्तों, शिलालेखीय एवं साहित्यिक आधारों और प्राचीन अनुश्रुति की ब्राह्मण एवं बौद्ध धाराओं से यह तो बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार मगध के तत्कालीन नन्द नरेश के बर्ताव से कुपित होकर ब्राह्मण चाणक्य ने नन्द के नाश की प्रतिज्ञा की, किस प्रकार युद्धनीति एवं कूटनीति का द्विविध आश्रय लेकर मौर्य युवक वीर चन्द्रगुप्त के सहयोग से उन्होंने नन्दवंश का उच्छेद किया, मौर्यवंश की स्थापना हुई और चन्द्रगुप्त मौर्य मगध का सम्राट् हुआ, किस प्रकार उन दोनों ने उक्त साम्राज्य का विस्तार कर उसे देश व्यापी बनाया, उसे सुदृढ़ रूप से संगठित किया, आदर्श व्यवस्था और सुशासन प्रदान किया, तथा राष्ट्र को सुखी, समृद्ध, प्रतिष्ठित एवं समुन्नत बनाया। गत शताब्दी की आधुनिक शोध-खोज से यह भी निर्विवाद सिद्ध हो चुका है

कि भारत के सभी महान् सम्राटों की भाँति सर्व धर्म सहिष्णु और उदार होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्म का अनुयायी था, अपने अन्तिम जीवन में अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्यपाट सौंप कर अपने धर्म गुरु जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण को चला गया था और वहाँ कर्णाटक देश के चन्द्रगिरि पर्वत पर जैन मुनि के रूप में तपश्चरण करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

किन्तु उपरोक्त ऐतिह्य साधनों से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि मगध राजनीति में अवतीर्ण होने के पूर्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त कौन और क्या थे ? उनका व्यक्तिगत जीवन क्या था और अन्त कैसे हुआ। प्राचीन जैन अनुश्रुति और साहित्य अवश्य ही इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्रदान करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता में भी सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। उनसे अन्य साधनों से ज्ञात तथ्यों की पुष्टि भी होती है और चन्द्रगुप्त चाणक्य का आद्योपान्त जीवन वृत्तान्त भी सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होता है। तत्सम्बन्धी ये जैन आधार[1] पर्याप्त विपुल, विविध, प्राचीन और बहुक्षेत्र, बहुकाल व्यापी हैं। उनके आश्रय से मुनि न्यायविजय जी ने चाणक्य के धर्म का विवेचन किया था[2]। और उन्हीं के सफल प्रयोग द्वारा लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विशेषज्ञ प्रो० सी० डी० चटर्जी महोदय ने चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारंभिक जीवन पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला है[3]।

अस्तु उक्त जैन प्रमाणाधारों के अनुसार राजनीति के महान गुरु चाणक्य का जन्म 'गोल्ल'[4] विषय के अन्तर्गत 'चणय' नामक ग्राम में हुआ था। उनकी माता का नाम चणेश्वरी था और उनके पिता चणक जन्म से ब्राह्मण (माहणो) और धर्म से जैन श्रावक

१—हमारा लेख—'चन्द्रगुप्त चाणक्य इतिवृत्त के जैन आधार'
—जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १५ कि० १ पृ० १७-२४

२—अनेकान्त—व० २ कि० १ पृ० १०५

३—अर्ली लाइफ आफ चन्द्रगुप्त मौर्य—डा० बी० सी० लॉ स्मृति ग्रन्थ। प्रस्तुत लेख का शेष कथन प्रो० चटर्जी के निबंध का अधिकांशतः अनुसरण है।

४—आवश्यक निर्युक्ति-चूर्णि, पृ० ५६३ (जैन बंधु प्रेस, इन्दौर, १६२८; आवश्यक सूत्र वृत्ति, पृ० ४३३ (आगमोदय समिति, बम्बई, १६१६) परिशिष्ट पर्व ८, १६४।

चाणक्य के जन्मग्राम या जिले (विषय) की स्थिति के सम्बन्ध में इन साधनों में कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु, भरहुत के एक शिलालेख (कनिंघमभरहुत स्तूप, पृ० १४०, न० २१) में उल्लखित 'गोल' स्थान ही यह 'गोल्ल' जान पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उक्त विषय के साथ साथ उसके केन्द्र स्थान नगर विशेष का भी नाम था।

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य का जन्म तक्षशिला में हुआ था (वंसत्थप्पकासिनी पृ० ११६, प० ३५--सिंहली संस्करण)। अभी तक यह ज्ञात नहीं हुआ कि यह प्रसिद्ध नगर गोल्ल अथवा गोल्ल विषय के अन्तर्गत स्थित था या नहीं।

(सावओ) थे। शिशु चाणक्य जन्म से ही पूर्णदन्तावलि युक्त उत्पन्न हुआ था[1]। उसके जन्म समय उसके पित्रालय में कुछ जैन साधु (साहू) अतिथि थे। चणक ने नवजात शिशु को लाकर गुरु चरणों में नमस्कार कराया। बालक की यह अप्राकृतिक विशेषता जब उन साधुओं के लक्ष्य में आई तो उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि यह बालक एक दिन अवश्य कोई बड़ा नरेश (राया) होगा। चणक एक धार्मिक वृत्ति का व्यक्ति था, सांसारिक राज्यैश्वर्य को वह दुर्गति का कारण समझता था और वह यह नहीं चाहता था कि उसका पुत्र राजा हो और परिणाम स्वरूप नरकगामी बने। अतएव उसने तत्काल शिशु के राज्य चिन्ह रूप उक्त दांतों को उखाड़ दिया[2]। यह देखकर उन साधुओं ने कहा कि यह बालक राज्य तो अवश्य करेगा किन्तु अब स्वयं नहीं, किसी अन्य व्यक्ति के मिस से करेगा (एत्ताहे वि बिंबान्तरिओ राया भविस्सई त्ति)।

जैसे जैसे चाणक्य वृद्धि को प्राप्त हुआ उसे उस समय प्रचलित चौदह विद्या स्थानों[3] की शिक्षा दी गई, जिन सब में वह मेधावी बालक शीघ्र ही अत्यधिक पारंगत हो गया शिक्षा की समाप्ति पर उसके पिता ने एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल की यशोमति नामक श्यामा सुन्दरी बाला के साथ चाणक्य का विवाह कर दिया[4]। और एक संतोषी श्रावक के रूप में वह अपना जीवन यापन करने लगा।

आवश्यक निर्युक्ति की चूर्णि में चाणक्य के जन्म ग्राम का नाम चणिय दिया है और यही नाम उसके पिता का भी बताया है। जैन बृहत्कथा कोष (१४३, ३) में चाणक्य को कपिल का पुत्र और पाटलिपुत्र का निवासी बताया है। श्वे० पयण्णा संग्रह में भी उसे पाटलिपुत्र नगर का निवासी ही कथन किया है।

१—'पुत्तो से जाओ सह दाढ़ाहिं'—(देवेन्द्रगणि कृत उत्तराध्ययन सूत्र की सुखबोध नाम्नी टीका)। इस प्रकार दन्तावलि युक्त उत्पन्न होने के उदाहरण पाश्चात्य देशों की अनुश्रुतियों में भी कई एक मिलते हैं। प्रायः करके ऐसा बालक अशुभ समझा जाता है।

२—बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य ने अपने दांत स्वयं उखाड़ डाले थे—(मोग्गल्लान कृत 'महावंश' गा० ६८-६९—यह ग्रन्थ महानाम के प्रसिद्ध महावंश से भिन्न है। प्रो० चटर्जी से मालूम हुआ है कि इसकी एकमात्र प्रति पेरिस-फ्रांस में है)।

३—छः अंग, चार वेद (ऋग्वेदादि से भिन्न जैन परम्परा के वेद), दर्शन, न्याय विस्तार, पुराण और धर्म शास्त्र—(सुखबोध—३, १; अर्थशास्त्र १, ३)।

४—जैन के अतिरिक्त कोई अन्य अनुश्रुति चाणक्य का विवाहित होना सूचित नहीं करती। उसके नाम से स्त्रियों के प्रति घृणासूचक एक उक्ति भी प्रचलित है। पालि साहित्य के दो ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य इतना कुरूप था कि कोई भी स्त्री उससे विवाह करना पसन्द नहीं कर सकती थी (वंसत्थ—पृ० १२० पं० ६-११, सिंहली संस्करण, और मोग्गल्लान कृत महावंश, गा० ७०-७१)। जैन अनुश्रुति में उसका सर्वत्र विवाहित होना सूचित किया है (सुखबोध आदि) और जैन बृहत्कथाकोष (१४३, ५) के अनुसार उसकी पत्नी यशोमती नामक एक श्यामा सुन्दरी थी।

एक बार चाणक्य की पत्नी अपने भाई के बड़ी धूमधाम से होने वाले विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिये अपने मायके (माइघर) गई। उनकी तीन बहिनें और उनके धनिक पति भी अपने सर्वोत्तम बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये थे। इसके विपरीत चाणक्य की निराभरण पत्नी ने वहाँ अपनी जीर्ण शीर्ण सादी वेषभूषा में किन्तु एक विवाहिता के सर्व आवश्यक सौभाग्य चिन्हों से युक्त प्रवेश किया। उसका वेष देखकर उसकी बहिनें और एकत्रित अतिथि समूह उस पर उपहास सूचक घृणा मिश्रित हँसी हँस उठे[1]। वहाँ उस बेचारी का सारा समय एकाकी ही बीता, किसी ने तनिक भी उसकी सुध न ली, सबने उपेक्षा ही की। वह दुःखित हृदय से रोती हुई पति गृह में वापस आई। चाणक्य को उससे जब वहाँ की सब बातें विस्तार पूर्वक मालूम हुईं तो वह समझ गया कि उसकी पत्नी के अपमान का कारण उसकी निर्धनता (निध्धणत्तं) थी, अतएव उसने तत्काल प्रतिज्ञा की कि चाहे जैसे बने वह विपुल धन ऐश्वर्य प्राप्त करके दम लेगा[2]।

उस समय महाराज नन्द[3] कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन ब्राह्मणादिकों को विपुल दान वितरण किया करता था[4]। चाणक्य तुरन्त पाटलिपुत्र के लिये रवाना हुआ और उक्त तिथि के प्रातःकाल में वहाँ पहुँच गया। उसने राजमहल में प्रवेश किया और सभाभवन में सिरे पर जो पहला आसन दीख पड़ा उसी पर आसीन हो गया। यह आसन वास्तव में

१—परिशिष्ट पर्व, ८, २०६-२०८।

२—'धणम् उवज्जिणामि केणवि उवाएण'—सु० बो०।

३—सुखबोध (२, १७) और आव० सू० वृत्ति (पृ० ६६३) के अनुसार वह पाटलिपुत्र के नन्दवंश का नवम् नन्दराय था। अनेक विद्वान उसका जैन होना भी स्वीकार करते हैं।

४—कार्त्तिकी अष्टाह्निका, नंदीश्वर पूजा और सिद्ध चक्र विधान का यह अंतिम दिन जैन परंपरा में दान के लिये विशेष उपयुक्त माना जाता है। बौद्ध ग्रंथ वंसत्थप्पकासिनी (पृ० १२०) के अनुसार राज्य की ओर से यह दान वितरण किसी विशेष दिन न होकर, नित्यप्रति ही हुआ करता था। इसी ग्रंथ से यह भी विदित होता है कि प्रतिवर्ष एक करोड़ मुद्राओं से ऊपर दिये जाने वाले इस राजकीय दान के समुचित वितरण के लिये महाराज नन्द (धनानंद) ने एक दान विभाग (दाणग्ग) स्थापित किया था जिसका नियन्त्रण इसी कार्य के लिये नियोजित एक 'संघ' द्वारा होता था। उक्त संघ के सदस्य विशिष्ट विद्वान ब्राह्मण ही होते थे और उनमें भी जो सर्वाधिक विद्वान् समझा जाता था वह उसका अध्यक्ष (संघब्राह्मण) नियुक्त किया जाता था। संघब्राह्मण का कर्त्तव्य दाणग्ग का संचालन और राजकीय दानशाला में दान के दैनिक वितरण की अध्यक्षता करना होता था। स्वयं महाराज भी जब तब इसी कार्य के लिये वहाँ उपस्थित होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि संघब्राह्मण के पद की एक शर्त यह थी कि यदि वह किसी अन्य महत्तर विद्वान द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया जायगा तो उसे अपने पद का त्याग कर देना होगा।

राज्यवंश के व्यक्तियों के लिये नियत था[1]। महाराज नन्द ने अपने पुत्र राजकुमार सिद्धपुत्र[2] के साथ भवन में प्रवेश किया। उक्त आसन पर चाणक्य को बैठा देखकर राजकुमार ने परिचारिका से उसे उसपर से उठाने और दूसरा आसन देने के लिये कहा। दूसरा आसन दिये जाने पर भी चाणक्य ने पहिले आसन का त्याग नहीं किया और उस दूसरे आसन पर अपना लोटा रख दिया। एक एक करके तीन और आसन उसे दिये गये और उनपर भी वह अपनी एक एक वस्तु, दण्ड, माला, यज्ञोपवीत रखकर उन्हें हस्तगत करता गया। यह देखकर कि नवागन्तुक ब्राह्मण इतना अभिमानी है कि वह राज्यासन को तो त्यागता ही नहीं वरन् उसे दिये गये अन्य आसनों पर भी अपना अधिकार करता चला जाता है, परिचारिका का धैर्य जाता रहा; चाणक्य के इस उद्दंड व्यवहार से क्रोधित हो उसने उसे लात मारकर आसन पर से उठा दिया। इसपर चाणक्य का क्रोध भड़क उठा और भरी सभा में बड़े रोष पूर्वक उसने निम्नोक्त शब्दों में प्रतिज्ञा की—"जिस प्रकार उग्रवायु का प्रचंड वेग अनेक शाखा समूह सहित महान वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार हे नन्द मैं तेरा तेरे कोष, भृत्य, पुत्र, मित्रादि सहित समूल नाश करूँगा"[3]।

अन्तिम नन्द नरेश का यह दुर्भाग्य था कि चाणक्य इतनी दूर से उस महान केन्द्र पाटलिपुत्र में विद्वानों से शास्त्रार्थ करने के लिये आ पहुंचा, और उपरोक्त नियम का लाभ उठाकर संघब्राह्मण को पदच्युत करने और उसका स्थान स्वयं प्राप्त करने में सफल हुआ। किन्तु राजा इस नवीन अध्यक्ष की अत्यन्त कुरूपता के कारण उसकी उपस्थिति सहन नहीं कर सका और उसने उसे प्रायः बलपूर्वक ही दानशाला से बाहर निकलवा दिया। फल स्वरूप वह कूटनीति के उस महान आचार्य कौटिल्य का कोप भाजन हुआ और सवंश नाश को प्राप्त हुआ—(मोग्ग—महा०, गा० ७२-८३; वंसत्थ०—पृ० १२०)

१—सुखबोध, और आव० चूर्णि।

२—सुखबोध आदि के अनुसार अन्तिम नन्दनरेश का पुत्र सिद्धपुत्त (सिद्धपुत्र) था, हेमचन्द्र ने उसका उल्लेख केवल 'नन्दपुत्र' के रूप में किया है, कोई नाम नहीं दिया (परि० ८, २१८। हरिषेण ने बृहत्कथा कोष में उसका नाम हिरण्य गुप्त अथवा हरिगुप्त दिया है और उसे युवराज लिखा है। किन्तु बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अन्तिम नन्द के इस युवराज का नाम पर्वत था (वंसत्थ-पृ० १२१; मोग्ग० महा: गा० ८६; सी० डी० चटर्जी—इंडियन कल्चर, १, पृ० २२०, २२३) ऐसा प्रतीत होता है कि नवम नन्द के एक ही पुत्र था क्योंकि सब ही आधार केवल एक ही पुत्र का संकेत करते हैं, यद्यपि उसके नाम में मतभेद प्रदर्शित करते हैं।

३—'कोषेन् भृत्यैश्च निबद्धमूलम्, पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम्।
उपात्य नन्दम् परिवर्तयामि, महाद्रुमम् वायुरिवोग्रवेगाः॥
(आव० चू० पृ० ५६३, सुख० ३१)

चाणक्य के इस प्रसिद्ध शाप को विभिन्न लेखकों ने भिन्न भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। जैन साहित्य में इसका सर्व प्रथम उल्लेख आवश्यक चूर्णि' में मिलता है, तदनन्तर सुखबोध, परि० पर्व

क्रोध से तप्तायमान चाणक्य ने तत्काल पाटलिपुत्र का त्याग किया। इस समय उसे उस भविष्यवाणी का स्मरण हुआ जो उसके जन्म समय जैन साधुओं ने करी थी, कि वह किसी अन्य व्यक्ति के मिस मनुष्यों पर शासन करेगा[1]। अतएव परिव्राजक[2] के वेष में वह एक ऐसे व्यक्ति की खोज में फिरने लगा जो राजा होने के सर्वथा उपयुक्त हो। इस प्रकार घूमते घामते वह महाराज नन्द के अधीनस्थ मयूरपोशकों के ग्राम में पहुँचा। उस समय उक्त ग्राम के मुखिया (मयहर) की पुत्री गर्भवती थी और उसे चन्द्रपान का विलक्षण दोहला उत्पन्न हुआ था। किसी को समझ में न आरहा था कि किस प्रकार वह दोहला शान्त किया जाय। चाणक्य ने उन्हें आश्वासन दिया कि वह गर्भिणी को चन्द्रपान कराके उसका दोहला शान्त कर देगा, किन्तु शर्त यह है कि यदि उसके पुत्र उत्पन्न हुआ तो वह चाणक्य को सौंप दिया जायगा। कोई अन्य चारा न देख लड़की के पिता ने चाणक्य की शर्त स्वीकार कर ली। उसने भी तत्काल एक थाली में जल मंगवा कर और उसमें प्रतिबिंबित चन्द्रमा को उस लड़की को दिखाकर उसे वह जल पिला दिया, और इस प्रकार अपनी चतुराई से उसका दोहला शान्त कर दिया। तत्पश्चात् उस ग्राम का त्याग कर किसी अज्ञात स्थान की ओर वह चल दिया।

आदि में। यद्यपि पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों पूरी की कथा प्राकृत में है, शाप की भाषा संस्कृत है, संभवतया इसलिये कि चाणक्य जैसा विद्वान ब्राह्मण क्रोधावेश में भी संस्कृत का ही प्रयोग करता था। अथवा अपनी प्रतिज्ञा का महत्व प्रदर्शित करने के लिये उसने वैसा किया। किन्तु बौद्ध साहित्य में इस शाप के जो दो रूप उपलब्ध हैं अर्थात् थेरवादियों की सिंहलट्ठकथा एवं धम्मरुचि को की उत्तरविहारट्ठकथा के आधार पर वंसत्थप्पकासिनी (पृ० १२०) तथा मोग्गल्लान के महावंस (गा० ८१-८२) में, वे पालि में ही हैं। वंसत्थप्पकासिनी में नन्दों के लिये जो 'नन्दिन' शब्द का प्रयोग किया गया है वह संभवतः इसलिये कि ब्राह्मणादिकों द्वारा वे हीन कुल अथवा शूद्र जात माने जाते थे।

१—विंबंतरियो (बिम्बान्तरिताः) अर्थात् दर्पण के प्रतिबिंब वत् या ओट से।

२—ब्राह्मण धर्म सूत्रों में परिव्राजक और भिक्षु शब्द कहीं तृतीय और कहीं चतुर्थ आश्रम में स्थित ब्राह्मणों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अतः वे ब्राह्मण जो गृहस्थ जीवन का त्याग करके इतस्ततः भ्रमण करते रहते थे परिव्राजक कहलाते थे, और उनके प्रायः दो भेद होते थे—एकदंडी और दूसरे त्रिदंडी। दण्ड धारण उनके तपस्वी जीवन का चिन्ह होता था। प्राचीन साहित्य में उनका उल्लेख ऐसे तपोधन दार्शनिकों के रूप में हुआ है जो कि अपनी बहुज्ञता, बुद्धिमत्ता और साधुता के लिये प्रसिद्ध थे, तथा जो पारी पारी से वैशाली, चम्पा, श्रावस्ती, राजगृह आदि ज्ञान के तत्कालीन प्रधान केन्द्रों में जीवन मृत्यु, आत्मा और सिद्धत्व, ब्रह्म और विश्व-सम्बंधी परम सत्यों की खोज में आते जाते रहते थे और अन्य सहयोगी विद्वानों से वादविवाद करते थे। यद्यपि ब्राह्मण परम्परा में 'चरक' की भाँति 'परिव्राजक' भी भ्रमते तापसियों के लिये एक जाति सूचक है, नाम किन्तु जैन और बौद्ध साहित्य में यह शब्द ब्रह्मण अब्राह्मण दोनों ही प्रकार के तपस्वियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैन उपपादिक सूत्र में कहा है कि परिव्राजक मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मलोक नामक

गर्भकाल की समाप्ति पर उस युवती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया, और उसके (लड़की के) पिताने अद्भुत रीति से उसके दोहले की शान्ति का स्मरण करके बालक का नाम चन्द्रगुप्त रक्खा' (चन्द्रगुत्तो से नामं कयं)। ग्राम के अन्य बालकों के बीच चन्द्रगुप्त शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त हुआ। वह बड़ा होनहार, सर्व राज्योचित लक्षणों और चिन्हों से युक्त था। अपने श्रेष्ठतर व्यक्तित्व के प्रभाव से वह बालपन से ही अपने साथी बालकों पर शासन करने लगा और सब खेलों में उनका अगुआ और नेता बनने लगा। बहुत समय के उपरान्त चाणक्य का फिर से उस ग्राम में आगमन हुआ। इस बीच में

स्वर्ग में जन्म लेते हैं और वहाँ एक कल्प पर्यन्त स्वर्ग सुख का उपभोग करते हैं। इस ग्रन्थ में ब्राह्मण परिव्राजकों से क्षत्रिय परिव्राजकों को भिन्न कहा है और उनके सात भेद किये—सांख्य कापिल्य, भार्गव, योगी, हंस, परमहंस, बहूदक, कुटिव्रत, कृष्ण परिव्राजक (अवद्य—७ ख ८१) कुछ ग्रन्थों में स्त्री परिव्राजिकाओं का भी उल्लेख है जो दार्शनिक गोष्ठियों में होने वाले वादों में योग देकर देश के बौद्धिक जीवन में भी भाग लिया करती थीं।

रामायण (अरण्यकांड ४६, २-३) में इन परिव्राजकों की वेषभूषा आदि का अच्छा वर्णन हुआ है। किन्तु ब्राह्मणेतर परिव्राजकों की वेषभूषा उससे भिन्न होती थी, उनमें भी दिगम्बर (अचेलक अथवा नगा चरिआ) परिव्राजक तो नग्न ही रहते थे। अर्थ शास्त्र खं० ३, अ० २०) के 'वृषलप्रव्रजित' ये ब्राह्मणेतर परिव्राजक यथा निर्ग्रन्थ (जैन), शाक्य पुत्र (बौद्ध)—विभिन्न जातियों के यहाँ तक कि चांडाल भी हो सकते थे, और ये सुसंगठित मुनि संघों (गण गच्छ आदि) के अन्तर्गत रहते थे, जबकि ब्राह्मण परिव्राजक ब्राह्मण जातीय ही होते थे और एकाकी ही विचरण करते थे। वे संघ की अपेक्षा एकाकी जीवन को आत्मसाधन के लिये अधिक उपयोगी समझते थे। वैसे अनेक जैन साधु विशेष कर जिनकल्पी साधु भी एकाकी ही विचरण करते थे। किसी स्थान विशेष में स्थायी रूप से न रहकर निरन्तर स्थान से स्थानान्तर विहार करते रहना इन सभी प्रकार के परिव्राजकों की एक विशेषता थी, क्योंकि आत्म साधन के लिये वे ऐसा करना आवश्यक मानते थे। केवल वर्षा ऋतु में वे एक ही स्थान में रहकर चातुर्मासिक योग धारण करते थे, क्योंकि उक्त ऋतु में गमनागमन करने से अनेक जीवों की हिंसा होने का भय रहता है। इनमें से प्रत्येक परम्परा के परिव्राजकों के आचरण के नियम शास्त्र थे, यथा जैन आचारांग, बौद्ध पातिमोक्ख और ब्राह्मण भिक्षु सूत्र (पाणिनी, ४, ३, ११०-१११)

१—चन्द्रगुप्त के वंश और पितृकुल के सम्बंध में विभिन्न अनुश्रुतियों में मतभेद है। जैन आधारों के अनुसार उसका मातामह मयूर पोषकों का मुखिया था। संभवतः वह इसी कारण मौर्य कहलाया। किन्तु जैन साहित्य में उसे क्षत्रिय वंशोद्भव ही कहा है। वैसे व्रात्य क्षत्रियों की एक जाति मोरिय भी थी जिसके एक सदस्य स्वयं भगवान महावीर के एक गणधर थे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त का पिता पिप्पलि वन के शाक्य क्षत्रियों की 'मोरिय' नामक एक उपजाति का राजा था। ब्राह्मण पुराण एवं साहित्यकारों ने उसे मुरा नामक स्त्री का पुत्र अथवा पौत्र होने के कारण मौर्य कहलाया बताया। साथ ही मुरा के शूद्रा होने का भी उल्लेख किया। प्रो० चटर्जी ने अपने लेख की पाद टिप्पणी नं० १४ में इस प्रश्न पर विस्तार पूर्वक विशद

चाणक्य ने जो कि भारी 'धातुवाद विशारद'[1] था अपने समय का, गुप्त रूप से स्वर्ण बनाने और एकत्रित करने में सदुपयोग किया था। जिस समय चाणक्य उक्त ग्राम में पहुंचा तो वहाँ उसने चन्द्रगुप्त को अपने बाल सखाओं (ग्वाल बालों) के साथ खेलते पाया। खेल में चन्द्रगुप्त स्वयं राजा बना हुआ था। चाणक्य कुछ देर तक मुग्ध हुआ यह खेल देखता रहा और बालक चन्द्रगुप्त के अभिनय से बहुत प्रभावित हुआ। इस लड़के में उसने सबही राज्योचित लक्षण पाये, मानों वह एक बड़ा नरेश बनने के लिये ही जन्मा था। खेल में भी वह एक कुशल राजनीतिज्ञ होने का परिचय दे रहा था। चाणक्य ने उसकी और अधिक परीक्षा करने के लिये उससे ब्राह्मण बनकर दान की याचना की[2]। बालक राजा ने बड़ी तत्परता से कहा 'बोलो क्या चाहते हो? जो मांगोगे अभी मिलेगा।' चाणक्य ने कहा 'मैं गो दान चाहता हूं, किन्तु मुझे भय है कि तुम मेरी इच्छा पूरी न कर सकोगे। अन्य लोग उसका विरोध करेंगे।' चन्द्रगुप्त ने तुरन्त त्वेष के साथ उत्तर दिया 'यह आप क्या कहते हैं? पृथ्वी वीरों के ही उपभोग के लिये है (वीरभोज्जा पुहइ)।' लड़के के इस उत्तर से उसके राज्योचित गुणों का चाणक्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसके साथियों से उसका परिचय प्राप्त करने का प्रलोभन न रोक सका, बालकों ने उसे बताया कि चन्द्रगुप्त तो एक परिव्राजक का पुत्र है। इस प्रकार यह जानकर कि चन्द्रगुप्त तो वही लड़का है जिसकी माता का दोहला उसने स्वयं परिव्राजक के छद्मवेष में भ्रमण करते हुए पूरा किया था तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने चन्द्रगुप्त को राजा बनाने की उसी समय प्रतिज्ञा की। अस्तु, तुरन्त उस बालक, चन्द्रगुप्त को अपने साथ लेकर चाणक्य उस स्थान से पलायन कर गया (सो तेण समंपलाओ)[3]।

अपने धातुविद्या के ज्ञान के प्रयोग से जो विपुल धन चाणक्य ने एकत्रित किया था उसकी सहायता से अब वह महाराज नन्द का उन्मूलन करने की तैयारियां करने में संलग्न

विवेचन किया है। 'मुरा' के अस्तित्व को वे निरा काल्पनिक कल्पित मानते हैं, और मोरिय नाम के क्षत्रिय कुल में ही चन्द्रगुप्त का उत्पन्न होना सिद्ध करते हैं। उनका नोट विशेष पठनीय है।

१—धातु विद्या और खनिज रसायन शास्त्र में चाणक्य की पटुता का पता अर्थ शास्त्र (भा० २ अ० १२, १३, १४) से भी चलता है। मनुष्य शरीर पर धातु प्रयोग के विषय पर उसने एक ग्रंथ रचा प्रतीत होता है, जिसका उल्लेख अरबी हकीमकुचारिता ने किया है, किन्तु जो अप्राप्य है।

२—मोग्गल्लान के महावंश (गाथा ११०-११२) में भी इस प्रसंग का उल्लेख है।

३—बौद्ध अनुश्रुति (वंस०थ०—पृ० १२२) के अनुसार चाणक्य चन्द्रगुप्त को शिक्षा देने के लिये स्वस्थान अर्थात् तक्षशिला ले गया।

इसमें सन्देह नहीं कि इसके उपरान्त के समय का चाणक्य ने क्षत्रिय कुमार चन्द्रगुप्त का राज्योचित सर्व प्रकार की शिक्षा दीक्षा देने में उपयोग किया।

हुआ[1]। मुक्तहस्त से धन व्यय करते हुए उसने लोगों को अपनी सेना में भर्ती किया (लोगों मिलिओ), और फिर एकदम पाटलिपुत्र नगर का घेरा डाल दिया। किन्तु महाराज नन्द की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी, उसने उलटे चाणक्य की ही सेना को घेर लिया और संख्या एवं बल आदि में उस अपेक्षाकृत अत्यधिक हीन कोटि की सेना को छिन्न-भिन्न करके भगा दिया। इस अकस्मात् एवं अप्रत्याशित भाग्य परिवर्तन को देख चाणक्य और चन्द्रगुप्त भी अपनी तितर बितर सेना के साथ भागे। इस पर राजा ने अपने कुछ अश्वारोही सेना-नायकों को उन दोनों का पीछा करने और उनके महत्त्वाकांक्षी जीवन का अन्त कर देने के लिये रवाना किया। इन पीछा करनेवालों में से एक जब उनके निकट आता दीख पड़ा तो चाणक्य ने तुरन्त चन्द्रगुप्त को तो कमलों से भरे एक समीपवर्ती सरोवर में छिपा दिया और स्वयं धोबी का वेष बनाकर किनारे पर बैठ गया[2]। जब सवार ने वहाँ पहुंच कर चाणक्य से पूछा कि क्या उसने चन्द्रगुप्त को देखा है, तो धोबी वेषी चाणक्य ने उक्त सरोवर की ओर संकेत करते हुए कहा कि 'वह पानी में घुसा था

१—मोग्गल्लान तथा वंसत्थप्पकासिनी के अज्ञात नामा लेखक के अनुसार चाणक्य ने चांदी के जाली सिक्के (कहापण या कार्षापण) बनाये थे और उन्हें विन्ध्य अटवी में किसी स्थल पर पृथ्वी के भीतर गाड़ रक्खा था। इस एकत्रित विपुल धनराशि का बाद को उसने नन्द साम्राज्य को विजय करने के हित एक भारी सेना के निर्माण करने में उपयोग किया था—(वंस०—पृ० १२१; महा० गा० ६२)

२—इस प्रसंग में मुखबोध के इस कथन से परिशिष्ट पर्व के कथन में एक विशेष अन्तर है। परिशिष्ट पर्व (अ० ८, २५७-२९८) के अनुसार नन्द ने चाणक्य और चन्द्रगुप्त को पकड़ लाने के लिये एक के बाद एक, दो अश्वारोही भेजे थे। जब सादी नामक प्रथम अश्वारोही समीप आता दिखाई दिया तो चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को तो कमलों से आच्छादित एक निकटवर्ती सरोवर में छिप जाने को कहा और स्वयं एक मौनी तपस्वी का वेष बना कर किनारे पर बैठ गया। जब उस सवार ने पास आकर चाणक्य से पूछा कि क्या उसने किसी नवयुवक को उस ओर से भागकर जाते हुए देखा है, तो चाणक्य ने बिना कुछ उत्तर दिये केवल हाथ से सरोवर की ओर संकेत कर दिया। इस संकेत से उसने जानलिया कि चन्द्रगुप्त कहाँ छिपा हुआ है। जब वह अपना खड्ग और कवच उतार कर पानी में घुसने को तैयार हुआ तो चाणक्य ने झट तलवार उठाकर उसके दो टुकड़े कर डाले। चन्द्रगुप्त तत्काल पानी से बाहर आया और ये दोनों उस विफल प्रयत्न सैनिक का घोड़ा ले वहां से नौ दो ग्यारह हुए। भागते हुए मार्ग में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से पूछा 'जब मैंने उस सवार से तलाव की ओर संकेत किया तो तुमने अपने मन में क्या सोचा था'। युवक ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—'यही कि जो कुछ आप कर रहे हैं ठीक ही कर रहे हैं, क्योंकि आप स्वयं भलीभांति जानते हैं क्या उचित है क्या अनुचित।' इस उत्तर से चाणक्य बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्हें विश्वास हो गया कि राजा होने पर भी चन्द्र-गुप्त उनके प्रति वैसा ही भक्त और आज्ञाकारी बना रहेगा। इतने में उन्हें राजा नन्द द्वारा उनका पीछा करने के लिये भेजा गया दूसरा सवार आता दिखाई पड़ा। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को

और वही छिपा बैठा है।' जब उस असवार ने पानी में छिपे हुए चन्द्रगुप्त को लक्ष्य किया (असवारेण दिट्ठो) तो उसने तुरन्त घोड़ा चाणक्य के सिपुर्द किया और अपना खड्ग खोलकर भूमि पर रख दिया। किन्तु जैसे ही पानी में घुसने के अभिप्राय से उसने अपना कवच खोला कि चाणक्य ने तलवार उठाकर उस सैनिक के दो टूक कर दिये। संकेत पाते ही चन्द्रगुप्त पानी से बाहर निकल आया और फिर वे दोनों वहाँ से शीघ्र ही पलायन कर गये। मार्ग में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से पूछा कि जब उसने उस सवार को सरोवर में छिपे चन्द्रगुप्त का पता बताया था तो उसे कैसा लगा था। इस पर चन्द्रगुप्त ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया "मैंने समझा कदाचित यही ठीक है, क्योंकि आर्य स्वयं जानते हैं क्या करना उचित है और क्या नहीं (हंदि एवं चेव सोहणं हवइ, अज्जो चेव जाणई त्ति)।" इस उत्तर से चाणक्य अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ, क्योंकि इससे उन्हें न केवल राजा बनने के लिये उस युवक की उपयुक्त पात्रता का ही विश्वास हो गया, वरन गुरु रूप में अपने प्रति भी उसकी गाढ़ श्रद्धा और अडिग भक्ति का अनुभव हुआ'।

घूमते घूमते ये दोनों एक दिन एक ग्राम में पहुँचे। एक घर में से किसी बालक के रोने का शब्द आरहा था। ये वहाँ ठिठक गये। इस प्रसंग की जो बातें घर भीतर से आती हुई इनके कानों में पड़ीं उनसे इन्होंने जाना कि लड़के के रोने का कारण यह था कि थाली में परसी गरम खिचड़ी (विलेवी) के बीचोबीच हाथ डालकर उसे उठाकर खाने का उसने प्रयत्न किया था, जिससे उसकी अंगुलियाँ जल गई थीं²। उसकी बूढ़ी माँ अपने

को फिर से एक निकटवर्ती ताल में घुस कर छिप जाने को कहा और किनारे पर कपड़ा धोते एक धोबी को यह भय दिखा कर वहाँ से भगा दिया कि राजा धोबियों के इस नियम से अत्यन्त रुष्ट है, अतएव यदि वह उस स्थान में ठहरेगा तो वह जो सवार घोड़ा दौड़ाये चला आ रहा है, उसे मार डालेगा। बेचारा भयभीत धोबी अपने सब कपड़े लत्ते वहीं छोड़ चम्पत हुआ, और चाणक्य झट उसके स्थान पर धोबी बनकर बैठ गया। इस सवार को भी इसने वही चकमा दिया और तालाब की ओर संकेत कर दिया, जैसे ही वह तलवार और कवच उतार जल में घुसने लगा, चाणक्य ने उसे भी पूर्ववत तलवार की धार उतारा।

हेमचन्द्र द्वारा वर्णित सादी और चाणक्य का प्रसंग सुखबोध में नहीं दिया हुआ है। आवश्यक चूर्णि में एक ऐसी अन्य कथा भी दी है किन्तु दुर्भाग्य से वह इतनी मलिन और अस्पष्ट है कि उसकी रूप रेखा जानना भी दुष्कर है। हरिभद्र, देवेन्द्रगणि और हेमचन्द्र ने भी उसकी ओर ध्यान दिया प्रतीत नहीं होता।

१—इसके उपरान्त 'आवश्यक' और उत्तराध्ययन'—दोनों अनुश्रुतियों में एक अन्य विलक्षण कथा दी हुई है जिससे ज्ञात होता है कि इस भगदौड़ में कैसे एक अवसर पर चन्द्रगुप्त भूख के मारे मरणासन्न हो गया था और कैसे चाणक्य ने उसकी प्राण रक्षा की।

२—प्रो० चटर्जी इसे भात या चावल की मांडी (राइस ग्रुएल) कहते हैं, हेमचन्द्र इसका अर्थ रब्बा (रबा) करते हैं। हो सकता है यह दूध, चीनी और रवे से बना दलिया जैसा कोई पदार्थ हो।

सब पुत्रों को भोजन जिमा रही थी। इस लड़के के इस प्रकार अपने हाथ को जला लेने पर वह उसकी ताड़ना करने लगी। बुढ़िया कह रही थी 'तू भी चाणक्य ही जैसा मूर्ख है' यह भी नहीं जानता भोजन किस तरह किया जाता है'। अपना नाम और इन अद्भुत शब्दों में अपनी यह विलक्षण प्रशंसा सुनकर चाणक्य को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वह बुढ़िया के सम्मुख जा पहुंचा और उससे पूछा कि उसकी इस अनुपम उपमा का क्या आशय है ? इस पर उस चतुर स्त्री ने उससे कहा "क्या तुम नहीं जानते कि उस महा मूर्ख चाणक्य ने अपने पृष्ठ भाग को सुरक्षित बनाये बिना ही और अत्यधिक अपर्याप्त सैन्य बल के बूते पर ही स्वयं नन्द की राजधानी पर अंधाधुंध धावा बोल दिया और परिणाम स्वरूप बुरी तरह पराजित हुआ। उसे चाहिये था कि पहिले सीमा प्रदेशों में युद्ध चालू करता और शनैः शनैः उन्हें जीतना और सुगठित रूप में अपने आधीन करता हुआ तब फिर राज्य के अन्तः में प्रवेश करता। इसी प्रकार इस लोभी लड़के ने खिचड़ी को किनारों के पास से खाना प्रारंभ करने के बजाय जल्दबाज़ी करके एक दम उसके सर्वाधिक गरम मध्य भाग में ही अपनी अंगुलियाँ डाल दीं और फलतः उन्हें जला लिया।"[२६]

चतुर वृद्धा के इस सुझाव से लाभ उठाकर चाणक्य ने अब अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया। वह पहिले हिमवत्कूट के राजा पर्वत के पास गया और उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। चाणक्य ने उसे वचन दिया कि नन्द को राज्यच्युत करलेने के पश्चात् उसके राज्य को चन्द्रगुप्त और पर्वत के बीच समभाग में विभाजित कर दिया जायगा[२७]। पर्वत इन शर्तों पर साथ देने के लिये राज़ी हो गया और उसने इस प्रयोजन के लिये आवश्यक सैनिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया। तदुपरान्त पर्वत और चन्द्रगुप्त की संयुक्त सेनाओं ने नन्द राज्य पर आक्रमण किया। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार पहिले उन्होंने सीमान्त प्रदेशों को हस्तगत करना प्रारंभ किया और उनपर अपना अधिकार सुदृढ़ करके शनैः शनैः उसके अन्तर में प्रवेश किया। किन्तु एक महत्त्वपूर्ण नगर पर आक्रमण करते समय उनकी प्रगति को भारी धक्का लगा और उनकी योजना विफल होती

२६—वृद्धा और उसके पुत्र की इस कथा से मिलती जुलती एक कथा बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध होती है—(महा० १४१-१४६; वंसत्थ० पृ० १२३)

२७—बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार पर्वत राजा, धनानन्द का पुत्र था। ब्राह्मण अनुश्रुति में उसका पर्वतक, पर्वतेन्द्र अथवा पर्वतेश नाम से उल्लेख हुआ है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस (६ठी शताब्दी), रविनर्तक की चाणक्य कथा (१६१५ ई०), अनन्त कविकृत 'मुद्राराक्षस पूर्व संकथा' (१६६० ई०) और टीकाकार ढुंढिराज कृत मुद्राराक्षस व्याख्या (१७१४ ई०) के अनुसार यह व्यक्ति म्लेच्छों का राजा था और स्वयं भी म्लेच्छ था। उसका राज्य पाटलिपुत्र से उत्तर पश्चिम ६०० मील की दूरी पर स्थित था। नन्द के राज्य का अर्द्धभाग प्राप्त करने की चाणक्य द्वारा दिलाई गई झूठी आशा के प्रलोभन में फँस कर उसने मगध पर आक्रमण किया। उसकी सेना में यवन, शक, काम्बोज, पारसीक, किरात, खस, पुलात, शबर, वाल्हीक और हूण जातियों

दीख पड़ी। उक्त नगर की रक्षिका इष्ट देवियों के प्रसाद से वह नगर अजेय सिद्ध हुआ। बहुत दिन तक घेरा डाले पड़े रहने का भी उसपर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अतः चाणक्य ने एक युक्ति सोची त्रिदण्डी साधु के छद्मवेष में उन्होंने उक्त नगर में प्रवेश किया और उन नगर देवियों—इन्द्रकुमारिकाओं के दर्शन किये जिनके कि कारण वह नगर अजेय बना हुआ था'[१]। उस नगर के निवासी भी इस दीर्घकालीन घेरे से त्रस्त हो उठे थे। अब और अधिक सहन किये जाना उनकी शक्ति से बाहर होता जा रहा था।

के सैनिक सम्मिलित थे। युद्ध में नवों नन्द काम आये और पर्वतक ने पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया। तदुपरान्त उसने सारे ही राज्य को अपने अधिकार में रखने के लोभ से नन्दों के भूतपूर्व मन्त्री राक्षस के साथ मिलकर चन्द्रगुप्त के विरुद्ध षड्यन्त्र किया किन्तु उसकी योजना सफल होने के पूर्व ही एक विष कन्या के संसर्ग द्वारा पर्वतक का प्राणनाश हो गया। इस विष-कन्या को वास्तव में, राक्षस ने चन्द्रगुप्त की हत्या करने के उद्देश्य से भेजा था, किन्तु चतुर चाणक्य ने उसे बीच में से ही उस विश्वासघाती म्लेच्छ राजा के पास भेज दिया, और अपने कौशल से चन्द्रगुप्त के मार्ग का कंटक दूर कर दिया।

डा० हर्मन जैकोबी के मतानुसार यह पर्वत बौद्ध पार्वतीय वंशावली में उल्लिखित नैपाल के किरात वंश का ग्यारहवाँ राजा पर्व उपनाम पंचम था। इस वंश का सप्तम नरेश जितेदास्ती बुद्ध का समकालीन था और चौदहवाँ राजा स्वयं अशोक का। जैन परिशिष्ट पर्व में भी अशोक के नैपाल जाने का उल्लेख है।

प्रो० चटर्जी का कहना है कि यद्यपि गोकर्ण (नैपाल) के एकादशम किरात नरेश पर्व अथवा पंचम की ऐतिहासिकता में भले ही कोई सन्देह न किया जाय किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि चाणक्य जैसा राजनीति का महान पंडित और युद्ध नीति में विचक्षण व्यक्ति अन्तिम नन्दनरेश जैसे शक्तिशाली राजा का उन्मूलन करने के लिये कैसे एक असभ्य मंगोल जातीय पहाड़ी राजा की साधारण-सी सैनिक सहायता पर निर्भर हो सका? नन्द की शक्ति कुछ मामूली नहीं थी। सिकन्दर महान के संसार विजेता महापराक्रमी योद्धाओं का साहस भी उसकी सीमा में प्रवेश करने का न हो सका था। सिकन्दर की बलवती इच्छा रहते हुए भी वह अपने सैनिकों को वैसा करने के लिये राजी न कर सका और लाचार उसे मगध राज्य की सीमा पर से ही वापस लौट जाना पड़ा था। नहीं कहा जा सकता कि उत्तर कालीन जैन लेखकों (२००—११५० ई०) ने मौर्य सम्राटों की दरबारी अनुश्रुति का कहाँ तक अनुसरण किया है। वे भी उसका 'पार्वतिको राजा' अथवा 'हिमवतकूटपार्थिव' आदि नामों से उल्लेख करते हैं। जैन कथा साहित्य में भी पर्वत का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता और प्रचीन जैन लेखक उसके विषय में क्या जानते थे यह जानने का भी अभी कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

१—इन्द्र कुमारियों का हिन्दू पौराणिक परम्परा में कोई उल्लेख नहीं मिलता। हेमचन्द्र उन्हें '*सप्तमातृका*' नाम्नी देवियाँ समझते हैं। ब्राह्मण परम्परा में सप्तमातृकाओं के दो समूह माने जाते हैं—एक *महाभारत में वर्णित और दूसरा कतिपय पुराणों तथा कुछ शैव ग्रन्थों में* वर्णित। ये शिव के पुत्र स्कंद की रक्षिकाएँ अथवा धाइयें मानी जाती हैं। युद्ध के देवता की रक्षिका होने से ऐसा विश्वास प्रचलित था कि वे अपनी शरण में आने वाले नृपतियों की रक्षा

वे सब इस नवागन्तुक संन्यासी के पास पहुँचे और पूछा कि 'महाराज अब कितने दिन यह युद्ध और चलेगा ?' उसने गंभीरता पूर्वक उत्तर दिया 'जब तक नगर में ये देवियाँ बनी रहेंगी, युद्ध चलता रहेगा।' नगरनिवासी इस छद्मवेशी संन्यासी के छल को न भाँप सके। उन्होंने तुरन्त सब देवी मूर्तियों को उखाड़ कर अन्यत्र पहुँचा दिया। चाणक्य ने तुरन्त चन्द्रगुप्त और पर्वत के पास यह समाचार भेज दिया और नगर पर तत्काल ज़ोर का आक्रमण करने का आदेश दिया। जब विपत्ति का निकट अन्त होने की आशा के आनन्द में फूले हुए नगर निवासी असावधान हो रहे थे तो आक्रमणकारी सेना ने एक ज़ोरदार धावे में ही नगर को सुगमता से हस्तगत कर लिया। अब तो एक के पश्चात नगर, ग्राम, दुर्ग, गढ़ उनके हाथ आते चले गये और चाणक्य के नेतृत्व में इस विजयी सेना ने शीघ्र ही पाटलिपुत्र पर्यन्त समस्त प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया[1]। इसके पश्चात् दोनों नायक—चन्द्रगुप्त और पर्वत ससैन्य नन्दराजधानी पाटलिपुत्र की ओर अग्रसर हुए और उसका घेरा डाल दिया। भीषण आक्रमण और युद्ध के पश्चात् राजानन्द ने 'धर्मद्वार' नामक नगरद्वार के निकट आत्म-समर्पण कर दिया और चाणक्य से प्राणरक्षा की याचना की[2]। चाणक्य ने द्रवित हो उसे सपरिवार नगर और राज्य का त्याग कर अन्यत्र चले जाने की अनुमति देदी और यह भी कह दिया कि अपने साथ अपने रथ में जितना धन वह ले जा सके वह भी ले जाय। अस्तु, राजानन्द ने अपनी दो पत्नियों और पुत्री के साथ जितना धन वह ले जा सका लेकर रथ में सवार हो नगर का परित्याग कर दिया। जाते हुए मार्ग में नन्द की कन्या—दुधरी अथवा सुप्रभा ने चन्द्रगुप्त को जो देखा तो वह प्रथम दृष्टि में ही उसपर मोहित होगई और फिर फिर कर प्रेम व्याकुल दृष्टि से उसकी ओर देखने लगी। चन्द्रगुप्त की भी वही दशा हुई और वह भी अपनी दृष्टि उस सुन्दरी की ओर से न हटा सका।

करती हैं। शिलालेखों से पता चलता है कि प्राचीन कदंब और चालुक्य नरेशों (जिनमें से अनेक जैनधर्मानुयायी थे) में इन सप्तमातृकाओं की मान्यता थी। हेमचन्द्र के अनुसार तो वह नगर भी सुरक्षित और अजेय हो जाता था जहाँ इन देवियों की पूजा प्रतिष्ठा होती थी (परि० ८, ३०३) गंगधार और बिहार शरीफ से प्राप्त अभिलेखों से अनेक नगरों में इन देवियों की सार्वजनीन पूजा प्रतिष्ठा का किया जाना भी सिद्ध होता हैं (कार० इन्स० इन्ड, ३, पृ० ४६, ७६) जैन परम्परा की इन्द्र कुमारिकाएँ अथवा सप्तमातृकाएँ ब्राह्मण परम्परा की तन्नाम देवियों से भिन्न हैं, यद्यपि उनकी उपासना का उद्देश्य और उनका प्रभाव प्रायः वही है।

१—परिशिष्ट पर्व—अ० ८ पृ० ३११-३१८

२—*यह 'धर्मद्वार' निदान कथा जातक का महाद्वार और अर्थशास्त्र का ब्रह्मद्वार ही प्रतीत* होता है। किन्तु हेमचन्द्र ने इस पद का यह अर्थ किया है कि नन्द ने धर्म की दुहाई देकर सुरक्षित चले जाने देने की याचना की।

अपनी पुत्री की यह अकस्मात् प्रेमाकुल दशा नन्द की आँखों से न छिपी रही। क्योंकि वह एक क्षत्रिय राजकुमारी थी उसके पिता ने स्वयंवर प्रथा के अनुसार चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने की उसे सहर्ष अनुमति दे दी'। इस विवाह के लिये पिता की अनुमति प्राप्त करते ही राजकुमारी सुषमा अपने रथ से उतरी और उसने चन्द्रगुप्त के रथ के पहिये पर पैर रक्खा कि उसके नौ आरे तड़ाक से टूट गये (नव अरगा भग्गा)। चन्द्रगुप्त ने इस घटना को भावी अमंगल की सूचक जान राजकुमारी से नीचे उतर जाने की प्रार्थना की। किन्तु चाणक्य ने इसे एक शुभ शकुन समझा और उसे रथ पर सवार हो जाने के लिये कहा। चन्द्रगुप्त को आश्वस्त करते हुए कहा कि पहिये के इन नौ आरों के टूटने का फल यह है कि तुम्हारा वंश तुम्हारे पीछे नौ पीढ़ी पर्यन्त चलेगा'।

तत्पश्चात् विजयी चन्द्रगुप्त और पर्वत ने चाणक्य के साथ राजमहल में प्रवेश किया और नन्द के राज्य का तथा उसकी विपुल धन सम्पत्ति का परस्पर बटवारा किया। राजमहल में पर्वत को एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या दिखाई पड़ी जिसपर वह एकदम लुब्ध हो गया और उसने उस सुन्दरी से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। चाणक्य ने बिना

१—नन्दों की जाति के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती। कुछ उत्तर कालीन जैन ग्रन्थों के अनुसार उदयन का उत्तराधिकार प्रथम नन्द नरेश एक गणिका से उत्पन्न दिवाकीर्ति नामक नापित का पुत्र था (परि० ६, २३१-२३२; विविध तीर्थ कल्प, पृ० ६८) जैन साहित्य में नन्द सर्वत्र जैनधर्मानुयायी करके ही उल्लेखित हुए हैं और उनमें से एक नन्द नरेश तो जैनधर्म का परम भक्त था (खारवेल का हाथीगुंफा शि० ले० पं० १२)। यूनानी लेखक भी प्रसियोइ और गंगरिडइ के तत्कालीन नरेश का हीन कुल अथवा नापित कुमार होना कथन करते हैं और कहते हैं कि उसकी प्रजा उससे घृणा करती थी (कर्टियस, डिडरो, प्लूटार्क आदि)। भागवत पुराण में उसे 'शूद्र गर्भोद्भव' और विष्णु पुराण में इसके वंशजों को 'शूद्रभूमिपालाः' कहा है। पाणिनी के अनुसार नापित आर्य समाज के 'अनिर्वासित शूद्र थे।

किन्तु नन्दों के हीन कुलोत्पन्न होने सम्बन्धी इन उल्लेखों के विरोध में स्वयं हेमचन्द्र ने नन्द नरेश को क्षत्रिय और उसकी पुत्री को 'क्षत्रिय कन्या' कहा है (परि० ८, ३२०) जैन कथा साहित्य में अन्यत्र भी नन्दों को क्षत्रिय ही माना है, और संभवतः वे व्रात्य क्षत्रियों में से थे। विशाखदत्त, इरविचाकयर तथा ढुंढिराज के मतानुसार भी महाराज सर्वार्थसिद्धि नन्द और उसके नौ पुत्र (नव नन्दाः) जन्मजात क्षत्रिय थे। बौद्ध लेखक इस ऐतिहासिक समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डालते। वंसत्थप्पकासिनी में केवल इतना उल्लेख है कि नन्द वंश का संस्थापक और नौ भाइयों में सब से ज्येष्ठ-उग्गसेन (उग्रसेन) अज्ञातकुलोत्पन्न था।

२—उत्तराध्ययन की परम्परा के आधार पर देवेन्द्र गणि के मतानुसार मौर्यवंश में चन्द्रगुप्त सहित दश सम्राट हुए। आवश्यक सूत्र साहित्य की अनुश्रुति और हेमचन्द्र भी दश ही मौर्य नरेशों का उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण पुराणों में मत्स्य, विष्णु और भागवत के अनुसार भी उनकी संख्या दश ही थी, केवल वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में नौ के होने का उल्लेख है। अतः बहु सम्मत संख्या दश ही है।

आना-कानी किये तत्काल विवाह की तैयारियाँ शुरु कर दीं। किन्तु पर्वत के दुर्भाग्य से वह कुमारी एक विषकन्या थी[1]। चाणक्य इस बात को भली भाँति जानता था और इस विवाह का क्या परिणाम होगा यह पूर्णतया जानते हुए ही उसने इस सम्बन्ध के लिये सहर्ष स्वीकृति दी थी। विवाह संस्कार के अवसर पर अग्निप्रदक्षिणा देते समय पर्वत ने जो उस विषकन्या का हाथ पकड़ा तो गरमी के कारण उसके शरीर से निकले स्वेद का सम्पर्क होते ही पर्वत पर विष ने प्रभाव किया, और द्रुत वेग से उसके शरीर में फैलने लगा। आसन्न मृत्यु के मुख में पड़े पर्वत की करुण पुकार सुनकर चन्द्रगुप्त उसकी सहायता को दौड़ा और उसका उपचार करना चाहा। चाणक्य ने भृकुटि निक्षेप द्वारा उसे ऐसा करने से रोक दिया और औषधोपचार के अभाव में पर्वत ने शीघ्र ही प्राण त्याग दिये।

चाणक्य ने इस प्रकार नन्द और पर्वत दोनों के राज्यों को एक साथ निर्बाध प्राप्त कर चन्द्रगुप्त को सिंहासनारूढ़ किया। यह घटना भगवान महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद घटी[2]। लगभग २५ वर्ष चन्द्रगुप्त ने राज्य किया और चाणक्य ने उसका मन्त्रित्व तदुपरान्त चन्द्रगुप्त तो पुत्र बिन्दुसार को राज्य सौंप अपने धर्मगुरु भद्रबाहु का अनुसरण करते दक्षिण को चले गये और जैन मुनि हो गये, और चाणक्य कुछ काल तक बिन्दुसार का मन्त्रित्व करते रहे, तत्पश्चात् वे भी जैन मुनि हो गये। जैन साहित्य में एक बड़े भारी तपस्वी मुनि के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। अति प्राचीन दि० जैन ग्रंथ

१—मुद्राराक्षस नाटक के अनुसार वृद्ध राजा सर्वार्थसिद्धि नन्द की हत्या के उपरान्त उसके मंत्री राक्षस ने एक अतीव सुन्दरी विषकन्या को सुगांग नामक राजमंदिर में इस उद्देश्य से भेजा था कि चन्द्रगुप्त उसके रूप पर मुग्ध होकर उसके संसर्ग से मृत्यु को प्राप्त होगा। किन्तु उसकी इस चाल का चाणक्य को पता चल गया और उसने कौशल से उस कन्या को विश्वासघाती पर्वतक के पास भेज दिया और उसके संसर्ग से पर्वतक की मृत्यु हो गई। एक यूनानी ग्रन्थ के अनुसार एक भारतीय रानी ने सिकन्दर महान से बदला लेने के लिये उसके पास भेंट स्वरूप एक विष कन्या भेजी थी, किन्तु उसके गुरु अरस्तु के कौशल से यह प्रयत्न व्यर्थ हो गया था। आचार्य सुश्रुत ने (सु० सं०—कल्पस्थान, १, ३) भी यह प्रतिपादन किया है कि विष कन्या का शरीर इतना विषाक्त होता है कि उसके साथ संभोग करने वाले व्यक्ति का प्राणान्त हो जाता है।

२—हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व, भद्रेश्वर की 'कहावली' तथा अन्य जैन आधारों से चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि महावीर निर्वाण संवत् १५५ ही सिद्ध होती है। कुछ जैन ग्रन्थों में उल्लिखित उज्जयनी नरेश पालक के राज्यकाल के ६० वर्षों को इन १५५ वर्षों में भ्रम से जोड़ कर कई आधुनिक विद्वान जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त का समय महावीर निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् प्रतिपादन कर देते हैं वास्तव में इस तिथि को निश्चित करने में १८-१९ वीं शताब्दी के यूरोपीय प्राच्यविदों ने एक भारी मौलिक भूल की थी जो युनानी लेखकों के सैन्ड्रोकोटस का मौर्य चन्द्रगुप्त से समीकरण करने के कारण हुई थी। इस भूल का निराकरण कई विद्वानों ने अर्वा २ में करने की चेष्टा की किन्तु अधिकांश बहुमत इसके पक्ष में रहने से इसकी पुष्टि होती

'भगवती आराधना' में चाणक्य के मुनि जीवन का और अन्त में घोर उपसर्ग सहन कर समाधि मरण द्वारा सद्गति प्राप्त करने का वर्णन है'[1] ।

चली गई यहाँ तक कि अब इस भूल का उन्मूलन एक अशक्यानुष्ठान ही प्रतीत होता है। सिकन्दर और चन्द्रगुप्त के समकालीनत्व को मानकर ही भारतीय इतिहास की पूर्वापर कालानुक्रमणिका स्थिर की गई और उस भूल के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण तिथियों में जो अत्यधिक प्रबल पुष्ट एवं प्राचीन आधारों तथा प्रमाण बाहुल्य से कुछ और सिद्ध होती हैं, वास्तविक से भिन्न मानी जा रही हैं—ऐसे अनेक उदाहरणों में से महावीर और बुद्ध की निर्वाण तिथियों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं ? प्रो० चटर्जी भी आधुनिक विद्वद् परम्परा के अनुसार ही चन्द्रगुप्त का समय ३२३ ई० पू० मानकर महावीर निर्वाण ४७६ ई० पू० में होना कथन करते हैं, जिसकी वास्तविक तिथि ५२७ ई० पू० है।

१—अनेकान्त २, १

जैन-ग्रन्थों में क्षेत्रमिति—१

[ले०—श्रीयुत् प्रो० राजेश्वरी दत्त मिश्र, एम० ए०, शास्त्री]

क्षेत्रमिति गणित शास्त्र का सबसे उपयोगी अंग है। इसे पाटीय ज्यामिति कह सकते हैं। जैन-ग्रन्थों में भी इस अंग पर जैन-दर्शन के सिलसिले में काफी चर्चा मिलती है। षट्खण्डागम में इस पर क्षेत्रानुगम नाम से एक बड़ा भाग ही उपलब्ध है। केवल गणित के ग्रन्थ भी जैन आचार्यों के उपलब्ध हैं, जिसमें क्षेत्रमिति पर काफी लिखा है, जैसे महावीराचार्य का गणित-सार-संग्रह और उमास्वाति का क्षेत्र समास। इन ग्रन्थों के पढ़ने से भारतीय गणित की परम्परा पर काफी प्रकाश पड़ता है किन अंशों तक भारतीय ज्यामिति ग्रीस देशीय रही, और कितनी स्वतन्त्र इन सबकी चर्चा संक्षेपतः इस लेख में की जायगी।

पहले हम त्रिभुज पर विचार करें। आधुनिक मत से ग्रीस देशीय मतानुसार त्रिभुज छः प्रकार के होते हैं, तीन भुजा के दृष्टि कोण से और तीन कोण के लिहाज से। महावीराचार्य के गणितसार संग्रह में त्रिभुज की तीन ही प्रकार की चर्चा मिलती है। पर भुजा के लिहाज से, कोण के हिसाब से नहीं। हाँ, समकोण त्रिभुज का गणित अवश्य मिलता है। यह बात अन्यान्य भारतीय आचार्यों के लिए भी ठीक है। अस्तु!

त्रिभुज के स्थूल क्षेत्रफल के लिए महावीराचार्य ने जो नियम लिखे हैं, वे विचित्र हैं। नियम इस प्रकार हैं:—

'त्रिभुज चतुर्भुजबाहुप्रतिबाहुसमासदलहतं गणितम्' इसकी व्याख्या यों की जाती है:— यदि ABC एक त्रिभुज है जिसका आधार BC है तो, AB, और AC भुजाएँ बाहु-प्रतिबाहु कही जायँगी और क्षेत्रफल $= \frac{a}{2} \times \frac{b+c}{2}$ पर यह मान काफी भ्रामक है, क्योंकि $b+c >$ altitude.

सूक्ष्ममान के लिए निम्नलिखित नियम मिलते हैं:—

$$\triangle = \sqrt{S(S-a)(S-b)(S-c)}$$

$$= \frac{a}{2} \times p$$ यहाँ p त्रिभुज की ऊँचाई है।

इन दोनों नियमों में ग्रीस देशीय नियमों से कोई अन्तर नहीं है।

शीर्ष बिन्दु से आधार पर लम्ब खड़ा करने से आधार के दोनों टुकड़ों का मान निकालने की रीति महावीराचार्य के ग्रन्थ में वर्तमान है:—

$$a1 = \frac{1}{2}\left(a + \frac{c^2 - b^2}{a}\right)$$

$$a2 = \frac{1}{2}\left(a + \frac{b^2 - c^2}{a}\right)$$
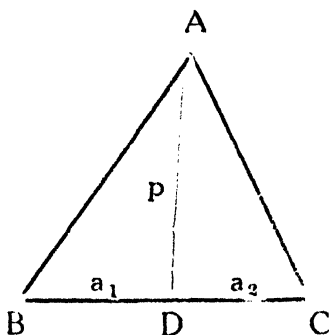
ये दोनों नियम Euclid के ज्यामिति के अनुसार ही हैं। लम्ब के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ में निम्नलिखित नियम आया है:—

$$p = \sqrt{c^2 - a_1^2} = \sqrt{b^2 - a_1^2}$$

जो समकोण त्रिभुज के नियम के अनुकूल है।

Properties of $\triangle^s$ की पूरी जानकारी महावीराचार्य को थी। इसका प्रमाण उनका जन्य प्रकरण है, और पैशाचिक प्रकरण है। उदाहरणार्थ यदि ABC एक वृत्तगत त्रिभुज हो और AE उसका लम्ब हो, तो वृत्त के व्यास के लिए निम्नलिखित सूत्र की प्रवृत्ति होती है: —

$$\text{व्यास} = p = \frac{AB \times BC}{BE}$$

पर एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि चापीय त्रिभुजों और चतुर्भुजों में प्रतर (Plane) त्रिभुजों और चतुर्भुजों के नियम व्यवहृत किए गए हैं। महावीराचार्य के संग्रह में हाथी दांत का प्रश्न और षट्खण्डागम में अधोलोक के सूर्याकार क्षेत्र के त्रिभुज और चतुर्भुज के गणित से यह बात स्पष्ट है।

चतुर्भुज

पाँच प्रकार के चतुर्भुज का उल्लेख गणित-सार-संग्रह में मिलता है:—(१) वर्ग (२) आयत (३) द्विसम चतुर्भुज Isoceless trapezium or trapizium with oblique sides equal (४) त्रिसम चतुर्भुज Equitrilateral quadrilateral) (५) विषम चतुर्भुज। अगर ABCD चतुर्भुज के AB = a, BC = b, CD = c, DA = d,

$$\text{स्थूलतः चतुर्भुज} = \frac{a + c}{2} \times \frac{b + d}{2}$$

पर यह मान तभी एकदम ठीक है जब चतुर्भुज वर्ग हुआ या आयत। अन्य हालत में यह मान भ्रामक भी हो सकता।

चतुर्भुज के सूक्ष्म मान के लिए दो नियम उपलब्ध हैं।

(१) चतु० क्षेत्र $= \sqrt{(s-a)(s-b)(s-c)(s-d)}$

(२) चतु० क्षेत्र $= (b+d)\,\frac{h}{2}$

पहला नियम केवल वृत्तगत चतुर्भुज के लिये सही है पर ऐसी बात ग्रन्थ में नहीं लिखी मालूम पड़ती।

और दूसरा नियम Trapezium के लिए या जब $b = d$ है तब ही ठीक। यह नियम विषम चतुर्भुज में नहीं लागू हो सकता।

चतुर्भुज के कर्णों के लिए निम्नलिखित नियम मिलता है।

$$\text{कर्ण} = \sqrt{\frac{(ac+bd)\,(ab+cd)}{ad+bc}}$$

$$a = \sqrt{\frac{(ac+bd)\,(ab+cd)}{ab+cd}}$$

जो केवल वृत्तगत चतुर्भुज के लिये ही सही है।

पर समूची भारतीय-गणित-परम्परा में महावीराचार्य ही एकमात्र आचार्य हैं, जिन्होंने Re entrant चतुर्भुजों की कल्पना की है।

वृत्तगत चतुर्भुज का भी उल्लेख महावीराचार्य ने विस्तार से किया है। ऐसे वृत्त का

$$\text{व्यास} = \text{क्षेत्रफल} \div \frac{\text{क्षेत्रपरिमिति}}{४}$$

Isoceslles Trapezium के बारे में त्रिलोकसार (गाथा ११४) में तीन नियम मिलते हैं:—

(१) क्षेत्रफल $= \frac{1}{2}h\,(a+b)$

जहाँ a, b, समानान्तर भुजाओं के माप हैं वहाँ इन्हें आधार और मुख को भुजाएँ माना गया है। यह नियम तो किसी तरह के Trapezium के लिए सही है पर वहाँ ऐसा उल्लेख नहीं है।

(२) b की हानि या a की वृद्धि

$$a = \frac{b-a}{h} \text{ के हिसाब से होती है।}$$

(३) किसी ऊँचाई h' पर समानान्तर भुजा के माप को निकालने की रीति।

$$b - \frac{b-a}{h}h'$$

महावीराचार्य के गणित संग्रह में किसी त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त आदि को समानुपाती क्षेत्र में बाँटने के नियम भी वर्तमान हैं।

वृत्त

राजवार्तिक और तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य में वृत्त गणित पर निम्नाङ्कित नियम उपलब्ध हैं:—

(i) परिधि $= C = \sqrt{10d^2}$ $d =$ व्यास

(ii) क्षेत्रफल $= A = \frac{1}{4}cd$

(iii) जीवा $= C = \sqrt{4h(d-h)}$ $h =$ चाप की ऊँचाई

(iv) वृत्त खण्ड का चाप $= a = \sqrt{6h^2 + c^2}$

(v) $h = \frac{1}{2}(d - \sqrt{d^2 - c^2})$

(vi) व्यास $= d = \left(h^2 + \frac{c^2}{4}\right)/h$

$\pi = \sqrt{10}$ ऐसा मानने का जैन-शास्त्रों में काफी प्रचार है पर यह ग्रीस देशीय मान से प्रथम दशमलव बिन्दु तक मिलता है।

$$\left.\begin{aligned}\sqrt{10} &= 3.162\\ \pi &= 3.142\end{aligned}\right\}$$ तीन दशमलव बिन्दु तक

Relative error $= \frac{.02}{3.142} = \frac{20}{3142}$ जो काफी तुच्छ है।

परिधि के लिए $= \sqrt{10d^2} = d\sqrt{10}$ यह आधुनिक नियम के समान ही है। पर यह पता नहीं चलता कि इस निष्कर्ष पर जैन आचार्य कैसे पहुँच पाये। षट्खण्डागम में परिधि के लिए अधोलिखित नियम मिलता है:—

$$\text{परिधि} = \frac{\text{व्या०} \times १६ + १६}{११३} + ३ \text{ व्या०}$$

पर इस मान से और आधुनिक मान से काफी अन्तर पड़ता है। महावीराचार्य ने शायद इसी लिए इस नियम का व्यवहार अपने गणित-सार-संग्रह में नहीं किया है।

क्षेत्रफल के लिए तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में जो नियम मिलता है उसका उल्लेख लीलावती में भी है। इस रूप को πr^2 के रूप में लाया जा सकता है पर $\frac{1}{4}cd$ का ही व्यवहार धर्म-ग्रन्थों में मिलता है जबकि महावीराचार्य ने $\sqrt{10d}$ का व्यवहार किया है।

क्षेत्रफल के लिए त्रिलोक-सार (गाथा-७६२) में एक और नियम मिलता है। वह नियम यह है:—

$A = \frac{1}{2}(c + b)h.$

यह जीवा और चाप की ऊँचाई के शब्दों में है। उसी सूत्र में यह कहा गया है कि यही सूक्ष्म मान है और $\frac{1}{4}cd$ यह स्थूल मान है पर इस निष्कर्ष पर पहुँचने का क्या मार्ग है। यह वहाँ नहीं लिखा है।

Chord $= \sqrt{4h(d-h)}$ यह नियम आजकल भी प्रचलित है। जीवा के लिये त्रिलोक-सार (गाथा ७६६) में एक और नियम मिलता है : वह यह है,

जीवा $= \sqrt{arc^2 - 6h^2}$

साथ ही चाप[1] के लिए दो नियम उपलब्ध हैं,

(i) चाप $= \sqrt{6h^2 + c^2}$[2]

(ii) चाप$^2 = 4h\left(h + \frac{h}{2}\right)$

चाप के लिए पहले नियम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कल्पनाएँ की जा सकती हैं।

प्रथमतः शायद आचार्यों ने चापार्ध जीवा और चापार्ध में कोई अनुपात पाया हो, क्योंकि—

चापार्ध जीवा $= \sqrt{\frac{c^2}{4} + h^2}$

द्वितीय कल्पना यह हो सकती है,

अर्ध परिधि $= \sqrt{10}\,r = \sqrt{10r^2} = \sqrt{6r^2 + 4r^2}$

अर्ध परिधि में r = चाप की ऊँचाई और व्यास = जीवा पर चूंकि चापार्ध जीवा का वर्णन नहीं मिलता अतएव दूसरी कल्पना अधिक मान्य है। ऐसी हालत में जीवा का चाप और उसकी ऊँचाई के शब्दों में नियम ठीक है, पर स्वयं नियम (i) सही नहीं है। आजकल के हिसाब से चाप के लिए निम्नलिखित समीकरण मिलता है:—

चाप$^2 + F_1$ चाप $+ F_2 = o$,

जहाँ F_1 और F_2 h, c के फल (Function) हैं।

रही दूसरे नियम की बात। चाप की ऊँचाई और व्यास के शब्दों में चाप का यह रूप आजकल उपलब्ध नहीं है, बल्कि चतुर्घातीय समीकरण का रूप मिलता है[3]।

वृत्त खण्ड की ऊँचाई के लिए भी तीन नियम मिलते हैं:—

(i) $h = \frac{1}{2}\left(d - \sqrt{d^2 - c^2}\right)$

(ii) $h = \sqrt{\frac{a^2 - c^2}{6}}$

1—Heron (Greek) c, 200 के अनुसार $a = \sqrt{4h^2 + c^2} + \frac{h}{4}$ or $= \sqrt{4h^2 + c^2} + (\sqrt{4h^2 + c^2} - c)\ \frac{h}{c}$

२—लघु क्षेत्र समासः—इष्टवर्गे षड्गुणे जीवावर्गसंयुते मूलं भवति धनुः पृष्ठम्॥

3—arc $= \frac{8h - 2c}{3}$ when L = chord of half arc, 2c - chord $l = \sqrt{hd}$, $2c = \sqrt{4h(d-h)}$. सरल करने पर arc^4 का Expression मिलेगा।

(iii) $h = \sqrt{d^2 + \frac{1}{2}a^2} - d$ (त्रिलोक सार)

पहला नियम तत्त्वार्थाधिगम सूत्र और त्रिलोकसार तथा दूसरा नियम उमास्वाति के क्षेत्र-समास तथा त्रिलोकसार में मिलता है। दूसरे नियम के विषय में कुछ नहीं कहना है, पर पहला नियम आजकल का-सा है। अन्तर केवल इतना ही है कि करणी के पहले (+) चिन्ह भी होना चाहिए था। जैन आचार्यों ने, जैनेतर आचार्यों ने भी, यह नहीं ख्याल किया कि कोई जीवा वृत्त को दो हिस्से में बाँटती है। पहला नियम लीलावती में भी मिलता है। उपर्युक्त नियम महावीराचार्य के गणितसार संग्रह में भी मिलते हैं जो केवल गणित की पुस्तक है। स्थूल मान के लिए तो महावीराचार्य ने ६ के स्थान पर ५ का व्यवहार किया है।

व्यास के सम्बद्ध में भी दो नियम मिलते हैं।

(i) $d = \frac{c^2 + 4h^2}{4h}$ (तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, और त्रिलोकसार)

(ii) $d = \frac{1}{2}\left(\frac{a^2}{2h} - h\right)$

पहला नियम तो आजकल भी सही माना जाता है, पर दूसरा नियम ठीक नहीं उतरता।

त्रिलोकसार (गाथा १८) मे व्यासार्ध के बारे में एक समीकरण मिलता है, वह यह है।

$$\text{व्यासार्ध} = r = \frac{9}{16}S$$

r उस वृत्त का व्यासार्द्ध है जो S भुजीय वर्ग के बराबर है। अतएव $r = (\frac{16}{9})^2$

Sector की चर्चा कहीं नहीं मिलती।

Segment को धनु कहा गया है और उसके क्षेत्रफल के बारे में महावीराचार्य का नियम है:—

$$\text{क्षेत्रफल} = C \times \frac{h}{4} \times \sqrt{10}$$

यह नियम ठीक नहीं है। मालूम पड़ता है कि अर्धवृत्त के क्षेत्रफल के लिए ऐसा नियम लिखकर उसके सादृश्य से धनुष के क्षेत्रफल का ऐसा नियम महावीराचार्य ने लिखा है।

इसी सिलसिले में महावीराचार्य के ग्रन्थ में कितने अन्य क्षेत्रों का भी गणित मिलता है, जैसे तीन बराबर वृत्तों के, जो आपस में एक दूसरे को स्पर्श करते हैं उनके बीच का क्षेत्र। सम केन्द्रीय वृत्तों से घिरे क्षेत्र का भी गणित महावीराचार्य के संग्रह में है। इस विषय में महावीराचार्य ने दो नियम लिखे हैं जिनके सूत्र ये हैं:—

(i) $\frac{c_1 + c_2}{2} \times h,$

(ii) $\frac{c_1 + c_2}{6} \times h\sqrt{10}$

c_1 बाह्यवृत्त परिधि

c_2 अन्तःवृत्त परिधि

h चौड़ाई

पहला नियम उन्होंने स्थूल मान के सिलसिले में लिखा है जबकि सही मान यही है। क्योंकि

$$\frac{c_1 + c_2}{2} \times h = \frac{(2\pi r_1 + 2\pi r_2)}{2}(r_1 - r_2)$$

$$= \pi(r_1^2 - r_2^2)$$ जब r_1 = बाह्यवृत्त व्यासार्द्ध

r_2 = अन्तःवृत्त व्यासार्द्ध

दूसरा नियम भ्रामक भी हो सकता है। आचार्य को शायद यह ध्यान नहीं रहा हो कि $\sqrt{10}$ परिधि में स्थान पा चुका है।

आयतवृत्त (Ellipse) या परिमण्डल

महावीराचार्य ने आयत वृत्त का क्षेत्रफल $2ab + b^2$ लिखा है, जहाँ

a = Semimajor axis

b = Semiminor axis

और परिधि के लिए $4a + 2b$ रखा है, जबकि आधुनिक मत से

क्षेत्रफल = πab

महावीराचार्य के गणितसार संग्रह में और भी कई क्षेत्रों का गणित मिलता है, जैसे शंख मृदंग आदि। धर्म शास्त्रों में चूंकि इनकी परिमिति, क्षेत्रफल आदि की जरूरत पड़ती है, अतएव महावीराचार्य ने उनका वर्णन किया है। जैन शास्त्रों में न केवल द्विधा विस्तृत (Two dimensional) क्षेत्रों का बल्कि त्रिधाविस्तृत क्षेत्रों का वर्णन (उनका घनफल आदि का गणित) मिलता है; क्षेत्र उपर्युक्त दो प्रकार के होते हैं इसका स्पष्ट उल्लेख भगवती सूत्र और अनुयोग द्वार सूत्र में है। यहाँ इनकी संज्ञा क्रमशः प्रतर और घन है। अतएव—

घनत्र्यस्र = Triangular Pyramid

घन चतुरस्र = Cube

घनायत = Rectagular parallelopiped

घनवृत्त = Sphere

घन परिमंडल = Elliptic cylinder

धवला टीका में क्षेत्र गणित के सिलसिले में तीन प्रकार के मान का उल्लेख है:—

(i) सूच्याङ्गुल : Linear measure

(ii) प्रतराङ्गुल : Square measure

(iii) घनाङ्गुल : Cubic measures

इन सबकी चर्चा अगले लेख में की जायगी।

कविवर सूरचंद्र और उनका साहित्य

[ले०—श्रीयुत बा० अगरचन्द नाहटा, बीकानेर]

जैन साहित्याकाश में समय २ पर अनेक तेजस्वी नक्षत्रों का उदय हुआ, जिनके आविर्भाव से अंधेरी रात्रि में प्रकाश की किरणें फैली। प्राचीन इतिहास के तथाविध अन्वेषण के अभाव में हम उनकी गौरव गाथा भूल-से बैठे हैं। भ० महावीर के शासन में गत ढाई हजार वर्षों में हजारों प्रतिभासम्पन्न विद्वान हो गये हैं, जिनमें से कइयों ने तो अपनी वाणी द्वारा तत्कालीन जनता के ही नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया पर बहुत से ऐसे भी विद्वान् हुए जो हमारे लिये विशिष्ट साहित्य सम्पत्ति विरासत के रूप में छोड़ गये हैं जिससे आनेवाली जनता को भी प्रकाश व प्रेरणा मिलती रहे। खेद के साथ कहना पड़ता है कि उनके उत्तराधिकारियों ने जैसी चाहिये, उस साहित्य की सुरक्षा नहीं की। कुछ तो राजनैतिक व विषम परिस्थिति वश, कुछ हमारी उपेक्षावश बहुत से विशिष्ट कवि व उनकी रचनाएँ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं। आश्चर्य है कि इतने पर भी हमारी आँखें नहीं खुली। मध्यकालीन मुसलमानी साम्राज्य के समय में जबकि देश के अन्यधर्मावलम्बियों को बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ी, जैनों ने बड़ी दूरदर्शिता से अपने शिल्पस्थापत्य व साहित्य की अधिकाधिक रक्षा ही नहीं की पर उस विषम वातावरण में भी उसकी वृद्धि की। पर इधर सौ डेढ़ सौ वर्षों में (गत कई शताब्दियों में जो हानि उठानी पड़ी उससे भी अधिक) अज्ञानता उदासीनता व स्वार्थवश बहुत क्षति उठानी पड़ी। सैकड़ों अनमोल ग्रन्थ कूड़े करकट में डाल दिये गये, उतने ही वर्षा और सर्दी से चिपक कर नष्ट हो गये, दीमक आदि जन्तुओं ने भी उनके विनाश में कसर नहीं रखी, इधर उन रत्नों के महत्त्व को न जानने के कारण अति अल्प पैसों में उन्हें हलवाई, पसारी व फेरी वालों के हाथों में बेच डाले गये, जिन्होंने उन्हें फाड़ फाड़ कर पुड़ियाँ बांधी। कितने ही पत्रों को रद्दी समझ कूटे के काम में लेकर पटड़ी पूठे डब्बे-डाबड़े आदि चीजों के बनाने में काम ले लिये गये। संसार में विधर्मों व लुटेरों द्वारा इतने नहीं लूटे गये, जितने अपनी अज्ञानता, उदासीनता व तुच्छ स्वार्थ के कारण बरबाद हुए। इस प्रकार हजारों अनमोल रत्नों से हम हाथ धो बैठे।

अध्ययनशील व अन्वेषण प्रेमी विद्वानों से यह छिपा नहीं है कि सैकड़ों ग्रन्थों के रचे जाने का पता व उद्धरण हम परवर्ती ग्रन्थों में पाते हैं व पुरानी सूचियों में नाम मिलते हैं उनका वर्तमान भंडारों में अब कहीं पता ही नहीं चलता। कई ग्रन्थों की प्रतियां अधूरी व त्रुटित रूप में मिल रही हैं, पूरी नहीं मिलतीं। बहुत बार तो सखेद आश्चर्य होता है कि जिन ग्रन्थों की प्रतियाँ आज से पचीस, पचास या सौ दो सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थी, अब नहीं मिलती। श्रीमद् यशोविजय उपाध्या-

यादि जैसे विशिष्ट ग्रन्थकारों के बीसों ग्रन्थ इन २५० वर्षों में लुप्त हो गये व त्रुटित रूप से मिलते हैं[1]। कतिपय ग्रन्थों की प्रतियां तो अब भी विद्यमान होने की संभावना है पर जितने भी ज्ञान-भंडार बच पाये हैं उनकी भी जैसी चाहिये सार-संभाल नहीं है। कई संग्रहालयों के तो सूचीपत्र ही नहीं बने, कई व्यक्तिगत हैं जिन्हें देखने का भी किसीने कष्ट नहीं उठाया या अधिकारियों ने योग्य व्यक्तियों को देखने का मौका ही नहीं दिया। इसी प्रकार बहुत से स्थानों के भंडार अभी अज्ञात व्यवस्था में पड़े हैं कई प्रसिद्ध भंडारों में भी कई बंडल त्रुटित व फुटकर पत्रादि के बिना सूची के यों ही पड़े हैं जिनके अवलोकन से बहुत सी नवीन सामग्री व अलभ्य ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। जैन इतिहास की अनेक ज्ञातव्य बातें उन खंडहर व कूटलें में यों ही पड़ी रहती हैं। इधर २० वर्ष के अन्वेषण से इन पंक्तियों के लेखक का यही निजी अनुभव है। बीकानेर में ४०-५० हजार हस्तलिखित प्रतियों का महान् संग्रह होने पर भी २० वर्ष पूर्व जब हमने अन्वेषण का कार्य आरंभ किया था बड़ी ही अव्यवस्था थी। हमारी जानकारी में भी हजारों प्रतियां यहाँ से बाहर चली गई, हजारों कूड़े-करकट में पड़ी हुई पाई गई, कई संग्रहालयों के सूची-पत्र नहीं थे, कइयों के थे तो नाममात्र के। उस परिस्थिति से इन पंक्तियों के लेखक को बड़ा असन्तोष हुआ और कई वर्षों तक घोर परिश्रम करके ३० हजार प्रतियों की विवरणात्मक सूची बनाई। 'कूड़े' में पड़े हुए व कौड़ियों के मूल्य बिकने वाले ग्रन्थों का संग्रह किया गया। फलतः १५ हजार प्रतियों का संग्रह हो गया जिनमें सहस्राधिक ऐसे ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है, जिनके अस्तित्व का अन्यत्र कहीं भी पता नहीं चलता। विभिन्न ग्रन्थों व लेखों में जिनका परिचय समय २ पर करवाया जा रहा है वे सैकड़ों ग्रन्थों का विवरण (आदिअंत सहित परिचय) लिखा हुआ तैयार है जिनके प्रकाशन की व्यवस्था चालू है। हमारे गौरवपूर्ण साहित्य के अन्वेषण के प्रति विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के लिये प्रासंगिक रूप में थोड़ा सा निवेदन कर देने के अनन्तर अपने मूल विषय पर आता हूँ।

सत्रहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध श्रावक कवि ऋषभदास ने अपने पूर्ववर्ती व समकालीन कवियों का उल्लेख करते हुए "सुसाधु हंस समयो सूरचंद" शब्दों द्वारा सूरचंद नामक महाकवि का स्मरण किया है। स्व० मोहनलाल दलीचंद देसाई ने सूरचंद शब्द के टिप्पण में लिखा[2] था कि—

"सूरचंद—आ नाम ना कविनी कोई कृति प्राप्त थती नथी सूरहंस नामनो कवि छे जुआ एज० (जै० गु० क०) पृ० १३२, सूरचंद एटले देवचंद एम होय तो देवचंद्र ऋषभदास ना समकालीन हता जुओ एजन् पृ० ५७६—८१"

देसाई जी का उपर्युक्त निर्देश संतोषप्रद नहीं लगने व खरतर गच्छीय सूरचंद के उसी समय

१ जैन स्तोत्र संदोह भा० १ प्रस्तावना पृ० ६८

२ आनंद काव्यमहोदधि भा० ८ पृ० ६९ (कवि परिचय में)

में होने से हमने ऋषभदास उल्लिखित सूरचंद के ही सूरचंद्र होना संभव है ऐसा अनुमान अपने युगप्रधान श्री जिनचंद्रसूरि ग्रन्थ में किया था पर उनकी कृतियाँ प्रचुर संख्या में न मिलने से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता—यह भी सूचित कर दिया गया था। इधर कुछ वर्षों के अन्वेषण द्वारा सूरचंद्र की कतिपय रचनाएँ और मिलीं। संख्या में अधिक न होने पर भी वे सभी विशिष्ट होने से उक्त संभावना को पुष्टि मिली है अतः प्राप्त रचनाओं का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

कवि-परिचय

कवि के जन्म स्थान, संवत्, माता-पिता व वंश के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं है। प्राप्त रचनाओं में शृंगार रसमाला सं० १६५९ की होने से व उसकी भाषा राजस्थानी होने से आपका जन्म एवं दीक्षा का समय १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध व जन्मस्थान मारवाड़ ज्ञात होता है। गुरुवंश-परम्परा कवि के जैनतत्वसारानुसार इस प्रकार है—
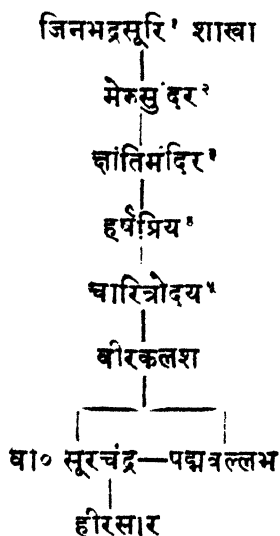
१ कविवर सूरचंद्र ने यद्यपि जिनभद्रसूरि से अपना (शाखा रूप) सम्बन्ध स्थापित किया है पर अन्य साधनों से वे जिनदत्तसूरि शाखा के ज्ञात होते हैं। जिनभद्रसूरि के समय में तो मेरुसुंदर के गुरु रत्नमूर्त्ति जी के गुरु वा० शीलचंद्र जी थे जिन्होंने जिनभद्रसूरि जी को आगमादि का अध्ययन करवाया था। देखें—हमारा युगप्रधान जिनदत्तसूरि ग्रन्थ पृ० ६९

२ आप बड़े अच्छे बालावबोध-भाषा टीकाओं के रचयिता थे। देखें हमारा उक्त जिनदत्तसूरि ग्रन्थ पृ० ७०

३ जैन तत्वसार के तीनों संस्करणों (गुजराती) हिन्दी व स्वोपज्ञ टीका वाले, में कवि का वंशवृक्ष देते हुए शांतिमंदिर जी का नाम विशेषण समझ कर छोड़ दिया है यह अनुकरणजनित भूल ही प्रतीत होती है हर्षप्रिय जी ने शील-इकतीसी में इन्हें अपना गुरु लिखा है:—

"श्री शान्तिमंदिर गुरु प्रसादइ, हर्षप्रिय पाठक भगत ॥३१॥"

कवि की प्राप्त रचनाओं में चातुर्मासिक व्याख्यान भाषा का रचनाकाल जैन-गूर्जर-कविओ भाग ३ पृ० १६०६ के अनुसार सं० १६६४ है यदि यह संवत् प्रति लेखन का न होकर ठीक ग्रंथ निर्माण का ही है तो यह कवि की प्राप्त कृतियों में अन्तिम कही जा सकती है।

शिष्य-परिवार

कवि ने अपने शिष्य हीरसार का उल्लेख सं० १६७९ में रचित जैनतत्त्वसार में किया है। अन्य शिष्य हीर उदय प्रमोद रचित चित्रसंभूति चौढालिया (सं० १७१६ जेसलमेर में रचित) उपलब्ध है।

रचनाएँ

संस्कृत—

१ जैनतत्त्वसार सटीक—(ग्रं० ४१००) रचनाकाल सं० १६७९ आश्विन शुक्ला १५ बुधवार के दिन अमरसर[1] में पद्मवल्लभ के सहाय्य से रचित है। यह ग्रंथ अपने नामके अनुसार जैन तत्त्वों के सार को बड़ी खूबी के साथ स्पष्ट करता है[2]।

---

४ आपके रचित शाश्वत सर्व जिन पंचाशिका गा० ५२ (र०सं० १५७४ खंभात) तथा शोलहकरीसो (प्रारंभ के कई पद अप्राप्त) हमारे संग्रह में उपलब्ध हैं।

५ जैन तत्त्वसार के गुजराती एवं सटीक संस्करण में हर्षप्रिय से हर्ष और प्रिय नामक दो व्यक्ति तथा चारित्र उदय शब्द से चारित्र और उदय दो भिन्न व्यक्ति होना माना है पर वास्तव में हर्षप्रिय और चारित्रोदय एक-एक व्यक्ति का ही नाम है।

१ ग्रन्थ के रचनास्थल अमरसर को श्री कान्तिविजय जी महाराज ने पंजाबवर्ती अमृतसर बतलाया था, पर वह ठीक नहीं था। अतः हमने अमरसर स्थान के निर्णयरूप एक लेख जैन सत्य प्रकाश में प्रकाशित किया जिसके अनुसार अमरसर पंजाब का अमृतसर न होकर शेखावाटी का अमरसर निश्चित किया था।

२ ग्रंथ की अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार किसी शैवमतानुयायी के जीव और कर्म के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर उत्तर रूप में इस ग्रंथ की रचना हुई है। विद्वान ग्रंथकार ने इस ग्रंथ का—

अपर नाम या विशेषण जीव कर्म विचार एवं सूरचंद्र मन स्थिरीकार दिया है। ग्रन्थ में प्रश्नोत्तर के रूप में बड़े सरल एवं सुंदर ढंग से जीव कर्म सम्बंध, ईश्वरकर्तृत्व, प्रतिमापूजनादि पर विचार किया है प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता के सम्बंध में ग्रन्थ सम्पादकों ने लिखा है:—

"उपरोक्त ग्रंथ भी छिपे हुए रत्नों में से एक है उसका जितना ज्यादा प्रचार उतना ही तत्वज्ञान का ज्यादा प्रचार यह निर्विवाद है। (हिंदी आवृति)

'आ ग्रंथ मां कर्त्ताए पोताना अनुभव ना व्यवहारु दृष्टांतो एटला बधा आप्या छे के तेथी तेमनी अप्रतिम व्यवहार दक्षता सिद्ध थाय छे। आवा व्यवहारु दृष्टांत अन्यत्र जोवामां आवता न थी।

प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्धि सं० १९६३ में प्र० कांतिविजय जी को हुई थी आपकी प्रेरणा से वैद्यराज मगनलाल चुन्नीलाल के गुजराती अनुवाद सह जैन आत्मानंद सभा, भावनगर से सं० १९६६ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ तदनंतर जिनदत्तसूरि ब्रह्मचर्याश्रम पालीताना से गुजराती अनुवाद की २ आवृत्तियाँ व हिंदी की एक आवृत्ति प्रकाशित हो चुकी हैं।

सं० १९९७ में श्री वर्द्धमान सत्य नीति हर्षसूरि जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद से इसका सटीक संस्करण प्रकाशित हुआ है।

२ **पञ्चतीर्थ स्तव**—यह रचना बहुत ही कवित्व एवं विद्वत्तापूर्ण है। स्थानीय बृहत् ज्ञानभंडार में इसकी अपूर्ण प्रति प्राप्त है जिसमें प्रथम ऋषभदेव स्तव-रूपकालंकारमय २३ श्लोकों में, फिर वर्द्धमान स्तव (पंचम) चित्रालंकार मय ६७ पद्यों में है। तृतीय श्रीपार्श्वनाथ स्तव के ३ पद्य, प्रति के ६ वें पत्र में लिखे जाने के पश्चात् आगे के पत्र न मिलने से कृति अपूर्ण रह गयी है। पाठकों से अनुरोध कि कहीं इस महत्वपूर्ण काव्य की पूर्ण प्रति मिले तो हमें अवश्य सूचित करें।

आदिः—

॥६०॥ श्रीमद्विघ्नच्छिदे नमः ॥अर्हम्॥

लक्ष्मी लक्ष्मोपलक्ष्यान् विदलितदुरितांवपंचतीर्थ्यामपादान्
नत्वा तत्वाभिसत्त्वान् सुभगयुगवरान् जैनचंद्रान् वितन्द्रान्
कुर्व्वे तेषामपूर्व्वगुणकणभणनं लेशतोऽहं यथाचिन्
येषामेवातिशेषान् सुगम कतिपयालंकृति श्लेषचित्रैः ॥१॥

अन्तः—

एवं नाभि सुतः स्तुतः कृतिनतः कुर्याच्छ्रियो रूपका—
लंकारैः सुखकार एष सततं शत्रुंजयालङ्कृतिः
चारित्रोदय वाचकानुगतिना श्री पंचतीर्थीस्तवः।
प्रस्तावे वर वीरकुम्भगणिना शिष्येण सूरेन्दुना ॥२३॥

इति पंचतीर्थीस्तव प्रस्तावे श्रीमरुदेव स्तवः सम्पूर्णः, अलंकाराधिकारे रूपकालंकारेण केश-वेशवर्णन इति। श्रीरस्तुः ॥ [पत्र ३]

द्वितीय चित्राधिकार प्रस्ताव

आदि—यत्पादद्वैतभक्तः समलभत फलस्वीयजात्याधिपत्यं
नित्यं सिंहोभियाख्या पतित इति यतोऽष्टापदस्यांघ्रिमूर्त्तिः
अन्यूनं न्यूनमेपोतिदधनुपमं स्थामजेतामपि ध्या-
त्वा तं स्तोमि भक्तोपकृति कृत रसं वर्द्धमानं सु चित्रैः ॥१॥

बीच में काव्य एक व्यंजन, द्विव्यंजन, त्रिव्यंजन, चतुर्व्यंजन, कंठ्यव्यंजन, तालव्यंजन, मूर्द्धन्य-व्यंजनं, दन्त्यव्यंजन, ओष्ठव्यंजनं, स्पर्शव्यंजन, अंतस्थव्यंजन, ऊष्मव्यंजन, त्यक्तवर्ग्य-व्यञ्जन, गोमूत्रकाद्वयं, गोमूत्रिकाविशेषचित्रं, अष्टदलकमलयमलम्, खड्गाधिबन्धचित्रम्, अष्टारकचक्रबंधचित्रम्, नागपाशबंधमंथानकचतुर्दलकमलचित्रम, वलयाकार चित्रमस्यैकस्य काव्यस्य द्वात्रिंशत्काव्यानि जायते, येन पल्लयंकबंधचित्रम्, चाटितबाणधनुर्बधचित्रम्, मुरज-बन्धचित्रम्, अर्द्धभ्रमचित्रम्, सर्वतोभद्रचित्रम्, तुरगपदचित्रं, द्वितीयमुरजबंधभेदकोष्टकसम-पंक्तिवर्णः, मुरजबन्धविशेषचित्रम्, पादगदतप्रत्यागतम्, अर्द्धगतप्रत्यागतं, सर्वगतप्रत्यागत,

मात्राच्युतक व्यंजनच्युते, अनुस्वारच्युतकः, वर्णच्युतकः, नंदिनीछंद, खाचए, क्रियाद्वयगूढं, प्रतिपादक्रियागूढं, कर्तृकर्मगूढं, करणसम्प्रदानगूढं, आदानसंबन्धगूढ, अधिकरणगूढ, पूर्ण-क्रियाआमंत्रणादगूढं, पूर्वार्द्धं च पूर्वार्द्ध गूढअनंतरपूर्व श्लोकद्वयपूर्वकेणादि, पूर्व क्रियादीपमेव लुना पूर्वश्लोक पूर्व क्रियादेनात्वपूर्णक्रियादगुन, पूर्वश्लोकागूढं, श्लोकद्वयंगूढ, पंचचामर छंदो बद्धे सरलपाठनैव श्लोकद्वये गूढं, पदादी, संख्यागूढं तत्रमूलं चतुःषष्टि शेषाश्चत्वारः, संख्यागूढं तत्र नयति मूलं शेषा एकविंशति—

अन्तः—

एवं चित्रभृतैः स्तुतोस्तु सुखदः श्रीपंचतीर्थीस्तवः
प्रस्तावेऽजिनवर्द्धमानवृषभो भक्तांगिनां यो मया
चारित्रोदयशिष्यवीरकलशानां शैक्षकेणार्म्मा
चोर्णाभृत्कमलक्षशिक्षित नतिर्यः सूरचन्द्रर्षिणा ॥६७॥

इति श्री पंचतीर्थीस्तवप्रस्तावे श्रीवर्द्धमान स्तवः पंचमः इति चित्राधिकारः।

इसके पश्चात् ३ पद्य और हैं जिनमें से पहले में फलवर्द्धि पार्श्व स्तव है फिर प्रति अपूर्ण होने से त्रुटित है। प्रस्तुतः प्रति बीकानेर के बृहद्ज्ञानभंडार के श्री महिमाभक्ति भण्डार में है। प्रति तत्कालीन सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई है जिसकी पत्र संख्या ६ है। प्रत्येक पृष्ठ में ११ पंक्तियाँ एवं प्रति पंक्ति में ४८ के लगभग अक्षर हैं। हासिये में कहीं २ संस्कृत टिप्पण पर्याय लिखे हुए हैं।

३ **अजित शांति स्तव**—१४ पद्यात्मक अजितनाथ स्तव के अंतर्गत अनुष्टुप छंद के १३ वृत्तों में श्री शांतिनाथ स्तव गर्भित है जो अपना रचना कौशल और अप्रतिम वैशिष्ट्य रखती है प्रस्तुत कृति इसके परिशिष्ट में दे दी गयी है।

४ **अष्टार्थी श्लोकवृत्ति**—३२ व्यंजनाक्षर वाले एक श्लोक के ८ अर्थ वाली प्रस्तुत वृत्ति की रचना सं० १६७७ में श्री फलवर्द्धि पार्श्वनाथ के प्रसाद से की है। इसकी प्रतिलिपि बड़े उपाश्रय में तथा एक प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है।

५ **पंचवर्ग परिहार-स्तव सटीक**—इसकी प्रति जीरा के भण्डार में प्राप्त है।

राजस्थानी भाषा—

१ **जिनसिंहसूरि रास**—६५ पद्यवाले प्रस्तुत रास में जिनसिंहसूरि का प्रारम्भ से आचार्य पदोत्सव तक का परिचय है। इसकी प्रति सं० १६६८ में लिखित उपलब्ध होने से रचना (सं० १६५० से ६८ के मध्य की) इससे पूर्व की सुनिश्चित है।

२ **श्रृंगार रसमाला**—गा० ४१ सं० १६५९ वैशाखसुदि ३ को नागौर में रचित है।

३ **वर्ष फलाफल ज्योतिष सभाय गा० ३६**

४ जिनदत्तसूरि गीत—१७ पद्यों में गुरुदेव की सुन्दर शब्दों में स्तवना की गयी है। हमारे यु० जिनदत्तसूरि ग्रंथ के परिशिष्ट में यह प्रकाशित है।

५ फलौधी पार्श्वस्तवन गा० ५

गद्य ग्रन्थ---

१ चौमासी व्याख्यान—इसकी प्रति स्थानीय श्रीजयचन्द्रजी यति के भण्डार में भी है पर उसमें रचनाकाल नहीं दिया गया है जब कि स्व० देसाई के जैन गु० क० भा० ३ पृ० १६०६ में सं० १६६४ लिखा है। मेरे ख्याल में उक्त समय प्रति के लेखन का संभव है पर निश्चित तो प्रति के अवलोकन से ही कहा जा सकता है।

श्रीअजितशान्तिस्तवनम्

विश्वप्रभुसेनमहीसनाथं सुवंशजं पंकजडस्त्वहारं।
श्रीभास्करं श्रीअजितं च भूयः आनंदकंदं त्वं चिरे णतार्यं ॥१॥
जनाशुधीशं करमंशुकांतिः वंदे महाशान्तिमहं सदा यं
सुरासुरद्मावनराद्यधीशः संसेवितं श्रीसुमनः प्रभुं च ॥२॥युग्मम्
वर्ण्यस्वर्णसवर्णरुक् समगुणक्षेत्रं रसारम्यको।
जन्मानंतसमुद्रसज्जतरणिः सारंगरंगाकरः ॥
दुःकर्मालिरिपुप्रवारकतमः संहारताकारिक—
स्त्राणं मां करुणास्पदं ह्यजितराट् सूरोवतात्तामसात् ॥३॥
मिथ्यात्वद्रुमभंगवारणनिभं रंगेणभव्यप्रदं।
सन्नित्यं सुखभंगिभद्रविनिकाद्यं संनुतं संततं ॥युग्मम्
मोहाद्रिस्वरूकं शिवं स्वरनिभच्छेदक्षमं वज्रसात्
दंताभोगविधिं वरं नमः नमः श्रीबन्धुरं चाजितम् ॥४॥
नैश्वप्राधान्य सेद्धः सुगुणनिकरखानिर्जिनोनंदि विद्यां
सच्छ्रीशान्तिः सलीलः सदुपशमधनीनालयः पात्वपायात्
सद्ध्यानो हर्षकारः समगुणवसतिर्व्वर्जिता ज्ञानभारो—
नुन्न क्रोधारिवर्गः प्रदितभवनिवासाकरः श्रीजिनेशः ॥५॥
अच्छाच्छात्मा चिराच प्रथितमहिसमाख्योत्करः सादरोघो-
दारं स्कन्नोदरीशोतिदरकरिहरीशोदशाश्वप्रचार
मंदारद्रुप्रमल्लिस्मितसुमेकलिकाजातिमुख्यैपयोजैः
श्रीदेवाः पूजयंति प्रजितगदमदसुक्रमः सोस्तु लक्ष्म्यैः ॥६॥

ध्यातो देवाधिपैः ससदयहृदयधरोदामसो व्याधिवारा
द्विश्वप्रष्टोरसेनोधनदनुजनृपांच्योहि योगप्रराजं
यस्य ध्यानात्समेत्र क्षयमहितगणायांति रोगालिनाशी—
दुष्टा स्तादर्या दिवोग्रागरलवदुरगाः सोऽचिरात्यातुनंदी ॥७॥

दक्षोभास्वन्मनः पा अतुलबलकलेयुद्धमुक्तः सशुष्मा—
भव्यान् भद्रैकपात्रं गतभवभयौघ प्रगाढः ससातः
श्रेयः श्रेयसुकेलीसदनुपमनिवासानुकारो विभोगो-
रदयात्प्राणी गुणीश कमलमुखकला शोचनः सोऽजितेशः ॥८॥

नित्यं सच्चन्द्रचंगोद्रिरिपु नतपदः का महाचन्द्रकायः
सर्वभद्रं सुकीर्त्तिः करिकरसुकरो रातुशंकृज्जनानां
विद्याशालब्धिकारः समय नय धनोमानरिक्तोल्लमारः
प्राज्योजो मारकोग्रयो मुनिजनसुमनः पुंगवः शान्तिदोऽसौ ॥६॥

नृणां नाथो जिनोर्च्यो दलितकलिमलः साधु जीयाच्चिरं यो
गोप्ता विश्वस्य सार्वस्त्रिजगदवनकृज्जन्मनानाधिर्नाशी
निः संतापः सशोभ्रशमयमनिरतो हे सवर्णाभ देहो
वर्यः पापं हरोतीह भुविकृततनूमन्मतोघो नितांतः ॥१०॥

अंहो निस्तारको सा वयद इह भवांभोधितो लब्धसंधेः
स्फूर्जत्सम्पत्तिकार्युद्धरतु भविजनान् कामरूपोजितेशः
साधु प्रापयव्ज बोध प्रियतरतरणिः सारणिः सारसंपद्
वल्ली वृद्धौ समंताज्जितरव जलधिः सेवधिः सौख्यराशेः ॥११॥

सातत्यं पाहि पाहि प्रवर गुणजिनाधीशसंसारवार्द्धि
मध्यान्तिः शोव्यनेतः प्रभव विसरहासत्स्मरप्राणहंतः
संसक्तयुग्मदंहिप्रवरजलरुहापातिन मां जिनेश
सौभाग्यप्रष्टभाग्यप्रथनदतमसां संहरापन्नपापः ॥१२॥

कल्याणप्रत्यकायछविरशुभहरः संततं विग्रहछित्
सौवीवाचं प्रयच्छः प्रशमतवीकरी त्वं जनाधारदेवः
नित्यं सं प्रार्थयेह जयनिचय करांशुप्रभो हि ध्रुवं मे
एतद्बंध शान्ति प्रदगत क जिनेशोतिदायं व प्राप्तः ॥१३॥

एवं स प्रातु वो वांछितमिह नियतं सर्वदा सूरचन्द्रो
जा विश्वेशोतुनावभ सविनयनयं सोवभक्तप्रभुयं
सश्रेयाः श्रेयसे षडविधुमितभगवत्स्तोत्रमिश्रस्तवेन
श्री चारित्रोदयां हृदयकंज मधुक्रत सूरचंद्रो वशीशः ॥१४॥

इति श्रीखरतरगच्छेश श्री जिनभद्रसूरिसंतानीय श्रीचारित्रोदय वाचकशिष्यसूरचंद्रवाचकरचित श्रीशान्तिनाथत्रयोदशश्लोकबद्धस्तवगर्भित श्रीअजितजिनराजस्तवः किष्किन्धायां कृतमिदम् ।

उपर्युक्त स्तोत्र के अन्तर्गत निम्न चिन्हित अक्षर-वाक्यों को जोड़ने से श्री शान्तिनाथ स्तवन होता है। जो यहां दिया है:—

श्री शान्तिनाथ स्तव

विश्वसेन महीनाथं, वंशपंकजभास्करं
आचिरेयं जनाधीशं वन्दे शान्तिमहं सदा ॥१॥
सुरासुरनराधीशः सेवितं सुमनः प्रभु
स्वर्णवर्णसमच्छेत्रं साम्य सदृश सागरम् ॥२॥
कर्मारिवारसंहारकारिणं करुणास्पदं
मिथ्यात्वद्रुमभंगेभ सन्निभं भविकानुतः ॥३॥ युग्मम्
मोहाद्रिशिखरच्छेद वज्रभोगिवंबन्धुरं
नैश्वसेनिर्जिनो नंद्याच्छ्रीशान्तिसमतालयः ॥४॥
पापायासहरः सर्व्वज्ञानभानुदिवाकरः
अचिराख्योदरोदारं दरोदरहरीश्वरः ॥५॥
मंदारमल्लिकाजातिपयोजैः पूजितक्रमः
देवाधिपैः सदा सेव्याद्विश्वसेननृपाङ्गजं ॥६॥
यस्य ध्यान्तत्क्षमे यांति रोगास्ताद्यांदिवोरगाः
सोऽचिरा नंदनः पातु युष्मान् भवभयोघतः ॥७॥
श्रेयः केलिनिवासाभो गुणांकमललोचनः
सच्चन्द्रचन्द्रिकाचंद्र समकान्ति करोतु शं ॥८॥
विशालनयनो मारमारको मुनिपुंगवः
शान्तिनाथो जिनो जीयाच्चिरंजगज्जनाधिपः ॥९॥
शीघ्रं शमय हे देव पापं भुवि तनूभृतां
निस्तारयभवांभोधेः स्फूर्जत्सम्पत्तिकारकः ॥१०॥

पाहि पाहि जिनाधीशसंसारवार्द्धिमध्यतः
भवत्स्मरणसंसक्तं युष्मदं हि प्रपाति न ॥११॥
सौभाग्यभाग्यसम्पन्न कल्याणछविविग्रहः
वाचंयम जनाधार नित्यं जय प्रभो ध्रुवं ॥१२॥
एवं शांतिजिनेशो यं पातु वो वांछितं सदा
सूरचन्द्रो तुनावाभ यं सोवश्रेयसेत्वशी ॥१३॥

रूप और कर्म — एक तुलनात्मक वैज्ञानिक विवेचन ।

[लेखक :—श्रीयुत अनन्त प्रसाद जैन B. Sc. (Eng.)]

विजलीवाले यन्त्र भिन्न भिन्न कार्य अपनी बनावट की विभिन्नता, छोटाई-बड़ाई, रूप, आकार, अंदरूनी अंग प्रत्यंग का गठन एवं हर एक छोटे-मोटे विभेद के अनुसार ही संपादन करते हैं। विद्युत शक्ति या बिजली का प्रवाह सब में एक ही तरह का होता है। केवल बनावट की विभिन्नता के कारण ही कार्य, असर एवं व्यवहार अलग-अलग विभिन्नता लिए हुए होते हैं। हर एक मौलेक्यूल (molecule) का गुण, असर प्रकृति या प्रभाव सब कुछ उसकी आंतरिक संगठन एवं बनावट के ऊपर निर्भर करते हैं। किसी भी वस्तु के किसी मौलीक्यूल के अंदर इलेक्ट्रन (electron), प्रोटन (Proton) और न्यूट्रन (Neutron) परमाणुओं की कमवेश संख्या एवं पारस्परिक मिलावट, स्थिति, मेल अथवा संगठन एक विशेष निश्चित रूप में ही होते हैं। इनमें से किसी एक में भी फर्क पड़ जाने से या जरा भी इधर उधर होने से उस मौलेक्यूल के गुण असर, और प्रकृति सब में तबदीली आजाती है। वह मौलीक्यूल उस वस्तु का मौलीक्यूल न रह कर दूसरी वस्तु के मौलीक्यूल में परिवर्तित हो जाता है। मौलीक्यूल का परिवर्तन होना वस्तु का परिवर्तन होना ही है। किसी वस्तु का वाह्याकार मौलीक्यूलों का एक महान समुदाय, संगठन या एकत्रीकरण है। मौलीक्यूल ही किसी वस्तु का छोटा से छोटा वह अविभाज्य भाग है, जिसमें वस्तु के सारे गुण पूर्णरूप से विद्यमान रहते हैं। ये छोटे छोटे मौलीक्यूल मिलकर पिण्डरूप हो किसी वस्तु का और उसके रूप का निर्माण करते हैं। मौलीक्यूल को जैन शास्त्रों में "वर्गणा" नाम दिया गया है। मौलीक्यूलों को ही गुण और प्रभाव के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित करने से "वर्गणा" कहा गया है। एटम (मूलस्कंध, या मूलसंघ Atom) भी एक प्रारंभिक प्रकार की वर्गणा ही है। इलेक्ट्रन, प्रोटन और न्यूट्रन इत्यादि का जो एटम या मौलीक्यूल का सृजन या निर्माण करते हैं उन्हें हम अंगरेजी में "electric particles" और हिन्दी में "विद्युतकण" कह सकते हैं। इन्हीं विद्युतकणों को "परमाणु" भी कहते हैं और जैन शास्त्रों में इनका एकमात्र नाम "पुद्गल" रखा गया है। इन "पुद्गलों" के मिलने से "वर्गणाएँ" बनती हैं। एक वर्गणा के अन्दर विभिन्न पुद्गलों की संख्या, उनका स्थान, उनकी आपसी दूरी एवं संगठन आदि सब कुछ निश्चित होता है। इन्हीं की सामनता के ऊपर वस्तुओं के गुणों की समानता एवं विषमता के ऊपर वस्तुओं की विषमता निर्भर रहती है। किसी भी वर्गणा के अन्दर किसी भी उपरोक्त कथित ब्योरों में किसी एक में भी जरा भी हेर फेर होने से वर्गणा में

परिवर्तन होकर उसके गुण, प्रभाव, रूप, प्रकृति (properties, characteristics and nature) सब में परिवर्तन हो जाता है और वस्तु बदल कर दूसरी वस्तु हो जाती है। यह बात, स्थिति और क्रम आधुनिक रसायन विज्ञान (chemistry) द्वारा पूर्णरूप से सिद्ध, स्थापित एवं निदर्शित हो चुकी है एवं रोज ही व्यवहार तथा क्रिया-प्रक्रियाओं में देखने में आती है।

हर एक क्रिस्टलके रूप, गुण वगैरह उनकी वर्गणाओं की बनावट के ऊपर ही निर्भर करते हैं। क्रिस्टल ही क्यों, संसार की सारी वस्तुओं के रूप और गुणादिक की विभिन्नता का कारण भी उनकी बनानेवाले मौलीक्यूलों—वर्गणाओं की बनावट की विभिन्नता ही है। संसार में जितने प्रकार, किस्म या तरह की वस्तुएँ हैं उतनी ही संख्या वर्गणाओं के प्रकारों की भी हैं। ये असंख्य, अनगणित और अनंत हैं।

किसी भी जीव का शरीर अनंत प्रकार की वर्गणाओं की अनंतानंत संख्याओं का सम्मिलित संगठन या समुदाय या संघ है। मानव का शरीर तो सबसे अधिक विचित्र होने से इसको बनाने वाली "वर्गणाओं" (classified molecules) की विविधता सबसे अधिक और संख्यातीत है। किसी वस्तु की आन्तरिक बनावट के ऊपर ही उसका रूप, गुण और चाल-चलन निर्भर रहता है। मनुष्य शरीर के लिए भी यह बात उतनी ही दृढ़ता एवं सत्यता के साथ लागू है जितनी कि किसी दूसरी बेजान वस्तु (chemical substance) के साथ। बिजली के यन्त्रों का जिक्र ऊपर किया गया है। स्टील या भाप से चलने वाले यन्त्रों और मशीनों के साथ भी यही बात है। यदि किसी पानी से भरे घड़े में एक छोटा छेद किया जाय तो पानी पतली धार में एक छेद से ही निकलेगा। छेद यदि बड़ा कर दिया जाय तो धार मोटी हो जायगी और यदि कई छेद कर दिए जायं तो उनके अनुसार ही मोटी पतली पानी की धाराएं उतनी ही संख्या में निकलेंगी। किसी छेद में ऐसी "टोंटी" लगादें जिसमें टेढ़ी या दूर तक जाने वाली या किसी भी दूसरी तरह की धारा जैसी चाहें निकलती हो तो यह उस टोंटी की बनावट और घड़े में युक्त करने के तरीके के ऊपर निर्भर करती है, इत्यादि। यदि एक मनुष्य को किसी जानवर की खाल में इस तरह बन्द कर दिया जाय कि उसके हाथ पैर खाल के हाथ पैर की जगहों में हों तो उस मनुष्य की चाल-अपनी न रह कर उस जानवर की चाल की ही समानता करेगी, जिसकी खाल होगी। एक बैल का शरीर ऐसा है कि सजीव होने पर वह एक खास तरह के ही कर्म कर सकता है, दूसरे तरह के नहीं। यही बात दूसरे जानवरों या जीवों के साथ भी है। एक पक्षी के पंख यदि कमजोर हैं तो वह अधिक नहीं उड़ सकता है। जिस व्यक्ति की बाहें मजबूत होंगी वह अधिक बोझ उठा सकता है बनिस्बत उस मनुष्य के जिसकी बाहें कमजोर होंगी। मनुष्य की हरएक शारीरिक क्रिया उसके अवयवों की बनावट के उपर ही निर्भर करती है। जिस अवयव या अंग या भाग का जैसा संगठन होगा उस अवयव द्वारा उसी अनुसार कार्य होगा। एक लंगड़े से किसी शुद्ध पैर वाले के समान

सीधा चलना नहीं हो सकता। जिस अंग में कमी होगी उसका असर उस अंग के संचालन और क्रिया कलाप पर पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होगा। ये अंग क्या हैं? ये सभी "वर्गणाओं" के समूह द्वारा ही निर्मित हैं—वर्गणाओं का संगठन जैसा हुआ इनकी बनावट, रूप और गुण-कर्म में भी वैसी ही विशेषता आगई। यह बात अन्यथा कैसे हो सकती है? कमजोरपना या सशक्तपना इत्यादि भी वर्गणाओं की बनावट के अनुसार ही होते हैं, कम-बेश या जैसे भी हों। यहां तो केवल दो एक जानवरों का दृष्टान्त दिया—किसी भी जीवधारी का शरीर उसको क्रियाओं और चाल-ढाल (movements) को सीमित कर देता है। एक और उदाहरण लीजिए—थोड़ी देर के लिए यदि मान लिया जाय कि किसी घोड़े के मुर्दे शरीर में किसी मानव की आत्मा का संचार किसी प्रकार कर दिया गया-तो क्या वह पुनः जी उठने पर घोड़े के कार्य या कर्म ही करेगा कि मनुष्य के? उत्तर एकदम सीधा है कि उसके शरीर की बनावट और गठन ही ऐसे हैं कि वह मानवोचित कुछ कर ही नहीं सकता, उससे तो केवल घोड़े के ही कर्म होंगे। यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि जो मनुष्य जीव उस में घुसा उसका मन एवं बुद्धि भी ज्यों की त्यों है तब भी केवल समझदारी में कुछ विशेषता आ सकती है पर अंगों का हलन-चलन या उनसे होने वाले काम तो वे ही होंगे जो उस घोड़े के शरीर द्वारा संभव हैं। यही उदाहरण एक कुत्ते, बिल्ली, किसी पक्षी, छोटे कीट पतंग या पेड़ पौधे सभी के साथ इसी तरह उपयुक्त रूप में उनकी गतियों की सीमा को, समान शक्ति वाली आत्मा के होते हुए भी शरीर की बनावट द्वारा ही सीमित और बंधी हुई सिद्ध करता है।

मनुष्य शरीर में भी अवयवों की बनावट तथा मन, बुद्धि इत्यादि की वर्गणा-निर्मित रूपरेखा के ऊपर ही किसी भी व्यक्ति के कार्य संपादन की शक्ति, योग्यता, क्षमता एवं तौर-तरीका या उस अवयव और अंगोपांग के हलन-चलन निर्भर करते हैं। किन्हीं भी दो व्यक्ति की भीतरी या बाहरी समानता उनकी वर्गणाओं के संगठन की सामानता के कारण ही है। कोई दो मानव जितने जितने एक दूसरे के समान होंगे उनकी हरएक बातें, कार्य-कलाप, आचार व्यवहार इत्यादि सब उसी परिमाण में समान या असमान होंगे। बाहरी रूप और आकृति अंदरूनी बनावटों से भिन्न नहीं। सब एक दूसरे के फलस्वरूप एक दूसरे में "गुण-गुणी" की तरह एक हैं। इसमें अपवाद (exception) की गुंजाइश नहीं। प्रकृति के नियमों या कार्यों में अपवाद नहीं होते; वहां तो सब कुछ स्वाभाविक और निश्चित रूप से ही घटित होता है।

शरीर को बनानेवाली "वर्गणाओं" के अतिरिक्त "मन" (mind) को बनानेवाली "वर्गणाएं" भी अलग होती हैं और उनकी अपनी विशेषताएँ और गुण भी अपने विशेष तौर के होते हैं। इन "मनोवर्गणाओं" की बनावट के अनुसार ही "मानव-मन" की हरकतें, मनोदेश में हलन चलन या मन की हर एक बातें, विचार या काम होते हैं। "पुद्गल" तो निर्जीव है

और पुद्गल की रचना भी निर्जीव ही है। स्वयं बिजली के यन्त्रों की तरह ये रचनाएं कुछ नहीं कर सकतीं, जबकि उनमें विद्युतप्रवाह या जीवन न हो। विद्युतयन्त्रों में और मानव शरीर में भेद केवल यह है कि इन यन्त्रों का निर्माण करके उनमें बिजली का प्रवाह जारी किया जाता है जबकि मानव शरीर में आत्मा या जीवनी शक्ति और शरीर साथ ही साथ आरंभ से ही रहते हैं और शरीर का परिवर्तन सर्वदा साथ साथ ही होता रहता है। ह्रास या वृद्धि भी साथ ही साथ होती है। इससे हम दोनों को अलग अलग अनुभूत नहीं कर पाते। केवल मृत्यु के समय ही ऐसा लगता है कि सारे शरीर की बनावट ज्यों की त्यों होते हुए भी जो चालू शक्ति थी वह अब नहीं रही। जैसे बिजली के चलते यन्त्र से बिजली का आवागमन हटा लिया जाय तो वह यन्त्र एक दम कार्य बंद कर देगा। फिर भी बिजली का यन्त्र स्थिर या स्थायी दीखता है जबकि हाड़-मांस का बना शरीर तुरंत सड़ने गलने लगता है। इन हाड़ मांस को निर्माण करने वाली वर्गणाओं का असर एवं गुण ही ऐसा है जिसके कारण यह सब होता है। हाड़ मांस ही क्यों, निर्जीव धातुओं और रसायन (chemicals) के साथ भी ऐसी कितनी वस्तुएं हैं जो जल्दी नष्ट होनेवाली (perishable) होती हैं और कुछ काफी स्थायी। मानव शरीर जिन धातुओं और रसायनों से बना है उनकी बनावट ऐसी है कि वायु (atmosphere) की वर्गणाओं के साथ मिल कर जीवन रहने पर उनमें परिवर्तन चालू रहता है जब कि जीवन रहित हो जाने पर वे ही ऐसी वस्तुओं में परिणत हो जाती हैं जिन्हें हम दुर्गन्धिमय या सड़ा गला कहते हैं। पर होता सब कुछ वर्गणाओं की बनावट, आपसी क्रिया-प्रक्रिया एवं गुण इत्यादि के कारण ही है। यह सब कुछ स्वाभाविक रूप से अपने आप ही आप-सी क्रिया-प्रक्रिया द्वारा होता है।

मनुष्य का "मन" और "शरीर" ही मनुष्य के स्वभाव को निर्मित या निश्चित करते हैं। मन की गति और हलन-चलन एवं शरीर की गति और हलन-चलन के द्वारा ही मनुष्य का आचार, व्यवहार, क्रियाकलाप, चाल-चलन, कार्य-क्रम, अच्छाई-बुराई, साधुता-दुष्टता, शांतता तीव्रता, धैर्यता, अव्यवस्थितता, क्रोध, क्षमा, वैर-मेल, हंसी-दुख, प्रसन्नता-अवसाद, मिष्ठता-कटुता इत्यादि सब कुछ बनते या होते हैं। मन एवं शरीर की गति और हलन-चलन उनको निर्माण करनेवाली वर्गणाओं के संगठन और वर्गणानिर्मित रूपरेखा पर ही निर्भर करते हैं।

संसार में जितने मनुष्य हैं उनके स्वभाव, बोलचाल, आचार व्यवहार, मानसिक संचरण, क्रियाकलाप और उनका सब कुछ एक दूसरे से भिन्न हैं। मनुष्य जो कुछ जब भी करता है वह वर्गणाओं की बनाई रूप रेखा की विशेषता द्वारा सीमित एवं बद्ध जीवनी शक्ति द्वारा संचालित होता हुआ ही करता है। एक मनुष्य का रूप, शक्ल सूरत, सुन्दरता-कुरूपता, स्वस्थता, स्वभाव की अच्छाई, बुराई इत्यादि सब कुछ उसके शरीर और मन को निर्माण करने वाली वर्गणाओं द्वारा निर्मित और एक खास तरह का ही होता है। कोई मनुष्य जो कुछ भी करता है उसके अतिरिक्त

वह दूसरा कर ही नहीं सकता। सांप के शरीर की वर्गणाओं का निर्माण ही ऐसा है कि जो कुछ भोजन करेगा उसमें से विष भी अवश्य तैयार होगा। गाय जो कुछ खायगी उसमें से दूध भी अवश्य तैयार होगा। शरीर और मन का अन्योन्याश्रय संबन्ध है। गाय जब तक बच्चे वाली रहती है तभी तक दूध देती है। बाद में वही भोजन उसके अन्दर जाने पर भी दूध नहीं उत्पन्न करता। सबका परिवर्तन होता रहता है। खान-पान द्वारा या प्रकाश किरणों द्वारा या श्वासोच्छ्वास इत्यादि द्वारा बाहर से वर्गणाओं का समूह हमारे शरीर के अन्दर जाता रहता है वहां विद्यमान वर्गणाओं से मिल बिछुड़ कर क्रिया-प्रक्रिया द्वारा सब कुछ बनता बदलता रहता है। अतः मनुष्य का स्वभाव, रीति नीति या बात व्यवहार बदलने के लिए उसको बनाने वाली वर्गणाओं में परिवर्तन आवश्यक है।

किसी मनुष्य का प्रभाव, व्यक्तित्व, और स्वभाव की विचित्रता सब कुछ वर्गणाओं की बनावट पर ही अवलम्बित होने से उसके शरीर की बनावट, रूप रेखा या सब कुछ उसका निश्चित और अभिन्न रूप से संबन्धित है।

हर वस्तु या शरीर से अगणित रूप में अजस्र प्रवाह पुद्गलों का निकलता रहता है जो एक दूसरे के शरीर में घुस कर आपस में एक दूसरे पर प्रभाव डालता रहता है। ऐसी वर्गणाएं भी निकलती हैं जिनकी शक्ल सूरत हूबहू उसी तरह की होती है जिस वस्तु या देह से वे निकलती हैं जब ये ही वर्गणाएं हमारे नेत्रों में घुसती हैं तो वहां अपनी प्रतिच्छाया से किसी वस्तु या सत्य या शरीर की रूप-रेखा रंग वगैरह का आभास कराती हैं। प्रतिबिंबों का ज्ञान भी इसी तरह होता है। हर एक मानव शरीर से उस मानव की आकृति की वर्गणाएं केवल रूप रेखा ही नहीं बनातीं बल्कि उस मानव के गुण स्वभाव को भी लिए रहती हैं, जिनका असर बाहरी संसार पर उसी अनुसार पड़ता है। सत्पुरुष का भला और निम्नकर्मी का निम्न। इतना ही नहीं हम जैसा जिस वस्तु या शरीर या प्रतिछवि का ध्यान करते हैं हमारे अन्दर वैसी ही उसी अनुरूप वर्गणाएं निर्मित होती हैं जो बाहर भी निकलती हैं और अपने अन्दर भी प्रभाव डालती हैं—शुभ दर्शन या अच्छे लोगों और वस्तुओं की मूर्त्तियां या छवि चित्र देखना और ध्यान करना शुभोत्कारक है।

इतना ही नहीं जब कोई व्यक्ति किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति के रूप का ध्यान करता है तो वर्गणाओं का उसी रूप में निर्माण होकर हमारे अन्दर उन रूपाकृतियों का भान कराता है। प्रेत या भूत बाधा भी इसी क्रिया (phenomena) के फल स्वरूप है। जब किसी डर, भय या आशंका इत्यादि के कारण एक जबरदस्त भावना किसी व्यक्ति के मन के अन्दर सहसा या समय के साथ बैठते-बैठते बैठ जाती है तब वह उसी रूप का दर्शन और ध्यान इतनी एकाग्रता एवं मजबूती से करने लगता है कि वर्गणात्मक रूपों का निर्माण स्वयं उसके शरीर की गठन को एक दूसरे रूप के शरीर के समान चारों तरफ से घेर और जकड़ लेते हैं। यह वर्गणात्मक रचना दृश्य नहीं

होने से हम उस शरीर को या उसके प्रभाव को देख नहीं पाते हैं। पर चूंकि उस व्यक्ति के शरीर में आत्मज्योति-जीवनी-रहती है इससे यह ऊपर से ढकने वाला शरीर क्रियाशील हो जाता है। दुष्ट या बुरे भावों से दुष्ट कर्मों या बुरी आकृतियां एवं शुभभावनाओं से शुभ आकृतियों का निर्माण हो कर उनका कार्य या असर इस शरीर के अंगों को उसी विशेष प्रभाव में इस तरह प्रचालित करता है कि दोनों के सम्मिलित क्रिया-कलाप जिन्हें हम उस व्यक्ति की स्वाभाविक क्रियाओं से भिन्न पाते हैं; और तब कहा जाता है कि उस व्यक्ति के ऊपर भूत बाधा या किसी गुप्त शक्ति का प्रभाव हो गया है। ऐसी हालत में मन की एकाग्रता या तीव्र भावों की प्रबलता को तोड़ने या बाधा देने से लाभ देखा जाता है। इससे यह भी साबित होता है कि वर्गणा निर्मित ऐसे शरीर भी हो सकते हैं जो हमारी आंखों से अदृश्य, प्रछन्न या गुप्त रहें; पारदर्शक वस्तुओं की बनावट के समान दिखलाई न दें फिर भी उनमें आत्मा हो, जीवन हो और वे सचमुच इसी लोक में या कहीं भी घूमते फिरते और जीवित हों उनकी अवस्थिति (existance) हो जैनशास्त्रों में भी ऐसे व्यन्तर देवों का होना कहा गया है। आधुनिक समय में एक गोल मेज के चारों तरफ तीन चार पुरुष बैठ कर किसी मृतात्मा के रूप का ध्यान करते हैं तब उस मृतात्मा का जीव उन चारों में से किसी एक पर आया हुआ कहा जाता है जब वह उस मृतात्मा के सरीखे काम करने या बातें करने लगता है। वह मृतात्मा स्वयं नहीं आती यह तो उसकी रूपाकृति का एकाग्रध्यान करने से वर्गणात्मक रूप का निर्माण हो जाता है जो किसी खास व्यक्ति पर अधिक प्रभावकारी होने से प्रत्यक्ष फल प्रदर्शित करता है—जैसा ऊपर कह चुके हैं—वैसे शरीर एवं रूपका जो कर्म होना चाहिए वही वह व्यक्ति अपने अन्दर विद्यमान जीवन शक्ति के सहारे करने लगता है। यही इस विद्या का गूढ़ रहस्य है—

पुद्गल की बनावट तो निर्जीव है। इस शरीर में जो कुछ भी संज्ञान और चेतना पूर्ण हलन-चलन या व्यापार होते हैं या क्रियाएं होती हैं वे सब आत्मा की विद्यमानता के फल स्वरूप ही हैं। आत्मा की चेतना और पुद्गल का रूपी शरीर दोनों के मिलने से ही सारे कार्य कलाप होते हैं। जीव की अवस्थिति के बगैर कुछ नहीं हो सकता। प्रेत बाधा या भूत बाधा जिन भावनात्मक रूपों का निर्माण वर्गणाओं के संगठन द्वारा करती है वह भी उस व्यक्ति में जीवनी या उसके असली शरीर में रहने के कारण ही प्रभाव करती है। निर्जीव में यह बात नहीं हो सकती।

मानव शरीर के अंदर जितनी वर्गणाएं हैं उन्हें प्रधानतः तीन भागों में विभक्त किया गया है : "कार्मणवर्गणा", "तैजस वर्गणा" एवं "औदारिक वर्गणा"। पुद्गल के स्कन्धों को विभिन्न वर्गों (classes) और श्रेणियों में विभक्त कर देने के कारण ही "वर्गणा" नामकरण हुआ। मनुष्य का हरएक कार्य, व्यवहार, आचरण इन वर्गणाओं की अलग अलग बनावटों द्वारा ही निर्मित एवं परिचालित होता है। किसी एक कर्म को उत्पन्न करने या क्रियाशील बनाने वाली वर्गणाएं

अनादिकाल से अब तक न जाने कब निर्मित या इकट्ठी हुई थीं कहना कठिन है। अनादिकाल से अबतक इनका आदान प्रदान एवं एक दूसरे के साथ क्रिया प्रक्रिया भीतर तथा बाहर से और जाने वाले पुद्गल संघों के साथ होती ही आती है। "मनोवर्गणाओं" का पुंजीभूत विशिष्ट आकार प्रकार ही "मन" है उसकी क्रियाएं भी अव्यवस्थित न होकर निश्चित फ़करूर ही होती हैं। मनुष्य का स्वभाव तो फिर निश्चित एवं सीमित होने से अच्छा या बुरा अपने आप वर्गणाओं के प्रभाव में चलता रहता है।

मानव जन्म एक विशिष्ट योनि में, किसी विशेष स्थान में और किसी खास व्यक्ति के ही यहां होना भी इन वर्गणाओं की ही करामात का ज्वलन्त उदाहरण है*। कहने का तात्पर्य यह कि संसार में या विश्व में जो कुछ बनता बिगड़ता, नया उत्पादन, हेरफेर, जन्म मृत्यु, सृष्टि, पालन-पोषण, विनाश इत्यादि जिन्हें लोग किसी कर्ता का कर्तृत्व मानते हैं वह सब स्वतः ही स्वाभाविक गति एवं नियमित रूप में इन पुद्गलों या पुद्गल संघों के मिलने बिछुड़ने इत्यादि से ही होता रहता है। सारा विश्व एक अभिन्न, अविनाशी, शास्वत, सत्य एवं संपूर्ण इकाई है-इसका कोई भाग अलग नहीं—सबका असर सब पर अक्षुण्ण रूप से अवश्य पड़ता है। भिन्नता द्वेष-विद्वेष इत्यादि के विचार हनिकारक एवं मूलतः भ्रमपूर्ण हैं। कोई व्यक्ति, समाज या देश अलग अलग सच्चा सुख और स्थायी शान्ति स्थापित नहीं कर सकते न पा ही सकते हैं। यह अवस्था तो आखिर विश्व को एक समझ कर उचित व्यवस्था द्वारा कुछ करने से ही उपलब्ध हो सकती है। जैनियों को भी आपसी विग्रह की भावनाएं एवं नीच ऊंच के विचार त्याग कर संसारोत्थान में सहयोग देना ही हर तरह उनके तथा संसार के कल्याण का दाता हो सकता है।

वस्तु स्वरूप पर अनेकान्तात्मक ध्यान रखना ही जैनपना है। सच्चा धर्म वही है जो मानव मानव में विभेद न करे। आत्मा सभी का शुद्ध और शरीर सभी का पुद्गलमय एक सा ही पवित्र या अपवित्र जैसा समझा जाता है। कोई ऊंचा नहीं, कोई नीचा नहीं—कोई भी न जन्म से पवित्र है न अपवित्र। अतः शूद्र, अशूद्र, छूत अछूत के भेदभाव त्याग कर हर एक को समान देखना तथा व्यवहार करना ही जैन धर्म का मूलमंत्र तथा प्राण है। "समता-वाद", "समदर्शीभाव', ही असल जैनत्व है। यही मनुष्यत्व भी है इसका आचरण ही जैन धर्म का आचरण है। अच्छा बुरा स्वभाव तो पुद्गलनिर्मित वर्गणाओं द्वारा ही परिचालित होने से दोषी कोई नहीं; हां इन वर्गणाओं की बनावट में तबदीली लाने के लिए शुद्ध भाव, अच्छे कर्म एवं उपयुक्त शिक्षा, संस्कृति और समान सुविधा की आवश्यकता सर्वप्रथम है। अहिंसा का पालन भी समानाचरण और समभाव या समता द्वारा ही हो सकता है अन्यथा तो प्रमाद और

---

*देखें—"अनेकांत" वर्ष १० किरण ४-५ में प्रकाशित मेरा लेख "जीवन और विश्व के परिवर्तनों का रहस्य।

दूसरों को नीचे गिरा रहने को मजबूर करने या गिरा रखने के कारण उनके द्वारा किए गए बुरे कर्मों और पापों का जिम्मेदार ऐसा करने वाला व्यक्ति स्वयं है। परिस्थितियों से मजबूर विवश एवं बेकाबू होकर कोई दुखी पाप करने को बाध्य होता है तो उसको कैसे दोषी कहा जासकता है। उसे उचित साधन, सुविधा एवं सहयोग देकर अच्छा या योग्य बनाना यह धर्म, समाज तथा देश और संसार के विज्ञान एवं समर्थ और प्रभाव रखने वाले सभी समझदार व्यक्तियों का कर्त्तव्य है। ऐसा न कर हम धर्म से च्युत तो होते ही हैं मनुष्यता से भी वंचित होते हैं। ऐसा करके ही हम पुरुषार्थ तो सिद्ध करते ही हैं अपना और लोक का सच्चा कल्याण करते हुए अपनी सच्ची उन्नति करते हैं और संसार की उन्नति होने से पुनः अपनी भी दोहरी उन्नति होती है। यही अपना असली स्वार्थ है और यही परमार्थ भी। यही कर हम सुख एवं परम सुख को सचमुच पा सकते हैं। आज विश्व में चारों तरफ जो विडम्बनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे इसी कारण हैं कि वस्तु के असल स्वरूप, प्रकृति और गुण के ज्ञान का प्रकाश बहुत कम रह गया है। जहां है, वहां भी प्रमाद के कारण उलटी प्रवृत्ति ही अधिक दीखती है। निम्न स्वार्थ को ही लोग अपना स्वार्थ समझते हैं। रुपया ही सब कुछ समझ लिया गया है। इन सबका निराकरण एवं निर्मल वस्तु स्वभाव के ज्ञान की प्राप्ति जैन सिद्धान्तों में वर्णित जीव और पुद्गल तथा दूसरे सहायक द्रव्यों के रूप और क्रिया प्रक्रिया के मनन और ग्रहण तथा व्यापक प्रचार द्वारा ही हो सकता है। संसार में अहिंसा का प्रचार और स्थायी शान्ति तथा सर्वत्र सच्चे सुख की स्थापना भी इसी सच्चे ज्ञान द्वारा संभव है। क्या हरएक जैन मात्र का कर्त्तव्य यह नहीं है कि यथाशक्ति तन-मन-धन द्वारा इसको अपना सच्चा कल्याण स्वरूप समझकर सारे भेदभाव दूरकर संयमित, संतुलित और एकत्रित उद्योग में अपने को लगा दे? धनियों को अपने धन का सबसे उचित उपयोग करने का दूसरा कोई अवसर इससे बढ़कर नहीं आ सकता—न विद्वानों को अपनी विद्या का ही। घमंड और लज्जा छोड़कर इस परम पावन और परम आवश्यक कार्य में शीघ्रातिशीघ्र जुट जाना, लगजाना, संलग्न हो जाना ही समय की माँग और परमहितकारी है।

मनुष्य प्रकृति वर्गणाओं से उत्पन्न होती है और उन्हीं के प्रभाव में परिचालित रहती है। उसमें परिवर्तन लाने के लिये दृढ़ निष्ठा और भावनाओं को कार्यरूप में परिणत करने से ही कुछ सुधार की आशा हो सकती है। किसी कार्य का असर तुरंत न होकर उपयुक्त समय पर ही होता है। तुरंत असर या फल या प्रभाव न दिखलायी देने से निराश होने की जरूरत नहीं। कार्य करने पर वर्गणाओं की बनावट में हर जगह परिवर्तन होकर अपने आप उपयुक्त फल देगा। हाँ कर्म और उद्योग एवं प्रयत्न का आरम्भ अभी से कर देना; यदि अबतक न किया हो तो, आवश्यक है। आशा है कि मानवता के हितचिन्तक, अपने सच्चे स्वार्थ की सच्ची सिद्धि के बाधक और लोक कल्याण के इच्छुक इधर अवश्य ध्यान देंगे।

आत्मा तो सर्वदा एक समान शुद्ध है। कर्म तो शरीर का गुण है। हाँ, यह कर्म आत्मा के विद्यमान रहने से जीवनी शक्ति के प्रभाव के अन्तर्गत ही होता है। आत्मा भी अकेला कर्म नहीं करता और पुद्गल भी अकेला अचेतन कर्म नहीं कर सकता। वर्गणाओं में आदान प्रदान होकर, तबदीलियाँ होकर तज्जन्य प्रभाव द्वारा ही शारीरिक या मानसिक क्रिया कलाप होते हैं। कर्मों को विशिष्ट और अच्छा बनाने के लिये उचित सुविधाएँ और परिस्थितियों का होना संसार में अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा और वर्गणाओं का समूह यह शरीर न नीच है न ऊँच, न अपवित्र है न पवित्र। हमारी अपनी उन्नति, धर्म और समाज की उन्नति एवं देश और संसार की उन्नति कर्मों को अच्छा बनाने से ही हो सकती है। इसके लिये हरएक को सहायता एवं सहयोग तथा सहानुभूतिपूर्वक ऐसे साधन उपलब्ध करने चाहिये जिससे वह अच्छी संगति, अच्छे भाव एवं शुभ दर्शन प्राप्त कर अपने आत्मा को घेरनेवाली वर्गणाओं की बनावट और संगठन में समुचित परिवर्तन ला सके। हर एक का अनुगामी प्रभाव हर एक दूसरे व्यक्ति पर पूर्णरूप से पड़ता है। अपनी पूर्ण उन्नति के लिये अपने चारों तरफ के सभी लोगों की उन्नति आवश्यक है। हम अकेले शारीरिक मानसिक शुद्धि की सफलता में हजारवाँ भाग भी नहीं प्राप्त कर सकते। वर्गणाओं का निःसरण और प्रवेश हर एक शरीर से दूसरे शरीर में होता रहता है। रूप, आकृतियों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। भावनाओं और कर्मों का फिर कहना ही क्या। किसीको दोष न देकर सबको समान अवसर दें यही सच्चा धर्म है और है अनेकान्तात्मक सत्य और अहिंसा का पालन भी। जैन कर्मवाद का बहुत कुछ स्पष्टीकरण इस विवेचन से हो जाता है। वास्तव में जैनाचार्यों की कर्मवाद सम्बन्धी प्रक्रिया नितान्त वैज्ञानिक और मौलिक है। द्रव्य और भावकर्म के स्वरूप, और कार्यों का विवेचन विज्ञान प्रणाली पर आश्रित है। कर्मों का रसायनिक मिश्रण, उससे उत्पन्न शक्ति तथा फल किस आधार पर आश्रित हैं, इसका निरूपण हो चुका है।

मुनिवंशाभ्युदय--ऐतिहासिक काव्य

[ले०—श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज]

मुनिवंशाभ्युदय ऐतिहासिक रचना है। दिगम्बर जैन साहित्य में राजावलिकथा और मुनिवंशाभ्युदय दोनों ही रचनाएँ कन्नड भाषा में प्रमाणिक मानी जाती हैं। उपलब्ध ग्रन्थ में पाँच सन्धियाँ हैं। प्रथम सन्धि में १६७ पद्य हैं। प्रथम पद्य से लेकर ६६ वें पद्य तक देवता स्तोत्र, चिक्कदेव राजा की स्तुति, राजा के लक्षण, मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था, राज्यव्यवस्था के उपादान एवं राजनीति का सामान्य वर्णन किया गया है। ६७ वें पद्य से ७६ पद्य तक मन्त्री के लक्षण, गुण, दोष एवं दायित्व का निरूपण किया गया है। ८० वें पद्य से लेकर सन्धि के अन्त तक देश, दुर्ग एवं सैन्य रक्षण के उपाय और आवश्यकता पर जोर देते हुए चिक्कदेवराजा की राज्यव्यवस्था का दिग्दर्शन कराया है। इस सन्धि में राजा चिक्कदेव का राजनीतिक दृष्टि से इतिवृत्त दिया गया है। यद्यपि वर्णन शैली काव्यात्मक है, फिर भी कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों की व्यंजना अपने ढंग से की है।

इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का आरम्भ द्वितीय सन्धि से हुआ है। इस सन्धि के द्वितीय-तृतीय पद्य में चिक्कदेव राजा के गुणों का निरूपण करते हुए इस राजा की वंशावली का प्रतिपादन किया गया है। चौथे पद्य में बताया गया है कि कवि को राजा के साथ किस प्रकार मित्रता प्राप्त हुई और कैसे उसे सत्य इतिहास प्रकट करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। ५ वें पद्य से लेकर ३६ वें पद्य तक बताया गया है कि चिक्कदेव राजा के वंशवालों ने मैसूर में राज्य किस प्रकार किया। इनके पूर्ववंशज चामराय वडेय मैसूर से चलकर शासन निरीक्षण के लिये श्रवणबेल्गोल आये और दक्षिण आचार्यों के सम्बन्ध में पूछ-ताछ की। ३७ वें पद्य से ४७ पद्य तक बताया गया है कि बोम्मन नाम के कविने राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि इस वंश के चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य जगदेव नाम के तेलंग देश के राजा के विरोध के कारण भल्लातकीपुर के राजा भैरवदेव के यहाँ हैं।

राजा ने चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य को वापस बुलाने की आज्ञा दी और वह वहाँ की शासन व्यवस्था को व्यवस्थित कर श्रीरंगपुर पट्टण में लौट आया। एक समय राजदरबार में मन्त्रवाद का प्रसंग उत्पन्न होने पर पद्म पंडित और पद्मण्ण सेट्टि के परामर्श के अनुसार चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य को सम्मान पूर्वक बुलाया। चारुकीर्त्ति की विद्वत्ता, त्याग और गुणों से मुग्ध होकर राजा ने क्षेत्र, ग्रामादिक भेंट देकर श्रवण-

बेल्गोल में उन्हें रहने को बाध्य किया। सुव्यवस्था के लिये इस स्थान की सीमा निर्धारित कर दी तथा उक्त आचार्य से निर्भय होकर रहने के लिये अनुरोध किया। इन चारुकीर्त्ति के पश्चात् इस गद्दी पर विमलाचार्य का पट्टाभिषेक हुआ। इसके अनन्तर इस सन्धि में चामराय बडेय के पश्चात् चिक्कराज देव के जन्म होने तक, बीच के सभी राजाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह परिचय ऐतिहासिक है, पौराणिक नहीं। चिक्कदेव राजा की 'शृंगार कर्णाटक चक्रवर्ती' उपाधि तथा विरुदावली का निरूपण लगभग २० पद्यों में किया गया है। इस वर्णन में कविने अपनी कवि प्रतिभा का परिचय भी दिया है, साथ ही ऐतिहासिक तथ्यों की विवेचना भी की है।

इस सन्धि में आगे बताया गया है कि चारुकीर्त्ति योगीन्द्र नाम आचार्य का क्यों पड़ा तथा श्रवणबेल्गोल में उनके साथ विरोध उत्पन्न होने का कारण क्या था? चिक्कदेव राज ने चारुकीर्त्ति आचार्य के श्रवणबेलगोलस्थ विरोध का शमन किस बुद्धिमत्ता से किया तथा उन्हें सर्वदा के लिये श्रवणबेल्गोल में किस प्रकार स्थिर कर दिया। आगे इस सन्धि में श्री महावीरस्वामी के अनन्तर चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य तक समस्त आचार्यों के वंशों के सम्बन्ध में प्रकाश डालने की प्रतिज्ञा की है।

तृतीय सन्धि के प्रारम्भ में भरत क्षेत्र तथा काल भेद का वर्णन विस्तार पूर्वक लगभग ५० पद्यों में किया गया है। २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर के संक्षिप्त परिचय के अनन्तर तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली, ग्यारह दश पूर्वधारी, चार आचारांगधारी के नामों का उल्लेख संक्षिप्त परिचय के साथ किया है। इस सन्धि में संघ स्थापना के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है। श्रीदत्त, शिवदत्त योगी, अरुदत्त मुनि और अर्हद्बल्याचार्य के सम्बन्ध में २० पद्यों में अनेक ज्ञातव्य बातें बतायी गयी हैं। संघ भेद के कारण का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि एक समय अर्हद्बल्याचार्य विहार करते हुए उज्जैनी में पहुँचे, इनके साथ सोलह हजार मुनियों का संघ था। जब वर्षायोग का समय आया तो आचार्य असमञ्जस में पड़ गये। सोचने लगे कि इतने मुनियों को एक साथ लेकर रहना संभव नहीं हो सकेगा, अतः सकुशल वर्षायोग की समाप्ति तथा विभिन्न स्थानों में धर्म प्रचार हो सके इसलिये उन्होंने तीन-तीन हजार मुनियों का संघ बनाकर तथा एक-एक आचार्य को संघ का अधिपति बनाकर चारों दिशाओं की ओर भेज दिया। आचार्य ने स्वयं अपने साथ चार हजार मुनियों को लेकर उज्जैनी में वर्षायोग धारण किया।

चारों दिशाओं में भेजे गये मुनि वर्षायोग बिताकर आचार्य श्री के समक्ष उपस्थित हुए। आचार्य महाराज ने पूछा कि क्या सभी मुनि आगये? संघाधिपतियों ने उत्तर

दिया कि हाँ, हमारा संघ आ गया। हम अपने-अपने संघ सहित उपस्थित हो गये। इस उत्तर को सुनकर अर्हद्बली आचार्य ने विचार किया कि अब इस पञ्चम काल में मुनियों का संघ एक नहीं रह सकेगा, अतः पूर्व दिशा में वर्षायोग करनेवाले मुनियों के संघ का नाम प्राची संघ या सेनवृक्ष के नीचे ध्यान करने के कारण सेनसंघ रखा। दक्षिण दिशा में वर्षायोग धारण करनेवाले मुनियों के संघ का नाम दक्षिणाचार्य संघ या नन्दिवृक्ष के नीचे ध्यान करने के कारण नन्दिसंघ रखा। उत्तर दिशा में वर्षायोग करनेवालों मुनियों के संघ का नाम उदीची-संघ अथवा शिव नाम की गुफा में वर्षा योग धारण करने के कारण शिव संघ रखा इस प्रकार चारों संघों की स्थापना की गयी।

चौथी सन्धि के प्रारम्भ में मंगलाचरण के उपरान्त अर्हद्बली आचार्य और उनके शिष्यों की सन्तोषवृत्ति का वर्णन है। ३ रे पद्य में बताया गया है कि एक दिन आचार्य ने अपने अभिनव संघ को पृथक्-पृथक् दिशा और देशों में विहार करने का आदेश दिया। गुरु के आदेश के अनुसार चारों संघपति आचार्यों ने गुरु-चरणों में नमोऽस्तु कर प्रस्थान किया। ५-६ वें पद्य में बताया गया है कि नन्दिसंघ के आचार्य तीन हजार मुनियों के साथ विहार करते हुए श्रवणबेल्गोल स्थान में आये। ये इस नगर में चिक्कगर पहाड़ पर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ के चरणों के समीप नमस्कार कर बैठ गये। समस्त मुनियों का संघ यहीं आत्मचिंतन करने में लीन हो गया। इसी बीच सम्राट् चन्द्रगुप्त अनेक बाधों के साथ अन्तरीक्ष भगवान पार्श्वनाथके दर्शन के लिये आये। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन कर मुनिसंघ को नमस्कार किया तथा अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये आचार्य श्री से प्रश्न किया कि महाराज यह मूर्त्ति अधर में क्यों विराजमान है? भूमि का स्पर्श क्यों नहीं करती है? इसकी महिमा क्या है? कृपाकर समस्त बातें बतलाने का कष्ट करें।

आचार्य—मुनिसुव्रत नाथ तीर्थंकर के तीर्थकाल में महाप्रतापी महाराज रामचन्द्र हुए। सीताहरण के अनन्तर महाराज रामचन्द्र ने अपने भाई लक्ष्मण के साथ लंका पर आक्रमण किया। राम रावण को परास्तकर सीता के साथ अयोध्या को लौटे। लंका में महाराज राम को 'गोम्मट बिम्ब' और महारानी सीता को 'पार्श्वनाथ बिम्ब' बहुत ही मनोज्ञ और रुचिकर प्रतीत हुए अतः उन दोनों को साथ लेकर वे चले। रास्ते में बेलगोल स्थान को सुन्दर और भव्य देखकर वहीं कुछ दिन के लिये ठहर गये। महाराज रामचन्द्र ने गोम्मट बिम्ब को विन्ध्यगिरि पर और महारानी सीता देवी ने 'पार्श्वनाथ बिम्ब' को चिक्कगिरि पहाड़ पर स्थापित कर पूजा की। कुछ दिन रहने के उपरान्त जब

महाराज रामचन्द्र जी ने वहाँ से प्रस्थान किया और वे गोम्मट बिम्ब को उठाने लगे तो वह उठ नहीं सका, वहीं स्थिर हो गया। इधर पार्श्वनाथ बिम्ब को भी जब सीतादेवी ने उठाया तो, वह भी अधर में ही रह गया, जिससे उसी दिन से इसका नाम अन्तराल पार्श्वनाथ या अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ पड़ गया। इन दोनों बिम्बों की लंका में रावण मन्दोदरी सहित पूजा किया करता था।

भगवान नेमिनाथ तीर्थंकर के तीर्थकाल में एक दिन भ्रमण करते हुए अर्जुन और भीम विन्ध्यगिरि पर आये। यहाँ विशाल काय गोम्मट स्वामी के बिम्ब को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और जिन दर्शन कर अपने को धन्य माना। पहाड़ पर निरावरण मूर्त्ति को खड़ी देखकर अर्जुन सोचने लगा कि यह मूर्त्ति इस प्रकार निरावरण रह कर सुरक्षित नहीं रह सकेगी। शीत, आतप और वर्षा के कारण इसमें विकार आने की संभावना है अतएव इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करना नितान्त आवश्यक है। उन दोनों भाइयों से सलाह कर उस विशाल मूर्त्ति की रक्षा के लिये यह तय किया कि इसे पत्थर की विशाल चट्टानों से ढक देना चाहिये। अपनी इस सलाह के अनुसार भीम ने बड़ी-बड़ी चट्टानों को लाकर गोम्मटस्वामी के बिम्ब को ढक दिया।

यह महाराज चन्द्रगुप्त आचार्य के इस कथन को सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उनके मन में इस मूर्त्ति के उद्धार की भावना जाग्रत हुई। चन्द्रगुप्त ने पहाड़ पर एक मन्दिर का निर्माण कराया तथा आचार्य महाराज का उपदेशामृत पान किया। धर्मोपदेश को सुनकर चन्द्रगुप्त के मन में अत्यन्त विरक्ति उत्पन्न हुई और दक्षिणाचार्य के चरणों में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। आचार्य महाराज ने चन्द्रगुप्त के मस्तक पर पीछी रखकर आशीर्वाद दिया। चन्द्रगुप्त गोम्मट स्वामी की मूर्त्ति का उद्धार तो नहीं कर सका, किन्तु अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ की मूर्त्ति को अपने बनाये मन्दिर में स्थापित कर प्रतिष्ठित किया। दक्षिणाचार्य भद्रबाहु मुनि ही थे। इनके चरणों में नमोऽस्तु कर तीन सौ राजकुमारों के साथ चन्द्रगुप्त ने दीक्षा ग्रहण की। इस सन्धि में आगे नवीन राजकुमारों और चन्द्रगुप्त मुनि की तपस्याओं का वर्णन किया गया है। भद्रबाहु स्वामी ने अपना निकट समय जानकर चन्द्रगुप्त को दक्षिणाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया और वह स्वयं समाधि ग्रहण कर आत्मकल्याण में लग गये। इससे आगे चन्द्रगुप्त की योग्यता, ज्ञान, तपश्चर्या आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इन्हें सिद्धान्त शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था, इनकी कीर्त्ति सर्वत्र व्याप्त थी। पट्टाचार्य हो चन्द्रगुप्त ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, पत्तन, आदि में धर्मोपदेश देते हुए विहार करने लगे।

पाँचवीं सन्धि के प्रारम्भ में मंगलाचरण करने के उपरान्त बताया गया है कि चन्द्रगुप्त नन्दिसंघ के चार हजार मुनियों के अधिपति हो अपना पट्ट पद्मनन्दि आचार्य को दे आत्मशोधन में प्रवृत्त हुए। कुछ काल के अनन्तर देवसंघ और शिवसंघ में योग्य पट्टाधीशों के न होने के कारण ये दोनों संघ भी नन्दिसंघ में मिल गये और इन तीनों के एकीकरण का नाम पश्चिमोत्तर संघ (पश्चिम + उत्तर + दक्षिण) पड़ा। इस सन्धि में आगे बताया गया है कि अर्हद्वल्याचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य, उमास्वामि पदाचार्य पद्मनन्दि पद्मनन्दि मुनिवर और कुन्दकुन्दाचार्य ये पाँच नाम पद्मनन्दि आचार्य के हैं। पश्चिमोत्तर संघ के अधिपति ये ही आचार्य हुए थे। ५४ वें पद्य से ६९ वें पद्य तक बताया गया है कि पद्मनन्दि आचार्य ने अपना पट्ट वीरनन्दी आचार्य को दिया। वीरनन्दि आचार्य ने चन्द्रप्रभकाव्य लिखा है।

इस सन्धि के ७९ वें पद्य में चन्द्रप्रभ काव्य के विषय का वर्णन है तथा वीर नन्दी आचार्य के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला गया है। वीरनन्दी ने अपना पद गोलाचार्य को दिया। गोलाचार्य ने अपना पद महीधाका लमाचार्य को दिया। इन्होंने पद्मनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती को दिया। पद्मनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ६००० मुनियों के संघ के अधिपति थे। इस संघ में एक मुनि शाकटायन नाम के थे, जिन्होंने शब्दानुशासन नाम का व्याकरण ग्रन्थ लिखा तथा अपने नाम पर इस ग्रन्थ का नाम भी शाकटायन रखा। इस ग्रन्थ पर अमोघवृत्ति नाम की महत्त्वपूर्ण टीका लिखी। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र को व्यवस्थित शाकटायन मुनि ने किया। कालान्तर में पद्मनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती अपना पद उन्हीं शाकटायनचार्य को देकर आत्मशोधन में लीन हुए। यह सकल शास्त्र पारंगत हो कर ७००० मुनियों के मध्य में चन्द्रमा के समान शोभित होते थे। इनके तत्त्वावधान में मुनि संघ ने अनेक देशों में विहार कर जैनधर्म का प्रचार किया। इसके पश्चात् इस संघ में कुलभूषण मुनि, देवनन्दी व्रती, भट्ट अकलंक देव और प्रभाचन्द्र मुनि ये चार प्रभावक आचार्य हुए। इन चारों में सबसे अधिक प्रभावक कुलभूषण हुए, जिससे संघ का प्रमुख कार्यभार आपके ही ऊपर आकर पड़ा। अवशेष तीनों आचार्य भी प्रभावनाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हो जैनधर्म की प्रभावना करते रहे।

इस सन्धि के ११५ वें पद्य में बताया गया है कि देवनन्दी व्रती ने पद्मावती देवी की साधना की तथा रसायन आदि अनेक विद्याओं की सिद्धि प्राप्त की। ११६ वें पद्य में कहा गया है कि प्रभाचन्द्र मुनि ने ज्वालामालिनी देवी की साधना कर अनुपम ख्याति प्राप्त की तथा नाना प्रकार से जैनधर्म की प्रभावना कर धर्म को उन्नत बनाया।

११७ वें पद्य में बताया गया है कि भट्टाकलंक देव ने कुसुमांजलि यति का साधन कर जैनधर्म का उद्योतन किया। इसके आगे के पद्यों में इन चारों आचार्यों का उपसंहार रूप से वर्णन है। यह ग्रन्थ पूरा नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता ने भद्रबली से लेकर चारुकीर्ति आचार्य तक समस्त आचार्यों की वंशावली का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की थी; किन्तु अकलंक देव के अनन्तर वंशावली नहीं दी गयी है। अतएव यह सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ अधूरा है। इसकी पूरी प्रति जहाँ हो, वहाँ के अधिकारियों को सूचना देने की कृपा करनी चाहिये।

इस ग्रन्थ की वर्णन शैली काव्यात्मक है। आचार्यों की पट्टावली में भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ अन्तर है। कवि चिदानन्द ने इसमें आचार्यों के इतिहास के साथ मैसूर के राजवंश का भी इतिहास दिया है। चिक्कदेवराय तथा इसके पूर्व वंशजों का निरूपण भी इस ग्रन्थ में किया गया है। श्रवणवेलगोलस्थ गोम्मटस्वामी की प्रतिमा का इतिहास मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि गोम्मट स्वामी की उक्त मूर्त्ति की प्रतिष्ठा चामुण्डराय ने की थी, परन्तु चामुण्डराय को भी यह प्राचीन मूर्त्ति ही उपलब्ध हुई थी। उसने बाणों के द्वारा केवल चट्टानों को मूर्त्ति पर से हटा दिया था। जब मूर्त्ति प्रकट हो गयी, तब उसकी माताश्वरी दर्शन कर बहुत प्रसन्न हुई। क्योंकि चामुण्डराय अपनी माता के आग्रह से पोदनपुर के गोम्मटस्वामी के दर्शन करने जा रहा था। पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती ने ५२५ धनुष प्रमाण एक खड्गासन प्रतिमा स्थापित की थी। समयानुसार इस मूर्त्ति का दर्शन जन साधारण के लिये असंभव हो गया था। केवल मुनिजन ही मन्त्रबल से उस मूर्त्ति का दर्शन कर सकते थे। चामुण्डराय ने अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा यह जानकर कि इस स्थान पर गोम्मट स्वामी की मूर्त्ति है, बाण चलाया जिससे भीम द्वारा एकत्रित चट्टान खण्ड अलग हो गये और मूर्त्ति का साक्षात्कार होने लगा।

श्रवणवेलगोल प्राचीन काल से कला, साहित्य और धर्मप्रचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन संस्कृति की लगभग ढाई हजार वर्षों की गौरव गाथा इस स्थान पर सुरक्षित है। यहाँ के विशाल, रमणीक और दिव्य मन्दिर, प्राचीन गुफाएँ, अनुपम मूर्त्तियाँ एवं उत्कीर्णित शिलालेख इस स्थान की महत्ता प्रकट करते हैं। अगणित ऋषि-मुनियों ने यहाँ तपस्या कर अपनी अन्तरात्मा को पवित्र किया था, अनेक यात्रियों ने श्रद्धा से प्रेरित हो इस पवित्र स्थान के दर्शन कर अपने जन्म को सफल समझा था। श्रवणवेलगोल शब्द का अर्थ ही, 'जैन-मुनियों का धवल सरोवर' है। महाराज रामचन्द्र, अर्जुन, भीम आदि ने इस स्थान पर रहकर साधना की थी। लंका से लौटते

समय रामचन्द्रजी यहाँ २५ दिन तक रहे, उसी समय यह गोम्मटस्वामी की मूर्त्ति यहाँ स्थापित हुई। इस मूर्त्ति की ऊँचाई ५७ फीट बतायी जाती है। सम्राट् मारसिंह, सम्राट् इन्द्र, सम्राट् राजमल्ल, वीरवर चामुण्डराय, दण्डाधिप गंगराज, मन्त्रिप्रवर हुल्ल आदि नर पुंगवों का सम्बन्ध श्रवणबेलगोल से रहा है। इस प्रकार इस काव्य ग्रन्थ में श्रवणबेलगोल का इतिहास दिया है। कवि ने अपने समय से पूर्व की बातों को जनश्रुति के आधार पर न लिखकर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ समन्वय करते हुए लिखा है। काव्यात्मक वर्णन में इतिहास की गन्ध सर्वत्र वर्तमान है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्तियों के रहते हुए भी ऐतिहासिक व्यञ्जना तिरोहित या धूमिल नहीं होने पायी है। इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता तथ्यनिरूपण की सरसता है। रस और भाव को अक्षुण्ण रखते हुए भी तथ्य प्रतिपादन में कमी नहीं आने पायी है।

सम्राट् सम्प्रति और उसकी कृतियाँ

[ले०— श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न]

जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १३ किरण २ में सम्राट् सम्प्रति के परिचय और महत्ता के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मौर्य साम्राज्य की वंशावली इतिहास के आधार पर इस प्रकार है।

चन्द्रगुप्त ने ई० पू० ३२२ से २९८ ई० पू० अर्थात् २४ वर्ष राज्य किया, इसके पश्चात् इसका पुत्र बिन्दुसार राज्यासीन हुआ, इसने ई० पू० २९८ से ई० पू० २७२ तक अर्थात् २६ वर्ष राज्य किया। इसके पश्चात् इसके पुत्र अशोकवर्द्धन ने राज्यभार ग्रहण किया। इसने ई० पू० २७२ से ई० पू० २३२ तक अर्थात् ४० वर्ष राज्य किया। अशोक के उत्तराधिकारियों की वंशावली निम्न है।

अशोक

रानी पद्मावती — रानी तिष्यरक्षिता — रानी असंधि मित्रा, रानी असंधि मित्रा की दासी

कुणाल (सुयश), दशरथ — तीसरे की युद्ध में मृत्यु हुई थी — महेन्द्रकुमार, जन्म ई० पू० २८२, मृत्यु ई० पू० २०४, ७८ वर्ष की आयु — संघमित्रा कन्या; जन्म ई० पू० २८०, मृत्यु ई० पू० २०३, ७७ वर्ष की आयु

ये दोनों भाईबहन बुद्धधर्म के प्रचार में लगे रहे

संप्रति उर्फ प्रियदर्शिन, धर्माशोक, इन्द्रपालित — शालिशुक उर्फ बन्धु पालित

ऋषभसेन सुभगसेन — बलौक — दामोदर — तीवर — चाउमती कन्या देवपालके साथ विवाह हुआ था, — केरल पुत्र — सत्यपुत्र — शालिशुक या निर्बंदन मूक कुमार

कुछ ऐतिहासिक विद्वान् सम्प्रति का उत्तराधिकारी शालिशुक को मानते हैं। इसने ई० पू० २०७ से ई० पू० २०६ तक अर्थात् एक वर्ष राज्य किया था। शालिशुक का पुत्र देववर्मा हुआ, इसने ई० पू० २०६ से ई० पू० १९९ अर्थात् ७ वर्ष राज्य किया। इसके दो पुत्र हुए शतधनुष और बृहद्रथ। शतधनुष ने ई० पू० १९८ से ई० पू० १९१ तक अर्थात् ८ वर्ष राज्य किया तथा बृहद्रथ ने ई० पू० १९१ से ई० पू० १-४ तक अर्थात् ७ वर्ष राज्य किया। इसके पश्चात् इस वंश का योग्य राज्यशासक के न होने से राज्य समाप्त हो गया।

हिन्दू पुराणों में कुणाल का शासन काल ई० पू० २३२ से ई० पू० २२४ तक अर्थात् ८ वर्ष तक माना गया है। परन्तु जैन और बौद्ध साहित्य में अन्धा होने के कारण कुणाल को शासक नहीं माना। वास्तविक बात यह है कि पुराणों में अशोक तक तो मौर्य वंशावली एक रूप में मिलती है, पर इसके बाद की वंशावली में परस्पर मत भिन्नता है। विष्णु पुराण और भगवत पुराण में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम 'सुयश' है; किन्तु उसी स्थान पर वायु पुराण में 'कुणाल' और ब्रह्माण्डपुराण में कुशाल है। सुयश, कुणाल या कुशाल के पीछे विष्णुपुराण में 'दशरथ' का नाम है एवं वायु और ब्रह्माण्डपुराण में बन्धुपालित का नाम मिलता है। भागवतकार इसी स्थान पर 'संयत' नाम लिखते हैं। मत्स्य पुराण में अशोक का उत्तराधिकारी 'सप्तति' (सम्प्रति) बताया है। पुराणकारों की इस मत भिन्नता के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अशोक के पिछले मौर्य राजाओं की वंशावली की पुराणकारों को यथार्थ जानकारी नहीं थी। मत्स्यपुराण के कथन का समर्थन जैन और बौद्ध साहित्य से होता है, अतः अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति को ही मानना उचित है। मत्स्यपुराण में बताया है—

षट्त्रिंशत्तु समा राजा, भविताऽशोक एव च।
सप्तति (सम्प्रति) दर्शवर्षाणि, तस्य नप्ता भविष्यति॥
राजा दशरथोऽष्टौ तु, तस्य पुत्रो भविष्यति।

—मत्स्यपुराण अध्याय २७२ श्लो० २३-२४

बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान के २९ वें अवदान में जो वृत्तान्त आया है [1], उससे प्रकट है कि अशोक की बीमारी के समय अशोक का पौत्र युवराज सम्प्रति पाटलीपुत्र में था और अशोक की मृत्यु के उपरान्त उसका वहीं राज्याभिषेक हुआ।

१—" अपि च राधगुप्त, अयं मे मनोरथो बभूव कोटीशतं भगवच्छासने दास्यामीति, स च मेऽभिप्रायो न परिपूर्णः। ततो राजाऽशोकेन चत्वारः कोटयः परिपूरयिष्यामीति हिरण्यं सुवर्णं कुर्कुटारामं प्रेषयितुमारब्धः।

अवदान कल्पलता में क्षेमेन्द्र ने भी सम्पदी (सम्प्रति) को अशोक का पौत्र और उत्तराधिकारी माना है। इसने लिखा है—

तत्पौत्रः संपदी नाम, लोभान्धस्तस्य शासनम्।
दानपुण्यप्रवृत्तस्य, कोषाध्यक्षैरवारयत्।८॥
दाने निषिद्धे पौत्रेण, संघाय पृथ्वीपतिः।
भैषज्यामलकस्यार्धं, ददौ सर्वस्वतां गतम् ॥९॥

—बोधिसत्त्वावदानकल्पलता पल्लव ७४ पृ० ५९७

तस्मिंश्च समये कुनालस्य संपदी नाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्तते। तस्यामात्यैरभिहितं—कुमार! अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी इदं च द्रव्यं कुर्कुटारामं प्रेष्यते कोशबलिनश्च राजानो निवारयितव्यः। यावत् कुमारेण भांडागारिकः प्रतिषिद्धः। यदा राज्ञोऽशोकस्याप्रतिषिद्धाः (?) तस्य सुवर्णभाजने आहारमुपनाम्यते, भुक्त्वा तानि सुवर्णभाजनानि कुर्कुटारामं प्रेषयति।………
अथ राजाऽशोक, साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच दाक्षिण्यात् अनृतं हि किं कथय. भ्रष्टाधिराज्या वयम्, शेषं त्वामलकार्धमित्यवसितं यत्र प्रभुत्वं मम। ऐश्वर्यं धिगनार्यमुद्धतनदीतोयप्रवेशोपमम्, मर्त्येन्द्रस्य ममापि यत् प्रतिभयं दारिद्र्यमभ्यागतम्॥

अर्थात्— राजा अशोक को बौद्धसंघ को सौ करोड़ सुवर्णदान देने की इच्छा हुई और उसने दान देना शुरु किया। ३६ वर्ष में उसने ९६ करोड़ सुवर्ण तो दे दिया, पर अभी ४ करोड़ देना बाकी था, तब वह बीमार पड़ गया, जिंदगी का भरोसा न समझकर उसने अवशेष चार करोड़ को चुका देने के लिये खजाने से कुर्कुटाराम में भिक्षुओं के लिये द्रव्य भेजना शुरु किया। मन्त्रियों ने कुनाल पुत्र संपदी से कहा—राजन् राजा अशोक अब थोड़े दिन ही रहनेवाला है, राजाओं का खजाना बल है, अतः कुर्कुटाराम जो द्रव्य भेजा जा रहा है, उसे रोकना चाहिये। मंत्रियों की सलाह से युवराज संपदी ने कोशाध्यक्ष को धन देने से रोक दिया। इस पर अशोक ने अपने भोजन करने के सोने, चाँदी और अन्य धातुओं के पात्रों को भी दान कर दिया अब राजा के पास आधा आंवला शेष रह गया। उसने मन्त्रियों और प्रजागण को एकत्रित कर कहा—बताओ इस समय पृथ्वी में सत्ताधारी कौन है? सभी ने एक स्वर से कहा—आपही ईश्वर सत्ताधारी राजा हैं। अशोक—तुम दाक्षिण्य से झूठ क्यों बोलते हो? इस समय हमारा प्रभुत्व अर्धामलक पर है। इतना कह कर अशोक ने उसे भी पास के एक व्यक्ति द्वारा कुर्कुटाराम संघ के पास भेज दिया। संघ ने यूषमें मिलाकर आपस में बांट लिया। राजा अशोक ने अन्तिम समय में राधगुप्त अमात्य के समक्ष चार करोड़ स्वर्णदान के बदले में समस्त पृथ्वी का दान कर दिया। अशोक की मृत्यु के उपरान्त अमात्यों ने संघ में ४ करोड़ सुवर्ण देकर पृथ्वी को छुड़ाया और बाद में संपदी का राज्याभिषेक किया गया।

—दिव्यावदान २९

जैन और बौद्ध साहित्य में कुणाल का अन्धा होना बताया गया है। विमाता के विद्वेष के कारण कुणाल को अपने नेत्रों से हाथ धोना पड़ा था। दिव्यावदान और अवदान कल्पलता में लिखा है कि कुणाल की आँखें बड़ी सुन्दर थीं, जिससे उसकी सुन्दर आँखों पर मोहित होकर अशोक की रानी तिष्यरक्षिता ने उससे अनुचित प्रार्थना की, किन्तु कुणाल ने उसे स्वीकार नहीं किया। अपना अपमान समझकर रानी अत्यन्त असन्तुष्ट हुई और अवसर मिलने पर बदला लेने की बात तय करली। एक बार राजा अशोक बीमार पड़ा था, वैद्यों ने नाना प्रकार से चिकित्सा की, किन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। तिष्यरक्षिता ने अपनी चतुराई और परिचर्या से सम्राट् अशोक को निरोग कर लिया। प्रसन्न होकर महाराज अशोक ने उसे सात दिन का राज्य दिया। राज्य प्राप्त कर तिष्यरक्षिता ने तक्षशिला [1] के अधिकारी वर्ग के पास आज्ञापत्र भेजा कि कुणाल हमारे कुल का कलंक है, अतः इसकी आँखें निकाल ली जायें। फलतः कुणाल को आज्ञा प्राप्त कर स्वयं अन्धा होना पड़ा।

जैन ग्रन्थों में बताया है कि विद्याध्ययन के समय ही अवन्ति में कुणाल को विमाता तिष्यरक्षिता के षड्यन्त्र के कारण अन्धा होना पड़ा था [2]। कुणाल ने अपनी बुद्धिमत्ता से अपने पुत्र सम्प्रति को अशोक से राज्य दिलवा दिया था। सम्प्रति के सम्बन्ध में जैन लेखकों में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम मत बृहत्कल्पचूर्णि कल्पकिरणावली, परिशिष्टपर्व आदि का है [3]। इस मत के अनुसार कुणाल ने सम्प्रति की उत्पत्ति के अनन्तर अशोक से उसके लिये राज्य मांगा; अशोक ने उसी समय राज्य दे दिया। दूसरा मत निशीथ चूर्णि का है, [4] इसके अनुसार सम्प्रति को कुमार भुक्ति में उज्जयिनी का राज्य मिला था।

इतिहासकारोंने जो कुणाल का राज्यकाल ८ वर्ष बताया है तथा उसे अवन्ति या तक्षशिला का शासक लिखा है; जैन और बौद्ध मान्यता के अनुसार भी इस कथन को

१—जैन ग्रन्थों में कुणाल को अवन्ति में अन्धा किया गया बताया है, किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में तक्षशिला में। इन दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि प्राचीन भारत में अवन्ति और तक्षशिला एक ही नगरी थी। बौद्ध साहित्य में अवन्ति के ही अर्थ में तक्षशिला का प्रयोग हुआ है। वैजयन्ति कोश में बताया भी है—"अवन्ती स्यात्तक्षशिला" —वैजयन्ती

२— जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १६ किरण २ पृ० ११५

३— किं काहिसि अंधओ रज्जेणं कुणालो भणति—मम पुत्तोत्थि संपती नाम कुमारो, दिन्नं रज्जं—बृहत्कल्पचूर्णि २२

+ + तस्य सुतः कुणालस्तन्नन्दनस्त्रिखण्डभोक्ता संप्रति नामा भूपतिः अभूत्, स च जातमात्र एव पितामहदत्तराज्यः। —कल्पकिरणावली १६५

४—उज्जेणी से कुमारभोत्ती दिण्णा— निशीथचूर्णि

एक प्रकार से ठीक कहा जा सकता है। संभवतः अन्धा होने के पूर्व कुणाल अवन्ति का युवराज था, अतः यहाँ का शासन भार कुणाल के हाथों में रहा हो। अन्धा होने के पश्चात् उसने अपने पिता अशोक से इसीलिये अपने पुत्र के लिये राज्य की याचना की थी कि अन्धा होने के कारण उसके हाथ से गया हुआ उज्जयिनी का राज्य-भार उसके पुत्र को मिल जाय। क्योंकि महाराज अशोक ने कुणाल के अन्धा होने के अनन्तर अपने दूसरे राजकुमार को अवन्ति का शासक बना दिया था[1] तथा कुणाल की गुजर-बसर के लिये एक-दो गाँव दे दिये थे। इस प्रकार की विचित्र असमंजस कारक परिस्थिति में कुणाल को या उसके पुत्र सम्प्रति को अवन्ति का शासन मिलना जरा कठिन था; इसीलिये बुद्धिमान कुणाल ने तरकीब सोच कर राजा को वचन बद्धकर अधिकार प्राप्त किया।

मेरे इस कथन का अभिप्राय यह है कि अशोक के पश्चात् कुणाल ने शासन नहीं किया; किन्तु उसकी जीवित अवस्था में कुछ दिनों तक युवराज पद का भार कुणाल के ऊपर रहा था। अवन्ति में अमात्यों की परिषद् की सहायता से कुणाल ने राज्य कार्य किया था। अशोक की मृत्यु के पूर्व सम्प्रति युवराज पद पर आसीन था तथा अवशेष चार करोड़ सुवर्णदान, जिसे अशोक खजाने से कुर्कुटाराम पहुँचाना चाहता था, सम्प्रति ने रुकवा दिया था। युवराजकाल में सम्प्रति अवन्ति का शासक भी था। आर्य सुहस्ति से सम्प्रति ने युवराजकाल में ही जैनधर्म की दीक्षा ली थी, इसी कारण जैन लेखकों ने उसे दीक्षा के समय युवराज या अवन्ति शासक लिखा है। दिव्या-वदान और अवदान कल्पलतावृत्ति नामक बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट बताया गया है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध संघ में चार करोड़ स्वर्ण दे कर सम्प्रति राज्यासन पर प्रतिष्ठित हुआ[2] था। इसने अशोक के दान को रोक दिया था, इसलिये बौद्ध लेखकों ने इसकी निन्दा की है, इसे लोभी, मदान्ध आदि कहा है।

१—परिनिष्ठिता उज्जेणी अरगण्स्स दिएणा—कल्पचूर्णि

२—गङ्गाम्बुभाररुचिरां चतुरम्बुराशि-वेलाविलासवसनां मलयावतंसाम्।
दत्त्वाऽखिलां वसुमतीं स समाससाद, पुण्यं प्रमाणकलनागहनं हिताय ॥
प्रख्यात षण्णवति कोटिसुवर्णदाने, याते दिवं नरपतावथ तस्य पौत्रः।
शेषेण मन्त्रिवचसा क्षितिमाजहार, स्पष्टक्रयी कनककोटिचतुष्टयेन ॥

× × × अवदान कल्प ल० प० ७४ श्लो० ११-१२

एष राज्ञोऽशोकस्य मनोरथो बभूव कोटिशतं भगवच्छासने दानं दास्यामीति तेन षण्णवति-कोटयो दत्ता यावद् राजा प्रतिषिद्धः, तदभिप्रायेण राज्ञा पृथिवी संघे दत्ता यावदमात्यैश्चतस्रः कोटयो भगवच्छासने दत्त्वा पृथिवीं निष्क्रीय संपदी राज्ये प्रतिष्ठापितः। —दिव्यावदान २९

अशोक की मृत्यु के उपरान्त सम्प्रति ने पाटलीपुत्र के सिंहासन पर स्थित हो अपनी राज्य व्यवस्था को सुदृढ़ किया। उसने युवराजकाल में ही काठियावाड़ और दक्षिणापथ को स्वाधीन कर लिया था। निशीथचूर्णि में बताया गया है—"तेण सुरट्ठ-विसयो अंधा दमिला य ओयविया।" इसी सम्बन्ध में कल्पचूर्णिकार ने लिखा है—"ताहे तेण संपइणा उज्जेणीआइं कउं दक्खिणावहो सव्वो तत्थ ठिएण वि अज्जाविता" अर्थात् उस सम्प्रति नरेश ने समस्त दक्षिणापथ को स्वाधीन कर लिया था। इस प्रकार पश्चिम और दक्षिण भारत राज्याभिषेक होने के पहले ही युवराज अवस्था में सम्प्रति के आधीन थे। पूर्वीय भारत मगध के राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त होने के पश्चात् सम्प्रति के अधिकार में आया।

मुनिश्री कल्याण विजय जी ने 'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' नामक पुस्तक में अनुमान किया है कि सम्प्रति के पूर्व पूर्वीय भारत का कुछ भाग अशोक के द्वितीय पुत्र दशरथ के आधीन था। कुणाल के अन्धा होने के उपरान्त जब तक अवन्ति का शासन सम्प्रति को नहीं मिला, तब तक अशोक का यही द्वितीय पुत्र दशरथ अवन्ति का शासक रहा होगा। मुनि जी के इस अनुमान की पुष्टि दशरथ के नाम के उपलब्ध शिलालेखों से भी हो जाती है।

सम्प्रति ने अपने राज्य में अपनी कीर्ति को स्थायी रखने के लिये शिलालेख और स्तम्भ लेख खुदवाये तथा अनेक स्तूपों का निर्माण कर जनता का कल्याण किया। यह इतना निरभिमानी था कि इसने अपना पूरा नाम किसी भी शिलालेख या स्तम्भ लेख में उत्कीर्णित नहीं कराया। केवल महाराज प्रियदर्शिन के नाम से सभी लेख खुदवाये हैं। भ्रमवश लोगों ने अशोक को प्रियदर्शिन मान लिया है, जिससे सम्प्रति की सारी कृतियां आज अशोक की मानी जाने लगी हैं। अशोक के नाम के जितने शिलालेख प्रचलित हैं, उनमें दो-तीन को छोड़ शेष सभी सम्प्रति के हैं। सम्प्रतिने अपने प्रिय अहिंसा धर्म के प्रचार के लिये जैनमान्यता के अनुसार धर्माज्ञाएँ प्रचलित की हैं। महाराज सम्प्रति ने प्रमुख चौदह शिलालेखों को तीर्थंकरों के निर्वाण स्थान, अपने कुटुम्बियों के मृत्यु स्थान और अपने जन्म स्थान पर खुदवाया है। उसका विश्वास था कि निर्वाणस्थान पर यात्रा के लिये आनेवाले यात्री इन धर्माज्ञाओं से लाभ उठायेंगे तथा संसार से विरक्त हो, अपना कल्याण करेंगे।

जैन सम्प्रदाय के २४ तीर्थंकरों में से श्री ऋषभ नाथ ने अष्टापद पर्वत से, नेमिनाथ ने गिरनार पर्वत से, वासुपूज्य स्वामी ने चम्पापुर के समीपवर्ती पर्वत से, महावीर स्वामी ने पावापुरी से और शेष बीस तीर्थंकरों ने श्री सम्मेदशिखर (पार्श्वनाथ हिल) से

निर्वाण लाभ किया है। सम्प्रति ने इन निर्वाण स्थानों पर तथा अपने जन्म स्थान भाब्रू-विराट एवं अपने कुटुम्बियों के समाधिस्थानों पर शिलालेख खुदवाये हैं। इसने अपना प्रिय चिन्ह हाथी प्रत्येक शिलालेख में अङ्कित कराया है। हाथी के प्रिय होने का कारण यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर की माता के सोलह स्वप्नों में श्वेत हाथी प्रथम स्वप्न है। जैनग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि सम्प्रति के जन्म के पूर्व इसकी माता ने भी श्वेत हाथी का स्वप्न देखा था, अतः इसे हाथी का चिन्ह अत्यन्त प्रिय रहा। अशोक के नाम से प्रचलित चौदह शिलालेख सम्प्रति के ही हैं। वर्णन निम्न प्रकार है।

१—कालसी[1] (शिलालेख, हाथी खुदा हुआ है)—आदिनाथ (ऋषभ नाथ) तीर्थंकर का मोक्ष स्थान अष्टापद पर्वत बताया है। प्राचीन काल का अष्टापद तो देवों ने नष्ट कर दिया है। सम्राट् प्रियदर्शिन के समय में कालसी ही अष्टापद माना जाता था; अतएव इसकी तलहटी में शिलालेख सम्राट् प्रियदर्शिन ने खुदवाया।

२—जूनागढ़ (गिरनार जी, शिलालेख और हाथी उत्कीर्ण है)—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का मोक्ष स्थान गिरनार पर्वत बताया गया है। प्राचीन पर्वत की तलहटी धीरे-धीरे हटकर वर्तमान गिरनार पर्वत के स्थान पर पहुंच गयी है। सम्राट् प्रियदर्शिन के समय यह तलहटी उसी स्थान पर थी, जिस पर यह शिलालेख अङ्कित है। हमारे इस कथन की पुष्टि सुदर्शन तालाब की प्रशस्ति से भी होती है। इसमें बताया गया है कि यह तालाब गिरनार पर्वत की तलहटी में बनवाया गया था। परन्तु आज यह गिरनार से दूर पड़ता है[2]।

धौली[3] (शिलालेख, स्थूल हाथी अङ्कित है)—जैनागम में बीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि श्री सम्मेदशिखर (पार्श्वनाथ हिल) को माना गया है। सम्राट् प्रिय-

१—यह स्थान संयुक्त प्रदेश के देहरादून जिले में [illegible] दक्षिण की ओर जमुना और टोंस के संगम पर है। हाथी की मूर्ति के नीचे [illegible] लिखा है।

२—गिरनार जी की तलहटी में सुदर्शन नामका तालाब है, इसके पुनरुद्धार सम्बन्धी शिलालेख का पीटर्सन साहब ने अनुवाद करते हुए कहा है कि इस तालाब को प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में विष्णुगुप्त ने बनवाया था। इसके पश्चात् इसके नालों आदि को बंधवाके सम्राट् अशोक के समय में तुरस नामक सत्तधारी ने पहली बार सुधरवाया था। तत्पश्चात् दूसरी बार पुनरुद्धार प्रियदर्शिन् के समय में हुआ। इस कथन में चन्द्रगुप्त, अशोक और प्रियदर्शिन इन तीनों शासकों के नाम आये हैं। अतएव अशोक और प्रियदर्शिन् ये दो भिन्न व्यक्ति हैं। प्रियदर्शिन् सम्प्रति ही था, जैनागम में इस नाम से इसका उल्लेख किया गया है।

—जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १६ किरण २ पृ० ११६, तथा भावनगर के संस्कृत, प्राकृत शिलालेख पृ० २०

३—यह स्थान आजकल पुरी जिले में भुवनेश्वर से सात मील दक्षिण धौली नामक गाँव के पास अश्वत्थामा पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान पर ११ प्रज्ञापन खुदे हैं। हाथी

दर्शन के समय में पार्श्वनाथ हिल की तलहटी धौली के निकट थी। इसी कारण सम्राट् ने इस पवित्र क्षेत्र की तलहटी में शिलालेख खुदवाया था। इस शिलालेख के पास स्थूल हाथी की मूर्त्ति अङ्कित की गयी है, जो इस बात को प्रकट करती है कि सम्राट् इस स्थान को अन्य स्थानों की अपेक्षा विशेष पवित्र समझता था; क्योंकि इस पर्वत पर से बीस तीर्थंकरों ने निर्वाण लाभ किया है। प्राचीनकाल में खण्डगिरि, उदयगिरि सम्मेदशिखर पर्वत के ही अन्तर्गत थे। खण्डगिरि नाम स्वयं इस बात का द्योतक है कि पहाड़ के खण्डित हो जाने के कारण ही यह नाम पड़ा है। महाराज खारवेल के समय में सम्मेदशिखर पर्वत की श्रेणियाँ खण्डगिरि, उदय गिरि तक थीं। कलिंग नृपति खारवेलने खण्डगिरि हाथी गुंफा का शिलालेख इसी कारण खुदवाया था कि वह इसे सम्मेदशिखर पर्वत का भाग मानता था।

४ रूपनाथ[1] (लघु शिलालेख)— बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की निर्वाण भूमि चम्पापुरी के आस-पास का कोई पर्वत था। इस चम्पापुरी को महाराज कुणिक ने ई० पू० ४२४ में बसाया था। यह चम्पानगरी रूपनाथ और भरहुत के बीच में थी। चम्पानगरी के निकट के पर्वत की तलहटी रूपनाथ में ही थी। यद्यपि इस स्थान पर के लेख अस्पष्ट हैं तथा हाथी का चिन्ह भी मिट गया प्रतीत होता है।

५ पावापुरी— यह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाणभूमि है। जिस प्रकार अन्य तीर्थंकरों ने पर्वत के ऊपर ध्यानरूढ हो निर्वाण लाभ किया था, उस प्रकार भगवान् महावीर ने नहीं। इन्होंने निर्जन सुरम्य वन के मध्य पद्म-सरोवर से युक्त पावापुरी के स्थल भाग से शुक्ल ध्यान द्वारा निर्वाण लाभ किया है। इस स्थान पर कोई पहाड़ न होने के कारण सम्राट् सम्प्रति शिलालेख नहीं खुदवा सका है।

६-७ शाहबाज[2] गढ़ी और मानसेरा[3] —ये दोनों स्थान इनके वंश के लोगों के सामने की आधी मूर्ति खोदकर बनायी गयी है। छठे प्रज्ञापन के अन्त में 'सेतो' शब्द भी आया है।

१—आजकल रूपनाथ मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में माना जाता है, प्राचीन चम्पापुरी रूपनाथ और भरहुत के मध्य में थी तथा वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण भी इसी चम्पापुरी के निकटवाली पहाड़ी से हुआ था।

२— यह गाँव पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के पेशावर जिले की युसुफजई तहसील में है। इसके पास एक चट्टान पर चौदह प्रज्ञापनाएँ उत्कीर्णित हैं। यह पहाड़ी पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व है।

३—यह पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के हजारा जिले में अबटाबाद नगर से १५ मील उत्तर की ओर है।

के मृत्यु स्थान हैं। सम्राट् बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र पंजाब के विद्रोह को शान्त करने गया था। उपद्रवकारियों ने शाहबाज गढ़ी में इसकी हत्या कर दी थी। सम्राट् सम्प्रति ने इसी कारण शाहबाज गढ़ी में शिलालेख अङ्कित कराया। मानसेरा सम्राट् अशोक के छोटे भाई का मृत्यु स्थान है, वह भी किसी उपद्रव को शान्त करने गया था।

८—भाब्रू[1] विराट्—यह राजा प्रियदर्शिन का जन्म स्थान है। जन्मस्थान के प्रेम से प्रेरित होकर प्रियदर्शिन ने इस स्थान पर शिलालेख अङ्कित कराया था।

९—सासाराम[2] —यह सम्राट् अशोक का मृत्यु स्थान है। यहाँ पर पाषाण खण्डों पर शिलालेख अङ्कित कराया गया है इस लेख में वीरनिर्वाण संवत् २५६ दिया गया है तथा इस समय प्रियदर्शिन की अवस्था ३२॥ वर्ष की बतायी गयी है।

१०—मास्कि[3]— महाराज अशोक के भाई तिष्य और कुमार कुणाल के समान अवन्ति में रहनेवाले माधवसिंह का यह मरण स्थान है। इसी कारण यहाँ पर शिलालेख अंकित कराया है।

११, १२, १३—सिद्ध[4] गिरि, ब्रह्मगिरि[5] और चित्तल[6] दुर्ग— महाराज चन्द्रगुप्त, भद्रबाहु स्वामी और कान्त मुनिराज के समाधि-मरणों की स्मृति के लिये इन स्थानों में लेख अंकित कराये हैं। यहाँ उन तीनों की मूर्त्तियाँ भी वर्तमान हैं।

१४ सोपारा[7] —इस स्थान पर भी किसी मुनि की समाधि हुई है। यहाँ पर चन्द्रगुप्त के साथ में विहार करनेवाले क्षेमंकर नामक मुनि के समाधि ग्रहण करने का उल्लेख भी मिलता है, अतः इस स्थान पर प्रियदर्शिन ने शिलालेख अंकित कराया था।

सम्राट प्रियदर्शिन ने जनता में धर्म प्रचार के लिये शिलालेखों के अतिरिक्त स्तम्भ और स्तूप भी स्थापित किये तथा स्तम्भों के उपर सिंह की मूर्त्ति अंकित कर स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण कराये। जिस प्रकार इसने पर्वतों की शिलाओं पर शिलालेखों के लिये

१—यह स्थान जयपुर राज्य में है। जिस पत्थर पर यह शिलालेख उत्कीर्ण है, वह आजकल कलकत्ते की बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के भवन में प्रिंसेप की मूर्त्ति के सामने सुरक्षित है।

२—बिहार के शाहाबाद जिले में है।

३—यह स्थान निजाम राज्य के रायचूर जिले में है।

४—यह स्थान उत्तर मैसूर के चितलदुर्ग जिले में है।

५—उत्तर मैसूर के चितलदुर्ग जिले में यह आजकल है।

६—यह मैसूर राज्य में है।

७—यह बम्बई के पास थाना जिले में है।

निर्वाण स्थान, समाधि स्थान एवं अपने जन्म स्थान को पसन्द किया था उसी प्रकार स्तम्भों के लिये अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के तप स्थान और उपसर्ग स्थानों को पसन्द किया। स्तम्भ लेखों में यह निश्चय करना कठिन है कि सम्राट् सम्प्रति के स्तम्भ कौन-कौन हैं; क्योंकि महाराज अशोक ने भी ८४०० स्तम्भों का निर्माण किया था अतः सम्राट् सम्प्रति और सम्राट् अशोक इन दोनों के स्तम्भों का मिश्रण हो गया है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि जिन स्तम्भों पर सिंह की मूर्त्ति है, वे सभी स्तम्भ सम्राट् सम्प्रति के हैं। इसने अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के लांछन सिंह को मूर्त्ति को स्तम्भों पर स्थापित किया था। इसका अभिप्राय यह था कि सामान्य जनता भी वीरप्रभु का स्मरण उनके लांछन सिंह को देखकर कर सके।

श्री डा० त्रिभुवनदास जी ने स्तूपों के निर्माण का कारण बताया है कि भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के अनन्तर उनके पट्टधर आचार्य या अन्य प्रमुख जैनधर्म के प्रचारक श्रावक, जिन्होंने समाधिमरण धारण किया था; के अग्नि संस्कार करके उत्पन्न हुए भस्म को सुरक्षित रखने के लिये इन स्तूपों का निर्माण सम्राट् सम्प्रति उर्फ प्रियदर्शिन ने कराया था। इसी कारण इन स्तूपों को भस्म करण्डक कहा गया है। अथवा यह भी संभव है कि महावीर के अनन्तर हुए जैनाचार्यों के समाधि स्थान पर उनकी भस्म को सुरक्षित रखने के लिये स्तूपों का निर्माण कराया गया हो। मेरा अनुमान है कि चौबीस तीर्थंकरों के पञ्चकल्याणक स्थानों पर सम्प्रति ने स्तूपों का निर्माण कराया था। यद्यपि मेरे अनुमान की पुष्टि अन्य प्रमाणों से नहीं होती है फिर भी अब तक जो स्तूपों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे उक्त अनुमान को पर्याप्त बल मिलता है।

वर्तमान राजमुद्रा

वर्तमान राजमुद्रा, जिसे भारत सरकार ने अशोक की मुद्रा मानकर स्वीकार किया है, वास्तव में सम्राट् सम्प्रति की है। सम्राट् सम्प्रति उर्फ प्रियदर्शिन ने सारनाथ में जो स्तम्भ खड़ा किया था, उसपर तीन सिंहों की मूर्त्तियाँ, सिंहों के नीचे धर्मचक्र यथा इसके दाईं, बाईं ओर बैल और घोड़े की मूर्त्तियाँ अंकित करायीं है। इस मुद्रा के सभी प्रतीकों का जैन संस्कृति से सम्बन्ध है। सिंह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का लांछन था, अतः अन्तिम तीर्थंकर की स्मृति की लिये सिंह की मूर्त्ति को अपनाया था। जैनाम्नाय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन रत्न माने जाते हैं, इन तीनों का उपदेश भगवान् महावीर ने दिया था अतः तीन सिहों की मूर्त्तियाँ रखीं। इन मूर्त्तियों का सन्निवेश भी जैन संस्कृति के प्रतीकों के अनुसार किया गया है। बीचवाला सिंह सम्यग्दर्शन का प्रतीक है तथा अगल-

बगल के सिंह, जिनका विरुद्ध दिशाओं की ओर मुख है; सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के प्रतीक हैं ।

धर्मचक्र के दाईं, बाईं ओर रहनेवाले बैल और घोड़े का सम्बन्ध जैनप्रतीकों से हैं। बैल इस काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का लांछन है तथा घोड़ा तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ का लांछन है; सम्राट् सम्प्रति ने द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के चिन्ह हाथी का प्रयोग इसलिये नहीं किया कि उसने शिलालेखों में हाथी का प्रयोग किया था। अतः प्रथम और तृतीय तीर्थंकर के चिन्हों को अंकित कर अपनी धर्म-भावना का परिचय दिया।

धर्मचक्र को बौद्ध संस्कृति से प्रभावित इतिहासकार बौद्धाम्नाय की मौलिक देन मानते हैं, परन्तु वास्तविकता कुछ और है। यह जैन प्रतीक है, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने तक्षशिला में इसका प्रवर्तन किया था। यदि यह बौद्ध परम्परा का प्रतीक होता तो प्राचीन पाली साहित्य में इसको अवश्य महत्वपूर्ण स्थान मिलता। प्राचीन जैनागम में जो कि निश्चय बौद्धागम से प्राचीन हैं, धर्मचक्र का उल्लेख मिलता है तथा योजन प्रमाण सुविस्तृत सर्वरत्नमय धर्मचक्र की पूजा किये जाने का कथन वर्तमान है। धर्मचक्र प्राचीन जैन मूर्त्तियों पर भी अंकित मिलता है। कुषाणकाल से लेकर मध्य काल तक की जैन प्रतिमाओं के नीचे धर्मचक्र का चिन्ह अवश्य रहा है। मुगल काल में धातु प्रतिमाएँ भी छोटी बनने लगी थीं, जिससे इस सांस्कृतिक चिन्ह को प्रतिमा निर्माता भूल गये। पटना म्यूजिम में एक धातु का सुन्दर धर्मचक्र वर्तमान है, जो सातवीं-आठवीं शताब्दी का है। आरा के श्री आदिनाथ जिनालय, धनुपुरा में श्याम-वर्ण की प्रतिमा के नीचे धर्मचक्र अंकित है। जैन पुराणों में बताया गया है कि प्रत्येक तीर्थंकर के समवशरण के दरवाजे पर सर्वतोभद्र यक्ष धर्मचक्र अपने सिर पर लिये खड़ा रहता था। अतः यह निश्चित है कि धर्मचक्र जैन संस्कृति का प्रतीक है।

अतएव वर्तमान राजमुद्रा का जैन संस्कृति से सम्बन्ध है। बौद्ध संस्कृति से खींचतान कर कोई भले ही सम्बन्ध जोड़ने का उपक्रम करे, किन्तु तथ्य यही है कि सम्राट् सम्प्रति ने इस मुद्रा को स्तम्भ पर अंकित कराया था। गणतन्त्र भारत ने इस मुद्रा को अशोक मुद्रा के नाम से स्वीकार किया है; पर वास्तविक इतिहास को अवगत कर इसे जैनमान्यता मिलनी चाहिये।

विविध-विषय

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०, डी० एल०]

१— "श्रीमच्छंकरदिग्विजय" में जैन उल्लेख

आठवीं शताब्दि में वैदिकपरम्परा के अभ्युत्थान का श्रेय दक्षिण भारत के श्री शङ्कराचार्य को प्राप्त है। उन्होंने अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक-ज्ञान-प्रदान करने के साथ ही उनको वर्णाश्रम-धर्म का कट्टर पक्षपाती बनाया था। श्रमण परम्परा की उदारवृत्ति के लिये वह एक चिनौनी थी। श्री शङ्कराचार्य ने अपने मत का प्रचार करने के लिये भारत के भिन्न-भिन्न भागों का दौरा किया था और विविध मत-मतान्तरों के धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ भी किये थे। उनके इन दौरों और शास्त्रार्थों का विवरण "श्रीमच्छंकरदिग्विजय" नामक ग्रन्थ में श्री विद्यारण्यस्वामि नामक ग्रंथकर्त्ता ने संकलित किया है। हमारे सम्मुख उसकी 'आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क २२' नामक आवृति उपस्थित है। इसमें धनपति सूरि की टीका भी दी गई है, इसके अन्तर्गत हमको दो स्थलों पर जैनधर्म विषयक उल्लेख मिले हैं। पहले ही आन्ध्र-कर्णाटकादि देशों में वाद करते हुये जब वह उज्जैन पहुंचते हैं तो वहां किसी कौपीन मात्र धारी क्षपणक से उनका वाद होता है। टीकाकार इस घटना को निम्न प्रकार चित्रित करता है :—

"कौपीन मात्रसंधारी जैनस्तु तत आगतः।
मलेन विदग्धसर्वाङ्गः सदाऽर्हन्नम इत्यसौ ॥७४॥१५॥
उच्चान्नसकृच्चोचैः शून्याङ्गः शून्यपुण्ड्रकः।
बिन्दुपुण्ड्रमेतश्च शिष्यैः सर्वभयंकरः ॥७५॥
पिशाचवत्समागत्य प्राह श्री शंकरं गुरुम्।
जिनोदेवोऽस्ति सर्वेषां मुक्तिदः प्राणिनां हृदि ॥७६॥
जीवात्मना स्थितः सोऽतिज्ञानमात्रेण सर्वदा।
मुक्तस्वात्तस्य देहस्य पातात्तु समनन्तरम् ॥७७॥
जीवः शुद्धः सदैवास्ति मलपिण्डस्तु देहकः।
स्नानादि कर्मणा नैव शुद्धिं याति कदाचन ॥७८॥
तस्मात्स्नानादिकं नैव प्रकर्तव्यं वृथा यतः।
इत्युक्तोऽसौ जगादेदं मैवं भो जैनदुर्मते ॥७९॥
जीवस्य देहत्रितयं हि विद्यते स्थूलश्च सूक्ष्मश्च तथैव कारणम्।
तेषां क्रमाज्ज्ञातु लयो भवेद्यदा स्यात्सच्चिदानन्दवपुस्तदा स्वयम् ॥८०॥

भिन्नोऽहमीशादिति धीरविद्या बद्धस्तयाऽभेदधिया विमुक्तः ।
एवं विमोक्षस्य सुदुर्लभस्य देहस्य पातान्न समाप्ति संभवः ॥८१॥
एवं श्रुत्वा शिष्ययुक्तः स जैनो भाषानेषाद्यैर्विमुक्तो गुरुणाम् ।
नित्यं धान्याकर्षणे संप्रयुक्तः पयास्याद्यैरेष जातो वणिग्वै ॥८२॥

इस प्रकरण में कोई मौलिक सैद्धान्तिक चर्चा का आभास नहीं मिलता, बल्कि जैन साधुओं के स्नानादि बाह्य क्रियायों पर आक्षेप किये हैं; जो निस्सार हैं। गङ्गा-यमुना में प्रतिदिन स्नान करने से किसी की मुक्ति कैसे संभव है? किन्तु उपरोक्त अंश में इसी कारण जैनों को पद-पद पर कोसा गया है! यह भी लिखा है कि इस समय जैनी रुपये कमाने में मस्त हो जाने के कारण निरे बनिये हो गए हैं।

दूसरा स्थल बाह्लिका प्रदेश में आर्हत-समागम-प्रसंग का निम्न प्रकार उल्लेख है :—

"प्रतिपद्य तु बाह्लिकान्महर्षौ विनयिभ्यः प्रविवृण्वति स्वभाष्यम् ।
अवदन्नसहिष्णवः प्रवीणाः समये केचिदथाऽऽर्हताभिधाने ॥१४२॥
ननु जीवमजीवमास्रवं च श्रितवत्संवरनिर्जरौ च बन्धः ।
अपि मोक्ष उपैषि सप्तसंख्यान्न पदार्थान्कथमेव सप्तभङ्ग्या ॥११३॥इत्यादि

टीकाकार ने बाह्लीक प्रदेश के उन आर्हत (जैनों) को 'विवसनं समये प्रवीणाः' लिखा है, जिससे उनका दिगम्बर जैन होना सिद्ध है। (सत्यार्हतसंज्ञके विवसनसमये प्रवीणाः) इस प्रकरण में टीकाकार ने जैनों के सात तत्व, नौ पदार्थ और सप्तभङ्गी नयों का उल्लेख किया है और उनका निरसन अपने ढंग से करने के लिए असफल प्रयास किया है। सप्तभंगि-नय-ज्ञान को समझने में वह नितान्त असमर्थ रहा है। जैन विद्वानों ने इनका समुचित उत्तर लिखा है। अतः यहां कुछ लिखना व्यर्थ है। इन दो स्थलों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में जैनों सम्बन्धी और कोई उल्लेख नहीं है। कोसल के जैन राजा सुधन्वा को शङ्कर ने अपने मत में दीक्षित किया हो, ऐसा उल्लेख भी नहीं है! उज्जैन और बाल्हीक प्रदेशों में जैनों का प्राबल्य था, यह इससे स्पष्ट है।

२ गुणमाला-चउपई।

जैन सिद्धान्त भवन, आरा के हस्तलिखित ग्रन्थ १५८ संख्यक को अवलोकन करने का सुअवसर हमें भवन के अध्यक्ष मित्रवर पं० नेमिचन्द्र शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुआ। इस ग्रंथ का नाम 'गुणमाला-चउपई' है और इसे कवि खेमचन्द्र जी ने रचा था। यह बात ग्रंथ के अन्त में लिखे गए निम्नाङ्कित पुष्पिका वाक्य से स्पष्ट है :—

"इति श्री तपगच्छ मध्ये चन्द्रमाषायां (चन्द्रशाखायां) पंडित मुक्तिचंद्र तत् शिष्य पंडित श्री खेमचन्द्र विरचितायां गुणमाला-चौपई संपूर्णं। संवत् १७८८ वर्षे मिति चैत्रसुदि ५ दिन जति कुशला लिपिकृतं श्रीमालपुर मध्ये। श्रीरस्तुः कल्याणमस्तुः।"

इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रति को यति कुशल ने चैत्र सुदी ५ संवत् १७८८ में श्रीमालपुर में लिखा था। इस प्रकार यह प्रति लगभग २२० वर्ष पुरानी है। यद्यपि इसमें गज-सिंह-गुणमाल का प्राचीन आख्यान दिया गया है, परन्तु कविने उसमें अपने समय के समाज, सम्प्रदाय और राज्य का भी चित्रण किया है। कवि जम्बूद्वीप में २५॥ आर्य देशों का उल्लेख करता है—शेष सभी अनार्य देश थे। (आरिजदेश साढापचवीस, तिहां रहै धरमतराल अधीस। अवर सहु अनारिज देश। तिहां नहिं धरमतणौं लवलेस ॥२॥,) वह लिखता है कि पूर्वदेश में १२ योजन विस्तार की गोरख-पुरी नामक नगरी थी, जिसमें ८४ जातियों के लोग रहते थे। उनमें ३२ जातियां जुदी और पूर्ण थीं। खेद है, कवि ने इनके नाम नहीं लिखे हैं। नगर में जैनों और शैवों के मंदिर थे तथा बड़े २ हाट बाजार थे। सब लोग धर्मात्मा थे। इस गोरखपुरी में अरिमर्दन राजा राज्य करता था, जिसकी कनकावती रानी की कोख से गजसिंह नामक राजकुमार का जन्म हुआ था। उसकी शिक्षा का आरम्भ 'ॐ नमः सिद्धं' अनुरूप बारह खड़ी से हुआ था। वह जैनधर्म का श्रद्धालु था। राजा रानी ने पुत्र का विवाह किया और राज्यभार उसको सौंप कर स्वयं चारित्र पालने के लिये वनवासी हो गये। गोरखपुरी में सेठ-कन्या गुणमाला के रूप पर मोहित होकर गजसिंह ने उसके साथ विवाह किया था। इससे स्पष्ट है कि उस समय क्षत्रिय-वैश्यादि जातियों में परस्पर विजातीय विवाह होते थे। कारणवश गजसिंह गुणमाला से रूठ गये। गुणमाला अकेली रहने लगी। एक विद्याधर ने उसे शीलधर्म से डिगाना चाहा, परन्तु गुणमाला अपने धर्म पर दृढ़ रही। विद्याधर ने प्रसन्न होकर कतिपय विद्यायें गुण-माला को भेंट कीं। उधर गजसिंह उससे सशङ्क रहने लगा। वह किसी सिद्ध-पुरुष की तलाश में रहा और यंत्र-मंत्र के चक्र में पड़ गया। देवी, भैरव, यक्ष को बलि देने को उद्यत हुआ। मंत्रवादी योगी अवधूत ने अपनी करतूत से उसको मोह लिया। इस वर्णन मे तत्कालीन तांत्रिकों और गुरु गोरखनाथ के योगियों के कार्यों का परिचय मिलता है। उधर एक जोगिन के द्वारा गुणमाला की परीक्षा कराई गई। गुणमाला शील शिरोमणि थी—किसी की उसके आगे कुछ भी न चली। गजसिंह और गुणमाला सप्रेम रहने लगे। एक दिन एक विद्याधरी गजसिंह को हरले गई और उसीका पति

गुणमाला को उठा ले आया। दोनों ने दोनों को वासनानुरक्त बनाने के असफल प्रयत्न किये। गजसिंह भी स्वदार संतोषव्रत में दृढ़ रहे और गुणमाला तो अपने शील के लिए प्रसिद्ध थी ही—संकट के समय भी वह दृढ़ रही। परिणामतः उसकी रक्षा हुई। गजसिंह भी उससे आकर मिल गये। जो मानव अपने पर विश्वास रखता है, उसके संकट काल में उसका धर्म सहायक बनाता ही है। सिद्धाचल तीर्थ की वंदना का वर्णन विशद किया गया है। पुत्र प्राप्ति के लिए धर्म की आराधना को ही श्रेष्ठ उपाय बताया गया है। अन्त में उनके एक सुंदर पुत्र हुआ जिसे घोड़े पर चढ़कर चौगान खेलने का बहुत शौक था। एक दिन रत्नशेखर मुनि से उसने भी स्वदार संतोष व्रत ग्रहण किया और परिग्रह का परिमाण भी कर लिया। विदर्भनगर की राजकुमारी गांधारी आदि राजपुत्रियों से उसका विवाह किया गया। वह भी शीलव्रत पालने में सावधान था। उस समय समाज में शील मर्यादा स्त्री और पुरुषों के लिये समान रूप में व्यवहार्य थी, अन्त में गजसिंह और गुणमाला ने धर्मघोषमुनि से दीक्षा ले तप तपा। इस रचना में कविने धर्म के निरूपण के साथ सामाजिक परिस्थिति और साहित्य की सरसता का सुन्दर चित्रण किया है। इसे उन्होंने संवत् १७६१ में टोंक नगर में रचा था।

३ क्या शक और कुषाण आदि राज्यों में ब्राह्मण धर्म का नाश किया गया था?

स्व० म० म० श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल सदृश उच्चकोटि के इतिहासज्ञ विद्वान का मत था कि शक और कुषाण राजाओं के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म के साथ बहुत अत्याचार किया गया था। अपने 'भारतीय इतिहास' (Histori of India, 150 A D.–350. A. D. pp. 45-48) में उन्होंने यही लिखा है। पहली बात तो उन्होंने यह लिखी है कि इस काल के पुरातत्व में ऐसे हिन्दू अवशेषों का अभाव है, जिनसे यह सिद्ध हो कि उस समय हिन्दू पूजा (Orthodox Worship) का प्रचलन था; जब कि 'मत्स्यपुराण' से स्पष्ट है कि उस समय हिन्दू मन्दिर और मूर्त्तियां बनायी गयी थीं। अतः उन हिन्दू मन्दिरादि को शकों और कुषाणों ने नष्ट किया होगा। इसकी पुष्टि में वह यह भी लिखते हैं कि जैन और बौद्ध कला में अप्सरा और गजलक्ष्मी का समावेश हिन्दुओं से लेकर किया गया। किन्तु अप्सरा और गजलक्ष्मी का प्रचलन तो इस काल के पहले से भारतीय कला में होता आ रहा था। जैन शास्त्रों में स्वर्गों के वर्णन में देवाङ्गनाओं और अप्सराओं का वर्णन मिलता ही है—जब वह जैनों के शास्त्रीय विधान का मौलिक अंश है, तब यह कैसे संभव है कि उन्होंने इसकी नकल हिन्दुओं की अप्सराओं और गजलक्ष्मी से की होगी? जैनों में श्री, ह्री, धृति, लक्ष्मी नामक चार देवियां शाश्वत

मानी गई हैं। इस काल में कुषाण-पूर्व काल के हिन्दू मन्दिरों के न मिलने के कारण यह अनुमान करना भी कुछ जंचता नहीं कि उनको कुषाणों और शकों ने नष्ट किया होगा। निस्संदेह जायसवाल जी की विद्वत्ता और गवेषणा आदरणीय है; परन्तु इस प्रकरण में उन्होंने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे निर्णयात्मक नहीं प्रतीत होते। अल्बेरुनी ने शक-अत्याचार का जो उल्लेख किया है, वह साधारण है और सुना हुआ। 'गर्गसंहिता' में शकराज को लोभी, पापी परन्तु बलवान लिखा है तथा यह भी लिखा है कि असंख्य क्रूर शकों ने जनता को दुश्चरित्र बनाया था। गुणाढ्य ने अलबत्ता लिखा है कि इन म्लेच्छों ने ब्राह्मणों को नष्ट किया और उनके यज्ञयाग क्रियायों में बाधाएँ उपस्थित कीं। वे तापस कन्याओं को उठा ले जाते थे! उनसे कोई बुरा कर्म बचा नहीं था। (कथा-सरित्० १८) किन्तु इससे भी यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने ब्राह्मणों के मन्दिरादि नष्ट किये थे। 'महाभारत' (वनपर्व अ०१८८ और १९०) में सन् १५० से २०० ई० तक म्लेच्छराज्य होना लिखा है, जिसमें वर्णाश्रमी वैदिक धर्म का ह्रास होगा। आंध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाल्हीक और सूर आभीरों का शासनचक्र चलेगा। इस काल में वर्णाश्रमी जाति-पांति की उच्चता-नीचता का सर्वथा अभाव हो गया था; जैन और बौद्ध आचार्यों ने सभी मानवों की एक जाति घोषित की थी। आंध्र, शक, पुलिन्दादि राजा लोग जैन और बौद्ध धर्म में दीक्षित किये गये थे, जिसके कारण श्रमण परम्परा का उत्कर्ष हुआ था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि शकादि इतने नृशंस थे कि उन्होंने ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतारा और उनके धर्मायतन नष्ट किये—जैन और बौद्ध धर्म अहिंसा का उपदेश देते रहे और शकादि उस उपदेश को मान्य करते थे। अतः शकादि का ब्राह्मणों के प्रति यही अत्याचार हुआ कि उन्होंने उनकी धार्मिक मान्यताओं को प्रश्रय ही नहीं, बल्कि उनको पनपने भी नहीं दिया। इसलिये ही 'महाभारत' में लिखा है कि सारा देश म्लेच्छ हो गया था। कुछ ऐसा विदित होता है कि प्रारम्भ में जैनों और बौद्धों ने इस म्लेच्छ समझे जानेवाले मानवों में अपने धर्म का प्रचार कर के श्रमण संस्कृति को आगे बढ़ाया था। उनकी इस सफलता को देखकर ब्राह्मणों ने भी करवट बदली और वर्णाश्रमधर्म की मान्यता को शिथिल करके शकादि को वैष्णव धर्म में दीक्षित किया था। शक, क्षत्रप आदि राजाओं के अभिलेखों से यह सिद्ध है कि वे ब्राह्मणों का आदर करते थे और उन्होंने ब्राह्मणों को दान दिया तथा मन्दिर बनवाये थे। नानाघाट का आंध्रवंश के राजा का लेख एक यज्ञ के अवसर पर खुदवाया गया था।

आंध्रों ने ब्राह्मणों को भी दान दिये थे। यवन (Indo-Greek) राजाओं में अधिकांश बौद्ध और जैन हो गये थे। मिनेण्डर नामक राजा अत्यन्त न्यायी और लोकप्रिय था। यवनराज ऐण्टिअल्किडस का राजदूत हेलिकओदोर वैष्णवमतानुयायी हो गया था और उसने वेसनगर में विष्णुका गरुड़ध्वज बनवाया था। मि० विंसेन्ट स्मिथ ने इन्डोग्रीक शासन के विषय में ठीक लिखा है कि "बजाय इसके कि भारतीय राजा और प्रजा हैलेनिक (ग्रीक=यवन) लोगों का अनुकरण करें, उस समय भारत में आनेवाले यवनों का, चाहे वे राजा हों या जनसाधारण, अवश्य ही हिन्दुत्व ग्रहण करने की ओर झुकाव रहता था।" (औक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १४२) यवनों के अनुरूप शक-छत्रप भी हिन्दुत्व से अछूते न थे—वे भी बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हुये थे। उनमें बौद्ध और जैन धर्म की ही विशेष मान्यता थी। कुषाण काल में तो जैनधर्म और बौद्धधर्म चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुए थे। नहपान और उसके जमाता ऋषभदत्त ने ब्राह्मणों को भी दान दिये थे। महाक्षत्रप शोडास के राज्यकाल में मथुरा में वसु ने भ० वासुदेव का चतुःशाला मन्दिर और वेदिका बनवाई थी। कुषाण नृप विम के सिक्कों पर उसे स्पष्टतः 'माहेश्वरस' (शिवभक्त) लिखा है। इस वंशमें कनिष्क प्रसिद्ध और प्रभावशाली राजा हुआ। यद्यपि वह बौद्ध था, परन्तु उसके समय में जैन और वैदिकधर्मों की भी उन्नति हुई थी, जैसा कि इन धर्मों से सम्बन्धित प्राप्त अवशेषों से प्रकट होता है। वासुदेव नरेश तो स्वतः शैवधर्म के अनुयायी थे। इन ऐतिहासिक उल्लेखों को देखते हुये यह बात कुछ ठीक-सी नहीं जंचती कि यवन, शक, कुषाण आदि राजाओं के समय में ब्राह्मणों के प्रति घोर अत्याचार किया गया और उनके मन्दिर-मूर्त्तियां नष्ट की गयीं। अलबत्ता जैनधर्म और बौद्धधर्म का उत्कर्ष इस काल में विशेष होने के कारण वैदिकधर्म, राजधर्म नहीं रहा था। किसी भी उल्लेख से यह प्रकट नहीं होता कि इन राजाओं ने ब्राह्मणों पर अत्याचार करके हिन्दू मन्दिर नष्ट किये थे। विद्वानों को इस प्रसंग में और भी पुष्ट प्रमाण उपस्थित करना उचित है।

४ कतिपय जैन शिलालेख

स्व० कुमार देवेन्द्रप्रसाद जी के संग्रह में हमको निम्नलिखित शिलालेखों की प्रतिलिपियां उपलब्ध हुई हैं, जो उपयोगी जानकर यहां उपस्थित किये जाते हैं :—

(१) किशन गढ़ स्टेट के रूपनगर नामक स्थान से लगभग डेढ़ मील दूर अवस्थित तीन जैन देवलियों पर निम्नाङ्कित लेख पढ़े गये हैं :—

१ 'संवत् १०७६ (?) ज्येष्ठ सुदि १२ श्री मेघसेनाचार्य्यस्य तस्य शिष्य, श्री विमलसेन पंडितेन राधनां (भावनां ?) भावयित्वा दिवंगत। तस्येयं निषिधिका।'

देवली के ऊपर एक तीर्थङ्कर मूर्ति अङ्कित है, जिसके नीचे सर्प चिन्ह बना हुआ है। लेख निम्न प्रकार है :—

२ "संवत् १०७६ पौष शुदि १२ श्री पद्मसेनाचार्य देवलोकं गतः ॥ चित्रनंदिना प्रतिष्ठेयं।"

३ "संवत् १०३६ पौष वदि १ श्रीपद्मसेनाचार्य देवलोकं गतः ॥ देवनंदिना प्रतिष्ठेयं।"

एक अन्य शिलालेख इस प्रकार है :—

४ "स्वस्ती श्री महाराजाधिराज श्री वासुदेवराजः ॥ संवत् १२१६ माघसुदि १३ सोमे दिने नाहुसेन वत्रम गोत्र सीह सुतः रागेजल स्वर्गं गतः ॥ वेहणल ग्रामस्थ।"

बिजोलिया (मेवाड़) का एक शिलालेख भी निम्न प्रकार उद्धृत किया है :—

"श्री गुरुभ्यो नमः। श्री मत्परमगंभीरं स्याद्वादमोघलांछनं। जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनं ॥१॥ श्री बलात्कारगणे। सरस्वतीगच्छे। श्री महिसंघे। (?) कुन्द-कुन्दाचार्यन्वये भट्टारक श्री.........कीर्तिदेवा धर्म.....चन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीरत्नकीर्ति-देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवास्तपट्टे भट्टारक श्री पद्मानंदि देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री भानुचन्द्र देवाः। कस्य तीर्थङ्करस्येव महिमा भुवनातिगः। रत्नकीर्तियतिस्तुत्यः स न केषाम... ......॥१॥अहंकार स्फारो भवदमित वे......विबुधो लसत्कांतश्रेणी क्षपण निधनोक्तिद्युति चुरः। अभीती जैनेन्द्रे जनि रजनिनाथ प्रतिनिधिः प्रभाचन्द्रः सांद्रोदय शमितताय व्यति-करः ॥२। श्रीमत्प्रभाचंद्र मुनींद्रपट्टे लब्धप्रतिष्ठः प्रतिभागरिष्ठः। विशुद्ध सिद्धांतरहस्य रत्नरत्नाकरो नंदतु पद्मनन्दी ।३॥ पद्मनंदि मुणे पट्टे शुभचन्द्रो यतीश्वरः। तर्कादिक-विद्यासु गच्चं धारोस्ति सांप्रतं ॥४। पट्टे श्री यति पद्मनंदि विदुषश्चारित्र चूड़ामणिः सद्मास्या (?) मृतम (?) य कैरव कुलं तुष्टिं परां नीतवान्। वाणीलब्ध..........वः प्रसाद महिमा श्रीमच्छुभे दुर्गुणी मिथ्याध्वांत् विनाशनैक सुकरः स......घ चिन्तामणिः ॥...... बई लोक .....विनय सिरि तस्याः शिक्षणी बाई चारित्रसिरि ॥ बाई चारित्र की शिक्षणी बाई आगमसिरि बाईश्वरि.........तस्या इयं निषेधिका आचंद्र तारकात्तयं ॥ संवत् १४८३ वर्षे फलगुन शुदि ३ गुरौ ॥ शुभमस्तु ॥"

श्री शिलालेख से बिजोलिया (मारवाड़) में १५ वीं शताब्दि तक दिगम्बर जैन-आर्यिकाओं की एक परम्परा का अस्तित्व प्रमाणित है। ऐसी ही एक आर्यिका का यह निषधिका लेख है।

साहित्य-समीक्षा

धवला टीका समन्वित षट् खण्डागम (वेदना खण्ड कृति अनुयोगद्वार) पुस्तक ९——सम्पादकः श्री डा० हीरालाल जैन एम० ए०, सहसम्पादकः श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री और श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री; प्रकाशकः श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन साहित्योद्धारक-फण्ड-कार्यालय, अमरावती (बरार); पृ० संख्याः १८+४५२; मूल्य : दस रुपये।

इस पुस्तक में भगवान् पुष्पदन्त-भूतबलि विरचित षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड के कृति अनुयोग द्वार की प्ररूपणा है। इसके प्रारम्भ में सूत्रकार ने 'णमो जिणाणं', 'णमो ओहि जिणाणं' आदि ४४ सूत्रों में मंगल किया है। टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने इन सूत्रों पर विस्तृत विवेचन लिखा है। इन ४४ मंगल सूत्रों में प्रसंगवश अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, आठ प्रकार के निमित्त, बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण इन सात ऋद्धियों का विस्तार पूर्वक प्ररूपण किया गया है। ४५ वें सूत्र में बतलाया गया है कि अग्रायणीय पूर्व की पञ्चम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का नाम कर्म प्रकृति है। इसमें कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति आदि २४ अनुयोग द्वार हैं। कृति के नाम कृति, स्थापना कृति, द्रव्यकृति, गणनकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति भेद हैं इन सात भेदों का इस अनुयोगद्वार में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन और अनुवाद के सम्बन्ध में दो-चार बातों पर प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। 'उत्तरगुणिते तु धने' आदि करण गाथाओं का भाव स्पष्ट नहीं हुआ है तथा 'आदिं त्रिगुणं' के स्थान पर अर्थ की दृष्टि से 'आदि त्रिगुणात्' पाठ ठीक जंचता है। पृ० २१८ पर 'ज्येष्ठामूलात्परतो' तथा 'एवं क्रमावृद्ध्या' गाथाओं का अर्थ भी स्पष्ट नहीं हुआ है इन गाथाओं में 'शंकु' रीति से छाया का आनयन कर अनध्याय काल का प्रमाण निकाला गया है। इन त्रुटियों के होते हुए भी सम्पादन सुन्दर हुआ है। अनुवाद में जहाँ-तहाँ शब्दानुवाद न कर भावानुवाद ही किया गया है। इस कार्य में श्री पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त-शास्त्री का सहयोग अब मिलने लगा है, यह अवगत कर अगले भागों के और भी सुन्दर बनने की आशा है। प्रत्येक साहित्य प्रेमी से अनुरोध है कि समस्त धवल ग्रन्थ को मंगाकर स्वाध्याय करे तथा प्रत्येक जैन मन्दिर और जैन पुस्तकालयों के संचालकों को तो इस ग्रन्थराज को अवश्य ही मंगाना चाहिये। छपाई-सफाई सुन्दर है।

श्रावकधर्म संग्रह — लेखक : स्व० मा० दरयावसिंह जी सोधिया; संपादक : पं० परमानन्द जैन शास्त्री; प्रकाशक : सस्ती ग्रन्थमाला नं० ७/३३ दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : ३००; मूल्य : सवा रुपया।

देहली में वीर सेवा मन्दिर के तत्त्वावधान में सस्ती ग्रन्थमाला स्थापित की गयी है। इस ग्रन्थमाला से अब तक सात-आठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वास्तव में जैन समाज के लिये यह सौभाग्य की बात है कि इस ग्रन्थमाला से छपे ग्रन्थ अत्यल्प मूल्य में दिये जा रहे हैं। साहित्य प्रचार और जनता में स्वाध्याय भावना जाग्रत करने के लिये ग्रन्थों का मूल्य अल्प रहना आवश्यक है। इस ग्रन्थमाला ने समाज की उक्त कमी की पूर्त्ति की है। प्रस्तुत ३०० पृष्ठ के ग्रन्थ का मूल्य आज महंगाई के युग में सवा रुपया बहुत ही कम है।

यह ग्रन्थ श्रावकाचार का है। इसमें श्रावकों के मूलगुण, उत्तरगुण, दिनचर्या, प्रतिमाएँ, सूतक-पातक, मुनि के आहार की विधि, संक्षिप्तरूप से मुनि का आचार अठारह हजार शील के भेदादि बातों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। सोधिया जी ने प्रामाणिक जैनागम के ग्रन्थों के आधार पर इसका संग्रह किया है। हिन्दी भाषा में ग्रन्थ होने से साधारण हिन्दी भाषा जानने वाला भी इससे श्रावक धर्म के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें जान सकता है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इससे लाभ उठाना चाहिये।

रत्नकरण्डश्रावकाचार सटीक—टीकाकार: पं० सदासुखदास काशलीवाल; प्रकाशक : मन्त्री वीर-सेवा-मन्दिर, सस्ती-ग्रन्थ-माला दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : २४+७६०, मूल्य, तीन रुपया।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र का आर्षग्रन्थ माना जाता है। श्री पं० सदासुखदास जी ने इस पर अपनी भाषा वचनिका लिखी है। यों तो इस टीका का प्रकाशन अब तक दो-तीन बार हो चुका है; किन्तु पुस्तकाकार रूपमें यह प्रथम प्रकाशन है। प्रारम्भ में श्री० पं० परमानन्द जी की प्रस्तावना है, आपने इसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है। टीकाकार के जीवन और कार्यों के बारे में भी प्रस्तावना में प्रकाश डाला गया है। सम्पादन अच्छा हुआ है; छपाई-सफाई अच्छी है।

यदि वीर-सेवा-मन्दिर इस ग्रन्थ की भाषा को, जो कि पुरानी जयपुरी है, आधुनिक हिन्दी में परिवर्तित कर प्रकाशित करता तो सर्वसाधारण पाठक भी इससे अधिक

लाभ उठाते तथा जैनधर्म के गूढ़ तथ्यों को समझने में सुलभता होती। स्वाध्याय प्रेमियों को इस ग्रन्थमाला के सभी ग्रन्थ मंगाकर लाभ उठाना चहिये।

जैनमहिला-शिक्षा-संग्रह — संपादक: पं० परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक: वीर-सेवा-मन्दिर, सस्ती ग्रन्थमाला, दरियागंज दिल्ली; पृष्ठ संख्या: २०२, मूल्य: एक रुपया।

यह ग्रन्थ स्त्रियोपयोगी है। इसमें स्त्री-पुरुष के कर्त्तव्य, दाम्पत्य प्रेम, सास-बहू का नैतिक कर्त्तव्य, देवरानी-जिठानी की प्रवृत्ति और कर्त्तव्य, सेवाकर्म और सदाचार, महिला कर्त्तव्य, स्त्री शिक्षा, नारी दिनचर्या, मिथ्यात्व निषेध, सूतक-पातक, माता की शिक्षा आदि विषयों का निरूपण किया गया है। लेखक ने नारियों के लिये अनेक ज्ञातव्य बातें इसमें बतलायी हैं। चौका की क्रियाओं का निरूपण प्रत्येक जैन नारी के लिये जानना आवश्यक है।

पुस्तक की भाषा शिथिल और अपरिमार्जित है। भावों का चयन भी जहाँ-तहाँ अस्फुटरूप में हुआ है। शैली भी पुरानी संग्रहात्मक है। यदि आधुनिक शैली में इस पुस्तक का निर्माण किया जाता तो यह केवल जैन नारी समाज के लिये ही उपादेय नहीं होती, बल्कि समस्त भारतीय नारी समाज के लिये उपयोगी और पठनीय होती।

सुख की एक झलक (श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी के प्रवचनों का संग्रह)—संकलयिता: श्री कपूरचन्द जी जैन बी० ए० बरैया, लश्कर; प्रकाशक: सस्ती ग्रन्थमाला ७/३३ दरियागंज दिल्ली, पृष्ठ संख्या: ५+१६६; मूल्य: दस आना।

पूज्य वर्णी जी जैन समाज की अनुपम विभूति हैं। आप अध्यात्म विद्या और तत्त्वज्ञान के पूर्ण रसिक हैं। जगत कल्याण की भावना से दिये गये आपके ये प्रवचन आज के पथ भ्रष्ट मानव समाज को सुख और शान्ति प्रदान करने वाले हैं। वर्तमान में भारतीय समाज के लिये ये प्रवचन नितान्त उपयोगी हैं। इस पुस्तक में जीवन की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियाँ, मोह की महत्ता, सम्यग्दृष्टि और उसकी प्रवृत्ति, ज्ञान की स्वच्छता, इन्द्रियों की विषय प्रभुता, शुद्ध चेतना के आलम्बन, सम्यग्दृष्टि का आत्म परिणाम, भेद विज्ञान की महिमा, आत्मा का ज्ञान स्वभाव, आत्मा का आवृत्त स्वरूप, आत्म-भावना, सच्चा पुरुषार्थ, परिग्रह ही पाप का कारण है, बंध का स्वरूप, त्याग का वास्तविक रूप, अहिंसा तत्त्व आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। प्रवचनों की शैली इतनी सरल और आशुबोध गम्य है कि साधारण पाठक भी भावों को आसानी से हृदयंगम कर सकता है। शास्त्र प्रवचन कर्त्ताओं और व्याख्यान दाताओं को भी इन प्रवचनों से बड़ा भारी लाभ होगा।

छपाई-सफाई अच्छी है। प्रूफ में दो-चार अशुद्धियाँ रह गयी हैं। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इस पुस्तक को मंगाकर लाभ उठाना चाहिये।

सभाष्य रत्न मंजूषा (छन्दो ग्रन्थ)—सम्पादकः प्राध्यापक हरि दामोदर, वेलणकर, विल्सन महाविद्यालय, मुम्बई; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या : ७+४+७२; मूल्य : दो रुपये।

यह छन्द विषयक जैन ग्रन्थ है। आदि में सम्पादक की प्रस्तावना है, जिसमें ग्रन्थ के सम्बन्ध में पूरा प्रकाश डाला गया है। पिंगल छन्दशास्त्र के समान यह सूत्रों में लिखा गया है। इसमें आठ अध्याय हैं। सूत्रों पर जैनचार्य की टीका है। नैयायिक शैली की इस टीका से ग्रन्थ का विषय स्पष्ट हो जाता है। सम्पादक ने ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का पूर्ण यत्न किया है। जहाँ-तहाँ संशोधनात्मक टिप्पण भी दिये हैं। ग्रन्थ के अन्त में प्रत्येक अध्याय पर अंग्रेजी भाषा में पृथक् पृथक् नोटस दिये हैं। यदि इन नोटसों का हिन्दी अनुवाद भी दे दिया जाता तो संस्कृत के विद्यार्थियों का ज्यादा उपकार होता; छन्द शास्त्र के प्रेमी एवं संस्कृत के ज्ञाताओं को इसे मंगाकर लाभ उठाना चाहिये। छपाई-सफाई-गेटप आदि सुन्दर हैं।

नाममाला सभाष्य ग्रन्थकर्ता : धनञ्जय; भाष्यकार : अमरकीर्त्ति; संपादक : श्री पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी व्याकरणाचार्य, सप्ततीर्थ; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्याः १४ + १४०; मूल्य : ३॥ रुपये।

महाकवि धनञ्जय ने २०० श्लोकों में ही संस्कृत के प्रमुख शब्दों का चयन कर गागर में सागर भर दिया है। शब्द से शब्दान्तर बनाने की विचित्र पद्धत्तियाँ भी दी हैं, जिससे यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा प्रेमियों के लिये नितान्त उपयोगी बन गया है। ज्ञानपीठ ने इस उपयोगी ग्रन्थ का अमरकीर्त्ति विरचित भाष्य प्रकाशित कर संस्कृत के विद्यार्थियों का बड़ा भारी उपकार किया है। प्रस्तुत संस्करण के आरम्भ में न्यायचार्य श्री पं० महेन्द्रकुमार जी की १४ पृष्ठों में प्रस्तावना है, जिसमें आपने महाकवि धनञ्जय के जीवन वृत्त और नाममाला भाष्य के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सुन्दर और उपयोगी बनाने के लिये सम्पादक ने टिप्पण दिये हैं; जिनसे शब्दों की व्युत्पत्ति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। सम्पादन में पर्याप्त श्रम किया गया है, जिससे यह ग्रन्थ अत्यधिक पठनीय हो गया है। ग्रन्थ के अन्त में अनेकार्थ निघण्टु और एकाक्षरी नाममाला ग्रन्थ भी दिये गये हैं। शब्दानुक्रमणिकाएँ, जो कि

नाममाला और भाष्य पर दी गयी हैं, विशेष उपयोगी हैं। संस्कृत के प्रेमियों को इस महत्वपूर्ण कृति से लाभ उठाना चाहिये।

उज्वल प्रवचन (महासती उज्ज्वल कुमारी जी के राष्ट्रीय महापुरुषों के सम्बन्ध में किये गये प्रवचन)—सम्पादक : रत्नकुमार जैन रत्नेश; प्रकाशक : मूलचन्द बड़जात्या भारत जैन महामण्डल वर्धा; पृष्ठसंख्या : ८६; मूल्य : दस आना।

इस पुस्तक में भगवान् महावीर स्वामी, बुद्धदेव, मानवता प्रेमी बुद्ध और बापू, पुण्यश्लोक गाँधी जी, विवेकानन्द, महात्मा तिलक, रवीन्द्रनाथ टैगोर, यन्त्रयुग और गृहोद्योग, महात्मा गाँधी आदि ११ प्रवचन संकलित हैं। सती जी ने असाम्प्रदायिक ढंग से महापुरुषों के सम्बन्ध में जानकारी की अनेक बातें इन प्रवचनों में बतलायी हैं। आपकी विचारशैली सुलभ है। विषय निरूपण की शैली भी अनूठी है। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगाकर पढ़ना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

बुद्ध और महावीर तथा दो भाषण— लेखक: किशोरीलाल घ० मशरूवाला; अनुवादक : जमनालाल जैन; प्रकाशक: भारत जैन महामण्डल वर्धा;—पृष्ठ संख्या : १५८; मूल्य : एक रुपया।

इस छोटी-सी पुस्तिका में भगवान् महावीर और बुद्ध के जीवन वृत्त एवं उनके उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। भगवान् महावीर की जीवन गाथा में उनके विवाह करने का भी उल्लेख किया है, जो भ्रामक है। लेखक ने अज्ञानतावश विवाहवाली बात लिखदी है, पर न मालूम अनुवादक ने पाद टिप्पण उसपर क्यों नहीं दिया? भगवान् महावीर आजन्म ब्रह्मचारी रहे; उन्होंने अपनी साधना द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त कर संसार को कल्याणकारी उपदेश दिया था। वास्तव में जैनों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध श्रमण संस्कृति के अमूल्य रत्न हैं। इन दोनों महापुरुषों ने श्रमण संस्कृति का पुनरुत्थान और प्रचार कर जनसाधारण को जाग्रत किया था। लेखक की विचारशैली संयत और विवेक पूर्ण है। महावीर जयन्ती और पर्यूषण पर्व के अवसर पर दिये गये मशरूवाला के दो भाषण भी इसमें संकलित हैं। इन दोनों भाषणों में अनेक जानकारी की बातें मौजूद हैं।

अनुवादक की शैली भी प्रशसनीय है, पढ़ने में कहीं भी अनुवाद की ऊबड़-खाबड़ भूमि से नहीं जाना पड़ता है, बल्कि मूल ग्रन्थ की भाषा का आनन्द मिलता है। ऊपर का गेटप सुन्दर है, छपाई-सफाई अच्छी है।

कल्याण (हिन्दू-संस्कृति-अंक) — सम्पादकः हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री; प्रकाशकः घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर; पृष्ठ संख्याः ९०४; मूल्य : ६।।) रुपये।

कल्याण अपने धार्मिक विशेषाङ्कों के लिये प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष इसका विशेषांक किसी प्रमुख विषय पर निकलता है। इस वर्ष के हिन्दू संस्कृति अंक में विभिन्न सांस्कृतिक विषयों पर ३४४ निबन्ध, ९ कविताएँ, २ सुनहरी चित्र, १७ तिरंगे चित्र और २२९ इकरंगे चित्र हैं। सुपाठ्य सामग्री का चयन सुन्दर किया गया है, एकत्र आर्य संस्कृति के सम्बन्ध में इतना मैटर अन्यत्र मिलना दुष्कर है। प्रायः सभी निबन्ध अधिकारी विद्वानों के द्वारा लिखे गये हैं। जैनाम्नाय के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की जो संक्षिप्त जीवन गाथाएँ दी गयी हैं, वे भ्रामक और असत्य हैं। संपादकों ने इस सम्बन्ध में अपनी कुशलता का परिचय नहीं दिया। स्वामी श्री करपात्री जी का 'संस्कृति विमर्श', योगिराज अरविन्द का 'धर्म की सीमाएँ', श्री विनोवाजी भावे का 'हिन्दू कौन', विहार के राज्यपाल श्री माधव श्री हरि अणेका 'हिन्दू संस्कृति की महत्ता', उत्तरप्रदेश के शिक्षामन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द जी का 'हिन्दू-संस्कृति का मूलाधार' आदि निबन्ध विशेष पठनीय हैं। सम्पादक द्वय का श्रम श्लाघनीय है, छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर है; प्रत्येक संस्कृति प्रेमी को कल्याण का ग्राहक बनकर उसकी पठनीय सामग्री से लाभ उठाना चाहिये।

—नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

केवलज्ञान प्रश्न चूडामणि (भाषानुवाद और विस्तृत विवेचन सहित)— सम्पादकः पं० नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य, न्यायतीर्थ आरा; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्याः १४+४०+१२८; मूल्यः चार रुपये।

यह ज्योतिष विषयक ग्रन्थ है। प्रारम्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष पं० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य का आदि वचन है। आपने इसमें प्रस्तुत ग्रन्थ के सफल सम्पादन की प्रशंसा की है। ग्रन्थमाला संपादक श्री० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के 'दो शब्द' शीर्षक में ग्रन्थमाला और ग्रन्थ का परिचय दिया है। सम्पादक की ४० पृष्ठों की भूमिका है, जिसमें आपने जैनज्योतिष, ग्रन्थ का विषय, ग्रन्थकर्त्ता का परिचय एवं जैन प्रश्न शास्त्र की अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ के अन्त में कई उपयोगी परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनमें जन्मपत्र बनाने, देखने की विधि, वैवाहिक गणना आदि उपयोगी बातें बतलायी गयी हैं। फलादेश कहने और जानने के लिये ग्रन्थ अच्छा है, सम्पादन अच्छा हुआ है, छपाई-सफाई,

गेटप आदि उत्तम हैं। ज्योतिष का परिज्ञान प्राप्त करने तथा व्यावहारिक बातों को जानने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। पाठकों को मगाकर लाभ उठाना चाहिये।

—तारकेश्वर त्रिपाठी, ज्योतिषाचार्य

रत्नाकरशतक द्वितीय भाग—रचयिता : कवि रत्नाकर वर्णी; अनुवादक और सम्पादक:– स्वस्ति श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज; सहायक सम्पादक: ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक : स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा; पृष्ठ संख्या: १५+२७१; मूल्य : २।।) रुपया

कवि रत्नाकरवर्णी कन्नड़भाषा का श्रेष्ठ कवि माना जाता है। उसकी यह रचना भाव और भाषा की दृष्टि से अद्भुत है। श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज ने इसका अनुवाद और सम्पादन कर हिन्दीभाषा-भाषी जनता के लिये इसे सुलभ बना दिया है। इसका विवेचन आधुनिक शैली की खड़ी बोली में लिखा गया है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी इसके स्वाध्याय से जनधर्म के गहन आध्यात्मिक सिद्धांतों को अवगत कर सकता है। छपाई-सफाई अच्छी है, गेटप सुन्दर है। स्वाध्याय प्रेमियों को इस ग्रन्थ से लाभ उठाना चाहिये।

—माधवराम न्यायतीर्थ

विश्व-शान्ति और जैन-धर्म—लेखक: पं० नेमिचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक: जुगलकिशोर जैन बी० एस-सी० जैनेन्द्र भवन आरा; पृष्ठ संख्या : ५८ मूल्य : आठ आना

विश्व की आधुनिक समस्याओं को सुलझाने में जैन-धर्म के सिद्धान्त कहां तक व्यावहारिक, व्यापक, और स्थायी सफलता प्राप्त कर सकते हैं, यही इस छोटी-सी पुस्तक की रचना का ध्येय है। मानव जीवन के मुख्य तत्व, राग और द्वेष विकृत होकर संचय और अधिकार-लिप्सा की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते हैं जो अशान्ति के विभिन्न वातावरण उपस्थित करती हैं। शान्ति-स्थापन करने के प्रयत्न इसी भावना से प्रेरित होने के कारण असफल होते जा रहे हैं। जैन-दर्शन के सिद्धांत प्रेम और सामंजस्य की भावना को प्रतिष्ठित कर विश्व शान्ति में बाधक बहुमुखी समस्याओं का व्यावहारिक समाधान करते हैं। विषय के प्रतिपादन में तर्कपूर्ण आदर्शवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया गया है। भाषा सरल, स्पष्ट और तथ्यपूर्ण है। विवेचन प्रणाली गंभीर होते हुए भी मनोरंजक है। छपाई-सफाई अच्छी है। पाठकों को पुस्तक मंगाकर पढ़नी चाहिये।

चन्द्रसेनकुमार जैन बी० ए० (ऑनर्स)

श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा का वार्षिक विवरण

[ता० १-६-४९ से २१-५-५०]

जैन समाज की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं में श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का नाम अग्रगण्य हैं। यह भवन ३९ वर्षों से जैन साहित्य और जैनधर्म की सेवा करता चला आरहा है।

वीर संवत् २४७५ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी से वीर संवत् २४७६ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक रजिष्टर में ५१३३ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। इधर जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, समाचार-पत्र पढ़नेवालों की संख्या बढ़ती जारही है।

नगर के मध्य में भवन के रहने से पाठकों को भवन में समाचार-पत्र पढ़ने का अधिक अवसर मिलता है। समयानुसार भवन में दैनिक पत्र अधिक-से-अधिक संख्या में मगाये जारहे हैं। कुछ महानुभाव समाचार-पत्र पढ़कर बिना हस्ताक्षर किये ही चल देते हैं। इनकी संख्या भी हस्ताक्षर करनेवालों से कहीं अधिक है।

विशिष्ट दर्शकों में श्रीमान् पूज्य भगत प्यारेलाल जी, श्रीमान् बाबू दुर्गाप्रसाद जी श्रावगी कलकत्ता, श्री हरिश्चन्द्र मोदी गीरीडीह, श्री भगवानदास केसरी मुंगेर, श्रीजीव न्यायतीर्थ एम० ए०, प्रोफेसर कलकत्ता विश्वविद्यालय, श्री डाक्टर राजवली पाण्डेय एम० ए०, डी० लिट्० प्रोफेसर हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस, श्री० पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री बनारस, श्री० जगन्नाथ मिश्र, प्रोफेसर पटना विश्वविद्यालय, आदि गणमान्य व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपनी शुभ सम्मतियों द्वारा भवन की सुव्यवस्था और उसके संग्रह की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। श्री० प्रो० श्रीजीव ने अपनी शुभ सम्मति में लिखा है कि "हस्तलिखित पुस्तकों का एकत्र इतना समवाय मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिला। भारतीय संस्कृति और साहित्य के अन्वेषण के लिये यहाँ पर्याप्त सामग्री संकलित है। स्वतन्त्र देश के लिये इस प्रकार के समृद्धिशाली पुस्तकालय में आधुनिक साहित्य का भी यथेष्ट संग्रह होता रहा तो यह पुस्तकालय देश के अग्रणीय पुस्तकालयों में स्थान प्राप्त करेगा। मैने यहाँ दो सप्ताह तक रहकर संस्कृत साहित्य का अन्वेषण किया तथा चित्रालंकार पर मुझे यहाँ पर्याप्त सामग्री मिली"।

प्रकाशन—भवन के इस विभाग में जैन-सिद्धान्त-भास्कर तथा जैन एन्टीक्वेरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। भास्कर उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता चला जारहा है। इसकी मूल्यवान् ठोस सामग्री की अनेक अन्वेषक विद्वानों ने प्रशंसा की है तथा

भास्कर के कई महत्वपूर्ण निबन्धों को अनेक पत्रकारों ने अपने पत्रों में उद्धृत किया है।

परिवर्तन—इस वर्ष भी प्रतिवर्ष के समान भास्कर के परिवर्तन में निम्न पत्र-पत्रिकाएँ आती रही हैं।

हिन्दी—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) साहित्य सन्देश (३) अनेकान्त (४) जनवाणी (५) किशोर (६) वैद्य (७) जैन महिलादर्श (८) गांधी (९) कल्याण (१०) विकास (११) धर्मदूत (१२) जैन जीवन (१३) जैसवाल जैन बन्धु (१४) जिनवाणी (१५) मारवाड़ी जैन विकास (१६) संगम (१७) दिगम्बर जैन (१८) जैन जगत् (१९) जैन बोधक (२०) साधना (२१) वीरवाणी (२२) वीर (२३) वीर लोंकाशाह (२४) जैनमित्र (२५) जैन सन्देश (२६) जैन दर्शन (२७) भविष्य फल (२८) जयहिन्द दैनिक का साप्ताहिक विशेषाङ्क (२९) ज्ञानोदय (३०) जीवन साहित्य (३१) जैन भारती।

गुजराती—(१) जैन सत्य प्रकाश (२) जैन सिद्धान्त।

कन्नड़—(१) जयकर्नाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

मराठी—(१) सुप्रभात।

तैलगू—(१) आन्ध्र साहित्य परिषद् पत्रिका।

अंग्रेजी—(1) Annales of the Bhandarker Oriental Research Institute, Poona (2) The Journal of the University Bombay (3) Karnatak Historical Review (4) The Adhyar library bulletin (5) The Journal of the United Provinces Historical Society (6) The Journal of the Annamalia University (7) The Poona Orientalist (8) The Journal of Mythic Society (9) The Journal of Royal Asiatic Socity of Bombay (10) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal (11) The Fergusson College Magazine (12) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society (13) The Journal of the Banaras Hindu University (14) The Andhra University College Magazine and Chronical (15) The Journal of the Sindh Historical Society (16) The Journal of the Tanzore Sarswati Library (17) The Bombay Theosophical Bulletin (18) The Jain Gazzette (19) The Indian Litrary Review (20) Journal of the Ganganath Jha Research Institute Allahabad (21) The Himalaya Times.

संस्कृत—(१) महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका।

इस प्रकार कुल ६० पत्र-पत्रिकाएँ भास्कर के परिवर्तन में आती रही हैं। इनके अतिरिक्त (१) Indian Historical Quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक संसार (५) दैनिक संसार (६) आज (७) विश्वमित्र (८) प्रदीप (९) नवीन भारत (१०) नवराष्ट्र (११) आर्यावर्त (१२) The Indian Nation (१२) अमृतबाजार पत्रिका; ये पत्र भवन से मूल्य देकर मंगाये जाते रहे हैं। इधर कुछ महीनों से इन्डियन नेशन, सर्चलाइट और अमृतबाजार पत्रिका देवाश्रम से तथा नवराष्ट्र और आर्यावर्त श्री बा० रघुनन्दन प्रसाद जी से भवन को निःशुल्क मिल रहे हैं। एतदर्थ भवन उनका आभारी है।

पाठक—भवन के सामान्य पाठक वे हैं, जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं दिये जाते। इन पाठकों के अतिरिक्त विशेष नियम से कुछ लोगों को घर ले जाने के लिये भी ग्रन्थ दिये गये हैं। इन ग्रन्थों को इस वर्ष की संख्या ४०५ है। इनमें स्थानीय व्यक्तियों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, प्रिंसिपल स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, श्रीमान् पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, संयुक्त मन्त्री दि० जैन विद्वत्परिषद् सागर, श्रीमान् बाबू कामता प्रसाद एम० आर० ए० एस० अलीगंज, श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट्० कोल्हापुर, श्रीमान् अगरचन्द नाहटा बीकानेर, श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी, श्रीमान् कविवर रामाधारी सिंह 'दिनकर' पटना, श्रीमान् पं० बालचन्द्र जी शास्त्री, जैन साहित्योद्धारक कार्यालय अमरावती, श्रीमान् बाबू रामबालक प्रसाद साहित्यरत्न पुलिस विभाग सेक्रेटेरियट पटना, श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द शाह घड़ियाली पोल बड़ौदा, श्रीमान् प्रो० राजकुमार जी साहित्याचार्य बड़ौत, श्रीमान् फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वर्णी ग्रन्थमाला काशी, श्री० पं० परमानंद जी शास्त्री वीरसेवा मन्दिर सरसावा, श्री० पं० सुखनन्दन जी शास्त्री दि० जैन गुरुकुल हस्तिनापुर।

इस वर्ष शान्ति सम्मेलन के अवसर पर कलकत्ते में होने वाली जैन प्रदर्शनी के लिये "भवन" की अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएँ गयी थीं। श्री १०८ आचार्य देश भूषण महाराज का आरा में चातुर्मास हुआ, उन्होंने कन्नड एवं संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों का विशेष अवलोकन किया तथा रत्नाकरशतक और धर्मामृत इन दोनों ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद 'भवन' की प्रतियों से किया है। ताड-पत्रीय प्रायः सभी ग्रन्थों का वाचन आपने चातुर्मास में किया, जिससे पुरानी सूची में कुछ संशोधन किये गये।

संग्रह – पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित संस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती एवं हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ६० और अंग्रेजी के ६ इस प्रकार ६६ ग्रन्थ संग्रहीत हुए हैं।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करनेवालों में दि० जैन स्त्री समाज आरा एवं व्यवस्थापक आर्चलोजिकल मैसूर आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ—(१) मेरी जीवन गाथा (२) वर्णी-वाणी (३) आप्त-परीक्षा हिन्दी अनुवाद (४) राजगृह (५) रत्नाकर शतक (६) केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि (७) श्रावक धर्म संग्रह (८) जैन महिला शिक्षा (९) छहढाला (१०) सरल जैनधर्म (११) नेमि दूत (१२) जयधवला (कसायपाहुड) भाग २ (१३) जैनधर्म (१४) नाममाला सभाष्य (१५) सभाष्य रत्न मंजूषा (१६) षट्खण्डागम पुस्तक ९ (१७) प्यारा राजा बेटा (१८) चिन्मय चिन्तामणि-मराठी (१९) भरतेश वैभव गुजराती।

सभा—भवन में शाहाबाद जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा शाहाबाद जिला पुस्तकालय संघ को कार्यसमितियों और स्थायी-समितियों की बैठकें होती रहीं। महावीर जयन्ती समारोह एवं अन्य धार्मिक सभाएँ इसी भवन के विशाल और सुरम्य प्रांगण में होती रहीं। कृष्ण जन्म दिवस, स्वामी विवेकानन्द जन्म दिवस, तुलसी जन्म दिवस आदि सांस्कृतिक उत्सव शाहाबाद विद्यार्थी संघ और शाहाबाद जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रभृति संस्थाओं की ओर से भवन में ही सम्पन्न किये गये।

इस प्रकार भवन अपनी सेवाएँ साहित्यिक जगत् को प्रदान करता रहा।

मंत्री

चक्रेश्वर कुमार जैन

बी० एस-सी०

वैराग्यसार-प्राकृतदोहाबन्धः

रचयिता—सुप्रभाचार्यः

जइ थिरु संपय घरि वसई तादिज्जइ रे भाइं ।
वरवंसह सुप्पउ भणइं कहवणि णिच्चल ठाइं ॥४०॥

हे भ्रातः ! हे जीव ! अस्मिन् संसारे यदि इयं संपत् यावत् भवेन सह प्राप्येत सदा गृहे तिष्ठेच्चेत्तर्हि तीर्थंकराः मुक्तात्मानः चक्रवराः शलाकादयः कथमिमां सम्पदम् परित्यज्य गतवन्तः । अतएव वरवंसह सुप्पउ उत्तमाः धर्माचार्याः सुप्रभाचार्याः कथयन्ति यत् वरविशिष्टाः उत्तमकुलीनाः शलाकादिपुरुषानामियं लक्ष्मीः कथमपि कदापि, कस्मिन् कालेपि निश्चला स्थिरा न बभूव,—इति

ताउज्जलता दिढु कलिणु पुरिस सरीर सहेइ ।
जमण सुप्पउ सगणमण जरडाइणि लग्गेइ ॥४१॥

हे शिष्य ! अस्य जीवस्य इदं शरीरं तावत् दृढ़तरं भवति पुनः तावत् शरीरं शोभते च यावत् जरा डाकिनी न खादति ।

मणचोरह माया निसिहि जियरखहिं अप्पाणु जिमहोही ।
सुप्पउ भणइं णिम्मलु णाणु विहाणु ॥४२॥

रे जीव ! मन एव चौरः (त्वं वशीकुरु) माया एव निशारात्रिः तस्याम् तस्मात् निजात्मानमेनत् रत्नं रक्ष, तेन रक्षणेन या भवति निर्मल आत्मज्ञानमेव विहाणु प्रभातं भवति । यथाहि कश्चित् रात्रौ चौरादिभ्यः स्वंपरिरक्षण प्रभाते धनिकेत्युच्यते तथैव जीवात्मानं सर्वतः परिरक्षन् आत्मज्ञानीत्युच्यते ।

जणजज्जरु सुप्पउ भणइं जइ दुखेहिं ण हुंति ।
संजमसारउ तव यरणु कुविंह छिनछठतु ॥४३॥

पुनः सुप्रभाचार्यैः कथयति हे शिष्य ! अत्र संसारे यदि अमी लोकाः दुखिनो न भवेयुः तर्हि इदं द्विधा संयमं सारभूतं तपश्चरणं च न कोपि कर्तुं व्यवस्येत् अर्थात् संयमादिकानां सर्वथा परित्यागः संभाव्येत ।

कवणुसयणाउ जीव तुहुं बहुविहरूव धरन्तु ।
भवपरेणु सुप्पउ भणइं कि न लज्जहि णच्चन्तु ॥४४॥

हे जीव ! त्वं अत्र संसारे नृत्यं कुर्वन् सन् किं न लज्जसि । अर्थात् लज्जितो भव अतएव सुप्रभाचार्यः कथयति यत् भवे संसारे आत्मानं विस्मृत्य नट इव बहुविधनानाप्रकाराणि रूपाणि कृत्वा नृत्यं करोति अतो नृत्यं कारयति; हे जीव ! त्वं ज्ञानवान् कथमज्ञानी बभूव, स्वात्मस्वभावं तत्त्वादिचिन्तनैः, परस्वरूपात् विरमणं कुरु ।

खणि खणि हरसविसाय वसु मंडिउ मोहन जेण।
धरिपेरणु सुप्पउ भणइ रे परहरइ खणेण ॥४५॥

रे जीव ! त्वं क्षणं क्षणं प्रति मोह एव नटकेन कृत्वा मंडितोऽभूः पुनः त्वं हर्षविषादं कृत्वा तस्य वशवर्तोऽभूः। सुप्रभाचार्यः कथयति रे मूढ़। क्षणेनैव तं परहरइ—परित्यज।

रिसिदयवरवंदिए सयण जं सुहुलहि विनजंति।
झटितं घरु सुप्पउ भणइ घोरमसाणु नभंति ॥४६॥

हे शिष्य ! यस्य गृहे रिसिदयवरः ऋषि दिगम्बरः न भुंक्ते, पुनः अन्ये दीनाः याचकाः, पुनः सयणसजनाः—सद्धर्मसज्जनाः अमी जनाः यस्य गृहे सुखं न लभन्ति तत्र सुप्रभाचार्यः कथयति यत् तस्य गृहं उड्ढितं वरं—भस्मीभूतं वरं श्रेष्ठं तस्य गृहं घोरमसाणु भयंकरस्मशानार्थं ज्ञातव्यं न भाति न शोभते।

ईसरगव्वुमां उवहहिं सयलपरायउ जाणि।
चलु जीविउ सुप्पउ भणइ पिउवणु तुव अवसाणि ॥४७॥

हे धनवन् ! त्वं गर्वं मा उद्वहसि मा कुरु: इमानि सकलपरिग्रहादिकानि वस्तूनि त्वं परस्वरूपं जानीहि। अतएव सुप्रभाचार्यः कथयति यत् कारणात् इदं धनं समस्तं संगं मुक्त्वा त्वं पितृवने श्मशाने गमिष्यसि।

हियडाकाइ चंडप्फ जहि घरुपरियण संतुट्ठ।
जउ जाणहिं सुप्पउ भणइ जइएणजितु हुं मुट्ठ ॥४८॥

रे चित्त त्वं कस्मादाकुलः व्याकुलः भवसि, त्वं गृहपरिजनकुटुम्बं दृष्ट्वा हर्षितो किं भवसि ततः सुप्रभाचार्यः कथयति रे जीव त्वं किमपि न जानासि अनेन कुटुम्बेन त्वमुषितः आत्मानः बन्धनमगच्छः यतः, इदम् कुटुम्बम् पापप्रेरकं धर्मघातकं च ईयम्।

हियडामंझि विघरूघरणि किं अछहि णिच्चितु।
धणुजोवणु सुप्पउ भणइ न सहइ छक्खिय कयंतु ॥४९॥

हे चित्त ! त्वं वरूवरणि मडित्वा गृह परिवारादिषु स्थितः कस्मात् त्वं निश्चिन्तः तिष्ठसि, अत्र सुप्रभाचार्यः कथयति यत जीवस्य धनयौवनादिकम् कृतान्तः यमः एकघटीपर्यन्तमपि न सहति कोऽर्थः अर्थात् स कृतान्तः धनयौवनं हरति।

सुप्पउ भणइ धणुजोवणहं ममज्झि परिहरि।
घरूलइ दिक्खमी मणु णिव्वाणहं मज्झि ॥५०॥

सुप्रभाचार्यः कथयति रे जीव स्त्रीधनयौवनेषु दर्पं मा कुरुत्वं गृहादिकं त्यक्त्वा जिनदीक्षाम् जग्राह, पुनः स्वमनः निर्वाणे दीयताम् भर्त्तव्यम्।

जीवमधम्मह हाणि करि घर परियण।
कउजेण किन परिवहि सुप्पउ भणइं जणु खंजतु मरेण ॥५१॥

अरे जीव ! त्वं जिनधर्मस्य हानिं मा कुरु, कस्मै प्रयोजनाय गृहकुटुम्बार्थे सुप्रभाचार्यः कथयति यत् रे जीव त्वं किं न पश्यसि अस्मिन् संसारे लोकानां समये-समये असौ यमः कृतांतः ग्लायति भक्षयति।

जसुप्पउ सणकारणि णणरुकउजाकज्ज करेई।
सुप्पय सो जिकुडुवडउ चांपिविणरयहं लोय ॥५२॥

हे शिष्य ! केचन मूढलोकाः कुटुम्बार्थे कार्याकार्यं अविचार्यं कार्यं कुर्वन्ति सुप्रभाचार्यः कथयति यत् अहो तेषाम् कुटुम्बं चंपित्वा भक्षयित्वा घोर नरके तान् पातयति कीदृशं कुटुंबं पापप्रेरकं।

रे मूढ सुप्पउ भणइं धणुदिंतहथिरूहोय।
जई कलस चैसीस गयणिपुणु खिउजंतो जो उ ॥५३॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं मूर्ख जीव ! निर्मलभावेन धनं दीयमाने सति स्थिरं भवति अधिकम् भवति केन निर्मलभावेन अहो यदि धनं न दीयते तर्हि चन्द्रस्य कलावत् दिनं दिनं धनं क्षीयते किंचित् यथा शुक्लपक्षे चन्द्रस्य कला वर्द्धते कृष्णपक्षे क्षीयते तद्वत्।

घर सुखईं सुप्पउ भणइं जिय माणिज्जहिं नेम।
इंदिय चोरह धम्मधणु भुवन रहिज्जइ जेम ॥५४॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं हे जीव ! त्वया गृहादिषु सौख्यस्योपरि तथा स्वयताम् यथा इन्द्रियाण्येव तस्कराः धर्ममेव रत्नं त्वदीयं न हरेयुः तथा त्वया स्वगृहे निवासं कर्त्तव्यम्।

णिय घरि सुखइं पंचदिण अणु दिणु दुःखहलं।
कव पुणि अप्पा सुप्पउ भणइं जेण विढप्पइं मुक्खु ॥५५॥

हे जीव अस्य प्राणिनः सांसारिकं सौख्यं दिनपंचरात्रं तिष्ठति परन्तु दुःखं लक्षगुणं अनुदिनं अहर्निशं गतागतं करोतीति ततः सुप्रभाचार्यः कथयति रे जीव स्वात्मस्वरूपं जानीहि येन स्वात्मज्ञानेन मोक्षपदं प्राप्स्यसि कीदृशं मोक्ष पदं शाश्वतम्।

सुप्पउ भणइं मुनि सणहु तादुल्लहु णिव्वाणु।
जामण मणुसिंह मावि मुणिउं अप्पाणिं अप्पाणु ॥५६॥

सुप्रभाचार्यः कथयति यत् हेम्नि तावत् निर्वाणपदं मोक्षपदं दुर्लभं यावत् अनेन मुनिना स्वमनः चित्तं न मारितं च पुनः आत्मस्वरूपं न ज्ञातं पुनः आत्मस्वरूपं यावत् न चिंतितं।

अहहस पुज्जहु अह वहरि अहि जिणइ वंभाणु ।

सुप्पउ भणइ रे जीव जोई यहु सव्वह भाउपवाणु ॥५७॥

सुप्रभाचार्य यत् भो योगीश्वराः यूयं हरं पूजयत अथवा भवन्तः हरिं पूजयन्तु वा जिनं पूजयन्तु अथवा ब्रह्माणम् पूजयन्तु परन्तु यावत सम्यक्प्रकारेण स्वात्मलाभेन स्वभावेन निर्मलभावं न भविष्यति तावत् मोक्षपदे स्थितिर्न भविष्यति ।

रोवंतह सुप्पउ भणइ रे जीव दुःख किं जाइ ।

जामण इंदिय गुण विहिउ ताउ निरामउ वाइ ॥५८॥

सुप्रभाचार्यः भणति यत् अरे जीव ! अस्य प्राणिनः रोदने सति न पुनः शोकं कृते सति पापोत्पन्नं दुःख किं गच्छति अपितु न गच्छति । अहो यावत् इन्द्रियादिकसुखं न त्यजति अतीन्द्रियादिकं सुखं यावत् नोत्पद्यते तावत् निरामयं अव्याबाधं बाधारहितं सुखं न भवति कस्य जीवस्य ।

रोवंतह सुप्पउ भणइ सो विहवइ आप्पणु ।

णाणपंतरि फुरइतहिं समर सुत प्रिय णाणु ॥५९॥

सुप्रभाचार्यः भणति यत् रे जीव यत त्वं दुःखे आगते सति रोदसि त्वं निजात्मानं आकुलं व्याकुलं करोषि स्वात्मानम् धर्मघातकं करोषि ॥ परन्तु यदि अभ्यंतरे अत्मनि समरसभावेन कृत्वा यदि तिष्ठसि तदा आभ्यंतरे स्वात्मध्यानं विस्फुरति ।

जसुमणु जीवइ विसय वसु सोणरु मुनि भणिज्ज जसु ।

पुण सुप्पय मणु मरइ सो थरु जीउ भणिज्ज ॥६०॥

हे शिष्य ! यः पुरुषः अथवा या स्त्री ऐन्द्रियेन विषयसुखेन कृत्वा जीवति हर्षं प्राप्नोति स नरः वा सा स्त्री मृतकवत् कथ्यते । ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किं यो भव्य स्वमनसं निग्रहाति स भव्यः सर्वदा जीवति । लोकैः स्मर्यते ।

जसु लग्गउ भणइ पिय घरि घरिणि पिसाउ ।

सो किं कहिउ समायरइ मित्तणि रंजण भाउ ॥६१॥

सुप्रभाचार्यः कथयति यस्य पुरुषस्य गृहपुत्रकलत्रधनादिप्रीतिमद् वस्तु एव पिशाचो लग्नः तस्य पिशाचग्रस्तस्य पुरुषस्य न किमपि वस्तु सम्यग् स्वात्मस्वरूपं भासते यद्यदाचरते तत सर्वमेव निरर्थकत्वेन भासते ।

जेहिं जिण यणिहिं वल्लहउ दीसइ रज्जु करंतु ।

पुण तेण जिसुप्पउ भणइ सइ दीसइ उभंतु ॥६२॥

हे जीव ! यैः नेत्रैः यः पुरुषः वल्लभः राज्यं कुर्वन् सन् अवलोकितः दृष्टः सो वल्लभ पुरुषः सुप्रभाचार्यः कथयति यत् तैः नेत्रैः सः भू वल्लभपुरुषः मया दह्यमानो दृष्टः, संसारस्य ईदृशः स्वरूपः वर्तते ।

जेहिं न णिदधणु विलसियउ नउ मग्गंह दिणु।
अप्पउ सहिं सुप्पउ भणइ तिहिं अप्पाणउ छिण्णु ॥६३॥

पुनः सुप्रभाचार्यः कथयति यत् अहो येन पुरुषेण स्वकीय धनं दत्तं यत्प्रचुरतरं कृत्वा प्राप्तं तत् धन प्रदत्तमपि न फलाय संपद्यते अपितु तेन पापेन दीर्घसंसारे दुःसहं दुःखं प्राप्यते।

जिमि चिंतिजइ घरु घरणि तिमजइ परउ पयारु।
तोणिछउ सुप्पउ भणइ खणितुहइ संसारु ॥६४॥

पुनः सुप्रभा० किं हे शिष्य! संसारीजीवः यथा निजगृहपुत्रस्त्रीधनादीन् स्वचित्ते अति वल्लभान् चिंतयति तथैव तेनैव यदि जिनधर्मोपरि तादृशं रागं कुर्यात् तर्हि तस्य पुरुषस्य निश्चयेन क्षणमात्रेण संसारः तुट्टने क्षयं यास्यति।

णिच्चल संपय कस्स घरजेइ केणविकि हिं दिट्ठकर।
पसारी सुप्पउ भणइ तावोलतु वसिट्ठ ॥६५॥

सुप्रभा० किं हे शिष्य! इयं सम्पत् कस्य गृहे निश्चला स्थिरा त्वया वाथवा केनापि पुरुषेण द्रष्टा अपि तु न. अहो अस्थाने निश्चला द्रष्टा च शिष्टाः उत्तमपुरुषाः एवं कथयन्ति। स्वहस्तं प्रसार्य सत्पुरुषाः कथयंति यत् इयं संपत् निरुपाधितः, इदानीं वर्तते न केषामपि पार्श्वे स्थिररूपेण बभूव।

महिहिं भमंतह तेण परजे परघर दीसंत।
परभाओ सुप्पउ भणइ मुवानकहव मिलंति ॥६६॥

हे जीव ये नराः परगृहे याञ्चा कृता मया दृष्टाः केन मिथ्यात्वभावेन ते याचका नराः मृतेषु सति कथमपि मोक्षमार्गे सन्मार्गे न मिलंति।

सो घर वर सुप्पउ भणइ जसुकर दाण हवंति।
सो पुण संचै धणु जिघणु सो णरु संढु भणंति ॥६७॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं अहो यस्य पुरुषस्य गृहं स्वहस्तं दानेन कृत्वा वहति प्रसरति तस्य पुंसः सफलं गृहं भवति। पुनः यः कृपणः पापं कृत्वा धनं संचयति सः पुरुषः षंढः नपुंसकः कथ्यते। दुर्भागी कथ्यते।

जेत्तिउतुमि चडिधावई दंम्महु ते त्तिय जई सहसा गुण धम्महं।
रे जिय सुप्पउ भणइ असार हुं कंद प्पाडु होय संसारहुँ ॥६८॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं० रे जीव! त्वं यावत् मात्रं धनोपरि आकांक्षया धावसि तावत् मात्रं यदि चेत् त्वं सहसा शीघ्रेण जिनधर्मोपरिरागं कुर्याः तर्हि अस्य असारसंसारस्य मूलं विनाश्य मोक्षं गमिष्यसि।

वल्लहु अवगुण दावइं जेत्तिउ सुप्पउलाहु गणिज्जइ तित्तिउ ।
जिम्म २ खओ उपज्जइ जेणहूं तिम २ पुण मुच्चइ संदेह ॥६९॥

सुप्रभा० किं हे जीव ! अस्य प्राणिनः पुत्रकलत्रधनगृहबांधवमित्राद्यैर्वल्लभैः यत् किंचित् अवगुणमुत्पद्यते तत् सर्वमवगुणं जीवेनानेन लाभमवगम्यते परित्यज्यते तथा संदेहः मोहः क्षयं याति, वैराग्यमुत्पद्यते ।

....

यहाकित्तिउ अएण भवंतारि किण्णि जित्तिउ ॥७०॥

रे चित्तः हे जीव ! दशदिक्षु मनोभिलषितवस्तु लोभार्थम् कथम् भ्रमसि न ह्येकमपि वस्तु स्वेष्टसाधकम् यतः कारणात् मनोवाञ्छितानि वस्तूनि असौ जीवः पूर्वपुण्येनोपार्जितमेव सर्वं लब्धम् शक्योसि । नान्यतवस्तु किंचिदन्य अतः व्यर्थं माभिलष ॥ सुप्रभा० किं रे जीव यदि भूरि प्रचुरां तृष्णां करोषि तर्हि यत् पूर्वभवांतरस्य सोपार्जितं पुण्यं तत् त्वं लभसि प्राप्नोसि ।

रे हियडा सुप्पउ भणइं किन फुट्टहिं रोवनु पिउ ।
पच्छेहिं मसाण डइं एकल्लउ उर्भतु ॥७१॥

सु० किं रे चित्त ! रे जीव ! त्वं प्रेयपुत्रकलत्रादिके मृते सति तथा लक्ष्मीगते च कस्मात् रोदनं करोषि, पुनः हे मूढः त्वया विभुवने वारैकमपि एकोपि प्रीतमः वल्लभः मृत्तः प्रज्वलितः दृष्टः यमेवावस्था तेन कारणेन भविष्यति किं च प्रियमरणे त्वया कथं न मृतः यदि तवातिप्रिय आसीत् । अतः त्वयानुभूयताम् यदस्मिन् नकश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुरिति अतः निस्पृहः वैराग्यमनुभूयताम् ।

बलवंतउ सुप्पउ भणइं घरमोहिंपरिबद्ध ।
पेसतह वुहि सजणहि कोकालेण हिरवद्ध ॥७२॥

सुप्रभा० किं रे जीव ! त्वं गृहस्य प्रतिबंधरूपेण मोहपाशेन बद्धः सन् कस्मात् समाकुलः भ्रमसि यतः कारणात् स्वजनमित्रादिकाः अनेन कालेन केपि न भक्षिताः, अपि सर्वे भक्षिताः ।

उत्तम पुरिसिंह कोडिसय दिन २ लग्गइं असारु ।
सुप्पउ साइ न धाइ परसुहि इक वसु संसारु ॥७३॥

सुप्रभा० किं अरे जीव पुरुषोत्तमान् लक्षकोटिशतसहस्रादीन् दिनं-दिनं प्रति असौ असारः संसारः गिलति असौ दुष्टः संसारः सर्वान् जनान् खादति भक्षयति । परन्तु तृप्तो न भवति ईदृशः संसारो राक्षसो ज्ञेयः निश्चयपूर्वकं ।

सुप्पउ भणइ रे धम्मि यहु पित्तहु अवरु अणकव ।
जीव वहं तह णरमगई मणु मारंतह मोकवु ॥७४॥

सुप्रभा० कि रे० हे, धर्मिष्ठ लोकाः भवन्तः पिच्छन्तु जानंतु । अवलोक्यतां तत् किं ईदृशं ईदृग्विधं अणखुअवंधं मया कविना न सह्यते तत् कियत् जीवघातं जीवं मारयित्वा नरकगतिर्भवति पुनः कि मनः मारयित्वा मोक्षपदं प्राप्यते । तस्मात् उत्तमपुरुषेण जीवघातं न कर्त्तव्यम् ।

जइ चिंतहिं सुप्पउ भणइ जायतु जाय ।
धुडुणिम्मल धमेण सह धरिमंडित सुठाउ ॥७५॥

सुप्रभा० कि अरे, यदि चेत् सत्पन् दत्ते याति तर्हि अधुना गच्छतु पुनः भव्यजीवस्य निर्मल-निजधर्मेण सह निर्मलं यशः भुवि पृथिव्यां मंडित्वा स्थितिं कुरु एवं वर श्रेष्ठं ।

एहु धरु घरिणी राहु वंधउ गिरहरंण ।
गोहन डावउमाहण सहं नच्चावइ बहुभंगि ॥७६॥

सुप्रभाचार्यः कथयति हे शिष्य ! अत्र संसारे अमी जीवाः गृहस्त्रीमित्रपुत्रबांधवसरत्प्रभृतिषु अतिरागं कुर्वन्तो, कस्मात् मोह एव नरकः सर्वेषां जीवानां नृत्यं बहुभेदैः कारयति तस्मात् ।

नच्चावाई बहुभंगिरंगी काल णीशियतह जिणहिं ।
इइ संसारु सुख णहु लहइ खणु विहइ ॥७७॥

हे शिष्य ! अत्र संसारे अनेन जीवेन असौ मोह नरकः नाना बहुविधिना प्रकारेण नृत्यं कारयति कस्मात् पंचेन्द्रियाणां विषयरंगवशात् ततः विषयरंगवशात् असौ जीवः चतुर्गतिषु अनन्तदुःखानि भुञ्जति । कदाचित् सुखं न प्राप्नोति ॥ इति सुप्रभाचार्यकृतः वैराग्यसारप्राकृत, दोहाबंधः सटीकः सम्पूर्णः ॥

संवत् १८२७ वर्षे मिती पौषवदि ३ बुधवारे वसवानगरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभचैत्यालये पंडित श्रीपरसरामः तच्छिष्यः पं० अणन्तराम, तच्छिष्यः श्री चन्द्रस्य वाचनार्थं वा उपदेशार्थं लिपिकृतं लेखकपाठकयोः शुभमस्तु, श्री जिनराज महत । तत्लिपेः संवत् १९८९ विक्रमीये मासोत्तममासे कार्त्तिकमासे शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां गुरुवासरे आरानगरे स्व० देवकुमारेण स्थापित श्रीजैन-सिद्धान्त-भवने श्री के० भुजबलि शास्त्रिणः अध्यक्षतायां इदं प्रतिलिपिकार्यं पूर्णम—भवत् ॥

इतिशुभं-भूयात् ।

CONTENTS.

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol XVI
No I

ARRAH (INDIA)

June
1950.

JAINA GURUS OF THE NAME OF PŪJYAPĀDA.

By
(Shri Jyoti Prasad Jain, M.A., LL. B., Lucknow).

Pūjyapāda is one of the most celebrated names not only in the annals of Jaina history and literature but also in the field of Sanskrit grammar. His Sarvārtha-siddhi is believed to be the first, and is atleast the oldest available commentary on the Tatwārtha-Sūtra of Umā-svāmi, which is the one Jaina religious work that has perhaps the largest number of commentaries written on it; and Pūjyapāda's work has ever been regarded a most authentic and precise exposition of the very concise and pithy aphorsims of the original. The mystic mind of that great yogi (Pūjyapāda) finds a spontaneous and marvellous expression in his Samādhi-śataka. Whereas his grammatical masterpiece, the Jainēndra Vyākaraṇa ranked him amongst the eight highest and original authorities like Indra, Chandra, Śākatāyana, Pāṇini, Amara etc., in that highly popular branch of Indian learning. More than a dozen other works are also attributed to the name of Pūjyapāda, and there are several traditions and innumerable references in literature as well as in epigraphical records reaching back to as early as the 7th. century A. D., which tell us some thing or the

other about the Jaina guru (or gurus ?) who bore this name. His own works are, however, silent on this point and give us practically no information about their author. Hitherto it has also been generally believed that there was only one Pūjyapāda whose real name was Dēvanandi and that all the references found under that name (i.e. Pūjyapāda) point to him. But the fact that most of the more celebrated Jaina gurus, particularly those belonging to the first eight or ten centuries of the Christian era, happened to have later on a number of their respective namesakes[1] pursuades us to examine the same possibility in case of Pūjyapāda as well. And it is not at all surprising that an analysis and classification of all the available references pertaining to the guru or gurus of that name leave us with some twenty one apparently isolated and unconnected Pūjyapādas :

(1) Pūjyapāda, the first and original Jaina savant of that name. His real name was Dēvanandi and he was also called Jinēndrabuddhi He was a South-Indian Digambara Jain saint and scholar belonging to Kundkunda's line of the Mūlasangha. There is absolutely no doubt as to his authorship of the Jainēndra Vyākaraṇa, the Sarvārtha-siddhi and the Samādhi-śataka. He evidently came after Kundkund, Umāsvāmi and Samantabhadra, and preceded Vāman, the author of the Kāśika, also Guṇanandi, Aklanka, Dhananjaya, Virsena etc.[2] Thus he may have lived anytime between the third and the middle of the 7th centuries A.D. The majority of modern scholars, however, place him in the latter half of the 5th or the beginning of the 6th century A.D.[3], while there are some who are inclined to place him in about the middle of the 7th century A.D.[4]

---

1 For example Bhadrabāhu, Kundkund, Samantabhadra, Kālaka, Sidhasēna, Aklanka, Prabhāchandra, Anantavirya, Jinasēna, Vidyanand, Vadiraja and several others had each several later namesakes of his own

2. Cf. Keilhorn—I. A. X. 75; Pathaka—I. A.-XLVIII p. 20,512; Peterson-Report on skt mss II p 67-74; Hiralal-A cat. of mss. in C. P. & Berar, intro p. XX; Valenkar—Jinaratnakose p 146. etc. etc.

3. Buhler—I. A.-XIV, 355; Lewis Rice-Mysore and Coorg p 35, 196; JRAS for 1890 London, p 245-262; Narsimhacharya-kavicharite p. 5-6, etc. etc.

4. K. B. Pathaka—I.A.-XII, 19-21, Bombay 1883; D. C. Sarkar—Successors of Satwahanas p. 300; and others who believe in the contemporaneity of Pūjyapāda and Durvinita and prefer for the latter the later of the two dates.

(2) The Pūjyapāda Dēvanandi mentioned in the Paṭṭāvalis of the Nandi-Sangha of Mūla-sangha, Kund kund-anvaya. The Sanskrit Paṭṭāvali[5] of that sangha places him at number ten after Padmanandi-Kundkund, and assigns him to Vik. 258-308 (or A.D. 200–250).

(3) Pūjyapāda, the preceptor of Vajranandi who, according to the Darśana-sāra of Dēvasēna (933 A. D.), founded the Draviḍa-Sangha in Vikrama Samvata 526 [6]

(4) The Pūjyapāda of the Ganga records and tradition, who is believed to have been the spiritual preceptor and teacher of Ganga King Durvinita,[7] who is assigned by some to the end of the 5th and beginning of the 6th century A. D and by others to the first half of the 7th century A. D.

(5) Pūjyapāda of the Chalukyan records[8]—who is, in the Laxamēśvara inscription of Saka 651. (A.D 729), said to be a native of Alaktakanagar. To Udayadēva Paṇḍit of Dēvagaṇa, Mūlasangha, who is styled in an inscription of A.D. 729, as the house-pupil of Sri-Pūjyapāda, King Vijayāditya Satyāśraya Chālukya gave in donation the village of Kardam for the Śankha-Jinēndra temple in Saka year 622 (A.D 700)· Nirvadya Paṇḍit, another desciple of this Pūjyapāda who is also described as a great grammarian and is assigned to Saka 600 (A.D. 678), was the spiritual minister of King Vinayaditya Chalukya.

(6) The Pūjyapāda whom Dhananjaya in his Nāmamālā makes out to be an unrivalled Laxaṇakara.[9]

(7) The Pūjyapāda whom Svami Vīrasēna mentions and from whose Sāra-sangraha and Tatwārtha-Bhāṣya the latter quotes in his famous Dhavala commentary of the Sata-khaṇḍāgama-Siddhanta.[10]

---

5. Pub. on p 320 of Dr. Bhandarkar's Report on Skt. mss. for 1883-84. There is another, a Prokrit Pattavali of the same sangha which appears to be older and more correct. But it gives no dates. Cf. S. Samantabhadra p. 145, 163.

6. JBRAS—XVII p 74.

7. Rice—My & Cg. p. 35, 196; E.C. XII Im. 23 p. 7; M.A.R, 1911-12 p. 35.

8. I. A.—XII p. 112. ibid p. 19-21.

9. "प्रमाणम[illegible] पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनञ्जय कवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥" (Nāmamālā)

10. Dhavala p. 700 of Vedanākhaṇḍa, & ṣata-kh. Āgama 1,1,1, Intro. p 60.

Vīrasēna completed his Dhavala at Vaṭanagar in the Raṣṭrakuṭa territory in Vik. 838 (or A.D. 780). He started his work in about A.D. 750 and died in about A D. 790.[11]

(8) The Pūjyapāda mentioned by Ugrādityāchārya in his Kalyāṇa-kāraka a famous work on medicine, written in C 800 A. D. at Rāmagiri in the dominions of the Eastern Chalukya King Viṣṇu-rāja Parmēśvara, as one of the great Jaina masters of medicine of the past and who is said to be an authority particularly in the Śālākya-Tantra.[12]

(9) The Pūjyapada whose Kalyāṇakāraka, Jagdall-Somnath a medical writer (C 1150 A. D.) claims to have rendered into Kannaḍa[13], the original being in Sanskrit. Vijayaṇṇa Upādhyāya the author of Sārasaṅgraha or Vaidyasārasaṅgraha also claims that his work is derived from the Kalyāṇakāraka of Pūjyapāda.[14] And Pārśva Panḍit in hs Pārśva Purāṇa composed in 1222 A.D. ascribes the authorship of Kalyāṇakaraka to the Pūjyapāda who was also the author of Jainēndra and of the Tatwārtha Vṛtti[15]

(10) Pūjyapāda theŚabdāvatāra-kāra—According to Vrttivilasa, a Kannad poet (C. 1160 A. D.), Pujyapada wrote the Śabdāvatāra Tīka Pāṇiṇi.[16] This fact is also corroborated by the Nāgar inscription of A. D. 1530[17], and also by Lewis Rice's interpretation of the Hīrāmatha copper grant assigned to A. D 700.[18]

(11) The Pūjyapada of the Karṇāṭaka epigraphs—

(a) An inscription of 1163 A. D. mentions that in the line of Bhadrabāhu arose Kuṅdkuṅd also called Padmanaṅdi. Then came Umāsvāmi Gṛdhapichha. His desciple was Balākapichha. In such a line of great Acharyas arose Samaṅtabhadra.... ...after whom came Pujyapada. The record also informs us that the original name of

---

11. For Virasena see Jaina Antiquary XIV 2, p. 46-57, & XII, 1, p 1-6.; Anēkānta—६, ११-१२ p. 207 & 10, ७-८ p. 274.

12. Praśasti Sangraha p. 53 (pub. JSB—Arrah).

13. Kavicharite I p. 164-65, II p. 15-16.

14. Pr. Sang p 149,

15 Kavich. I p 325 (n. 1)

16 Karnataka Sabdanusasana—JG for 1923 p. 217-232.

17. E C VIII Nv. 46 p. 147.

My. & cg. p. 35, I XII .

this guru was Dēvanandi and that he was also called Pūjyapāda and Jinēndrabuddhi. It gives the reasons too why he was so called. It ascribes to him the authorship of Jaināblhisēka also, besides the three already mentioned works.[19]

(b) The record of 1398 A D. confirms the names Devanandi and Jinēndrabuddhi given to him and the derivation of the name Pujyapada.[20]

(c) The record of 1432 A.D. tells us of Pūjyapāda's wonderful yogic powers and of his visit to the Vidēha kśhetra. After Pujyapada, it also mentions Aklanka and some other gurus who came after him.[21]

(d) The Nagar inscription of 1530 A D. attributes to Pujyapada the authorship of—Nyāyakumuda-Chandrodaya, the Nyāsa on Sūtras of Śakaṭāyana, the Nyāsa named Jainēndra, also the great Nyāsa called Śabdāvatāra on Sūtras of Pāṇini, the Vaidyaśāstra and a Tika to the Tatwārtha.[22]

(12) Ayyapārya, the author of Jinēndra-Kalyāṇābhudaya (1320 A. D.) attributes the authorship of a Protiṣṭha-pāṭha to one Pūjyapāda.[23]

(13) The Pūjyapāda yogi who is said to have rendered into Kannaḍa the Śatapadi i.e. the story of Jnāna-Chandra-Charita, originally written in Prākrita by Vāsavachandra. And Pāyana Varṇi, the desciple of Panditāchārya rewrote this Kannaḍa work of Pūjyapāda, in Sāngalya Chhanda in 1659 A D.[24]

(14) The Pūjyapāda muni who was the guru of Mangarāja (circa 1360 A.D.) an official of early Vijayanagar and author of Khagēndra-maṇi-darpaṇa, a famous work on medicine In his work Mangrāja speaks of his guru Pūjyapāda and tells us that he has utilized the latter's celebrated work on medicine while delineating in the portion on the conduct of a thousand immovable kinds of poisons.[25]

19. E. C. II 64 p. 17.
20. E. C. II 254 p. 110.
21. Ibid 258 p. 117.
22. E. C. VIII Nv. 46 p. 147.
23. Prasasti Sang. p. 104.
24. Med. Jainism p. 385 (n):
25. Kavicharite I p. 417-422.

(15) Dēvarasa (1650 A. D.) in his Gurudatta Charitra tells us that near the town of Pūgatāka in Karṇāṭaka was a hill which contained the basadi of Pārśva-Jina, and that on this hill the famous Pūjyapada has conducted experiments in alchemi (Sidha-rasa).[26]

(16) The Pūjyapāda whose desciple and sister's son was Sidha Nagarjuna, the famous alchemist of South India.[27]

(17) The Pūjyapāda whom Pāṇḍya Kshamāpati in his Bhavyānanda śāstra mentions along with Dēva-Chandra and Nāgachandra, the immediate predecessor or gurus of his own.[28]

(18) The Pūjyapāda Svāmi who is mentioned in a list found inscribed on a panel at Kārkal. In this list of gurus who seem to have been associated with that place, he is mentioned soon after Dharmabhūṣaṇa Bhaṭṭāraka and just before Vimala-sūri Bhaṭṭāraka.[29]

(19) The Pujyapāda to whom the authorship of several works on medicine like the Madana-kāma-ratnam[30], the Nidāna-Muktavali[31] etc. is ascribed, and under whose name Vijayaṇṇa Upadhyāya quotes many rasa-yogas or medicinal formulae, in his Sārasangraha.[32]

(20) The Pūjyapāda or Pūjyapādas to whom the authorship of the following works is also attributed—

Sidha-bhaktyādi-saṅgraha, Iṣṭopadēśa, Shāntyaṣṭaka, Chhanda-śāstra, Svapnāvali, Kārikāvṛtti, Surasasaṅgraha, Upasakachara, Sravakachara etc.

(21) Lastly, there is the Pūjyapāda, the account of whose life is given in the Kannaḍa Pūjyapāda Charita of poet Chaṅdayya and in the Rājāvalipathē of Dēvachandra.

Now it is quite obvious that all these references cannot point to one and the same Pūjyapāda. No doubt, it is also quite certain that there could not have been as many as twenty or so gurus of that name. A closer examination which shall hereafter be made, should, however, certainly reduce their number very much.

(To be continued)

26. Ibid p. 391-392.
27. Ibid p. 11-12; also see Chandayya's Pūjyapāda Charita.
28. Pr. Sang. p. 34.
39. M. A. R. for 190-21 p. 8.
30. PS—p. 13.
31. Ibid p. 15.
32. Ibid p. 149.

JAINISM AND THE MODERN WORLD.

By

Shri, Kalipada Mitra.

---

1. The extreme formation of the Vedic Karmakaṇḍa, the inane cult of ritual and sacrifice, the despotism of priest and sacerdotalism-all had brought about natural reaction and evoked protests from hosts of critics. The first stirring voice comes from the deep of the Upanishad—it denounces polytheism, and upholds monotheism. Other rebels raised their voice against the Vedic conception of ethics and metaphysics. We hear of a host of them—of Purana Kassapa. Ajita Keśakambalī, Sañjaya Belatthiputta, Pakudha Kaccāyana, Makkhati Gosāla, Nigaṇṭha Nāthaputta, in the Pali-Buddhisttic literature and of hundreds of scholiasts in the Ācārāṅga Sūtra and other Jain canonical works. But the two mighty voices of the time were those of Gotama Buddha and Lord Mahāvīra.

Their revolutionary teachings found an echo in the hearts of the oppressed people of the time, and proved to be two very potent dynamic forces towards demolition of the *ancien regime*. A new vista was opened up—that of equality and democracy. A new orientation was given to the social and religious life of the people. The caste system lost its rigidity, social distinctions their rigour. A break was made with the past. The ceremonies lost their sanctimoniousness. People were taught to cultivate the virtue of self-reliance. Buddha and Mahavira preached to the masses not in Sanskrit—not in the language of the learned, but in their own native vernaculars—Pāli and Ardhamāgadhī.

2. Let me now advert to the specific contribution made by Jainism. Lord Mahāvīra levels all distinctions of caste, creed, colour and sex. Man and woman are all equal, even the low-born is capable of attaining spiritual knowledge—for every soul has a limitless capacity of accomplishing spiritual perfection by observance

of vows (*vratas*), and maintaining pure conduct. He lays great emphasis on one's Karma. One becomes a Brahman, or Kshatriya, Vaiśya or Sudra by his action. One can shape his own destiny and need not depend upon others.

3. Woman is capable of obtaining spiritual knowledge and attaining spiritual perfection. Mahāvira gave due respect to her and admitted her into his order.

4. Mahāvira does not believe in God as the spring of life, as the creator of the Universe, or the director of the phenomenal world. Thus he freed the intellect of man from the shackles of dependence, and taught him that he was the architect of his own fate, and that he could rise to the height of his spritual stature by his own exertions. This teaching induced in man a refreshing sense of his own dignity, taught him to be brave, strong and self-reliance, and stimulated in him the incentive to good actions.

5. Man is not to look up to a personal God as the fount of mercy. He reaps the fruit of his own action, he has to adjust his relations to man, as he likes to live himself, he should let others live Therefore an elaborate doctrine of *karma* has been drawn up with practical direction as to conduct of life, pure and just and based on toleration, broad outlook and sympathy In other words the foundation of Ahimsā was well and truly laid.

6. One other remarkable contribution of Jainism is the doctrine syādvāda and anekāntavāda. It propounds manysided view of a thing and emphasises the relativity of truth. The nature of things is extremely complex; we can not affirm or deny anything absolutely. Every object is full of contradictions and oppositions. To understand a thing fully we should predicate the contradictions of existence and non-existence, one and many, permanence and so on According to it no judgment is true in itself or by itself. As there is truth in every idea, as there is reality in every existence, so every system of religion has some truth to offer. As long as we claim that we alone are in possession of truth and others are groping in darkness we can never achieve the truth and consequently conflicts are sure to arise. None can claim the ownership of the whole truth........To acquire a

sympathetic understanding of our own religion we should show reverence and the spirit of toleration and trust towards all other creeds. Anekāntavāda takes a more comprehensive and synthetic view of all systems of religious thought."[1]

Amṛtacandra, Yasovijaya, Sidhasena Divakara Anandaghaṇa the mystic—have all laid stress on the same spirit of compromise and good will. Śrī Rāmakṛshṇa Paramahaṃsa has similarly said that different creeds are but different paths to reach the Almighty, and this was emphasised by Svāmī Vivekānanda in his preachings. Thus Syādvāda or Anekāntavāda is opposed to dogmaticism which creates strife. It holds out the message of peace and harmony, it teaches us to avoid clash and conflict. If this spirit be once more cultivated, much of the present day strife of the world is likely to be restrained.

7. Religion maintains its vital force so long as it serves the needs of the society; the very moment it turns away from the realities of life and can not adapt itself to changing or changed environment of the society, it loses its vitality and becomes sterile. The Jains in time degenerated and like the Hindus created for themselves deities, invented magical devices to subordinate them to their wishes, evolved *mantras* and *yantras* i.e. developed a tāntrika attitude, Karma became a sort of determinism for them, thus robbing them of the virile spirit of energy and initiative. Belief in miracles and superstition has triumphed over reason and true faith.

8. History has shown that Jainism can adapt itself to changed circumstances, can rise above stagnation by freeing itself from the bondage of the tangle of dogmas and can create kingdoms.

9. Just as Lord Mahāvīra evolved a system which protested against the prevailing order which cramped society and gave it new life, so it is necessary for the Jains—and for the matter of that all Indians—to seek and gain inspiration from the teachings of our religion, to face boldly the changed political, economic and social situation, so that we may live a pure, bold and courageous life.

---

1. Cf the Neo-Realism of recent American philosophy which has protested against this exclusive predication or ekāntvāda and call it the fallacy of exclusive particularity.

10. In the sphere of economic life, the vow of *parimita parigraha* gives some light in the economic reconstruction of our society, nay of the world, gives some light. One has to limit his own personal possessions in the world, according to his status and immediate needs. Any property acquired beyond this limit is not to be considered, as his own, but to be devoted to the amelioration of the society as a whole. If rightly applied and adjusted to the conditions of the modern world, it may offer a key to the solution of our economic problem in a peaceful manner without having recourse to violent mothods arising out of appeal to class hatred ealculated to level down property and overthrow the society in a revolutionary manner and leaving the seeds of eternal clash and conflict as the unhappy legacy to posterity.

11. The disastrous results of the two devastating world wars are felt by all humanity. The atomic energy placed at the disposal of man by Science has been employed by him for destruction of life. It is said that science has further discovered a process which can render a region lifeless in five minutes. On the other hand atomic energy properly utilised can serve man and better his condition immeasurably. Unless the violent ideas of national or race superiority, breeding animosity, are given up, humanity has to perish. Ahiṃsā alone can give life to the world.

12. Speaking of India, I may say that our social structure will be strengthened if we show a more catholic spirit in mending our defects. It is incumbent on all of us especially the intellectuals, to evolve a new system out of the old—essentially humanitarian in complexion to solve our social, economical, and even national problem. We must be able to order "cease fire" among bellicose sects and schools, to stop suicidal battles and direct their combined energies towards the problem of healing the wound of man.

The crying need of the hour is the spirit of toleration and that of non-violence. India has shown in the past this spirit of adaptability and harmony and evolved a complex culture of unity and diversity. In the deafening wrangle of kill, kill, she may yet raise her voice and give the message of amṛta.

Mahatma Gandhi has applied non-violence to the national problem of freedom. To quote Asoka, let the conquest of Dhamma replace the conquest of the sword.

It is over two years that this article was written, but could not find the light of the day for some unforeseen incident.

The greatest event that has ever happened in the history of the world, and that yet has no precedent nor parallel happened nearly two years ago. India regained her independence after a long long time by a unique method never tried before—the method of non-violence, preached and practised by Mahatma Gandhi. His appeal to the British nation to 'Quit India' materialised and Independence was ushered in on August 15, 1947. And all this happened without violence in an atmosphere of grace and good will. It is the opinion of many who can speak with authority that the spirit of ahiṃsā adumbrated in the Jaina Siddhanta found its true embodiment in Mahatma Gandhi. India attained her independence through non-violence indeed, but she was dismembered, and the joy of liberation soon turned to gloom and groan that followed the hapless partition. Humanity suffered the cruellest agony that could be devised by the forces of Evil. Orgies of violence in all imaginable shapes and forms—spilling of blood, burning of houses, outrage on women, uprooting of families, and an almost interminable trekking of humanity from one end of the country to another—made non-violence and its cult an agonising and poignant mockery. It seemed at one time that heat and hatred would destroy us all. Mahatma Gandhi still turned to Non-violence as the one sovereign remedy. But the tragedy of tragedies happened on 30th January, 1948. The apostle of non-violence fell by violence. He died in flesh but lived in spirit, he became immortal. His ashes have consecrated the soil and hills and streams of India and beyond. The truth and wisdom of his preaching are now glimmering on sceptic and hesitating humanity. The world has grown weary of the aftermath of war—corruption and dishonesty, classhatred and class-superiority, coloursense and colonialism, fear and suspicion, insecurity and frustration. The olive branch is not yet in the offing. The charter of the United Nations Organisation offers indeed the solitary ray of hope in the

prevailing gloom and human rights are in a way recognised. India in recent times has again and again declared her policy of working for peace—peace of the world. She is fitted for her role—she professes her friendship to all nations. She has sturdy faith in he *mantra* of ahiṃsā taught by Buddha and Mahavira and so recently applied in the field of politics by the Mahatma. Her ambassadors plead for understanding and good will with all the world in a new voice indeed, but echoing the eternal friendly spirit of the old. The world is perhaps beginning to sense that salvation lies in Ahiṃsā.

THREE NEW KUSHĀṆA INSCRIPTIONS FROM MATHURA.*

By

Shri, K. D. Bajpai, M. A., Curator,
Archaeological Museum, Mathura.

Recently three new inscriptions have been acquired from the Mathura City and have been deposited in the local Archaeological Museum. All the three are Jaina inscriptions and are incised on the pedestals of Tīrthaṅkara images. They are all in the Brāhmī script of the Kushāṇa period and their language is the well-known mixed Sanskrit, found on a number of Kushāṇa inscriptions from Mathura.

I. The first of the three inscriptions is engraved on a fragmentary image of Vardhamāna seated in the *Dhyānamudrā*. But for the lower portion of the image, it is badly damaged. In the relief on the pedestal is shown the worship of a *dharmachakra*.

The portion above and below the relief were each inscribed with one line of writing. Out of them the lower line is completely broken. The upper line also is not well-preserved. Only a few letters in the beginning are discernible. Fortunately in this line the date of the inscription is safe. The reading is as follows :—

स्य वर्द्धमानस्य स ९० २ ग्र २ दि...........

The inscription thus refers to the establishment of an image of Vardhamāna or Mahāvīra in the 2nd month of the summer of the Śaka year 92 (=170 A. D) The name etc. of the donor have been lost. The year 92 falls in the reign of Kushāṇa king Vāsudeva whose last year, as known from inscriptions, is 98 (=176 A. D.)

II. The second inscription is incised on a broken pedestal (7" × 6"). The original complete pedestal seems to have been twice as large The Tīrthaṅkara image is completely broken and excepting a lion's head in the right corner and one female devotee all of the front relief is also lost.

The inscription contains three lines of writing. The last line is almost effaced, only a few letters being partly visible there. The

---

*Read before the XV All India Oriental Conference, Bombay, 1949.

first two lines are, however, in a satisfactory good state of preservation. My reading of the inscription is as follows :—

L. 1. सिद्धम् भगवतो सुमतिस्य प्रतिमा प्र [तिष्ठापिता]...........

L. 2. ६ मित्राया सोमगुप्तस्य धि [तु].........

L. 3. चपकि—नर्य्यत्तय (?)—व्वे...........

The world *Sidhaṁ* (सिद्धम्) has been engraved almost in the beginning of the 2nd line instead of the first After *Siddhaṁ* (सिद्धम्) there is a numerical symbol for 6. It is not clear whether this symbol stands for the regnal year or for the day, which may have been given at the end of the first line. If we take this symbol as denoting the regnal Śaka year, usually found in the Kushāṇa inscriptions of Mathura, then in that case the time of the installation of the image would come to 84 A. D. But in case the symbol stands for the day, we can not definitely assign the inscription to any particular year.

The purpose of the inscription is clearly the installation of an image of Sumati or Sumatinātha by a lady named Mitrā, who was probably the daughter of Somagupta.

Sumatinātha is the fifth Jaina Tīrthaṅkara and his early images are rarely known. The new inscription is therefore an important record in so far as it refers to the making of an image of this deity early in the Kushāṇa period.

III. The third inscription is on a complete pedestal (1'7"×1'4") of a Tīrthaṅkara image. But for the pedestal the image is almost totally broken. The remaining feet however, show that the image was in standing posture.

There is a usual relief on the front face of the pedestal between two pillars, showing worship of a *dharmachakra*. Two lines of the inscription are above the relief and one is below. Eight letters are inscribed on the rim of the image close to the right foot. The first line of the inscription mentioning the name etc. of the king, during whose reign the image was installed, is very badly preserved. Fortunately the numerical symbols denoting the year are preserved in the beginning of the second line. We are thus enabled to date the epigraph precisely. It reads as follows :—

L. 1. ....देवपु [त्र] स्य [षाहि] क [निष्] कस्य राज्य [संवत्सरे]....... ....

L. 2. १० ७ हे २ द्वितिये दिवसे पंचविंशे एतस्य पूर्व्वायां कोट्टियातो गणा-

L. 3 तो सांतिनिकस्यातो कुलातो वैईरातोशा [खातो] श्रार्य्य गृहरक्षिताये शि

on the rim near the right foot of the image. } कौशिकीये निर्व्वर्त्तनं

Translation.—In the reign of Devaputra king Kanishka, in the year 17, in the second month of winter season, in the 25th day; On the date specified as above, at the request of Kauśikī Gṛiharakshitā out of the *Koṭṭiya gaṇa*, out of the *Sāntinika kula*, out of the *Vaira Sākhā*.

The inscription is, in fact, incomplete. Like similar inscriptions from Mathura one expected in this one also the name of the donor, who at the instance of the nun Gṛiharakshitā caused to be made the image in question The donor's name is, however, conspicuous by its absence. Some of the letters of the epigraph which could not be accommodated in the three front lines are incised on the rim near the right foot. This may lead one to conjecture that the engraver finding that the name of the donor along with its usual paraphernalia, so customary in such epigraphs from Mathura, would occupy a lot of space, may have deliberately ommitted it. Such cases are. however, very rare.

In the beginning of the 1st line of the inscription there is a space for about eight letters. This space can be filled up with सिद्धं नमो वर्द्धमानस or only नमो वर्द्धमानस or alternatively with सिद्धं महाराजस्य, the last to be associated with देवपुत्रस्य etc. In case it was नमोवर्द्धमानस (स्य) then the image would certainly be that of Mahāvīra.

After देवपुत्रस्य there is a space for two letters This lacunae can be filled up with षाहि We find this adjective before Kanishka's name in several other inscriptions. After the words संवत्सरे in this line, there is a space for not more than four letters; These most probably have been सप्तदशे; The numerical figures of 10 or 7 denoting the year 17 are just after this in the beginning of the 2nd line. Almost the whole of the 2nd line is quite clear. The 3rd line also is well preserved excepting a few letters in the middle, which can easily be restored. After the name of Gṛiharakshitā there is the letter शि. It does not appear from the original stone that there was any letter engraved after शि. If we conjecture that the letter शि is meant for शिशिनि, which word the engraver did not complete, then

in that case the name कौशिकी will have to be taken as a different name The inscription would then mean that it was Gṛiharakshitā's disciple Kauśikī at whose instance somebody (probably a lady woman)[1] installed the image

The year in this inscription is 17, which undoubtedly represents the 17th regnal year of Kanishka and is to be referred to the Saka era. The year would thus correspond to A D 95. From the available epigraphical data we know that Kanishka ruled for 23 years, i. e. from 78 to 101 A. D. The present image was therefore installed six years before Kanishka's death.

The Koṭṭiya *gaṇa* and the Vaira or Vairiya *Śākhā* are well known, as they occur in a number of early Jaina inscriptions of Mathura.[2] But the Śāntinika or Sāntinika *kula* is probably mentioned here for the first time.

---

1. The contribution of lay women to Jaina religion and art has been very great, as is evident from a number of Jaina epigraphs found at Mathura and elsewhere.

2. Bühler—*The Indian Sect of the Jainas*, pp. 58-59.

JAIN TEMPLES, MONKS AND NUNS IN POONA[1] (City)

By

Sri, S. B. Deo, M A.

[Mr. Deo is studying the history of Jain Monachism. But Jainism is also a living religion it is therefore necessary to correlate the past with the present. With a view to study in detail the religious practices, the habit and other items connected with the life of a modern Jain monk so as to find a link between the modern practices and the old ones, the present author carried on investigation into the daily routine of monks and nuns belonging to the different Sects of Jainism, the mode of worship in the local temples, their management etc. The following account has been the outcome of the author's personal visits to the temples and monasteries and of a free and frank dis cussion with the monks and local Jain gentlemen. Mr Deo here tells us about Jainism in Poona.]

There are seven temples belonging to the Śvetambaras out of these seven, three are in the city proper, one is in the Camp, one in Sholapur Bazar, one at Wanowri and one at Kirkee. The Śvetambara Dharmashalas are two in number, one in the city and one in Camp, there are no separate Dharmashalas at Kirkee or at Wanowri.

The Digambaras have four temples in Poona One of them is in Vetal Peth, two are in Raviwar Peth (Lonāra Ali) and one in Meetha Ganj. There are no monasteries for Digambara monks in Poona.

The Sthânakawasis a non-idolatrous sect of the Jainas, have no temples, but they have one Sthânaka which is used as a place for residence by the monks. It is in Nana Peth. There is also a Sthanaka for nuns nearby.

---

1. I am indebted to Dr. *Sankalia* for the selection of the topic. So also the following gentlemen have been of immense help to me —

   Munis विमलसागर, इंद्रसागर, कैलाससागर (Śvet)

   Muni मोहन ऋषिजी and nun उज्वल कुंवरजी (Sthan)

   Mr. M. G. *Kothari* M.A. (Dig.)

   Mr. and Master *Lalwani* and Narayan *Tolat*.

Among the temples belonging to the Śvet. the temple of श्री गोडीजी पार्श्वनाथ is the oldest. Next comes the temple of आदीश्वर (i. e. ऋषभदेव) managed by the Oswals and the Porwals which form a section of the Jain community.

Out of the three sects of the Jains —The Dig. Śvet. and Sthān.— the idolatrous Śvet. are in majority, while the Dig. and the Sthan. form only a minority. Taking India as a whole we can say that the Śvet. are predominant in the North and the Dig are predominant in the South.

A majority of monks that visit Poona, come from North India. They are forbidden to wander in the rainy season but they wander throughout India in the remaining eight months of the year.

Out of the monks of the Śvet, Sect those who visit Poona are predominantly of विजय and सागर गच्छ[2] which form the subdivisions of the तपागच्छ. Monks belonging to the विमलगच्छ which forms the third subdivision of तपागच्छ do not visit Poona, in large numbers.

The Dig. monks very rarely visit the city obviously due to their nudity and compared with the Śvet monks, the स्थानकवासी monks also do not come here in big numbers.

ŚVETĀMBARA TEMPLES.

श्री गोडीजी पार्श्वनाथ मंदिर—

This temple is situated in Vetal Peth (No. 111). This a gorgeous temple the majesty of which can hardly be imagined from its outside appearance In this single building there are three temples[3] out of which two belong to the Śvet and one to the Dig. The interior of

---

2. A monk associates the name of his गच्छ with his name eg. वल्लभविजय, मुक्तिसागर etc.

3. "The oldest of Parasnath's temples lay in Kalevavur to the south-west and outside the city, as the Peshwas would not allow a Jain temple to be built in the city. About 1750 the Jati or the high priest of the Jainas and Sankaracharya the Brahmanical pontiff happened to meet in Poona After a long discussion it was agreed, it is said by bribing the Sankaracharya, that a Jain temple might be built in a quarter where the Brahmins did not live The Peshwas granted the site of the present main temple. where two buildings one for Chidambaris or white clothed and one for Digambaris or Skyclad Jainas were built by public subscription"—*Bombay Gazetteer* Vol. XVIII, part III Poona 1885, p. 340.

this temple is rich and painted with gaudy colours and possesses some well-carved decorative pieces of architecture. It is now under the management of a trust. It provides bathing and other facilities and also keeps materials of worship like sandalwood etc [4]

On the first floor of the building there is the idol of पार्श्वनाथ who is called as the संखेश्वर पार्श्वनाथ. There are six other idols close to it two on the right of पार्श्वनाथ and four on the left. All of them are made of white marble and the idol of पार्श्वनाथ is endowed with the characteristic hood of a snake over its head. The names of the other idols are सुविधिनाथ (on both sides) कल्याणपार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ and संभवनाथ. Devoted laymen—especially women—came in large numbers and recited hymns and drew the figures of the स्वास्तिक or an ओंकार on the floor. All the idols were decorated with flowers and sandal paste.

In a somewhat underground[5] portion of the temple, there are five idols. On being asked why this portion was bulit underground, the man in charge told me that there might have been some fear from the iconoclasts. The chief among these five idols is the idol of श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ. This idol is older than that of संखेश्वर पार्श्वनाथ On the former I could notice विक्रमसंवत् १५४६. On the first floor of the temple there is the idol of गोडीजी पार्श्वनाथ—the oldest[6] idol of all the three mentioned above. It is of black stone and is very small in size.

---

4 "On holidays and great days when the community meets for worship they put to auction the right of applynig saffron to the images and the highest bidder buys the right of first applying it, in this way large sum are raised" —*Ibid.* p. 341

5. "........the first two temples were enclosed by a high strong wall and strong gateway which were kept always shut that the noise of the temples might not reach Brahmin ears. No spires were allowed as their sight would have polluted orthodox Brahmins" —*Ibid* p. 340.

6. I tried to find out the date which is generally written at the base of the idol. But I was disappointed to find that a thin sheet of silver covered the base of the idol.

The date on the idols can by no means prove that the temple also was built at that time[7]. The building of the temple is comparatively modern. It may be that the idol that was installed there might be older than the temple itself as is proved by the date on the idol

There are eight गर्भगृहs in all, in which there are so many idols of different तीर्थंकरs. The upper part of the building is modern. The people there took no pains to know the exact date of the building and all I could ascertain from them was that the temple was built sometime in the regime of the Peshwas and might be more than a hundred years old.

श्री आदीश्वर मंदीर—

Just in the same building but with a different number (110 B Vetal), is situated one storied temple of आदीश्वर ie. ऋषभनाथ the first तीर्थंकर of the Jainas. This temple and the temple of गोडीजी पार्श्वनाथ is managed by the same trustees. This temple is said to be built a hundred years ago.

There are five idols in the temple the chief being that of आदीश्वर. In the same temple I could find an idol of पद्मावती देवी who, according to a Jain monk, was a यक्षिणी in attendance of पार्श्वनाथ. The idol was decorated by a fine piece of cloth and flowers.

I could also note an idol seated on a bull. It is called श्री मानभद्रजी and is taken to be the symbol of celibacy. It reminded me of the worship of श्री मारुती among the Brahmins. To the rear of the temple of आदीश्वर there are footprints (पादुका) of श्री ऋषभदेव.

---

7. "........the temple of the chidambaris which is dedicated to Parśvanath, proved too small, and the form of the temple which was more like a private house than a public place of worship, was changed. Encouraged by the religious freedom they had enjoyed since the Peshwas overthrow in 1818, between 1830 and 1834 the Jains raised subscriptions and built a temple to Rishabhadeva the first of the Tirthankaras at the cost of £. 300 (Rs. 3000). Since then they have kept adding out-houses to the temple from year to year"—*Ibid.* p. 340

Some movable idol is taken and placed in a chariot and is taken through the chief streets of the city in the month of चैत्र and कार्तिक. It is called वरघोडा.[8]

पोरवाल जैन मंदीर—(1393 Shukrawar Peth).

More than a furlong distant from the first two temples, is the temple of Porwal Jains, a subsect of the Śvetambaras. It is a temple dedicated to श्रीआदीनाथ As compared with the first two building, this temple lacks all the profuseness of decoration. It is owned by नाजुबाई a Porwal Jain lady.

It is a three storeyed building. On the ground floor there are five idols and on the first floor there are seven idols. All the idols are made of white marble.

It is said that the temple is built 50 or 75 years ago.

श्रोस्वाल जैन मंदीर –

A little further, there is this temple belonging to the Oswal Jains. It is a lofty three storeyed building, majestic in appearance, yet somewhat marred by gaudy colours. Inspite of its loftiness, it lacks the richnes of the गोडीजी पार्श्वनाथ मंदीर.

The temple is said to be built a hundred years ago and it is under the management of a trust. There are five idols on the ground floor and fifteen on the first floor. The chief idol is that of आदीश्वर. The majority of the idols is made of white marble.

मुर्तीपूजक श्वेतांबर जैन मंदीर—(657 Sachapir Street, Camp).

This is a three storeyed building painted in gaudy colours The entrance to the temple is distinctive inasmuch as the gates of the building are covered with a sheet of silver conveying to the mind of the visitor the richness of the temple.

The ground floor is reserved for sermons given by the chief monk to the laity. The आसनं for the गुरु is a raised seat and the laity sits down on the ground. Beyond that, in an open space, arrangements for the bathing etc of the laity are made. This arrange-

8. "The Jain holy months are चैत्र or March-April. श्रावण or July-August. कार्तिक or October-November, and फाल्गुन or February-March when fairs are held. A car procession takes place on the full moon of कार्तिक or Oct. Nov." —*Ibid*, p. 341.
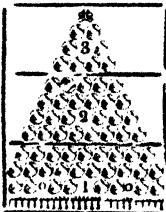
ment is made on the same lines as is provided in the गोडीजी पार्श्वनाथ मंदीर in the city.

On the first floor, among gorgeous surroundings, are three idols the chief being that of वासुपूज्य, the 12fth तीर्थंकर. To the right of this idol is the idol of सीमंधर, who according to the Jainas is at present the तीर्थंकर wandering in महाविदेहक्षेत्र—some imaginery land in the cosmology of the Jainas. To the left of वासुपूज्य is the idol of चंद्रप्रभू the 8th तीर्थंकर. All the three idols were made of white marble and a thin coating of silver covered them

On the second floor I saw the pinnacle[9] of the temple New work was in progress. Some well carved pieces of architecture in pure white marble may be seen there. The laity drew the following figures of rice before the images—
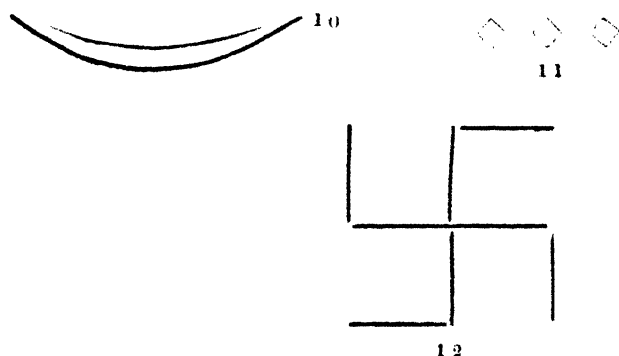
Looking to the finish and the modern appearance of the temple it cannot be very old. It was built in संवत् 1948 (AD. 1891).[13] I was

---

9. Temples with a bare pinnacle (शिखर) are forbidden in Camp, hence the शिखर of this temple was in the 2nd floor of the building.

10, 11, 12 "The Swastika (12) Sign is intended to represent the गति or state in which a जीव may be born as either a denizen of hell, or of heaven, a man, or a beast. The three little heaps (11) symbolise the त्रिरत्नs. (सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र) which enable a man to reach मोक्ष, represented by the sign (10)"—*Heart of Jainism, Stevenson* (Mrs). p 251-52.

13. Information by Amritlal *Shah*.

told that there was an old temple standing on this spot before this and that there was a metal idol at that time. The present idols were installed when this new building was built. As I myself could not find out the date—which is generally carved out at the base of the idol—as the idol was covered by a thin coating of silver I asked Mr. *Shah* as to the probable date of the idol. He told me that the idol was "very very old." The idol was brought from Cambay.

The richness of this temple can very well be compared with that of the गोडीजी पार्श्वनाथ मंदिर. The silver-plated gates, the marble idols, rich colouring, well-executed decorative pieces of architecture and the arrangement for fulfilling the needs of the rich laity, like sandalwood incense etc —all go to confirm that the laity comes from a rich class of society. On the whole the interior of the building presents a far more pleasing spectacle as compared with the gaudy appearance from outside.

श्वेतांबर दादावाडी मंदिर—

This is situated near the पर्वती hill. Its number is 1747 शुक्रवार. It is a one-storeyed structure but the peculiarity of this temple is that there is not a single idol in this temple. There are footprints which are worshiped by the devotee. This temple is dedicated to Dādāji who is taken to be the Guru of all, the guide of those who seek Liberation.

In the main temple, there are four footprints with a स्वस्तिक between them. This is surrounded on all sides by an open space well-roofed. This surrounding structure was built in संवत् १९४२. I was surprised to find in one corner of the temple a little gymnasium. Behind the main temple there was a small structure built of marble. It contains footprints of श्री विजयसूरिश्वर. शके १८३५ is carved on it. At the base of the plinth, there is a piece of marble on which information regarding this structure is carved. I could trace the following letters on it regarding the date—

संवत् १९६९

The temple appears modern and has little decoration inside. The marble floor of the temple was built in 1938 A D. It being rather out of the way, I could find no crowd of the devotees. I was told festivals are held here on कार्तिक शुद्ध पौर्णिमा and चैत्र शुद्ध पौर्णिमा.

This finishes the account of Śvetambar Jain temple in Poona City[14]. Out of these the temple of श्रीगोडीजी पार्श्वनाथ and the other in the Camp stand out distinctly due to their richness and architecture.

ŚVETAMBARA MONASTERIES.

There are two monastiries, one in the city and anothsr in Camp, for Śvet. Jain monks. They are meant only for monks and there is not a single nunnery in Poona The monasteries which are called धर्मशाला are the residence of monks either in चर्तुमास or whenever they happen to come here during the course of their wandering. Except in the rainy season they are not to remain in one place for a longer time. There monasteries are very simple buildings fit for the life of monk. There are big halls and the monks are provided with necessary articles like a mat etc. The rich laity also helps them a lot

दशाश्रीमाळी श्वेतांबर धर्मशाळा—

This a two-storeyed building near the Godiji Parśwanath Mandir in the city. On the first floor the monks live. There are three big halls. In the hall to the right, the monks live. In the hall to the left, sermons are delivered by the chief monk to the laity. The building is painted white and has the least connection with either art or decoration. Only the श्वेतांबर तपागच्छीय monks—not even the खरतरगच्छीय or स्थानकवासीs—are allowed to this monastery. The खरतरगच्छीयs can live here only on a special permission and that too when there are no monks belonging to the तपागच्छ. श्रीवर्धमान आयंबिल खातु (339 Sachâpir Street, Poona)

This monastery is just opposite the Jain temple in the Camp. It is the least attractive building and hence is a fit abode for monks. It has simply big halls in which the monks, whenever they happen to visit the city, reside.

ŚVETAMBARA MONKS.

In a moderatly big hall, five or six monks put up. They wear a simple white dress consisting of three pieces of cloth. Their own

---

14 As already said at the beginning, besides those, there are three more temples belonging to the vetambaras. One is at Kirkee, one at Wanowri and one in Sholapur bazaar

requisites were a pot made of wood for receiving alms (भिक्षापात्र), a blanket, a रजोहरण (for cleaning and wiping the place they sit upon), a मुहपत्ती (a piece of white cloth covering the mouth), and a walking stick (दंडा). Inspite of the fact that they had मुहपत्ती none of them had actually covered his mouth with it.

They all belonged to the तपागच्छ which has three subdivisions e.g. सागरगच्छ, विमलगच्छ and विजयगच्छ. Out of these three गच्छs, the monks belonging to the first and the last गच्छ visit Poona in large numbers, while those belonging to the विमलगच्छ do not do so in large numbers. There is no difference in आचार in these three subdivisions of तपागच्छ.

There is also other गच्छ which is called खरतरगच्छ, and the difference between तपागच्छ and खरतरगच्छ even though slight, is no negligible.

(i) The तपागच्छ monks believe in पंचकल्याणs while the खरतरगच्छीयs believe in छकल्याणs Besides the usual पंचकल्याणs[15] the खरतरs believe that the conception of महावीर in a Brahmin family[16] (before he was transferred to the womb of त्रिसाला क्षत्रियाणी), was also a कल्याण The तपागच्छीय monks ignore this and say that the conception of महावीर in a क्षत्रीय family is to be taken as a कल्याण.

(ii) The monks belonging to the तपागच्छ use a red coloured bowl while those of the खरतरगच्छ use black coloured bowl.

(iii) The annual प्रतिक्रमण[17] is done by those belonging to the खरतरगच्छ on भाद्रपद शु० ५, while those belonging to the तपागच्छ do it on भाद्रपद शु० ४.

(iv) The खरतरगच्छीयs do not allow women to worship the images of तीर्थंकरs.

---

15. 'जिनभगवान का पूर्व भवसे च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति रूप अवसर'—पाइअसद्दमहण्णवो - पंडित सं० p. 292 ; also — 'पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं जिणाण हांति णिअमेण' — पंचसंग्रह ७.

16. 'तरा णं सक्के देविंदे एवं संपेहित्ता हरिणेगमेसिं पायत्ताणि आहिवइं सद्दवेइ, सद्दवित्ता एवं वयासि—तं गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिए! समणं भगवं महावीरं तिसालए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहाराहि। जे वि णं तिसालए गब्भे तं देवाणंदाए माहणीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहराहि।' — कल्पसूत्र — also Mathura Inscription dating 1st or 2nd cent. AD.)

17. 'मिच्छा-दुक्कड-प्रदान, किए हुए पाप का पश्चात्ताप; जैन साधु और गृहस्थों को सुबह और शाम को करने का एक आवश्यक अनुष्ठान' — पाइअसद्दमहण्णवो p. 636.

This finishes the account of Śvetambar Jain temple in Poona City[14]. Out of these the temple of श्रीगोडीजी पार्श्वनाथ and the other in the Camp stand out distinctly due to their richness and architecture.

ŚVETAMBARA MONASTERIES.

There are two monastiries, one in the city and anothsr in Camp, for Śvet. Jain monks. They are meant only for monks and there is not a single nunnery in Poona The monasteries which are called धर्मशाला are the residence of monks either in वर्षावास or whenever they happen to come here during the course of their wandering. Except in the rainy season they are not to remain in one place for a longer time. There monasteries are very simple buildings fit for the life of monk. There are big halls and the monks are provided with necessary articles like a mat etc. The rich laity also helps them a lot

दशाश्रीमाळी श्वेतांबर धर्मशाळा—

This a two-storeyed building near the Godiji Parśwanath Mandir in the city. On the first floor the monks live. There are three big halls. In the hall to the right, the monks live. In the hall to the left, sermons are delivered by the chief monk to the laity. The building is painted white and has the least connection with either art or decoration. Only the श्वेतांबर तपागच्छीय monks—not even the खरतरगच्छीय or स्थानकवासीs—are allowed to this monastery. The खरतरगच्छीयs can live here only on a special permission and that too when there are no monks belonging to the तपागच्छ श्रीवर्धमान आयंबिल खातु (339 Sachāpir Street, Poona)

This monastery is just opposite the Jain temple in the Camp. It is the least attractive building and hence is a fit abode for monks. It has simply big halls in which the monks, whenever they happen to visit the city, reside.

ŚVETAMBARA MONKS.

In a moderatly big hall, five or six monks put up. They wear a simple white dress consisting of three pieces of cloth. Their own

14 As already said at the beginning, besides those, there are three more temples belonging to the vetambaras. One is at Kirkee, one at Wanowri and one in Sholapur bazaar

requisites were a pot made of wood for receiving alms (भिक्षापात्र), a blanket, a रजोहरण (for cleaning and wiping the place they sit upon), a मुहपत्ती (a piece of white cloth covering the mouth), and a walking stick (दंडा). Inspite of the fact that they had मुहपत्ती none of them had actually covered his mouth with it.

They all belonged to the तपागच्छ which has three subdivisions e.g. सागरगच्छ, विमलगच्छ and विजयगच्छ. Out of these three गच्छs, the monks belonging to the first and the last गच्छ visit Poona in large numbers, while those belonging to the विमलगच्छ do not do so in large numbers. There is no difference in आचार in these three subdivisions of तपागच्छ.

There is also other गच्छ which is called खरतरगच्छ, and the difference between तपागच्छ and खरतरगच्छ even though slight, is no negligible.

(i) The तपागच्छ monks believe in पंचकल्याणs while the खरतरगच्छीयs believe in छकल्याणs Besides the usual पंचकल्याणs[15] the खरतरs believe that the conception of महावीर in a Brahmin family[16] (before he was transferred to the womb of त्रिसाला क्षत्रियाणी), was also a कल्याण The तपागच्छीय monks ignore this and say that the conception of महावीर in a क्षत्रीय family is to be taken as a कल्याण.

(ii) The monks belonging to the तपागच्छ use a red coloured bowl while those of the खरतरगच्छ use black coloured bowl.

(iii) The annual प्रतिक्रमण[17] is done by those belonging to the खरतरगच्छ on भाद्रपद शु० ५, while those belonging to the तपागच्छ do it on भाद्रपद शु० ४.

(iv) The खरतरगच्छीयs do not allow women to worship the images of तीर्थंकरs.

---

15. 'जिनभगवान का पूर्व भवसे च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति रूप अवसर'—पाइअसद्दमहण्णवो – पंडित शे० p. 292 ; also – 'पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं जिणाण होंति णिअमेण' —पंचसंग्रह ७.

16. 'तए णं सक्के देविंदे एवं संपेहित्ता हरिणेगमेसिं पायत्ताणि आहिवइं सद्देइ, सद्दवित्ता एवं वयासि—तं गच्छइ णं तुमं देवाणुप्पिए! समणं भगवं महावीरं तिसालए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहराहि। जे वि णं तिसालए गब्भे तं देवाणंदारा माहणीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए साहराई।' –कल्पसूत्र —also Mathura Inscription dating 1st or 2nd cent. AD.)

17. 'मिथ्या-दुष्कृत-प्रदान, किए हुए पाप का पश्चात्ताप; जैन साधु और गृहस्थों को सुबह और शाम को करने का एक आवश्यक अनुष्ठान'—पाइअसद्दमहण्णवो p. 636.

Regarding their daily routine, I was told that the monks get up at 3 a m. and after having done the morning duties, they do प्रतिक्रमण for 48 minutes before sun-rise Then comes प्रतिलेखन when they carefully scan their clothes and all surrounding things so that there should not be any हिंसा of living beings After that they go out for चैत्यवंदन and bow down before the idol of the Jina. Returning from the temple they study the सूत्रs or holy books like आचारांग etc. or listen to them when these are read out. At about 9 a.m. they ponder over the meaning of the text and at 11 a m. they go out for गोचरण or for alms. Returning from the round, they take meals (once in a day) and again go to चैत्यवंदन. After that they engage themselves in स्वाध्याय and ध्यान. At about 4 p m. they again do प्रतिलेखन.[18] At 7 p.m. they do प्रतिक्रमण and at 9 p m. they sleep after having given up all sins that might have been committed by them in the day.

Thus in a day, the monks do प्रतिक्रमण twice a day. Besides these two, a monks has to perform a पाक्षिक प्रतिक्रमण (fortnightly) on the 14th day of a month, a चौमासिय प्रतिक्रमण (four-monthly) and a सांवत्सरिक (annual). The annual प्रतिक्रमण is done on भाद्रपद चतुर्दशी. They do not wander in the rainy season lest they kill living beings. The वर्षावास extend from आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी to कार्तिक शुद्ध चतुर्दशी.

The कुल has its origin in the name of a particular आचार्य. The Śvet° monastery visited by me, contained monks belonging to तपागच्छ only and they all belonged to चंद्रकुल. There are subdivisions in this कुल also like वज्रशाखा etc. The तपागच्छ monks predominate in the Punjab, Bombay and Marwar.

The monks told me that the tendency towards renunciation among the people is on the increase and that there are at present 1000 monks and 2500 nuns of this sect of the Jainas.

STHĀNAKAVĀSI.

There was no question of visiting the temples of the Sthānakawāsis as they do not worship idols. They are non-idolatrous and

---

18. प्रतिलेखना—निरूपण, निरीक्षण—पाइअसद्दमहण्णवो p. 643.

this can be traced back to the Muhammadan influence in Gujerat[19]. The Stha. belong the Śvet. Jainas and the Sthā. monks whom I visited belonged to the Lonkā[20] sect.

There were two monks in the monastery (अपासर). It was a two-storeyed building, simple in appearance and hence it could hardly be distinguised from other houses. The monk told me that it was more a public house than a temple. The ground floor consisted of two halls and a small room There was no architecture, no pomp, no finery any where in it and it is comparatively a late building. On the first floor there were two halls in which the monks put up.

STHĀNĀKAVASI MONKS.

The distinct characteristic of these monks was that they had constantly covered their mouth with a piece of cloth (मुहपत्ती). Their other requisites were three चोवरs, a रजोहरण and a पात्र. Their पात्र (wooden alms-bowl) is not coloured but is simply polished.

These monks belonged to Lonka गच्छ The गच्छ is subdivided into संप्रदायs like ऋषिसंप्रदाय, धर्मदाससंप्रदाय etc. These names are given after the chief of that particular division. There are no कुलs in them

The peculiarity of this sect is that it is non-idolatrous. They justify this attitude on two grounds. Firstly they say that originally there was no idol-worship in Jainism. Idol worship is of a later

---

19. "If one effect of the Muhammedan conquest, however, was to drive many of the Jainas into closer union with their fellow idol-worshippers in the face of iconoclasts, another effect was to drive others away from idolatry altogether. No Oriental could hear a fellow oriental's passionate outcry against idolatry without doubts as to the righteousness of the practice entering his mind."—*Heart of Jainism*, p. 19 *Stevenson* (Mrs.)

20. "It was the name of an Ahmedabad Jain belonging to the Śvet. Sect, who employed several clerks to copy the Jain scriptures. About AD. 1474 a Śvet Sadhu named ज्ञानजी asked him to copy several sacred books for him: whilst reading these Lonkā Sā was struck with the fact that idol-worship was not once mentioned in them. He pointed this out to ज्ञानजी and others, and a sharp controversy arose between them as to the lawfulness of idolatry. In the meautime a crowd of pilgrims going to शत्रुंजय arrived in Ahmedabad and were won over to Lonkā Sā's side but unfortunately they had no Sadhu among them At last a Śvet layman भाणजी became a Sādhu .. ..he ordained himself and became the first आचार्य of the Sect"—*Ibid* p. 87.

origin. Secondly, they say that in the wake of idol-worship come different practices of the laymen like ornamentation, decoration, fine dressing etc. for the idol, which is against the spirit of worship. The chief aim of worship should be meditation and concentration rather than this outward finery.

Their daily routine is as follows :—

They get up at 4/30 a.m. Then at 5/30 a.m. they do प्रतिक्रमण. At 6/30 a.m. प्रतिलेखन is done. Then follows शारीरिक क्रिया. Between 9 a.m. and 10 a m. they make धार्मिक प्रवचन At 11 a m they take food after begging alms. At 12 they practice meditation. Between 1 p.m. and 3 p.m. they make general reading. Then upto 4 p m they make स्वाध्याय. At 6-30 p.m. they make प्रतिलेखन and प्रतिक्रमण. From 7-30 p m. they make स्वाध्याय. At 10 they sleep.

These monks have no hair on their head. They do लोच्य twice a year. Even the nuns have no hair on their head. They remain in one place in वर्षावास. Their festivals are the पर्यूषणपर्व and संवत्सरी which is the last and the eighth day of पर्यूषणपर्व. It falls in the month of श्रावण-भाद्रपद.

There are separate residences for monks and nuns. They cannot come together. They cannot live even in adjoining rooms. There is a separate nunnery for Sthanakawasi nuns in Poona.

Asked about the present state of this sect the nun told me that from the point of view of simply numbers they were decreasing but from the point of view of चारित्र्य they were second to none They give more importance to pure moral life

They are in majority in Kathiawar, Rajputana and Cutch.

DIGAMBARA JAIN TEMPLES.

There are four temples belonging to the Dig's in Poona. Two of them are in Raviwar Peth, one in Vetal Peth and one in Meethaganj

श्री चंद्रप्रभु मंदिर. (110 A Vetal)

This is situated in the same building in which there is the Śvetambara temple of श्री गोडीजी पार्श्वनाथ. The first thing which strikes to the mind of the visitor is its lack of beauty and freshness. This building is so simple that the Godiji Parśwanath temple, if compared with this, appears to be a veritable EL Dorado.

There are ten idols in this temples and the management is wholly in the hands of the Dig. This temple is owned by Shree Haribhai Deokarana The chief idol is that of श्री चंद्रप्रभु the 8th तीर्थंकर. There are so many other minor idols also. All the big idols are made of white marble. They are not at all decorated and are without any garment. No flowers or any other decorations are seen. The Dig. simply worship the feet of the idol. There was a श्रीवत्स mark on the breast of the idol

The idol gives us the date as संवत् 1548. The building of the temple does not appear very old and it may be that the idol is older than the temple itself. The exact date of it could not be found out and one Mr. Gangaram Pandit told me that the temple was built in the regime of the Peshwas.

श्री शांतिनाथ दिगंबर जैन मंदिर (Raviwar Peth)

This is a two-storeyed building managed by Mr Mohanlal Saraf. On the ground floor there are four idols made of white marble. They are naked and have no ornaments. The chief idol is that of श्रीशांतिनाथ the 16th तीर्थंकर. All the idols were seated[21], and there was the श्रीवत्स mark on the breast of them. The building was built in शाके १७१४. The plinth on which the idols were seated was built in शाके १७५२.

This temple is also without any decorations. Digs believe that the तीर्थंकरs require no ornaments. Here also I could find that only the feet of the idols were worshipped and not the whole figure as is done by the Śvet.

श्रीगुरुविशालकीर्तिह दिगंबर सैतवाल जैन मंदिर (846 Raviwar Peth)—

This is a two-storeyed building which has an appearance of a house rather than of a temple. It has no grandeur about it.

On the ground floor there are eight idols. Seven are made of white marble and one is made of black marble. The main idol is that of शांतिनाथ. There were no ornaments on the image and sandal wood paste was applied only to the feet of the तीर्थंकर.

---

21. In all the Śvet. and Dig. temples here I could not find a standing idol of a तीर्थंकर.

The front portion of the building is built by Mr. Lonkar in वीरसंवत् 2461. The temple proper was built in शाके १७३३ The plinth on which the idols are seated was built in शाके १७५२. I could not find out the dates on the idols.

श्रीपार्श्वनाथ मंदिर (248 Ganj Peth).

This is a regular house and even the neighbouring people did not know that there is a temple nearby. It is a two-storeyed house. On the ground floor the inmates of the house live and on the first-floor there are six idols. The main idol is of श्रीपार्श्वनाथ. It is made of brass and is very heavy to lift up.

There are so many other minor idols. The idol of श्रीआदिनाथ has संवत् १६१३ माघ शु० ११ सोमवार inscribed on it Whether this is the date of the creation of the idol or of its installation cannot be said. The other idol had संवत् १५७५ on it. This is the oldest Dig temple according to the estimate of the man in charge of it.

The main idol is of श्रीपार्श्वनाथ. On the back of the idol are inscribed some letters and it gives the date in the following way—

संवत् १६५३

I could notice two dises profusely written over. This finishes our account of the Dig. Jain temples in Poona City.

DIGAMBARA JAIN MONKS.

I did not get an opportunity to see a single Dig monks here as none of them was here. Moreover they seldom visit this city and even if they do they very rarely put up in the city temples obviously due to their nudity. I could simply see photos of different groups of Dig monks in different Dig temples.

Their requisites do not include any garment and they are completely nude, they have a chowri made up of peacock-feathers, a कमंडलु and a holy book with them. They do not possess a bowl as they take food in their hands (पाणिपात्र). They eat food while standing and take only 28 morsels once a day. These morsels are of the shape of a lemon fruit. They make different fasts and the longest of them extends upto a fortnight. Moreover they have no मुहपत्ती or a piece of cloth covering their mouth.

They make it a rule that one should not go out unless and until the sunrises. They get up at 4 am and upto 5 am. they engage themselves in meditation. At 6 am, they do their प्राभातिक क्रिया but do not wash their mouth or cleanse their teeth. Then they do आलोचना[22] and दशभक्त्यादिपाठ upto 10 am. Then they take food. They do not go out to collect alms, but if anybody happens to give food—that too casually—then they eat it in the palms of their hands. If nobody gives food then they pass the day without food. Then they do माध्यान्ह सामायिक[23] and after that they read holy books and listen to the sermons by the Guru. At 6 p.m. they again do meditation and सामायिक and then go to sleep. They sleep on a bare ground and that too inclining on one side.

They do not leave the place in the rainy season. Which extend from आषाढ़ शुद्ध एकादशी to कार्तिक शुद्ध पौर्णिमा. They do लोच्य or uprooting of the hair either after two, four or six months. First is called उत्कृष्ट लोच्य, the second मध्यम and the last जघन्य लोच्य. The purpose behind this act is that it should lead to इंद्रियसंयम and जीवरक्षा.

Instead of गच्छs the Dig has अन्वयs which are named after the name of a particular guru eg. कुंदकुंदान्वय. There are also संघs which are named after some आचार्य eg. देवसंघ, नंदिसंघ, सेनसंघ. There is no difference in आचार in these various संघs and अन्वयs. There are 84 divisions in the Digambaras and intermarriages among them is not in vogue.

Nearly all monks are literate. But that by no means shows that all are learned. At present there are nearly 250 monks and 150 nuns in this sect of the Jainas. The strictness of monkish life account for this. But this strictness of morals becomes at once the merit of the Digambaras.

The nunnery is always at a distance from the monastery and nudity is prohibited in their case. Yet the strictness of life is the same for them also.

---

22. आलोचना— प्रायश्चित्त के लिए अपने दोषों को गुरु को बता देना।
(confession)—पाइअसद्दमहण्णवो p. 151.

23. सामायिक-संयमविशेष, सम-भाव, रागद्वेषरहित अवस्था। Ibid p. 1116.

GENERAL REMARKS.

The following conclusions can be drawn from the observations made above—

(i) There is a difference in the mode of worship between the Śvet and Dig. The Śvet worship the whole idol while the Dig. worship only the feet of the idol.

(ii) There are no ornaments put on the idols of the Dig. while the Śvet. do put ornaments on them.

(iii) The Dig. idols are naked while those of the Śvet. have loin-cloth.

(iv) The Dig. idols have their eyes cast down as if in meditation while the Śvet idols have staring glass eyes looking in front of them.

As regards the temples, it can definitely be said that the Dig temples lack all majesty and pomp characteristic of the Śvet temples. It shows that the Śvet laity is predominant in Poona. Taking India as a whole we can say that the Dig. are in a majority in the South while the Śvet. are predominant in North India. In Bombay presidency the Dig. are predominant in Sholapur side. I could notice that the Śvet—being in a majority—temples were always crowded by the laymen and more than men women visited the temples in a greater number.

There is no monastry for Dig. monks in Poona while the Śvet have two. The Sthanakawasis have one स्थानक for monks and one for nuns. The monasteries are simple structures fit for the prosaic life of the monks.

Nearly all the monks and nuns were literate. Infact monks in the Śvet monastery and even a nun in the स्थानक could speak fluent English. Every monks is taught to read the sacred books.

Though all the monks were grown up gentlemen yet I found that there was a monk of the age of 15 in the Śvet. Jain monastery.

The monks were of a long standing and the nun in the स्थानक told me that she led the life of a nun for the last fourteen years.

I heard quite contradictory remarks about the present condition of the different sects of Jainism. Each claimed that it had a larger followers than the rest and I could notice an element of rivalry between the Dig. and Śvet. Though the number of Dig. monks and nuns is small yet their strictness of behaviour is wonderful. The Sthanakawasis admitted that their number was decreasing yet in the purity of life they surpassed others. The Śvet hold that the tendency towards renunciation is greater now-a-days. It is better therefore to reserve any judgment on this topic.

The Jaina Chronology.

By
Shri, Kamta Prasad Jain, D. L, M. R. A. S.,
(*Continued from Vol. XV, pp. 41-45*)

No.	Period & Date.	Events.
262	951 Vik. Saṃ. (895 A. D.)	Bhaṭṭāraka Devasena, the disciple of Bh. Rāmasena was born. —PR. IV. Index.
263	902 A D. (Śaka era 824)	Birth of Ādi-Pampa the Digambara Jain Karṇāṭaka poet. —JRAS. XIV, 19.
264	904 A. D.	Guptā Saṁvat 585. Death of Haribhadra Sūri Yākinīputra. according to Jacobi and Leumann, who took 585 as dated in the Gupta era and not in the Vikrama era, as asserted by the Śvetāmbara Jainas. —*Vidyābhūṣaṇa*, Ind. Logic, pp. 48-9
265	906 A D.	Thursday, May 1. Vik: Saṃ: 962. Siddharṣi finishes his "Upamitabhava-prapañchā—Kathā." Gaṇa, a female disciple of Durgasvāmin writes the first Copy. —PR. IV. Index, cxxix.
266	"	Vik: Saṃ: 962. Amritachandra of the Nandi Saṃgha flourished: author of the Samayasāra-ṭīkā, Tattvārthasāra, Pravachana-sāra-ṭīkā, Panchāstikāya-ṭīkā etc. —PR. IV. Index IX. JH. VI. No. 5-6.

No.	Period & Date.	Events.
267	908 A. D.	Vik: Saṃ. 964. Yasóbhadra-Sūri of the Saṃḍera gachcha found a Jaina temple at Naḍalāi (Mārwār) Ref. JSCH., XI, No. 7-9, pp. 415-16.
268	910 A. D.	705+200=905 after the death of Vikram. Rise of the Māthura Saṃgha under Rāmasena at Mathurā according to Devasena.
269	915 A. D.	Daṇḍanāyka Śrīvijaya, also known as Arivingoja and Anūpamakavi, probably flourished about this period. In the Dānavulapāḍa pillar inscription, he is described as a subordinate to King Indra (or Narendra), who is identified with the Rāṣṭrakūṭa Nītyavarṣa-Indra III (A. D. 915, 916-7). Like the famous Ganga general Chāmunḍarāya or Chāvunḍarāya, who served the western Ganga sovereigns Mārasiṃha II and Rāchamalla II and largely patronised Jaina literature and religion, Śrīvijaya was unsurpassed in the military art as in the literary, patronised Jainism and resigned the world in the end, as a pious Jaina, in order to seek salvation. Ref: Ep. Ind. X, 149-50.
270	917 A. D.	Vik Saṃ. 973. King Vidagdharāja Rāṣṭrakuta flourished. Through the advice of his spiritual preceptor Vāsudevasūri, he built a Jaina temple at Hastikunḍikā (Hathūṇḍi). The prince had himself weighed against gold, of which two-third were alloted to the Jina, and the remainder to the Jaina preceptor. He made some further donations in favour of

No.	Period & Date	Events.
		the temple as well as the preceptor in Vik. Saṃ. 973. Ref. Ep. Ind. X, 17-23.
271	918 A. D.	Vik: Saṃ: 974. Mahichandra (43) succeeds Hariṣchandra (Variant Harinandi) (42) as pontiff in the Nandi Saṃgha: enthroned at Ujjayini (Mālavā)
272	919 A. D.	Vik: Saṃ 975. The Bhuvanasundari-charitra (Prākrata: not available) composed by Vijayasīṃha of the Nāîna-kula. —JG. 228
273	920-922 A. D.	Narasiṃha deva son of Nîtimārga of the Ganga dynasty flourished, who was renowned for his skill in politics, elephant-training and archery. He was known as "Satyavākya" for his piety and as "Vîra-vedaṇga" for his valour. —The Gangas of Talkāḍa, pp. 88-90
274	922-937 A. D.	Rāchamalla III, was the younger brother of Narasiṃhadeva, who sat on the Ganga throne after him. He was called "Satya-vākya"—"Nacheya-ganga"—and "Nitimārga" for his piety, valour and justice respectively. While he was at war with the Rāṣṭrakūṭas and the Chālukyas, his younger brother Buṭuga revolted against him and usurped throne. —Ibid. pp. 91-92

No.	Period & Date.	Events.
275	924 A. D.	Vik: Saṃ: 980 Vīragaṇi adopts vow under Vimalagaṇi at Satyapura (Sāṃchor-Mārwār). The statement of the Prabhāvaka-charitra that Vīragaṇi was the friend of Chāmuṇḍa Chālukya (A. D. 997–1010) must be rejected as a later invention. —Prabhāvakacharitra, XV. 105-165.
276	934 A D.	Devasena (Vik: Saṃ. 990) bhaṭṭārarka writes "Darśana-sāra." —PR. IV Index.
277	"	Vik: Saṃ: 990. Indranandi of the Nandi-saṃgha and the author of the "Auṣadhi-kalpa", "Aṅkurāropaṇa-vidhāna etc., flourished. —JH VI, 5-6, p. 36.
278	"	Vik: Saṃ: 990. Mādhavachandra (44) succeeds Mahīchandra (43) as pontiff in the Nandisangha: enthronement at Ujjayani.
279	935 A D.	Vik: Saṃ: 991. Vīragaṇi dies and is succeeded by Chandrasūri or Śrīchandra-Sūri. —Prabhāvakacharitra, XV. V. 163, 165.
280	937-960 A. D.	Buṭuga ascends the throne of the Ganga dynasty in Gangavāḍi, who was also a devout Jaina, like his father Nītimārga. The Gangas, pp. 93-99; & MJ. p. 26.
281	938 A. D.	Vik; Saṃ: 994. Sarva-deva-Sūri, a pupil of Uddoyatana Sūri, founds the Vaḍa gach-

No.	Period & Date.	Events.
		chha in the Śvetambara Samgha. —Muni Sundarasūri's Guruvāvali p. 5; Ind. Ant. XI 253
282	939 A. D.	Vik: Saṃ 995. Devagupta Sūri (41) becomes pontiff of the Upakeśa gachchha in the Śvetāmbara Saṃgha. —IA. XIX. 240
283	940 A. D.	Vik: Saṃ: 996. Mammaṭa Rāṣṭrākūṭā renews the grant of his father (Vidagdharāja) in favour of the Hastikuṇḍikā Jaina Temple. — Ep. Ind. X. 20.
284	941 A. D.	Śaka era 863. Pampa, the Karṇāṭaka poet composes the "Ādi-purāṇa" and the "Vikramārjuna-vijaya" or "Pampa-Bhārat" at Puligiri or Lakṣmeśvara (Dhārwād district) in the reign of Arikeśari II, Chalukya. —JRAS XIV, p. 19
285	944 A. D.	Vik: Saṃ: 1000. Phalgumitra (17) succeeds Jyeṣṭhānga-gaṇi (16) as Yugaprādhāna in Śvetāmbara Saṃgha.
286	"	Vik: Saṃ: 1008. *Śalā-sthitih*: The practice of the Śvetāmbara monks of staying in the temples is being gradually replaced by that of staying in the *upāsarās* or special halting places. Approximate date of the great Śvetāmbara awakening. —BR. 1883-4, p. 323.

—To be continued.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी पाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED BY D. K. JAIN, AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD. ARRAH.

जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग १७ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XVI No. II

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M. A. Sahityacharya
Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH (Bihar)

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

DECEMBER, 1950.
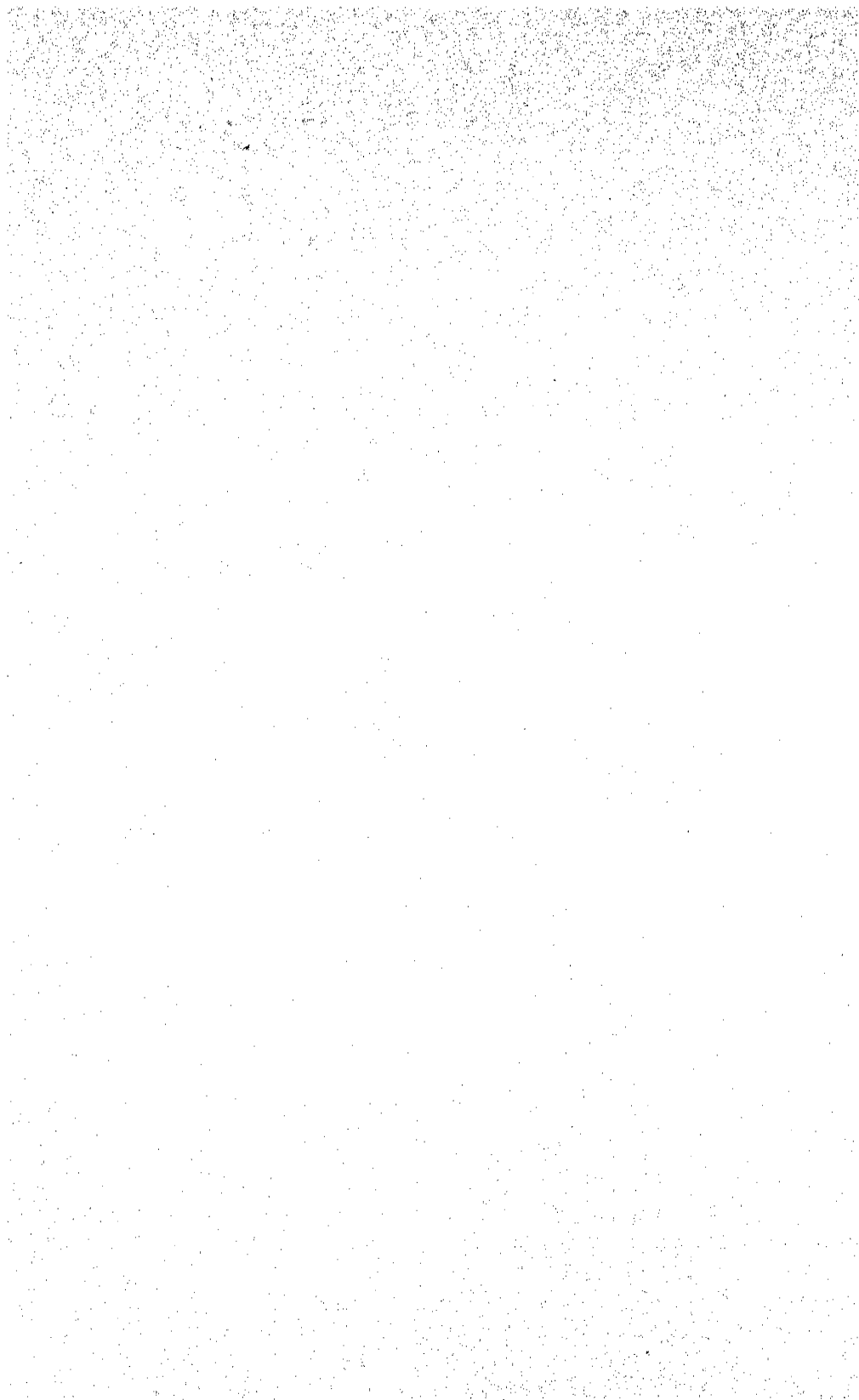
जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाणमासिक पत्र

भाग १७ दिसम्बर १९५० किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

श्री कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।) एक प्रति का १।।)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १० } दिसम्बर १९५० । पौष, वीर नि० सं० २४७७ { किरण ६

अरब, अफगानिस्तान और ईरान में जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, M. R. A. S., D. L.]

जैनधर्म वीतराग विज्ञान है, वह विशुद्ध धर्मतत्त्व है, इसीलिये वह विश्वधर्म कहा गया है। मानव जो अपने चैतन्य विज्ञान को प्राप्त होना चाहता है वह इस धर्मतत्त्व को पहिचानता, उस पर विश्वास लाता और उसकी चर्या में मगन हो जाता है। जैनाचार्य सदा ही धर्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुये सर्वत्र विचरे हैं। उनका ध्येय ही अज्ञान अंधकार को मिटाना होता है। वह अपने अज्ञान शत्रु को जीतते हैं और लोक को ज्ञानदान देते हैं। यही कारण है कि जैनकथा ग्रन्थों में हमको ऐसे प्रकरण उन दूर दूर देशों के मिलते हैं, जहां जैनाचार्य और उनके शिष्य पहुंचे थे; उन्होंने वहां के लोगों को सम्बोधा और उनको धर्म के मार्ग में लगाया। किन्तु समय के फेर से उस प्रकार के जैन जगत के दर्शन अब केवल भारत में ही होते हैं। जैन शासन सूर्य का अवसान मौर्यों के साथ ही हो चला—फिर तो जैनों पर सर्वत्र आक्रमण ही होते रहे और जैन गौरव की लालिमा भी शेष न रही। इस दुर्दशा में जैनकीर्ति के दर्शन भारत के बाहर भला कहां से हों? किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जैनधर्म भारत में ही सीमित रहा—भारत के बाहर नहीं गया। एक समय तो जैनधर्म सारे मध्य एशिया, लंका, बर्मा, चीन, तिब्बत, अफरीका आदि देशों में फैला हुआ था। हजारों वर्ष हो गये कि उसका स्थान अन्य धर्मों ने ले लिया। जिस लंका में जैनधर्म राजधर्म कई शताब्दियों तक रहा और जैनाचार्यों ने वहां के शासकों से सम्मान प्राप्त किया तथा अपने मंदिर और

विहार बनवाये, वहां ही आज जैनों का एक भी चिन्ह शेष नहीं है। बौद्धधर्म ने अपना आधिपत्य लंका में जमा लिया[1]। यही हाल अन्य देशों में हुआ। फिर भी साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनके आधार से यह निस्सन्देह मानना पड़ता है कि भारत के बाहर दूर-दूर देशों तक जैनधर्म का प्रचार किया गया था। प्रस्तुत लेख में हम अफगानिस्तान, अरब और ईरान के देशों में जैनधर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि जैनधर्म किस प्रकार इन देशों में प्रचलित था।

अफगानिस्तान

अखण्ड भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को पार करके जब हम हिन्दुकुश पर्वत के इस ओर खैबर के दर्रे को लांघकर पहुंचते हैं तो अफगानिस्तान की भूमि में जा खड़े होते हैं। प्राचीन काल में यह भूमि ईरान की सीमान्तक भारतवर्ष का ही एक भाग मानी जाती थी। जैनधर्मानुयायी मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के वृहद् साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा अफगानिस्तान के परे ईरान की सीमा के साथ साथ समरेखा में चलती थी। बहुत समय तक अफगानिस्तान भारत के आधीन रहा लोग उसको 'उत्तरीय भारत' कहते थे[2]। किन्तु आज अफगानिस्तान तो दूर रहा; भारत के अपने ही अंग सिंध-पंजाब आदि भी पर राष्ट्र बन गये हैं। इस समय अफगानिस्तान २४५,००० वर्ग-मील में फैला हुआ है और उसमें पचास लाख मानव बसते हैं। सन ई० से ५०० वर्ष पहले दारा हिस्तास के (Darius Hystaspes) समय में यहां पारसुक, अस्वि, गन्धिरीय, अपारित, दक्षिक, गन्धारी और पक्तीम नामक जातियां अलग २ राज्य करती थीं। उपरान्त काल में इंडोग्रीक राजाओं का शासन अफगानिस्तान पर हुआ था। इन राजाओं में देमेत्रिय (Demetrius) और मेनेन्द्र (Menander) उल्लेखनीय थे। कनिष्क के साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान में भी आगे तक फैला हुआ था। सन ६३०-६४५ ई० में चीनी पर्यटक हुएनत्सांग ने तुर्की और भारतीय राजाओं को अफगानिस्तान में राज्य करते हुए पाया था। किन्तु सुबुक्तगीन ने दसवीं शताब्दि में हिन्दू

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर भा० १६ पृ० ६१-६८

२ चीनी यात्री फाह्यान (३६६-४१३ ई०) ने यही लिखा है: —

"The country of Wuchang commences North India. The language of nud India is used by all".

इस पर श्री रनजीत पंडित ने लिखा था:—

The eminent Chinese Buddhist pilgrim Fahien, who visited India passed through Afghanistan, which he calls = 'North India' —Modern Review, 927. pp. 132

राज्य का अन्त कर दिया था[1]। इस इतिहास से स्पष्ट है कि अफगानिस्तान से भारतवासियों का सम्पर्क एक अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है।

जैन शास्त्रों में यद्यपि अफगानिस्तान नाम से कोई उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु फिर भी उन देशों के विवरण मिलते हैं जो अफगानिस्तान में हैं। वास्तव में अफगानिस्तान नाम अर्वाचीन है। पूर्वकाल में यह प्रदेश बहली अथवा बाल्हीक और यवन (जोण) नाम से प्रसिद्ध था। जैन ग्रन्थ 'आवश्यक' निर्युक्ति में उल्लेख है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का विहार अम्बड़, बहली, इल्ला, जोणग और पल्हव देशों में भी हुआ था[2]। बौद्धग्रन्थ 'महावंश' से प्रकट है कि योन देश में अलसन्द एक मुख्य नगर था, जिसे विद्वानों ने काबुल के पास वाले नगर अलेक्जन्डरिया (Alexandria) माना है[3]। जैनों का कथन है कि प्रथम चक्रवर्ती भरत ने इस क्षेत्र पर भी विजय प्राप्त की थी। बहली राज्य की राजधानी तक्षशिला थी[4]। ऋषभदेव ने विनीता का राज्य भरत को दिया था और बहली देश का बाहुबली को शासनाधिकारी बनाया था।[5] अफगानिस्तान में जो प्रदेश बल्ख नाम से प्रसिद्ध है, वही प्राचीन बहली अथवा वाल्हीक राज्य समझना चाहिये[5]। जैन ग्रन्थों में गांधार देश का भी बहुत उल्लेख मिलता है। गांधार की राजधानियाँ पुष्करावर्त और तक्षशिला बताई गई हैं। संभव है किसी समय बहलीदेश गांधार नाम से प्रसिद्ध हुआ हो। पुष्करावर्त आजकल पेशावर नामसे प्रसिद्ध है। अब वह पाकिस्तान में है। इन स्थानों पर जैन मन्दिर बने हुए थे। तक्षशिला में भ० महावीर की प्रतिमा अति प्रसिद्ध थी। कहते हैं, वहां चन्दन की प्रतिमा वीतभयनगर में पहुंची थी और गांधार के लोग—जैन श्रावकगण उसके दर्शन करने के लिये वीतभय जाया करते थे। (आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९९) उस समय भी भारतीय जवण (यवन) आदि देशों को अनार्य समझते थे। जवणदेश की परिचारिकाएँ भारत में बहुत प्रसिद्ध रह चुकी हैं। भरत चक्रवर्ती सिन्धुनदी को पार करके इन देशों में पहुँचे थे। इसे उन्होंने बहुत सुन्दर और रत्नों से भरपूर पाया था। बहली देशके घोड़े बहुत प्रसिद्ध थे[6]। इसी प्रकार कम्बोज देशके घोड़े भी भारत में प्रख्यात थे। काश्मीर के उत्तर में बदख्शा और घालचा का प्रदेश

१ हिन्दी विश्वकोष, भाग १ पृ० ६७८–६८०
२ श्री जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण में योणग का उल्लेख यवनश्रुति नाम से हुआ है।
३ महावंश २९–३९ एवं इंडियन हिस्ट०-क्वारटर्ली, १९२९ पृ० २२२
४ आवश्यकचूर्णि पृ० १८०—Life in Ancient India, p. 270
५ Ibid आ० चूर्णि पृ० १६०
6 J. C. Jain, Life in Ancient India, pp. 264-290

कम्बोज नामसे प्रसिद्ध था[1]। जैनों की आबादी इन देशों में भी थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके पौत्र अशोक एवं प्रपौत्र सम्प्रति ने अहिंसा और जैनधर्म का प्रचार इन देशों में किया था। यही कारण है कि जब सातवीं शताब्दि में चीनी पर्यटक हुएनत्सांग वहाँ आये तो उन्हें वहाँ पर बहुत से दिगम्बर जैनी मिले थे[2]। शङ्कराचार्य के विषय में भी कहा जाता है कि उन्होंने बाल्हीक में जाकर दिगम्बर जैनों से शास्त्रार्थ किया था[3]। इसके बहुत पहले इंडोग्रीक राजाओं में मेनेन्डर के विषय में बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह' से प्रकट है कि जैन श्रमणों से उसने शङ्कासमाधान किया था। किन्तु आठवीं शताब्दि के पश्चात् अफगानिस्तान में जब मुसलमान शासक राज्याधिकारी हो गये, तब भारत से उसका सम्पर्क टूट-सा गया। जैनधर्म का स्थान वहाँ पहले से ही बौद्धधर्म लेता आ रहा था। यही कारण है कि वहाँ जैनधर्म का ह्रास हो गया और जैन कीर्तियाँ बौद्ध बना ली गयीं।

पेशावर से उत्तर पूर्व में चालीस मील की दूरी पर युसुफजाइ नामक प्रदेश में शाहबाजगढ़ी नाम के स्थान पर सम्राट् अशोक ने ठीक वही शासन लेख उत्कीर्ण कराया था जो उन्होंने जैनतीर्थ गिरिनार में खुदवाया था[4]। इसमें उन्होंने भिन्न मतों, साधुओं और गृहस्थों का उल्लेख किया है और उनसे यही आशा की है कि ये सब वचनगुप्ति का पालन करेंगे और एक दूसरे पर आक्षेप नहीं करेंगे। इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि अशोक के समय में भी कपिश से पुरुषपुर (पेशावर) तक अनेक मत मतान्तर प्रचलित थे। सिकन्दर को भी तक्षशिला में कई भारतीय साधु मिले थे, जिनमें नग्न जैन श्रमण भी थे। यूनानियों ने उनको (Gymnosophists) नामसे पुकारा था[5]। अफगानिस्तान में समनी देश नामक राजा ने सन ८९२ से ९९९ तक सभी इस्लामी राज्यपर शासन किया था। उसके विषय में कहा जाता है कि उसने

1 Ibid, p. 292.

2 "There are some ten temples of the Devas and thousand or so of heretics; there are naked ascetics and other........" (Yuan Chwang). Thus Digambara Jainas, Pashupats, and Kapaladharins flourished in the north of Kabul. —Modern Review, 1927, p. 138

३ "प्रति पद्य तु वाह्लिकान्महर्षी विनयिभ्यः प्रविकृण्वति स्वभाष्यम्।
अवदन्नसहिष्णवः प्रवीणाः समये केचिदथाऽऽर्हताभिधाने ॥१४२॥
—श्री मच्छंकर दिग्विजय

४ अशोक के शिलालेख

5 Encyclopaedia Britannica, Vol. XXV, 11th ed.

काबुल और पूर्वीय अफगानिस्तान में रहनेवाले पंडितों से सम्पर्क स्थापित किया था और उसके मंत्री अलजैहनि ने भारतीय संस्कृति का प्रचार इस्लामी देशों में किया था[1]। राजा का नाम समनीडेस (Samanides) श्रमणदास का अपभ्रंश प्रतीत होता है। संभव है, यह राजा जैन अथवा बौद्ध पंडितों का शिष्य रहा होगा। सारांशतः भ० महावीर के समय से ईस्वी आठवीं शताब्दि तक जैनधर्म गान्धार, बहली यवन, कपिस आदि देशों में प्रचलित रहा। यह सभी देश पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से अफगानिस्तान तक फैले हुए थे। तक्षशिला तो रावलपिंडी से कुछ दूरी पर ही अवस्थित थी।

सन १६२२ में फ्रेञ्च विद्वान डा० फौशेर ने अफगानिस्तान के पुरातत्व की खोज की थी, जिसमें उनको बौद्धधर्म की बहुत-सी प्राचीन कीर्तियाँ मिली थीं। उनमें से कई का सम्बन्ध लोगों ने इस्लाम से जोड़ रक्खा था। उनमें से बहुत-सी कलामय वस्तुएँ वह फ्रान्स ले गये थे। उनके पश्चात् और भी कई फ्रेञ्च विद्वानों ने खोज की थी। उनको अनेक गुफामंदिर, मूर्तियाँ, स्तूप और स्तम्भ मिले थे। उन सबको वे बौद्ध बताते हैं – वे प्रायः हैं भी बौद्ध; किन्तु गुफामंदिर और स्तूप एवं स्तम्भ जैन भी हो सकते हैं। जबकि जैनधर्म वहाँ पर प्रचलित था तब यह संभव नहीं कि उनके धर्मायतन वहाँ न हों। खोज करने की आवश्यकता है। काबुल में "मीनार चकरी" (Pillar of wheel) नामक स्तम्भ की आकृति और बनावट ठीक वैसी ही है जैसी कि दक्षिणभारत के जैन मंदिरों में बने हुए स्तम्भों की होती है। बमियान नामक स्थान पर गुफामंदिर और बुद्ध की विशालकाय मूर्तियाँ मिली हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त ऐतिहासिक उल्लेखों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि अफगानिस्तान में कभी भी जैनधर्म का प्रचार नहीं हुआ था। मौर्यों के समय में वहाँ जैनधर्म खूब प्रचलित था।

अरब—

अफगानिस्तान की तरह ही अरब के विषय में भी हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिससे मानना पड़ता है कि अरब में भी जैनधर्म का प्रचार था।

अरब प्रायद्वीप दक्षिण-पश्चिम एशिया में अक्षांश ३४·३०′ एवं १२·१५′·३० और अवस्थित है। इसके पश्चिम में लोहितसागर, दक्षिण में अदन की खाड़ी तथा भरतसागर, पूर्व में ओमन तथा ईरान की खाड़ी और उत्तर में सीरिया की मरुभूमि है। इसका क्षेत्रफल बारह लाख वर्गमील है। अरब शब्द हिब्रू भाषा का है,

---

१ मॉडर्न रिव्यू, फरवरी १६२७, पृ० १३३

जिसका अर्थ है 'अस्त होना'। भावार्थ-वह सूर्यास्त होने की ओर अवस्थित है। कोई उसे हिब्रू के 'अराबा' शब्द से सम्बद्ध करते हैं, जिसका अर्थ 'मरुभूमि' हैं। दोनों ही व्युत्पत्तियां अरब के लिए सार्थक हैं। प्राचीनकाल में वह अमन, हेजाज, तिहामा, नेजद और ऐमामा नामक पांच प्रदेशों में विभक्त था।[1] अरब लोग सेमतिक जातीय हैं। इनसे भारतवर्ष का व्यापार प्राचीन काल से होता था। प्राचीन अरब जाति आद, यमूद, तस्म, जादिस, जोहीम, आमलेक प्रभृति कई शाखाओं में विभक्त थी— आजकल ये 'असली' अरब कहलाते हैं। दूसरे लोग 'खाती' हैं जो खातनवंश से निकल कर वहाँ बसे हैं, इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद सा० का जन्म अरब में हुआ था। उनसे पहले अरब में जो लोग बसते थे, वे नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र और अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे।[2]

जैन शास्त्रों में अरब देश की गणना अनार्य देशों में की गई है। वहाँ हिंसक लोग उत्पन्न होते बताये हैं।[3] इसको 'द्वीप' (दीव) भी कहते थे और वहाँ के सिक्के 'साभरक' कहे जाते थे।[4] उसका उल्लेख जलपट्टन के रूप में इसलिए किया गया है कि अरब से समुद्र द्वारा व्यापार किया जाता था। मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने अरब देश में भी जैन मुनियों के विहार की व्यवस्था की थी।[5] उस समय से अरब में जैनधर्म का प्रचार हुआ था, जो मुहम्मद सा० के समय तक वहाँ प्रचलित रहा। श्रवणबेलगोल के भट्टारक चारुकीर्ति का मत रहा है कि दक्षिण भारत में बहुत से जैनी अरब से आकर बसे हैं। उनका कहना था कि पहले जैनी सारे आर्यखंड (आज के सारे विश्व में) फैले हुए थे। अरब के पार्श्वभट्टारक राजा की आज्ञा से जैनों के प्रति अत्याचार किया गया— इस कारण वे भारत चले आए।[6] पार्श्व संभवतः पारस्य का अपभ्रष्ट रूप है। पारस्य के राजा का अधिकार अरब पर हुआ था, तभी

१ हिन्दी विश्वकोष, भा० २ पृ० १५३-१५५

२ हिन्दी विश्वकोष भा० २ पृ० १५७-१५६

३ प्रश्नव्याकरण (हैदराबाद संस्करण) पृ० २४

4 Life in Ancient India p. 281

५ परिशिष्ट पर्व भा० २ पृ० ११५-२१ एवं जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १६ पृ० ११८-१२७

6 "Formerly they (Jains) were very numerous in Arabia, but that about 2500 years ago, a terrible *opersecution took place at Mecca* by orders of a king named Parshwa Bhattaraka, which forced great numbers to come to this country". —Asiatic Researches Vol IX p. 284

उसके भय से जैनी भारत चले आये होंगे। दक्षिण भारत के राजवंशों और संघों में एक का नाम 'यवनिका' या 'यमनिका' मिलता है। इस वंश के राजा मक्का गये थे।[1] संभव है कि यह जैनी अरब के 'यमन' प्रदेश के रहनेवाले होंगे, जो भारत आने पर अपने देश के नाम से प्रसिद्ध हुये। तामिल भाषा के प्राचीन ग्रंथों में अरब मुसलमानों के लिए 'सोनिक' (Sonaka) शब्द का प्रयोग हुआ है; किन्तु साथ ही साथ जैनों को भी सोनक लिखा है।[2] इसका कारण यही है कि अरब-वासी लोगों में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। इस प्रकार साहित्यक उल्लेखों से अरब में जैनधर्म का प्रचलित होना सिद्ध है।

पारस्य अथवा ईरान—

आजकल जिस देश को ईरान कहा है, प्राचीन काल में वह एरान और पारस्य नाम से प्रख्यात था। आर्य लोगों का वासस्थान होने के कारण यह प्रदेश आर्याना (Ariana) कहलाता था, जिसका अपभ्रंश एरान हुआ। उपरान्त आज से लगभग ५०० वर्षों पहले से एरान को वहाँ के लोग ईरानी कहने लगे। ईरान प्रदेश में बहुत पहले एक नगर परस (Persis) नामक था। वहाँ के राजा अख्यमनीय (Achaemenian) ने आकर एक साम्राज्य स्थापित किया था। इस कारण सारा प्रदेश 'पारस्य' नाम से प्रसिद्ध हो गया था। बेरोसस (Berosus) नामक इतिहासज्ञने लिखा है कि ईसा के जन्म से प्रायः दो हजार वर्षों पहले मिद्स (मद्र) जाति ने बाबिलन पर अधिकार किया और उसके आठ राजाओं ने यहाँ २२० वर्षों तक राज्य किया था। उपरान्त यहाँ यूनानियों का शासन हुआ, जिसके उत्तराधिकारी पार्थीयन हुये। अन्त में यह राज्य खलीफाओं के अधिकार में पहुंचा था। आजकल भी ईरान में मुसलमानों का स्वतंत्र राज्य है।[3]

जैनों को पारस्य का पता प्राचीन काल से था। 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र ग्रंथ में इसकी गणना अरब के साथ की गई है।[4] भारतीय व्यापार के लिए यह देश एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ दूर-दूर के व्यापारी आया करते थे।[5] जैन वणिक् अयल

१ मद्रास मैसूर प्राचीन जैन स्मारक पृ० ७९ व ६० तथा संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० १६३

२ यह बात हमको तामिल विद्वान् प्रो० वी० जो० नायर ने बताई है। वह इस पर एक लेख लिख रहे हैं।

३ हिन्दी विश्वकोष भा० १३ पृ० ३१५–३२६

४ प्रश्नव्याकरण सूत्र (हैदराबाद संस्करण) पृ० २४

५ आवश्यक चूर्णि पृ० ४४८—Life in Ancient India, p. 320

उज्जैन से यहाँ आये थे और यहाँ से वेण्यातट नामक जल पट्टन को गये थे।[1] श्वे० जैनाचार्य कालक भी हिन्दुगदेश अर्थात् भारत से यहाँ आये थे। यहाँ के लोग भैंस के सींगों के सुन्दर हार बनाया करते थे और पनसफल से अनभिज्ञ थे।[2] पारस्य का ही एक भाग पह्लव कहलाता था। जैनशास्त्रों में उल्लेख है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने पह्लव में भी विहार किया और धर्मोपदेश दिया था। साथही यह भी उल्लेख है कि जब द्वारावती नगरी भस्म हो गई तब बलदेव के पुत्र कुज्जराय पह्लव देश को गये थे।[3] पह्लवों को आधुनिक विद्वान् पार्थीअन (Parthians) बताते हैं।[4] एक समय पार्थीव (Parthians) लोग भारत में आये थे और उनमें से अनेक जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे। मथुरा के कंकालीटीले की खुदाई से जो जिनमूर्तियाँ मिली हैं उनमें से एक आम्बारिका नामक पार्थीयन महिला द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।[5] पारस्य के अखमनिशवंश के राजाओं में कम्बुजाय, कुरुस, आर्यराम्र आदि नामक कई राजा हुए थे[6]। बलदेव पुत्र कुज्जरा और कम्बुजाय का सादृश्य है। जो हो, यह निश्चित है कि ईरान से भारतीय जैनों का सम्बन्ध प्राचीन काल से था।

भगवान महावीर के समय में मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अभयकुमार के मित्र पारस्यदेश के राजकुमार आर्द्रकुमार थे। भ० महावीर का उपदेश सुनकर वह श्रमण मुनि हो गये थे और उन्होंने धर्म का प्रचार किया था[7]। सम्राट् सम्प्रति मौर्य के विषय में हम लिख चुके हैं कि सम्प्रति ने अरब-ईरान आदि देशों में जैन मुनियों का विहार कराकर धर्मप्रचार किया था। इनसे पहले सिकन्दर महान् अपने साथ भारत से कल्याण नामक दि० जैन श्रमण को ले गया था, जो ईरान के सूसा (Susa) नामक स्थान में स्वर्गस्थ हुए थे।❀

आधुनिक विद्वानों में मेजर-जेनरल जे० जी० आर० फरलाना सा० ने भी अपनी

1 Ibid, p. 321
२ निशीथ चूर्णि ७ पृ० ४६४ एवं आवश्यक चूर्णि पृ० २७— (Ibid)
३ उत्तरा० २ पृ० २६— Ibid, p. 319
4 Geog: dictionary of Ancient & Med: India, Dey p. 134
५ भाण्डारकर वाल्यूम, पृष्ठ २८५-२८८
६ हिन्दी विश्वकोष, भा० १३ पृ० ३१६
७ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड १ पृ० २१-२२
❀ Gymnosophists whom the Greeks found in Western India........ were Jains........ and that it was a company of Digambaras of this (Jain) sect that Alexander fell in with near Taxiles, one of whom Calanus followed him to Persia. —JRAS Jany 1855.

स्वाधीन खोज द्वारा यह घोषित किया था कि दुनियाँ के पुराने मतों पर जैनधर्म की शिक्षा का असर पड़ा था। ईरान में भी जैनधर्म प्रचलित था। उनके मतानुसार अक्षयन (Oxiana), कस्पिया (Kaspia) और बलख एवं समरकन्द के नगर जैनधर्म के मुख्यकेन्द्र रहे[१]। निस्सन्देह ईरानियों में सूर्य्योपासक सम्प्रदाय का जन्म जैन राजा आनन्दकुमार के निमित्त से हुआ जैनशास्त्र बताते हैं[२]। उधर जरदस्त (Zoroaster II) के विषय में कहा जाता है कि उसपर जैन श्रमणों की अहिंसा ने काफी असर डाला था; जिसके परिणामस्वरूप उसने हिंसक यज्ञों और बलिदानों का अन्त कर दिया था[३]। जैनधर्म की अहिंसा का प्रभाव ईरान में बहुत समय तक रहा था। मुसलमानों के शासनकाल में भी उसका प्रभाव देखने को मिलता है। अबुअला नामक मुसलमान दरवेश का जीवन अहिंसा के रंग में रंगा हुआ था। वह हिंसा से ऐसा भयभीत था कि चमड़े के जूते भी नहीं पहनता था। अनुमान किया जाता है कि बसरा को जो जैन व्यापारी जाते थे उनके सम्पर्क में वह आया था और उनकी अहिंसा से प्रभावित हुआ था[४]। आज के जैन व्यापारियों को अपने पूर्वजों की इस धर्मलगन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

इस प्रकार अफगानिस्तान, अरब और ईरान में जैनधर्म के अस्तित्व का पता चलता है। आज पुनः हमको जैनधर्म का प्रचार सारे संसार में करना है। अहिंसा धर्म के प्रचार की आज विश्व को आवश्यकता है।

1 "Oxiana, kaspia and cities of Balkh and Samarkand, were early centres of their faith".

—The short studies in Science of Compartive Religion Intro–p. 7

२ पार्श्व पुराण देखो :

3 Jaina Antiquary, Vol IX, pp. 14–19

4 Der Jainismus, p.

तौलव के जैन पालेयगार-नरेश

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री]

दुःख की बात है कि अन्यत्र की ही तरह तौलव के प्राचीन जैन इतिहास के निर्माण के लिये भी हमें शिलालेखादि इतिहास सृजन के साधन बहुत ही अल्प परिमाण में उपलब्ध होते हैं। बल्कि उपलब्ध इन साधनों का डा० बी० ए० सालेतोर[1], प्रो० एस० आर० शर्मा[2] आदि कतिपय विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य कृतियों में उपयोग किया भी है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं है कि यहाँ पर खोजने से शिलालेखादि इतिहास निर्माण के साधन और भी मिल सकते हैं। इस प्रसंग में यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि जे० स्टराकर, बुकनन आदि पाश्चात्य विद्वान् प्रवासियों ने अपने लेखों में यहाँ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे उपेक्षादृष्टि से देखना समुचित नहीं होगा। इनके लेखों में गलतियाँ अवश्य हैं, फिर भी इन गलतियों के पीछे उनमें प्रतिपादित बहुमूल्य बातों को यों ही छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। उपर्युक्त प्रवासियों के लेखों को आमूलाग्र पढ़कर 'हंसक्षीरन्याय' से छानबीन के साथ अच्छी बातों का एकत्रित करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

यद्यपि इस समय प्राचीन तुलुव या तौलव की मर्यादा निश्चितरूप से बताना बहुत कठिन है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि गेरुसोप्पे, भटकल एवं कारकल ये तीनों इसके राजकीय अधिकार के प्रमुख केन्द्र थे। साथ ही साथ यह भी जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन हैव-कोंकण तौलव का ही अवशेष था। यही हैव कोंकण आजकल दक्षिण कन्नड और उत्तर कन्नड के रूप में विभक्त है। इस समय दक्षिण कन्नड मद्रास प्रान्त में और उत्तर कन्नड बंबई प्रान्त में सम्मिलित हैं। प्राचीन जैन गुरु परंपरा आदि से उपलब्ध श्वेतापुर (बिलिगि), सुधापुर (सोंदे), संगीतपुर (हाडुहल्लि) और सुवर्णपुर (होन्नावर) आदि भी तौलव के ही प्राचीन प्रमुख स्थान थे। बल्कि मूडबिद्रीय चन्द्रनाथ जिनालय के एक शासन से सिद्ध होता है कि वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत नगर का सम्बन्ध भी तौलव से था। उस ज़माने में वहाँ पर महामण्डलेश्वर जिनदास साळुव मल्ल राज्य करता रहा[3]।

कारकल के भैरव ओडेय, मूडबिद्री के चौट, नन्दावर के बंग, अलदंगडि के अजिल, वेलंगडि के मूल, और मूल्कि के सावंत आदि ये सब पहले जो कि तौलव के स्वतंत्र जैन शासक रहे, वे क्रमशः

---

1 "Medieval Jainism" तथा "Ancient Karnatak"

2 "Jainism & Karnatak Culture" Vol. I.

३ तुलुवदेशतिलकायमान नगर सिद्धसिंहासनाधिपतियागि सुवर्णपुरिर्विदं अलंकृतमाद हैव-कोंकण राज्यमं प्रतिपालिसुतिर्दं"

पीछे विजयनगर आदि निकटवर्ती अन्यान्य प्रबल राजाओं के आश्रित हुए। अखंड जैन इतिहास के निर्माण के लिये इन जैन पालेयगारों अर्थात् छोटे छोटे रियासतदारों के इतिवृत्त को संग्रह करना भी परमावश्यक है। हाँ, यहाँ पर इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र हो या आश्रित उस समय के ये सभी शासक धर्म, शिल्प और साहित्य आदि के अनन्य पोषक थे। यद्यपि विट्टिवर्धन या विष्णुवर्धन के जैनधर्म को त्याग कर वैष्णव धर्म में दीक्षित होने से एवं लिंगायत (शैव) धर्म के जन्म से मैसूर तथा अन्य कर्णाटक के जैनों पर उस समय बड़ी मुसीबत आ गयी थी। ऐसी अवस्था में तौलव में उन्हें समुचित आश्रय मिला और यहाँ के धर्मप्रेमी जैन शासकों के प्रभाव से जैन धर्म की भी श्रीवृद्धि हुई।

विजयनगर के राज्यकाल में भी तौलव में जैनधर्म की अभिवृद्धि में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आया; क्योंकि विजयनगर के शासक जैनधर्म के विरोधी नहीं थे; प्रत्युत सहायक रहे। हाँ, ई० सन् सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में इक्केरि के शैव धर्मानुयायी धर्मोन्मत्त शासकों के द्वारा जैनधर्म को आशातीत क्षति पहुँची। इन शैव शासकों में वेंकप्पनायक और शिवप्पनायक के नामों को जैन समाज कभी नहीं भूल सकता। तौलव में जैनधर्म को समूल नष्ट करने के लिये उपर्युक्त धर्मान्ध शासकों ने कुछ भी उठा नहीं रखा था। किन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी। खासकर वैभवशाली प्राचीन जैन राजधानी बारकूर में इन शासकों ने बड़ा अत्याचार किया था।

डा० सालेतोर की राय से ई० सन् ९ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग तीन शताब्दियों में तौलव में जैनधर्म का प्रभाव विशेषरूप से रहा। आज भी इसके ज्वलन्त उदाहरण यहाँ पर यत्र-तत्र अवश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जैन प्रभाव के ये चिन्ह खासकर मूडबिद्री, गेरुसोप्पे और भटकल आदि यहाँ के प्रमुख स्थानों के शासनांकित पत्रों में विशदरूप से उपलब्ध होते हैं। शासन[1] में जिस गेरुसोप्पे की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है, उस गेरुसोप्पे का भग्नावशेष इस समय एक भयंकर जंगल के गर्भ में छिपा हुआ है। यहाँ पर आज भी भग्नावशिष्ट कलापूर्ण कई भव्य जिन भवन मौजूद हैं। ये मंदिर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्धमान एवं चतुर्मुख के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मनोज्ञ मंदिरों में चतुर्मुख तो सर्वथा दर्शनीय है। स्थान भी बड़ा शान्त तथा सुन्दर है। पार्श्वनाथ जिनालय में विद्यमान पद्मावती एवं अम्बिका की मूर्तियाँ और नेमिनाथ मन्दिर में वर्तमान नेमिनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। एक जमाने में जो गेरुसोप्पे जैन रानी चेन्न भैरा देवी की वैभवशाली राजधानी थी वहाँ पर

१—"इंतेसव नगरिराज्यद मध्यप्रदेशदोळ् बळसिर्दोप्पुव नंदनावळिगळिं कासारनीरेजदिं। कळधौतोज्ज्वलसाल कोसलगळिंदट्टाल जालंगळिं। विलसद्गोपुरदिं सुहर्म्यचनदिं श्रीजैनगेहंगळिं। चेलुवं ताळ्दिद गोरुसोप्पे नगरं कोंडाडलावल्लरे।"

आजकल दिन में जाने में भी भय लगता है। काल की गति विचित्र है। यही दुर्दशा भटकल की है। इस समय भटकल में केवल दो मन्दिर हैं। बड़े मन्दिर में तो मूर्ति ही नहीं है। हाँ, छोटे मन्दिर में पाँच मूर्तियाँ हैं।

अब विज्ञ पाठकों का ध्यान वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ, जो कि पूर्व में तौलव का ही एक मुख्य भाग रहा। अजिलेय, चौट, बंग आदि जिन जैन पालेयगारों का उल्लेख ऊपर कर आया हूँ उनकी राजधानियाँ इसी जिले के भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्तमान हैं, जिनके वंशज उन्हीं राजधानियों में तैलरिक्त निर्वाणोन्मुख प्रदीप की तरह कान्तिहीन हो अपना समय काट रहे हैं। बल्कि भटकल एवं गेरुसोप्पे में शासन करनेवाली भैरा देवी और चेन्न भैरा देवी नाम की सहोदरियाँ भी कारकल के अजिलेयर की ही वंशजा हैं। अब क्रम-से उपर्युक्त जैन पालेयगारों का परिचय नीचे दिया जाता है।

बंगवंश

दक्षिण कन्नड जिले में शासन करनेवाले जैन पालेयगारों में बंगों को तौलव में अग्रस्थान प्राप्त था। उन्हें वह गौरव आज भी पूर्ववत् प्राप्त है। इस वंश के ई० स० ११५० से पूर्व का कोई इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। बंगों के मूल इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इसलिये विवादास्पद विषयों को छोड़कर ई० स० ११५० (शा० सं० १०७६) से ही इस वंश का संक्षिप्त इतिवृत्त यहाँ पर दिया जा रहा है।

बंगराजा वीरनरसिंह (ई० स० ११५०–१२०८) बंगवंशी राजा चन्द्रशेखर बंगवाडि के अन्तर्गत एक छोटे राज्य में जब राज कर रहा था तब होयसल राजा विष्णुवर्धन ने इसके साथ युद्ध किया और इस युद्ध में राजा चन्द्रशेखर मारा गया। इससे उसका राज्य होयसलों के अधीन हुआ। होयसल नरेश विष्णुवर्धन के मृत्यु-पर्यन्त चन्द्रशेखर के मंत्री कृष्णप्प, करणीक (कारिन्दा) वेंकप्प, तिम्मण्ण आदि चन्द्रशेखर की रानी, राजकुमार आदि राजपरिवार के साथ दीर्घकालतक मलेनाड् (जंगल प्रदेश) में छिपकर दिन काट रहे थे। विष्णुवर्धन के मरणोपरान्त वे घाटी उतर कर बंगवाडि में चले आये। यहाँ पर आते समय वे पुरोहित, सुनार, हजाम, दर्जी, धोबी आदि अपने कुल परिवार को साथ ही ले आये; इतना ही नहीं, कुलदेव सोमनाथ और धर्मदेव शान्तीश्वर की प्रतिमा को भी। यहाँ पर नेत्रावती नदी के तट में विस्तृत एवं चित्ताकर्षक मैदान को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और कुछ दिन यहीं पर ठहर गये। इस बीच में यहाँ पर जो एक विचित्र घटना घटी थी वह इस प्रकार कही जाती है।

एक दिन हजाम राजकुमार की हजामत बनाकर अपने एक औजार को भूल से उसी जगह छोड़कर चला आया। बाद जब उसे इस बात की याद आयी तब वह लौटकर आकर देखता है कि वहाँ पर उसका औजार तो नहीं था। हाँ, औजार के बदले में उसने उस जगह पर एक

सर्प देखा। उसी रोज रात्रि में स्वप्न में एक कन्या के रूप में देवी पद्मावती ने प्रत्यक्ष हो मंत्री कृष्णप्य को यह आश्वासन दिया कि थोड़े ही दिनों में आप लोगों की चिर कामना पूर्ण होकर यह कष्ट अवश्य दूर होगा। साथ ही साथ देवीने उसे यह भी आज्ञा दी कि जहाँ पर हजाम का औजार गायब हुआ था वहाँ पर मन्दिर निर्माण कराकर मेरी मूर्ति को स्थापित कर देना। प्रातः काल होते ही मन्त्री ने सहर्ष सबको अपने स्वप्न का समाचार सुनाया। इस शुभ समाचार से सभी प्रसन्न हुए। इसके बाद थोड़े समय में विष्णुवर्धन का पुत्र त्रिभुवनमल्ल भुजबल वीरगंग प्रथम नरसिंह अपने प्रान्त के संदर्शन के लिये बंगवाडि में आया। उस अवसर पर राजा चन्द्रशेखर के मन्त्री, पुरोहित आदि राजकर्मचारी राजकुमार को साथ लेकर उससे जाकर मिले और अपना कुल दुःख राजा बल्लाल को सुनाया। इस दुःखद समाचार से राजा वीरनरसिंह बड़ा खिन्न हुआ और सस्नेह राजकुमार को अपनी गोदी में बैठाकर चाँदी के बरतन में दूध मँगाकर अपने ही हाथ से उसे पिलाया। बाद कतिपय शुभ चिन्हों से राजकुमार को होनहार समझकर समुद्र तक के नेत्रावती नदी के दोनों तटवर्ती २० बल्लालों के अधीनस्थ बंगवाडि, बेलतंगडि, पुत्तूरु, बंटवाल, मंजेश्वर, मंगलूर आदि प्रान्त धारापूर्वक राजा वीरनरसिंह के द्वारा राजकुमार को दिये गये। इतना ही नहीं, राजा वीरनरसिंह ने राजकुमार को अपना ही समझकर वीरनरसिंह बंगराजा इस अपने ही नाम से उसे संबोधित किया। तब से अभी तक पट्ट के नाम के आदि में प्रायः वीरनरसिंह शब्द को जोड़ने की प्रथा चली आ रही है। राज्य के साथ ही साथ बंगराजा को पालकी, रत्नकंबल, छत्र, चामर, पट्ट का घोड़ा, पट्ट का हाथी, पट्ट की तलवार, पट्ट की अंगूठी और रणवाद्य आदि सभी राजचिन्हों को वीरनरसिंह बल्लाल ने राजाबंग को सम्मानपूर्वक प्रदान किया।

उपरान्त बंगवाडि में नेत्रावती के तीर में एक महल निर्माण कराया गया और शा० श० १०७६ में फाल्गुन कृष्णा दशमी को धूमधाम से पट्टाभिषेक का शुभ कार्य संपन्न हुआ। इस पट्टाभिषेक के शुभावसर पर सभी प्रान्तों का गण्यमान्य प्रतिष्ठित प्रजावर्ग सानन्द एकत्रित हुआ था। एकत्रित इन प्रतिष्ठित वलिष्ठ व्यक्तियों में नडदगुत्तु, नालूरुगुत्तु आदि चार गुत्तुवाले राजा के प्रधान सहायक या अधिकारी घोषित किये गये। पट्टाभिषेक के समय में इन गुत्तुवालों में से एक को सिंहासन पर बैठाने का, दूसरे को पट्ट की अंगूठी पहनाने का, तीसरे को पट्ट की तलवार राजा के हाथ में देने का और चौथे को पट्ट का नाम घोषित करने का अधिकार वंशपरंपरा के लिये दिया गया। अनन्तर पूर्व सूचनानुसार जहाँ पर हजाम का औजार गायब हुआ था वहाँ पर देवालय निर्माण कराकर देवी की प्रतिमा स्थापित की गयी। बंगवाडि में वह देवालय आज भी मौजूद है। बाद इस देवालय के अतिरिक्त सोमनाथ, गणपति, वीरभद्र, शान्तीश्वर, क्षेत्रपाल, बप्पयथा आदि के लिये प्रत्येक-प्रत्येक आलय बनवाकर प्रत्येक-प्रत्येक मूर्तियों की

विधिवत् प्रतिष्ठा करायी गयी और उन देवालयों की पूजा आदि के लिये नियमतः भूदान आदि आवश्यक दान दिये गये।

बाद बंगवाडि में पगडेसाले नामक स्थान पर नगर बसाया गया। यह नगर क्रमशः बढ़ता गया और इसमें एक हजार से ऊपर मकान बन गये। सेना के लिये राजमहल से उत्तर में एक विशाल किला बनवा लिया गया। आज भी उपर्युक्त देवस्थान, जिनालय, मकानों के खंडहर, विस्तृत राजमार्ग आदि चीजों को हम देख सकते हैं। राजमहल का भग्नावशेष लगभग एक एकड़ जमीन में फैला हुआ है। राजमहल की उत्तर दिशा में इस समय जहाँ पर जंगल नजर आता है वहाँ पर मिट्टी का बना हुआ विशाल किला मौजूद था। राजमहल के सामने का विस्तृत राजाङ्गण अब खेत बना लिया गया है। वीरनरसिंह बंगराजा को पाँच रानियाँ थीं। यह ई० स० १२०८ में स्वर्गासीन हुआ। इसके बाद इस वंश में क्रमशः निम्न व्यक्तियों ने सुचारुरूप से राज्यशासन किया: (२) चन्द्रशेखर बंगराजा (ई० स० १२०८-१२२४), (३) पांड्यप्प बंगराजा (ई० स० १२२४-१२३६) (४) विठल देवी (ई० स० १२३९-१२६४) (५) कामराय प्रथम (ई० स० १२६४-१२७४) (६) चमदुल देवी (ई० स० १२७४-१२८७) (७) हावलि बंगराजा प्रथम (ई० स० १२८७-१३२३) (८) शंकरदेवी (ई० स० १३२४-१३४६), (९) हावलि बंगराजा द्वितीय (ई० स० १३४९-१४००), (१०) लक्ष्मप्परस बंगराजा प्रथम (ई० स० १४००-१४५५) (११) शंकरदेवी द्वितीया (ई० स० १४५५-१४६१), (१२) कामराय द्वितीय (ई० स० १४६१-१५३३), (१३) हावलि बंगराजा तृतीय (ई० स० १५३३-१५४५), (१४) लक्ष्मप्परस बंगराजा द्वितीय (ई० स० १५४५-१५५६), (१५) कामराय तृतीय (ई० स० १५५६-१६१२), (१६) लक्ष्मप्परस बंगराजा तृतीय (ई० स० १६१२-१६२९), (१७) हावलि बंगराजा चतुर्थ (ई० स० १६२९-१६३१), (१८) शंकर देवी तृतीया (ई० स० १६३१-१६५३), (१९) हावलि बंगराजा पंचम (ई० स० १६५३-१६९९), (२०) लक्ष्मप्परस बंगराजा चतुर्थ (ई० स० १६९९-१७६७) (२१) कामप्परस चतुर्थ (ई० स० १७६७-१७९९), (२२) लक्ष्मप्परस बंगराजा पंचम (ई० स० १८००-१८३८)

लक्ष्मप्परस के बाद क्रमशः कामराज (पंचम), सोनराज और पद्मराज ये तीन यहाँ की गद्दी पर आसीन हुए। यद्यपि ई० स० १७६७ से ही इस वंशवालों के हाथ से राज्य छूट गया है। फिर भी इसके बाद भी यहाँ पर शास्त्रोक्त रीति से पट्ट होता है। इस समय नंदावर का महल एकदम नष्ट हो चुका है। तो भी राजमहल के चिन्ह, किला, बाजार, राजमार्ग, देवालय, जिनमन्दिर, मसजिद आदि प्राचीन स्मारक यहाँ के गत वैभव को स्पष्ट व्यक्त कर रहे हैं। दक्षिण कन्नड जिले में नगर के चारों ओर किला सिर्फ इसी नंदावर में ही है। बंगवाडि में बंगवंशी आज भी मौजूद हैं। अस्तु, राजा वीरनरसिंह को छोड़कर जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है चन्द्रशेखर आदि शेष पूर्वोक्त बंग शासक एवं शासिकाओं का संक्षिप्त परिचय भी 'भास्कर' की अगली किरण में अवश्य दिया जायगा।
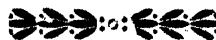
जिनचंन्द्रसूरिजी को महाराजा अनूपसिंहजी के दिये हुए दो पत्र

[ले०—श्रीयुत् बा० अगरचन्द नाहटा]

गुजरात एवं राजस्थान के राजाओं से जैनाचार्यों का बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल में राजा प्रजा का ईश्वर समझा जाता था और राजा लोग धम गुरुओं को विशेष रूप से सम्मानित करते रहते थे। वे अपने सम्प्रदाय के गुरुओं की तो विशेष भक्ति करते ही थे, पर वैसे प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्माचार्यों के प्रति आदर भाव रखते थे। उनके लिये भेंट, लवाजमे आदि की व्यवस्था रहती थी। समय समय पर राजा व राज्य का कोई विशिष्ट कार्य सम्पन्न कर देने पर आचार्यों को ग्रामादि भी मिलते थे, जिनमें से कई आजतक भी उनके कब्जे में हैं। इस प्रकार के सम्मान और राज्याश्रय के कारण उनके आचार विचार में शिथिलता आने लगी और प्रतिष्ठा के द्वारा उत्पन्न वातावरण में अहंभाव और विलासिता को प्रश्रय अवश्य मिला, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस भाँति के कार्यों द्वारा राजाओं को प्रभावित किये जाने पर धर्मप्रचार के कार्यों में सुगमता भी प्राप्त होती रही है।

भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थंकर तो स्वयं राजा या राजपुत्र थे। अतः उनका अपने-अपने समय के राजाओं पर विशेष प्रभाव होना स्वाभाविक ही है, पर पवित्र एवं कठोर आचार विचार, असाधारण पाण्डित्य व मंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि में सिद्ध हस्तता के कारण आपके आज्ञानुमती आचार्यों का भी अपने समय के हरजगह के राज्याधिकारियों पर प्रभाव कम नहीं रहा। आचार्य केशी ने प्रदेशी राजा को, आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति राजा को, आ० सिद्धसेन दिवाकर ने विक्रमादित्य को, आचार्य बप्पभट्टिसूरि ने आम राजा को, आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज व कुमारपाल को तथा मुसलमान सुल्तान महमद को जिनप्रभसूरि ने, सम्राट् अकबर को हीरविजयसूरि एवं जिनचन्द्रसूरि ने प्रभावित किया था, जिसके यथेष्ट प्रमाण जैन इतिहास में पाये जाते हैं। इसी प्रकार दिगम्बर आचार्यों ने दक्षिण के अनेक राजाओं को जैनधर्मानुयायी व अनुरागी बनाया था।

मध्यकाल में साम्प्रदायिक संघर्ष भी चलते रहते थे अतः एक सम्प्रदाय के आचार्य व विद्वान के साथ दूसरे सम्प्रदाय के विद्वान से शास्त्रार्थ भी प्रचुर परिमाण में हुआ करते थे। उन शास्त्रार्थों का जनता पर अधिकाधिक प्रभाव हो इस उद्देश्य से वे

प्रायः राजा की अध्यक्षता में हुआ करते थे। राज-सभाओं में पंडितों का जमघट लगा रहता था और उनका एवं राजा का निष्पक्ष निर्णय अंतिम निर्णय माना जाता था। बौद्धों के प्राबल्य काल में उनसे जैनाचार्यों के शास्त्रार्थ होते थे फिर चैत्यवासियों एवं सुविहितों में, दिगम्बर श्वेताम्बरों में भी राज सभा में कई बार शास्त्रार्थ हुए, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें मल्लवादि का बौद्धों से, जिनेश्वरसूरि का पाटण के दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों से, वादिदेवसूरि का दि० कुमुदचन्द्र से और जिनपतिसूरि का पृथ्वीराज चौहान की सभा में पद्मप्रभाचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था, वह विशेष रूप से उल्लेख योग्य है।

जैनाचार्यों के प्रति आदर भाव रखने के साथ-साथ कई नरेशों ने उनके उपदेश से अपने साम्राज्य में अमारी-उद्घोषणा करवाई, कइयों ने जैन मंदिरों को दान दिया, ध्वजा कलशादि रोपण करवाये अर्थात् विविध प्रकार से जैनधर्म की महिमा बढ़ाई व अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकट की, जिनका उल्लेख भी ग्रन्थों, प्रशस्तियों व शिलालेखों में पाया जाता है।

जैनाचार्यों को राजाओं ने पट्टे परवाने भी दिये हैं और उनसे पारस्परिक पत्र व्यवहार भी होता रहा है, पर वे पुराने कागजात में असावधानी व उपेक्षा के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गये हैं। वर्त्तमान में सम्राट् अकबर से पहले के किसी भी राजा व बादशाह के दिये हुये फरमान, पट्टे, परवाने व पत्र मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। इसके बाद के भी ऐसे बहुत से कागजात जिन्हें वे दिये गये थे, उनके पट्टधरों के पास या भंडारों में पड़े रहने के कारण अज्ञात अवस्था में पड़े हुए हैं। जिनके पास हैं वे उनका अब महत्त्व के नहीं समझते या संकुचितता के कारण बहुत व्यक्ति तो उन्हें किसी विद्वान् तक को दिखाते नहीं। हमने कुछ इधर उधर से थोड़े से कागजात संग्रह किये हैं जिनको प्रकाश में लाने का श्रीगणेश इसी लेख द्वारा हो रहा है। दि० भट्टारकों के के पास भी ऐसी बहुत कुछ महत्वपूर्ण सामग्री होगी। जिनको प्रकाश में लाने की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करता हूं।

बीकानेर राज्य की स्थापना व उत्कर्ष में जैनों का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। फलतः वहां के नरेश जैनाचार्यों के प्रति विशेष आदर रखें यह स्वाभाविक ही है। यहां श्वे० खरतरगच्छ, उपकेशगच्छ व लोंकागच्छ के श्रीपूज्यों की गद्दियां हैं। जिनमें से खरतर-गच्छ वालों का ही सर्वाधिक प्रभाव रहा है। राज्यस्थापना से लेकर करीब १५० वर्षों तक मंत्री आदि उच्च पदों पर ओसवाल-बच्छावत वंश के व्यक्ति रहे हैं, वे खरतरगच्छ अनुयायी थे और विद्वत्ता आदि की दृष्टि से खरतरगच्छ के आचार्य व यतिगण बहुत

प्रभावशाली रहे हैं अतएव उनका यहां के राजाओं पर विशेष प्रभाव रहा है। जब कोई श्रीपूज्य जी की पद स्थापना होती, राज्य की ओर से दुशालादि भेंट मिलते। उनके नगर प्रवेश में हाथी, घोड़े, रथ आदि लवाजमा मिलता। अन्य भी खास २ प्रसंगों पर उन्हें कहीं जाना होता तो राज्य की ओर से उनके लिये रथादि सवारी मिलती; इस प्रकार के विविध सम्मान अबतक प्राप्त हैं।

महाराजा रायसिंहजी से पहले के राजाओं के जैनाचार्यों के सम्बन्धों के विषय में तो कुछ निश्चित ज्ञात नहीं। पर महाराजा रायसिंहजी के (कुं० दलपति के साथ सं० १६४६ के फाल्गुन सु० २ को लाहोर में) जिनचन्द्रसूरिजी को वहराई हुई कई हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की प्रतियां प्राप्त[१] हैं। आपके सुपुत्र अनूपसिंहजी बड़े विद्याविलासी नरेश थे जिन्हों ने स्वयं संस्कृतादि में अनेक ग्रन्थ बनाये व उनके आश्रित विद्वानों के महत्व-पूर्ण अनेक ग्रन्थ उपलब्ध[२] हैं। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी आपके असाधारण विद्यानुराग की परिचायक है। आपके समय में खरतरगच्छ में जिनचन्द्रसूरि नामक विद्वान आचार्य थे जिनके साथ आपका पत्रव्यवहार होता ही रहता था। इनमें से महाराजा अनूपसिंह के जिनचन्द्रसूरिजी को दिये हुये दो पत्र और सूरिजी के महाराजा को दिये ४ पत्रों की नकलें हमारे संग्रह में हैं। प्रस्तुत लेख में उनकी नकलें दी जा रहीं हैं। यह पत्र व्यवहार संस्कृत में ही हुआ है। महाराजा के दोनों पत्रों में संवत् नहीं है, केवल तिथि ही दी है। अतः इनमें पहले का पत्र कौन सा है, निश्चित नहीं कहा जा सकता। सूरिजी के दिये हुये पत्रों में एक का अंतिम अंश त्रुटित है। दूसरे का प्रारम्भिक थोड़ासा अंश त्रुटित है। दो पत्रों में संवत् का उल्लेख पाया जाता है। सूरिजी के एक पत्र में महाराजा के पुत्र होने का अन्य में ३ पुत्रों का उल्लेख है। इसी पत्र में ढूंढियों के प्रचार को रोकने के लिये महाराजा को लिखा गया है। इससे एक ऐतिहासिक तथ्य का पता चलता है कि उस समय ढूंढियों का प्रचार काफी तेजी से बढ़ रहा था। जोधपुरादि में भी उसको रोकने का प्रयत्न किया गया था ऐसा उल्लेख अन्यत्र प्राप्त है। परम विद्यानुरागी महाराजा अनूपसिंह के पश्चात् जिनसुखसूरि को दिये गये सुजान सिंह के दो सुन्दर पत्र भी हमारे संग्रह में हैं, जिन्हें अन्य लेख में प्रकाशित किया जायगा।

प्रसंगवश जिनका पत्र व्यवहार यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है उनका संक्षिप्त परिचय भी यहाँ दे देना आवश्यक समझता हूं। इनमें से महाराजा अनूपसिंह जी तो

---

१ देखें हमारा युग प्रधान जिनचन्द्रसूरि नामक ग्रन्थ।

२ जिनका विशेष परिचय ओझाजी के इतिहास माधवकृष्ण शर्मा के लेखों में एवं मेरा महाराजा अनूप सिंह जी के आश्रित हिन्दी कवि लेख में दिया गया है।

प्रसिद्ध व्यक्ति हैं अतः उनके जन्म संवतादि दो-चार बातों का ही उल्लेख कर जिनचन्द्र-सूरि का ज्ञात वृत्तान्त दिया जा रहा।

१ महाराजा अनूप सिंह–"जय जंगलधर बादशाह" विरुद प्राप्त महाराजा कर्ण सिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे। सं० १६९५ चैत्र सुदि ६ को आपका जन्म हुआ व सं० १७२६ में ये गद्दी नशीन हुए। बादशाह की ओर से आप कई युद्धों में बड़ी वीरता पूर्वक लड़े थे अतः सं० १७३२ में बादशाह ने प्रसन्न होकर इन्हें "महाराजा" का खिताब दिया था। उदयपुर के महाराना राजसिंह जिन्होंने राजसमुद्र नामक विशाल तालाब बनवाया था, के आप बहनोई थे। स्वरूप सिंह, सुजाण सिंह आदि आपके ५ पुत्र थे। सं० १७५५ के ज्येष्ठ सुदि ९ रविवार को आडणी में आपका देहान्त हुआ। आपका विद्यानुराग सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। विशेष जानने के लिये स्व० ओझाजी का बीकानेर राज्य का इतिहास ग्रन्थ देखना चाहिये।

२ आचार्य जिनचन्द्र सूरि—बीकानेर निवासी गणधर चौपड़ा गोत्रीय सहसमल (यासहंसकरन) की पत्नी राजलदे (सुपीयारदे) के आप पुत्र थे। सं० १६९५ का० व० ६ को सेरुणा (संभवतः ननिहाल) में आपका जन्म हुआ था। आपका जन्म नाम हेमराज था। १० वर्ष की लघुवय में ही जिनरत्नसूरि के पास सं० १७०५ जेठ सुदि ५ को जैसलमेर में आपने दीक्षा ग्रहण की। सं० १७११ में जिनरत्नसूरि का आगरे में स्वर्गवास हो जाने पर राजनगर में उनके आदेशानुसार आपको गच्छनायक पद श्रावण सुदि १० को प्रदान किया गया। पदोत्सव नाहटा गोत्रीय राजमल पुत्र जयमल तेजसी, जैतसी व उनकी भार्या कस्तूर बाई ने बड़े समारोह पूर्वक किया। सूरिमंत्र प्रदान वड़गच्छीय सनदेवसूरि ने किया। आप बड़े त्यागी व वैरागी थे। गच्छ के यतियों में शिथिलाचार बढ़ते देख आपने सं० १७१८ आश्विन शुक्ला १० सोमवार को बीकानेर में १४ बोलों का एक व्यवस्था पत्र जारी किया जिसकी नकल हमारे संग्रह में है। सं० १७३५ के आषाढ़ सुदी ८ को खंभात में आपने बीस स्थानक तप का आराधन भी प्रारंभ किया था। छाजहडशाह मोहनदास के संघ के साथ सं० १७१२ में शत्रुंजय तीर्थ यात्रा की व मंडोवर में सं० मोहनदास कारित ऋषभादि चतुर्विंशति जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा की। दूतवास में नाहटा सा. जयमल्ल के बनवाये हुए मन्दिर की भी प्रतिष्ठा की। आपके दिये हुए कई पर्युषण के समाचार व आदेश पत्र हमारे संग्रह में हैं। एक कवित्त से आपने पंचनदी की साधना भी की विदित होता है। आपके रचित कई स्तवन (गोडीस्तवन सं० १७२२ छन्नू जिनस्तवन स० १७४३) प्राप्त हैं। अनूप सिंह जी के किये हुए पत्र व्यवहार से आपसे उनका अच्छा सम्बन्ध

रहा प्रमाणित होता है। सं० १७२१ मा० व० ५ को परत के पारख अखई पुत्र वीसडास, अयाइदास, सूरदास के संघ सह गौडी, आबू तीर्थों की यात्रा की। सं० १७३१ में जोधपुर के संघवी मनोहर दास व भाई आसकरण के साथ शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। सं० १७६३ में सूरत में अपने पट्ट पर जिनसुखसूरि को प्रतिष्ठित कर आप स्वर्ग सिधारे

बीकानेर के महराजा अनूप सिंह जी के जिनचंद्रसूरि जी को दिये हुए पत्र

स्वस्तिश्रीमहाराजाधिराजमहाराज[१]श्रीमदनूपसिंहप्रभुवर्याणां श्रीमद्जिनदेव भजनावासमकलजिनेंद्राज्ञानवैभवेपुनुर्णीकृतजगत्सुमकलजैनाभिवंदितचरणेषु श्रीपूज्यजिनचंद्रसूरिषु वंदनानति निवेदकमदः पत्र विशेषस्तु पूर्वं सत्र.........भवदीयः कश्चित् यतिवरः अस्माकं सार्थेस्थितः इदानीमत्रभवदीयः कोपिनास्ति भवद्भिरपिनूष्णीं स्थितमस्तितत्केमिति अतः पर एकः उपाध्यायः पांचाख्यः अथवा जयेतसी एतयोर्मध्ये यः कश्चिदायाति सत्वरं प्रेषणीयः चातुर्मास्यं अत्रागत्य करोति तथा विधेयं अस्मिन्नर्थे विलंबो न विधेयः किमधिकं।

मिती पोष शु० ८

१ श्री लक्ष्मीनारायण जी

स्वस्तिश्रीमन्महाराधिराजमहाराजश्रीमदनूपसिंहप्रभु-
वर्याणां श्रीमत्सकलकार्यकरणनिपुणतापराङ्मुखवैराग्य
पवमानसंदोहवशंवदवशीकरणमंत्रवैराग्यभोग्यकैवल्येषु
विषमविषयदोषदर्शनदूषितप्रपंचरचनाचुलुकीकरण-
कुंभसंभवविभवेषु समस्तविद्याविद्योतमानविग्रहेषु
श्रीमद्भट्टारकजिनचंद्रसूरिषु वंदना प्रणाम सूचकोयं जाबिकः
शमिह श्रीरमेशकरुणाकटाक्षसंदोहैः
विशेषस्तु माला श्रीमद्भिः प्रेषिता सा ऽस्मत्करगता समजनि
अन्यदपि यत्समीचीनं वस्तु अस्मद्योग्यंभवतिचेद्वश्यं प्रेषणीयं।

---

१ जयतसी पुण्यकलश के शिष्य थे उनके रचित १ अमरसेन वयरसेन चौपई सं० १७१७ दीवाली जैसलमेर २ कयवन्ना रास सं० १७२१ बीकानेर ३ दशवैकालिक गीत सं० १७०७ बीकानेर ४ दशश्रावक गीत ५ उत्तराध्ययन गीत सं० १७०७, ६ चतुर्विधसंघ नाममाला ७ चौबीस जिन पूजा जैसलमेर पार्श्व बृहद्स्तवन पार्श्वनाथ छंदादि उपलब्ध हैं।

पत्र का समय—इसमें माला प्राप्ति का निर्देश है। आगे दिये जाने सं० १७४७ के पत्र में सूरिजी ने इसका उल्लेख किया है अतः इसका लेखन संवत १७४७ में हुआ सिद्ध होता है।

अन्यच्च श्रीमतां प्रावरणार्थं वस्त्रं दापितमस्तितद् ग्राह्यं किं
च इंद्रभाणमुद्दिश्यभवद्विषयिकोदंताः लिखिताः संति सोप्यस्म-
त्पत्रानुसारेण श्रीमतां समाधानं करिष्यति श्रीमतां महत्वं
मानोन्नतिश्च विधास्यति ॥ तथाच श्रीमदीयः कश्चित्कार्य-
विशेषोज्ञाप्यः। श्रा० वदि ३

सूरिजी के महराजा को दिये हुए पत्रों की नकल

..........................मंदिरेषु। सशक्तिशक्तित्रयषड्गुणालंकृतसमागप्राज्यराज्यैश्वर्य्य-जितपुरंदरेषु। सकल हिन्दूकराजमंडलमौलिकोटीरेषु। महाराजाधिराजमहाराज श्रीमच्छ्रीअनूपसिंहराजेश्वरेषु। श्रीविक्रमपुरस्थैरिष्टदेवस्मरणरतैः भट्टारक-श्रीजिनचंद्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वचननिवेदकं प्रेष्यते पत्रमदशमत्र-श्रीजिनदेवप्रसादात। श्रीमतं च सततं तदेव प्रवर्द्धमानं समभिलष्यते। अन्यच्च श्री-मद्भिः सविवेकं सधर्मरागंचास्मांस्वकीय यतिवरान्विज्ञाय द्वित्राणि परवानाख्य पत्राणि प्रेषितानि तदुचितं प्राचीनसमीचीनपद्धतिविदां श्रीमहाराजानां। वयमपियौष्मा-कीणा यतयः स्मः। इष्टदेवस्मरणोंतःकरण शुद्धया श्रीमत्सुशुभाशिषं कुर्वतः सदा वर्त्तामहे। अन्यच्च। शाकोठारी नैणसी[1] पत्रेये उदंता लेखितस्तेषां प्रत्युत्तरं सविस्तरं तस्मै च पत्राद् ज्ञातं भविष्यति। एकस्तुमधुकरः शुद्ध गरुडोद्गार जानीयो विधिपत्रयुतः प्रेषितो भूत्सतु मार्गान्तरालेजंबालेन समं विलीनः। तदनु पुनरेकोस्मत्पार्श्वपर्य्यागतो-

[1] सं० १७३६ असाढ़ वदि बुधवार को बीकानेर में (ख० लालचंद लाभवर्द्धन) रचित लीलावती-गणित चौपई आपके पुत्र जयतसी के लिये रची गई है उसमें आपके राज्याधिकारी होने का उल्लेख इस प्रकार है:—

"बीकानेर बड़ौनयर च्यहुँ दिसि में परसिद्ध।
घर घर धण कंचण प्रबल घर घर ऋद्धि समृद्धि ।१५।
× × ×
राजै तिहां राजा बड़ो श्री अनूपसिंह भूप।
राठ्रवंश नृप करण सुत सुंदर रूप अनूप ।१६।
अधिकारी तसु अधिक मति कोठारी कुलभाण।
नाम भलो श्रीनैणसी गंजै अरि गज माण ।२०।
नृप मन शुद्ध भया कहै, बहुत बधा है मान।
हाकिम हुजदारां सिरै प्रसिद्ध गिणो परधान ।२१।
लघु अंगज श्री जैतसी मनमथ रूप वखाण।
गुण चतुराई गणित विधि शास्त्र अर्थ सवजाण ।२२।

मणिको मोहनबल्ली संज्ञको लाजभर्य्यादवल्लीत्यपरनामा। अन्यश्यामवल्ल्यादिभ्यो भिन्नजातीयः प्रेपितोस्ति स सयत्नम् प्राग्लिखितविध्यनुसारेण धार्य्यः॥ मालाप्राप्तिर्लिखिता तु ज्ञाता। अन्यदपि यत्किंचन् श्रीमदर्हं वस्तुजातं प्राप्स्यामस्तन्मोचयिष्यामः अन्यच्च श्रीमदनुज्ञातान्प्राज्ञ यतिनं प्रेपयिष्यामश्चतुर्मासकोत्तरे॥ स्वकार्येस्मिन्देशे विराजमानानं श्रीमतां प्रत्यक्षमाशिषं पद्म इति ध्यान विधौध्यायामः। यथा श्रीमत्पितृपितामहैरस्मदीयगुर्वादीनां महत्वं चक्रे तथा भवंतोप्यस्मत्सु सुदृष्टिमंतो भवंतु। किंबहुक्षेपु बहुलेख्या। सं० १७४७ आसू सुदि ३ दिने सोमे॥

॥ श्री ॥

स्वस्तिश्रीम त्नगरदुर्गे। श्रीमत्प्रचंडदोर्दंडोऽर्जनितारिभूपालनिकरेषु। प्रबलपुण्यप्रकारसत्कलफलितप्रतिदिनमनोरथभरेषु। निस्तंद्रचंद्रमंडलसमुज्वलयशः सुधाधवलितविश्वमंदिरेषु। सशक्तिशक्तित्रयषड्गुणालंकृतमप्रांगप्राज्यराज्यैश्वर्य्यजिनपुरंदरेसु-महाराजाधिराजश्रीमच्छ्री अनूपसिंहराजेश्वरेषु। श्रीनवहर पुरस्थे .... भट्टारक श्रीजिनचंद्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वचन निवेदकं प्रेष्यते पत्रमदः। शमत्र श्रीजिनदेवप्रसादात्। श्रीमतं च सततं तदेव प्रवर्द्धमानं समभिलष्यते। अन्यच्च श्रीमत पत्रमेकं कार्तिकवदिपचमी लिखितं। माघमासे समेयायावगतास्समेपि श्रेय उदंताः। अन्यच्च श्रीमद्भिरानायितं देहनं[१] मलिनिवारकं रक्षाविधानं। तत्सम्यक्शास्त्रोक्तपरचरणसद्विधिकरणपूर्वकं श्रीकालकुंडदंडस्वामिनामकं महायंत्रं विधाय। सा० कर्मसीहस्तेन। मुक्तमस्ति। तत सयत्नं सुवर्णवेष्टितं कृत्वा। हृदि दक्षिणभुजेवाधार्य्य प्रतिदिनं दंतधावनावसरे। तत्प्रक्षालनजलेन। स्ववपुषिछटाक्षेपः कार्य्यः सर्वंशुभं भावि। अन्यच्च वयमपि सर्वदा श्रीमतां शुभचिंतकास्संतः स्मरणावसरे प्रतिदिनं श्रीमद् विशेषतो जापं कुर्वाणाः स्मः। प्रारंपर्य्यविद्भिः श्रीमद्भिरस्मांसुसंत्प्रीतिरीतिः परिपालनीया अन्यच्च। श्रीमतां सन्निधौवणाइस उदयतिलकः[२] प्रेपितोऽस्ति। सोपितत्र प्राप्तः सन्सर्वोदंत जातं निवेदयिष्यतीति किंबहुना। अन्यच्च। अस्मिन्नब्दे श्रीमद्भिरपि सर्वैः प्रकारैः सयत्नमस्थेयमिति सं० १७५० चैत्रवदि ३ दिने। आगमिष्यच्चतुर्मास्यं वयं श्रीरिणी पुर्यां स्थास्यामं।

१ इनके शिष्य अमरविजयजी अच्छे कवि हुए जिनके अनेक रासादि उपलब्ध हैं आपकी परम्परा में यशस्वी यति वालचंद जी है, गवाड़ी चौक में इनका उपाश्रय है जिसमें हस्त लिखित ग्रन्थ बहुत हैं।

२ पत्र का आगे का हिस्सा कट कर कहीं अलग पड़ गया है अतः अधूरा ही प्राप्त है। इनमें पुत्रधन प्राप्ति का उल्लेख है और महाराजा के ज्येष्ठ पुत्र का जन्म सं० १७४६ में हुआ था अतः यह इसके बाद का निश्चित है। यदि इसमें द्वितीय तृतीय पुत्र के जन्म का हर्ष व्यक्त किया हो तो इससे २-४ वर्ष और भी बाद का हो सकता है।

॥ श्री ॥

स्वस्ति श्रीयुक् प्रचंडदोर्दंडोर्जानिर्जि—तारिभूपालनिकरेषु। प्रबल पुण्यप्रकारसत्फलफलितप्रतिदिनमनोरथभरेषु। निस्तंद्रचन्द्रमंडलसमुज्ज्वलयशःसुधाधवलितविश्वमंदिरेषु। सशक्तिशक्तित्रयषड्गुणालंकृतसप्तांगप्राज्यराज्यैश्वर्य्यजितपुरंदरेषु। महाराजाधिराज महाराजश्रीअनूपसिंहराजेश्वरेषु। श्रीविक्रमपुरस्थैः स्वस्थचित्तजिनदेवस्मरणरतैः श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वादनिवेदकं लिख्यते पत्रमदोशममत्र श्रीजिनदेवप्रसादतः[१]श्रीमतां च सततं सदैव वर्द्धमानं समभिलष्यते। श्रीमतां पुत्ररत्न प्राप्ति श्रुत्वा जहर्षुः सर्वे जनपदजनावयमपि विशेषतो हर्षोत्कर्षं प्राप्ताः स्मः। अन्यच्च श्रीमद्भिः सविवेकं सधर्म्मरागं चास्मान्स्वकीय यतिवरान्विज्ञाय वयमपियोऽस्माकीणा यतयः स्मः परवानाख्यपत्रं प्रेषितं तदुचितं भवतां 'श्रीमहाराजानां प्राचीनसमीचीनपद्धतिविदां' स्वेष्टदेवस्मरणोंतःकरणशुद्धा श्रीमत्शुभाशिषं कुर्वंतोवर्त्तामहे। अन्यच्च कोठारी नैणसी पत्रेये उदंता लेखितास्तेषां प्रत्युत्तरं सविस्तरं तस्यैव पत्राज्ज्ञेयं। एकस्तु मधुकरः प्रेषितोस्ति ससयत्नं..........

॥ श्रीः ॥

॥ स्वस्ति श्री दीव्य प्रतापदिनेंद्रेषु। सकलनरराजसमाजसुरेंद्रेषु। गुणागुणहिताहितन्यायान्यायभृयोग्यायोग्यनवरत्ननिकरपरीक्षकेषु। सन्मार्गशुभाचारस्वपरजनसुदृष्टिसमीक्षकेषु। समस्तमहाराजयोग्योपमानविराजयानेषु। महाराजाधिराजमहाराज श्रीअनूपसिंहसार्व्वभौमेषु (स्वेष्टदेवता-स्मरणरतैः) भ० श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः सदा धर्मलाभशुभाशीर्वादनिवेदकं लिख्यते पत्रमदः। कुशलमत्र श्रीजिनदेवप्रसत्तेः॥ श्रीमतां च सततं तदेववर्धमानं समभिलष्यते। तथा श्रीमतां वचसाकुमारत्रय 'श्रेयोर्थ' रक्षाविधानत्रयंप्राक्प्रेपितमस्ति। पुनः श्रीमद्भिरस्मद्ग्रहस्त्वमुद्दिश्य चीनाशुकं प्रदापितं तदस्माभिरदमंसज्जोकः गृहीतं विद्यते। युष्मदाहूताविद्वद्यतयः प्रेषिताः संति ते तत्रसमेताभविष्यंति समेष्यंति वा। विशेषस्तु श्रीमतांसद्भाग्यवतां समस्तं प्रशस्तमेवास्ति सर्वदा तथापि युष्मद्धयोतपोर्थनियमविधिनास्माभिर्लक्षजापः प्रारब्धोस्ति तेनाशीर्वादं कुर्म्मः। तथैकं हितावहं वाक्यं ज्ञेयं। अन्यजनपदेषु पवनप्राबल्यात्सर्वतीर्थलोपः संजातास्ति श्रीमन्मंडलेयुष्मत्पुण्यप्रतापतो। देवार्च्चादिरूपो हिंदूकधर्म्मः सोत्साहं प्रवर्त्तते सांप्रतं त्वत्र ढुंढीयाख्यायतयोमुग्धजनविप्रतारका देवार्च्चां दानं च सर्वप्राचीनमार्गंच निषेधयंति तन्नचारु। तन्निवारणमेवश्रेयः कारणमितिधार्य्यम्।

१ इसमें महाराजा के ३ पुत्रों का उल्लेख होने से यह पत्र सं० १७४८-५० के लगभग का है

बृहत्तर भारत में जैन संस्कृति के प्रभाव की खोज

[ले० श्रीयुत बा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०]

गत कई शताब्दियों के विश्व इतिहास में हम यह पढ़ते और सुनते आये हैं कि यूरोप के विभिन्न देशों ने, विशेषकर अंग्रेज जाति ने किस प्रकार सुदूर देशों में अपने उपनिवेश स्थापित करके, वहाँ अपनी संस्कृति का बीजारोपण और विकास करके किस प्रकार अपने राष्ट्र को बृहत्तर रूप दिया और अपनी सभ्यता से संसार को प्रभावित किया। किन्तु हममें से थोड़े ही इस बात को जानते हैं कि ऐतिहासिक काल में भी एक समय था जब भारतवर्ष की सभ्यता अपने चरम शिखर पर थी, समस्त संसार उससे प्रभावित था और वह संसार का शिरोमणि देश था। उस युग में स्वयं भारतीयों ने भारत से बाहिर जाकर अनेक उपनिवेश बसाये थे, उनमें अपनी देशीय संस्कृति का बीजवपन किया, सिञ्चन किया, विकास किया और इस प्रकार एक विशाल बृहत्तर भारत का निर्माण किया था। उक्त निर्माण में राज्य और शक्ति के आकांक्षी साहसी वीरों और धन के इच्छुक उत्साही वणिकों ने तो भाग लिया ही था, संस्कृति एवं धर्म प्रचार के अभिलाषी विद्वानों तथा धर्माचार्यों ने भी अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान किया था। इन प्रवासी धर्मप्रचारकों में अभीतक बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मियों के ही नाम के उल्लेख प्रायःकर मिलते हैं। जैनदृष्टि से इस दिशा में अभीतक प्रायः कुछ भी कार्य नहीं हुआ है।

वास्तव में यह असंभव है कि समकालीन जैन प्रचारक इस संबंध में सर्वथा निष्क्रिय रहे हों, विशेषकर जबकि उनका धर्म उस समय प्रचलित किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा किसी भी दिशा और अंश में भी हीन नहीं था। भारत के बाहर जैन धर्म के प्रचार और जैनधर्माचार्यों के गमनागमन के अनेक उल्लेख भी मिलते हैं। नैपाल और तिब्बत में ही नहीं चीन महादेश में भी जैनधर्म का प्रकाश पहुँचा था। अफगानिस्तान, कपिशा एवं मध्य एशिया में ७ वीं शताब्दी में जैनधर्म के विद्यमान होने का चाक्षुष साक्ष्य तो चीनी यात्री हुएनत्सांग (६१८-६४४ ई०) ही प्रस्तुत करता है। यूनान, रोम और मिश्र पर्यन्त भी जैन श्रमण प्राचीन काल में गये थे इस बात के फुटकर प्रमाण उपलब्ध हैं। लंका में जैनधर्म का प्रचार चौथी, पांचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में था तथा आठवीं शताब्दी ईस्वी में भी वहाँ जैनों की अच्छी बस्ती थी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

परन्तु ब्रह्मा, श्याम, मलाया प्रायद्वीप, तथा पूर्वी द्वीप समूह के जावा सुमात्रा, बोर्नियो, बालि आदि द्वीपों में और अफ्रीका के पूर्वी तट के प्रदेशों में जैन संस्कृति का क्या कुछ प्रभाव पहुँचा, इस दिशा में अभी कुछ अध्ययन नहीं हो पाया। उक्त प्रदेशों से सम्बद्ध इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, संस्कृति आदि का अध्ययन करने वाले यूरोपियन विद्वानों ने, जिनमें फ्रान्सीसी

विद्वानों का ही विशेष भाग है, अथवा उनका अनुसरण करने वाले भारतीय पुराविदों ने भी केवल बौद्ध एवं हिन्दू धर्मों की ही दृष्टि से उपरोक्त अध्ययन किये और अपने निष्कर्ष निकाले। यद्यपि उक्त अध्ययन के पश्चात विशेषज्ञ प्रो० सिलवनलेवी के अनुसार जावा आदि में जैन धर्म के प्रभाव के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, इस दिशा में प्रायः किसी भी विद्वान ने अभीतक कोई स्वतन्त्र अथवा विशिष्ट अन्वेषण नहीं किया।

किन्तु जब हम यह देखते हैं कि बृहत्तर भारत का यह निर्माण अर्थात् भारत के निकटस्थ इन देशों एवं द्वीपादिकों में भारतीय संस्कृति का प्रवेश, प्रभाव एवं प्रसार विशेष रूप से सन् ईस्वी के प्रथम सहस्राब्द में हुआ और यह वह समय था जबकि स्वयं भारतवर्ष में बौद्ध धर्म शीघ्रता के साथ नाम शेष होता जा रहा था, तथा जैनधर्म कर्णाटक, महाराष्ट्र और तुलु एवं तामिल देशों में ही नहीं वरन् आन्ध्र, कलिंग, गुजरात और मध्य भारत में भी, अर्थात् भारतवर्ष के लगभग तीन चौथाई भाग में अपने सर्वतोमुखी चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था जबकि कई महान सम्राट्, छोटे बड़े अनेक नरेश, अनगिनत सामन्त, सर्दार, सेनानी और योद्धा थल और जल के व्यापारी, धनिक श्रेष्ठि और चतुर शिल्पी, तथा विभिन्न वर्गीय बहुभाग जनसाधारण भी उनके अनुयायी थे, अनेक महान विद्यापीठों से देश की अधिकांशतः लोक शिक्षा की वह व्यवस्था कर रहा था, असंख्य निर्ग्रन्थ श्रमण संघ तथा अनेक उद्भट् विद्वान् एवं दिग्गज आचार्य धर्म प्रचार, लोककल्याण, साहित्य-सृजन आदि के द्वारा सांस्कृतिक अभिवृद्धि कर रहे थे, तो बड़ा आश्चर्य होता है कि क्या ऐसे समय में भी जैनधर्म ने उसी समय में होने वाले बृहत्तर भारत के निर्माण में और उसकी संस्कृति को प्रभावित करने में कोई भी भाग नहीं लिया? प्राचीन जैन कथा साहित्य, पुराण और चरित्र ग्रन्थों में जैनधर्मी साहसी वीरों और वणिकों के समुद्र यात्रा करके सुदूरस्थ द्वीप द्वीपान्तरों को आने जाने के उल्लेख भरे पड़े हैं। उनमें जिन द्वीपों के नाम और वर्णन आये हैं इनमें से अनेकों को थोड़ा प्रयास करके आज भी चीन्हा जा सकता है। इन यात्रा विवरणों में अनेक ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। जैन कवि धनपाल रचित तिलकमंजरी में वर्णित एक ऐसे ही समुद्री आक्रमण को प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद डा० मोतीचन्द्र ने एक ऐतिहासिक घटना का सजीव वर्णन अनुमान किया है। इन द्वीपादिकों के निवासियों को प्राचीन जैन पुराणादि ग्रन्थों में विद्याधर जाति का माना है और वहाँ की प्राचीन अनुश्रुतियें भी इस विद्याधर जाति को नाग, ऋक्ष, यक्ष, गंधर्व आदि उपजातियों के साथ उक्त प्रदेशों का मूल सम्बन्ध सिद्ध करती हैं।

अभी हाल में ही बृहत्तर भारत सम्बन्धी कुछ साहित्य का अध्ययन कर रहा था, विशेष रूप से डा० विजनराज चट्टोपाध्याय की महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'कम्बोज में भारतीय संस्कृति का प्रभाव' (अंग्रेजी) का; उससे पता चला कि कई ऐसे संकेत दण्ड हैं जिनके द्वारा अन्वेषण करने से कम्बोज,

श्री विजय (सुमात्रा), जावा आदि में जैन संस्कृति के प्रभाव को खोजने का सफल प्रयत्न किया जा सकता है, यथा—

(१) कम्बोज के सर्व प्रथम भारतीय राज्य वंश के मूल में नागनागि सम्बन्ध होना, जिनका कि बहुल वर्णन प्राचीन जैन साहित्य में मिलता है।

(२) तद्देशीय अनुश्रुति उस वंश का संस्थापक मूल पुरुष कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण को बताती है, जो प्रथम शती ई० के लगभग भारतवर्ष से आया था, ४ थी शताब्दी के लगभग एक दूसरा कौण्डिन्य वहाँ पहुँचा और उसने उक्त देश का पूर्णतः भारतीयकरण करा दिया। कदंब आदि नरेशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत के पूर्वी भाग में प्राचीन काल में कौण्डिन्य एक प्रसिद्ध गोत्र था। उस काल में यह भाग जैन धर्म से अत्यधिक प्रभावित था। जैन वैद्यर्षि उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक नामक प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ के हिताहिताध्याय में सम्राट अमोघ वर्ष प्रथम (८१५–८७७ ई०) की राज सभा में मांसहार निषेध पर जो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था, उसमें इन्होंने अपने पूर्ववर्ती उन दयालु आर्हत वैद्यर्षियों में जो खान-पान में ही नहीं; औषधि आदि में भी मांसादिक का प्रयोग निषिद्ध मानते थे, कौण्डिन्य का नाम सादर स्मरण किया है। और ब्रह्मसूरि ने अपने 'प्रतिष्ठा तिलक' (१३ वीं शता ई०) में अपने पिता पार्श्व पंडित (लगभग १२०० ई०) के पाण्ड्य देश से अपने जिन गोत्रज बन्धुओं के साथ जैनधर्मावलम्बी होय्सल राज्य में आकर बसने का उल्लेख किया है उनमें कौण्डिन्य गोत्र का भी नाम है।

(३) इन भारतीय उपनिवेशों में मद्यमांसादि के आहार पान का प्रचार नहीं था, वहाँ के निवासी प्रधानतः शाकाहारादिक के जो थोड़े से उल्लेख मिलते हैं उनमें भी पशुबलि देना प्रायः करके नहीं पाया जाता।

(४) इन देशों में 'जिन' और बुद्ध शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं।

(५) वहाँ से प्राप्त प्राचीन बुद्धमूर्तियाँ भारतीय बुद्ध मूर्तियों से कुछ भिन्न हैं और तीर्थङ्कर मूर्तियों के साथ विलक्षण सादृश्य रखती हैं। डा० चटर्जी की उपरोक्त पुस्तक के मुख पृष्ठ पर दिये चित्र में जो तथाकथित बुद्ध मूर्ति है वह सुखासन से तिष्ठी ध्यान मुद्रा, नासाग्र दृष्टि, गोद में बाँई हथेली पर दाँयी हथेली— ठीक अर्हंत प्रतिमाओं की नाईं रखी है। कोई वस्त्र यज्ञोपवीत भी नहीं है वह नागावलि पर आसीन है जिसका फण संभवतः पीठ के पीछे से होकर शिर पर छत्र किये हुए था — यह उपरिम भाग खंडित है।

(६) लगभग नवीं शताब्दी के एक शिलालेख में भगवान पार्श्वनाथ का उल्लेख है, साथ ही जैनग्रन्थ कल्याणकारक का भी जिसे कि लोक कल्याण करने वाला बताया है।

(७) ६ ठी व सातवीं शती के एक शिलालेख में 'शिवपद' का विचित्र एवं कुछ अलङ्कारिक

वर्णन है। इन शब्द और इनके वर्णन में जैन संस्कृति की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है।

(८) ६ ठी ७ वीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों का मङ्गलाचरण एक निराले प्रकार का अध्यात्म पूरित है। उनमें वेदान्त की झलक है। अस्तु वेदान्त के प्रणेता शंकराचार्य के जन्म से लगभग एक शताब्दी पूर्व के इन अभिलेखों में वेदान्त के वजाय जैन अध्यात्म की छाप अधिक सफलता पूर्वक खोजी जा सकती है।

(९) उक्त प्रदेशों में रामायण और महाभारत का वहुल प्रचार और इन कथानकों का जो रूप प्रचलित है उसका जैन रूप के साथ अधिक सादृश्य।

(१०) वहाँ के प्राचीन मंदिरादिकों के द्वारों में उत्कीर्ण प्रस्ताङ्कों में जैन पुराणों में वर्णित दृश्यावलियों की खोज।

(११) वहाँ के शिल्प, स्थापत्य एवं मूर्त्तिकला पर जैन कला का प्रभाव।

(१२) वहाँ की प्रचलित लोक कथाओं की जैन साहित्य में खोज।

(१३) हिन्दू संस्कृति से अनोखे स्त्री जाति के विशिष्ट अधिकारों में जैन संस्कृति का प्रभाव।

(१४) पाटलिपुत्र के मुरुण्ड वंशी नरेशों का उल्लेख, जिनका वर्णन जैन साहित्य में ही विशेष रूप से आया है।

(१५) उन देशों में प्रचलित वर्ष का प्रारंभ कार्तिक मास से होता है, जो कि महावीर निर्वाण के साथ प्रचलित जैन मान्यता ही है।

(१६) दीपावलि का उत्सव, उस समय रोशनी आतिशबाजी आदि का होना, तथा रथयात्रा, कलशाभिषेक आदि अन्य पूजोत्सवों का मनाया जाना।

(१७) उन देशों में वहुमान्य तीन प्राचीन वर्गों में बौद्ध भिक्षुओं तथा हिन्दू, शैवों के अतिरिक्त जिन 'पंथी' या पंडितों का उल्लेख है; जो बड़े विद्वान, व्यवहार कुशल तथा उच्च पदों पर आसीन होते थे, क्या जैन थे इत्यादि।

ये कतिपय दिशा निर्देश हैं। प्रस्तुत लेख का प्रयोजन कोई खोज शोध अनुसंधानादि न हो कर जैनाध्ययन की इस महत्त्वपूर्ण एवं उपेक्षित शाखा की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना मात्र ही है। इस सम्बन्ध में अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप विस्तृत एवं प्रामाणिक प्रकाश फिर कभी डाला जायगा।

जैनमूर्तियों की प्राचीनता – ऐतिहासिक विवेचन

यह कहना कठिन है कि जैनियों की मूर्तियाँ कितनी प्राचीन हैं। स्टीवेन्सन के अनुसार चौथी शताब्दी पूर्वेसा में किसी जैन नेता प्रभव के नेतृत्व में उपकेशपट्टन में भगवान महावीर की एक मूर्ति स्थापित हुई थी। पुरातत्त्व के प्रमाणों से भी उस समय के लगभग जैनियों में मूर्ति स्थापित करने का प्रचार सिद्ध होता है। हाथीगुम्फा के लेखों में जैन नृपति खारवेल द्वारा पाटलीपुत्र से उस जैन-मूर्ति के लौटाने का उल्लेख है जिसे नन्दराज कलिंग से ले गया था। इससे चौथी शताब्दी पूर्वेसा में नन्द-नृपतियों का जैन धर्मावलंबी होना, कलिंग का जैनधर्म का एक प्राचीन केन्द्र होना तथा पाटलीपुत्र में तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण होना विदित होता है। लोहानीपुर पटना से प्राप्त पटना म्यूजियम की दो भग्न दिगम्बर मूर्तियों में से एक की पालिश में मौर्य्यकाल की विशेषताएँ हैं और दूसरी की निर्माण-कला दूसरी सदी पूर्वेसा से मिलती है। संभव है कि वे दूसरी और तीसरी सदी पूर्वेसा की जैन-मूर्तियों के नमूने हों। अर्थशास्त्र के लेखक ने भी जयंत, विजयंत और सर्वार्थसिद्धि में जैन देवताओं का उल्लेख किया है।

अनन्त, रानी और गणेशगुंफा इत्यादि उड़ीसा की अधिकांश गुफाएँ दूसरी सदी पूर्वेसा में खोदी गयी थीं। अनन्त गुफा की दीवाल पर त्रिशूल और स्वस्तिक के चिह्न तथा आंगन में जैन-मूर्तियाँ मिलती हैं। रानीगुफा की दीवालों पर जैन धार्मिक-उत्सवों के दृश्य अंकित मिलते हैं। इनसे ईस्वी सन् के पूर्व जैन-मूर्तियों का निर्माण सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त काल में मथुरा जैनियों का प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ की खुदाइयों में अधिकतर दूसरी सदी पूर्वेसा से तीसरी शताब्दी तक के जैन स्तूप, मन्दिर और पत्थर मिले हैं। मथुरा के पत्थरों से हमें जैन-मूर्तियों के विषय में अध्ययन के लिए बहुत कुछ सामग्रियाँ मिल जाती हैं। इनमें हमें ऋषभदेव से लेकर प्रायः सभी तीर्थंकर मिलते हैं। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक जैनियों में चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्रचलित हो चुकी थीं।

तीर्थंकरों की मूर्तियां विशुद्धतः भारतीय भावना की प्रतीक हैं। इनमें किसी विदेशी प्रभाव का आभास नहीं मिलता। बुद्ध और उनकी मूर्तियों से पृथक् करने वाली जैन-मूर्तियों की प्रधान विशेषता उनकी नग्नता है। परन्तु यह केवल दिगंबर मूर्तियों में होती है; श्वेताम्बर अपनी मूर्तियों को वस्त्रों से विभूषित करते हैं। जिन-मूर्तियों की

हथेलियों और तलवों पर ही नहीं छाती पर उनके चिह्न अंकित रहते हैं। अधिकतर बुद्ध-मूर्तियों की तरह उनके बाल भी छोटे छोटे, घुँघराले और दाहिनी ओर मुड़े हुए पेचदार होते हैं। परन्तु कुछ पहले की मूर्तियों के बाल लच्छों में कंधों पर लटके रहते हैं। पहले की मूर्तियों में बुद्ध के समान उष्णीष और ऊर्ण नहीं होते थे, परन्तु मध्य काल के अन्त से उनके सिर पर एक प्रकार का जूड़ा मिलता है।

जैन लेखों और साहित्य में सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के नाम से प्रसिद्ध चतुर्मुखी प्रतिमाओं का उस काल के मथुरा में पाया जाना रोचक है। मथुरा के कंकाली टीले पर दो चतुर्मुखी प्रतिमाएँ मिली हैं। एक दिगम्बर प्रतिमा पर कोई चिह्न नहीं है। उसके लेख से विदित होता है कि वह मुनि जयभूति की प्रशिष्या वसुला के कहने पर किसी वेणी नामक सेठ की प्रथम पत्नी कुमारमिता के द्वारा दान की गयी थी। लिपि के आधार पर यह कुषण-काल की सिद्ध होती है। उसी स्थान पर उसी काल की दूसरी प्रतिमा सर्पों के छत्र के चिह्न से पार्श्वनाथ की जान पड़ती है। यह स्थिरा नामक किसी महिला के द्वारा सभी जीवों की भलाई की इच्छा से भेंट की गयी थी। यह भी कुषण काल की है।

अब इस काल के पहले की कुछ प्रतिमाओं का विवरण दिया जाता है। फर्वरी १८९० में कॉंकली में एक प्राचीन शिला मिली है, जिसपर एक आसीन जैनमूर्ति अंकित है। अभाग्यवश इस प्रतिमा का सिर गायब है। उनकी सेवा में अनेक देव तथा आसन पर दो सिंह और दो वृषभ अंकित हैं। वृषभ की स्थिति इसे आदिनाथ या ऋषभदेव की मूर्ति सिद्ध करती है। नीचे की लिपि प्राचीन जान पड़ती है। आदिनाथ की दूसरी कुषणकालीन मूर्ति मथुरा म्यूज़ियम के शिला पर न० B 4 में अंकित है। लेख के अनुसार कुषण नृपति शाही वसुदेव के राज्य के चौरासिवें वर्ष में वह मूर्ति एक मठ में स्थापित की गयी थी। सामने के आसन पर कई पुरुष और नारियों से पूजित एक स्तंभ पर स्थित चक्र है।

सन १८९० में प्राप्त एक कुषणकालीन शिला में अनन्तनाथ की विकृत मूर्ति मिलती है। इसमें बायें हाथ में कपड़े का एक टुकड़ा लिए और त्रिशूल पर स्थित एक चक्र के बगल में खड़ी हुई जिनमूर्ति अंकित है। उसी काल के एक खुदे हुए पत्थर पर, जो किसी जैन-मठ के तोरण का भाग रहा होगा, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ अंकित जान पड़ती हैं। नेमिनाथ की एक सुन्दर मूर्ति मथुरा म्यूज़ियम में है जिसका वर्णन वोगल (Vogal) ने अपने "मथुरा म्यूज़ियम के पुरातत्व" में किया है। दो स्तंभों और सिंहों के जोड़े पर स्थित एक सिंहासन पर नेमिनाथ ध्यानावस्था में विराज-

मान हैं। स्तंभ के पीछे हाथ जोड़े हुए दो व्यक्ति हैं। एक जड़ाऊ वस्त्र सिंहासन से नीचे दोनों सिंहों के बीच लटक रहा है। उसके नीचे एक चक्र जान पड़ता है। आसन की सादी कोर पर नेमिनाथ का चिह्न शंख अंकित है।

जैन-कथाओं में कृष्ण वासुदेव और उनके परिवार का वर्णन बहुत मिलता है। अन्तकृत दशांग के एक प्रसंग के अनुसार अरिष्टनेमि ने कृष्ण-परिवार के कुछ व्यक्तियों को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और स्वयं कृष्ण को दुखमा-सुखमा काल में उत्पन्न होने वाला भावी बारहवां तीर्थंकर घोषित किया था। मथुरा के एक खुदे हुए शिलापट पर, जो अपने लेख के अनुसार संभवतः क्षत्रपराज वसुदेव के राज्यकाल में धनहस्तिन नामक किसी व्यक्ति की पत्नी के द्वारा भेंट किया गया था, एक मुनि को किसी महिला द्वारा भेंट ग्रहण करते हुए दिखलाया गया है। दोनों के बीच बड़े अक्षरों में 'कराह' श्रमण लिखा हुआ मिलता है जो संभवतः कृष्ण ही हो सकते हैं। कृष्ण संबन्धी जैन मान्यताओं को माना जाय या नहीं परन्तु इतना निश्चित है कि कृष्ण के चचेरे भाई अरिष्टनेमि के समय में जैन और वैष्णव धर्मों का घनिष्ट संपर्क हो गया था। इस पारिवारिक संबन्ध के कारण उस समय से यादवकुल के प्रभाव वाले द्वारिका, मध्य-भारत यथा यमुना-धारा के प्रदेशों में जैन और वैष्णव-धर्म समान रूप में वर्तमान रहे।

ऊपर वर्णित सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के अतिरिक्त मथुरा म्यूजियम के शिलापट्ट B70 और B71 में भी पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं जो नागछत्र के द्वारा स्पष्ट पहचानी जा सकती हैं। ये मूर्तियाँ भी संभवतः हमारे निर्दिष्ट समय की ही जान पड़ती हैं।

तीर्थंकरों में सर्वप्रसिद्ध वर्द्धमान महावीर हैं। मथुरा या अन्य जैन-केन्द्रों में इनकी असंख्य मूर्तियाँ प्राप्त हैं। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित कंकाली टीले से मिली दो ऐसी मूर्तियों का वर्णन आवश्यक है जो संभवतः खृष्टाब्दी की प्राथमिक सदियों की हैं। एक शिलापट पर वे कई सेवकों के साथ अपने पवित्र वृक्ष के नीचे आसीन हैं, जिनमें एक छत्रयुक्त नाग भी है। इसमूर्ति के आसन पर एक विकृत लेख है जिसका प्रारंभ 'नमो' से हुआ है। दूसरी मूर्ति एक मण्डप के नीचे अगल-बगल में दो सेवकों के साथ आसीन हैं। दोनों ही मूर्तियाँ ध्यानस्थ मुद्रा में हैं और सेवकों के अतिरिक्त उनके आसन पर दो सिंह तथा आकाश से फूल बरसाते हुए गंधर्वों और अप्सराओं के चित्र हैं।

जैन पहले प्रवर्तकों की ही मूर्त्ति स्थापित करते थे परन्तु उनकी धर्मकथाओं में चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उल्लेख भी मिलते हैं। नायगामेष इस

प्रकार के सर्वप्रमुख देवता हैं। प्रथम ईस्वी सदी की लिपि में अंकित लेख के साथ एक शिलालेख का टुकड़ा मथुरा में मिला है जिनमें एक नीचे आसन पर मेष के मस्तक वाले नायगामेष पालथी मार कर बैठे हैं। इनका मुख ठीक सामने की ओर है मानों किसी व्यक्ति को उपदेश दे रहे हों, जिनकी मूर्ति नष्ट हो गयी है। लेख में देवता का नाम 'भगवत नेमेषो' दिया गया है। प्रस्तुत लेख के 'नेमेषो' कल्पसूत्र के हरिणेगमेषो, नेमिनाथ चरित्र के नायगमेषिन तथा अन्य ग्रन्थों के नेजमेष या नैगमेय नामक देवताओं के नामों का रूपान्तर हैं, जिनका स्वरूप जैन धार्मिक कलाओं में भेंड़, बकरा या हिरन के मस्तक से युक्त बतलाया गया है। मथुरा के आलोच्य शिलालेख में उनका सिर बकरे का है। कनिंघम ने भी चार नायगामेष की मूर्तियाँ खोज निकाली थीं। नहीं पहचानने के कारण उन्होंने इन्हें केवल बैल के सिर वाले देवता कहकर वर्णन किया है।

पूर्वकथित मथुरा को नायगामेष की मूर्ति के दाहिनी ओर तीन खड़ी हुई महिलाओं और एक बच्चे का चित्र है। बुहलर के विचारानुसार यह चित्र श्वेताम्बरागम में वर्णित संभवतः उस कथा को प्रस्तुत करता है जिसमें देवनन्दा और त्रिशला के बीच गर्भ के परिवर्तन का वर्णन है।

जैन पुराणों के अनुसार नायगामेषिन् गर्भ धारण के देवता भी माने गये हैं। अन्तःकृत दशांग में एक प्रसंग है जिसके अनुसार सुलसा ने नायगामेषिन् को प्रसन्न कर उनकी कृपा से गर्भ-धारण किया था। प्राचीन काल में जैन नायगामेषिन् को स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में चित्रित करते थे। कर्जन म्यूज़ियम मथुरा की २५५७ और E. I. नम्बर की शिलाओं पर इस देवता का पुरुष रूप मिलता है और उसी म्यूज़ियम की E 2 नम्बर की शिला पर उन्हें बकरे के मस्तक वाली देवी के रूप में चित्रित किया गया है।

जैन उपासना गृहों में सरस्वती, गणेश इत्यादि कुछ ऐसे देवों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं, जिनकी हिन्दू-उपासना-गृहों में प्रधानता रहती है। कंकाली टीले से मस्तक-रहित दो नारी-मूर्तियाँ मिली हैं। एक तो पहचानी नहीं जा सकी परन्तु दूसरी सरस्वती की है। वह देवी एक चौकोर आसन पर घुटनों को ऊपर किये बैठी है। उसके बायें हाथ में एक पुस्तक है और दायाँ हाथ, जो उठा हुआ था, नष्ट हो गया है। आसन से लेख में इन्डोसीथियन लिपि की सात पंक्तियाँ हैं।

तीर्थंकरों तथा जैन-मत के अन्य देवों के अतिरिक्त मथुरा के कंकाली टीले पर कुछ छिटपुट ऐसे चिह्न और चित्र भी मिले हैं जिन्हें जैन पवित्र मानते हैं जैसे स्वस्तिक,

वज्र, शंख, वृषभ, हस्ति, हंस, हरिण इत्यादि। जैनियों के लिए स्वस्तिक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, वज्र पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ, शंख बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, हाथी दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ, हंस पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ, हरिण सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ और वृषभ प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के सूचक चिह्न हैं। इस प्रकार प्रकट होता है कि कंकाली टीले की कला पूर्णतः जैन विचारधारा से परिप्लावित है।

मथुरावशेषों के अतिरिक्त सातवीं, आठवीं, नौवीं और दसवीं शती की अनेक मूर्त्तियाँ भूगर्भ से निकली हैं, जिनसे जैन मूर्त्ति कला की मनोज्ञता, विशदता और महत्ता प्रकट होती है। लखनऊ म्यूजियम में ऐसी अनेक दसवीं शती की मूर्तियाँ हैं, जिनमें पार्श्वनाथ के चिन्ह सर्प का उपयोग मूर्त्ति के नीचे किया गया है। अबतक की उपलब्ध मूर्त्तियों में पार्श्वनाथ, महावीर और आदिनाथ की मूर्त्तियों की अधिकता है।

अम्बिका की मूर्त्ति का प्रचार भी जैन सम्प्रदाय में बहुत दिनों से चला आ रहा है। यह मथुरा, लखनऊ और दिल्ली आदि स्थानों के म्यूजियमों में है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्राचीन मूर्त्तियाँ अम्बिका की उपलब्ध हुई हैं। उपलब्ध जैन मूर्त्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि जैन तक्षण कला का प्राचीन भारत में सर्वाधिक प्रचार था।

जैन सिक्के

[ले० श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न]

प्रत्येक देश और जाति के जीवन उत्थान के लिये इतिहास की परमावश्यकता है, क्योंकि अतीत की गौरवमयी दीपशिखा द्वारा पथप्रदर्शन का कार्य इतिहास से ही सम्पन्न होता है। जैन इतिहास का वर्षों से अनुसन्धान हो रहा है। शिलालेख, ताम्र-पत्र, मूर्त्तिलेख, सिक्के, जैनग्रन्थों की प्रशस्तियाँ, विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरण एवं देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थ जैन इतिहास निर्माण के मौलिक उपकरण हैं। सिक्कों के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग जैन एवं जैनेतर विद्वानों ने बराबर किया है। अब तक इतिहास निर्माण के प्रधान उपादान सिक्कों का अध्ययन जैन दृष्टिकोण से करने की दिशा प्रायः रिक्त है। यही कारण है कि भूगर्भ से प्राप्त सिक्कों को अभी भी जैन मान्यता देने में विद्वानों को झिझक हो रही है। अतएव प्रस्तुत निबन्ध का ध्येय विद्वानों का ध्यान इस दिशा की ओर आकृष्ट करना ही है।

सन् १८८४ में कनिंघम साहब[1] ने अहिच्छत्र से प्राप्त ताँबे के सिक्के के एक ओर पुष्प सहित कमल और दूसरी ओर 'श्री महाराज हरि गुप्तस्य' अंकित देखकर यह तर्क उपस्थित किया था कि इस सिक्के में अंकित धर्मभावना वैदिकधर्म और बौद्धधर्म से भिन्न जैनधर्म की धर्म भावना है। क्योंकि वैदिकधर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये गुप्तवंश के राजाओं ने यज्ञीय अश्वमूर्त्ति, विष्णुभक्त इस वंश के राजाओं ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये लक्ष्मीमूर्त्ति, शिवभक्तों ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये नान्दी या शिवलिंग और बौद्धधर्मानुयायियों ने अपनी धर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये चैत्य-आकृति अंकित की है। पुष्प सहित कमल की आकृति का सम्बन्ध केवल जैनधर्म के प्रतीकों के साथ ही जोड़ा जा सकता है। जैनधर्म में अष्ट-मंगल द्रव्यों का बड़ा महत्व है, प्रत्येक कार्य में उसकी सफलता के लिये इन मंगलद्रव्यों का उपयोग किया जाता है। कलश का इन मंगल द्रव्यों में प्रमुख स्थान है। मथुरा से प्राप्त स्थापत्यावशेषों में मंगल-कलश की आकृति मिलती है तथा अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों में भी मंगल-कलश का चिन्ह उपलब्ध है। अतएव कुम्भ-कलश प्रतीक अंकित सिक्के जैन हैं।

१ जैन साहित्य नो इतिहास पृ० १३१, गुप्तवंशना जैनाचार्य शीर्षक

कनिंघम साहब के साथ भारतीय सिक्कों का अध्ययन कैम्ब्रिज कालेज के अध्यापक रेप्सन, एलेन, गार्डनर, बुहलर, विंसेन्टस्मिथ, सिउएल, ह्वाइटेड, राखालदास वन्द्योपाध्याय, डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानों ने किया है। कनिंघम साहब के अतिरिक्त अन्य समस्त विद्वानों ने वैदिक, वैष्णव, शैव और बौद्धधर्म की धार्मिक भावनाएँ ही प्राप्त मुद्राओं में व्यक्त की हैं। यदि ये विद्वान् जैन प्रतीकों से सुपरिचित होते, तो अवश्य ही अनेक सिक्कों को जैन सिद्ध करते। कारण स्पष्ट है कि सिक्कों में तद् तद् धर्मानुयायी राजाओं ने अपनी-अपनी धर्म भावना को प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त किया है। प्राचीन काल में अनेक जैन राजा हुए हैं, जिन्होंने अपनी मुद्राएँ प्रचलित की हैं। इन जैन राजाओं ने अपनी मुद्राओं में जैन प्रतीकों द्वारा अपनी धर्म-भावना को व्यक्त किया है। पुरातन राजाओं में ऐसे भी अनेक राजा हुए हैं, जो आरम्भ में वैदिक या बौद्ध धर्म का पालन करते थे, पर पीछे जैन आचार्यों से प्रभावित होकर जैनधर्म में दीक्षित हो गये अथवा प्रारम्भ में जैनधर्म का पालन करते थे, पीछे किसी कारणवश वैदिक या बौद्धधर्म का पालन करने लगे। ऐसे राजाओं के सिक्कों में कई प्रकार की धर्म भावनाएँ मिलती हैं। जब तक ये वैदिकधर्म या बौद्धधर्म का पालन करते रहे, उस समय तक की मुद्राओं में इन्होंने वैदिक या बौद्ध धर्म की भावना को व्यक्त किया है। जैन धर्मानुयायी बन जाने पर उत्तरकालीन मुद्राओं में जैनधर्म की भावना को प्रतीकों द्वारा प्रकट किया है। इसी प्रकार जो प्रारम्भ में जैन थे, उन्होंने उस समय में चलाई मुद्राओं में जैन भावना और उत्तर काल में धर्म परिवर्तन कर लेने पर उस परिवर्तित धर्म की भावना को व्यक्त किया है। उन विदेशी सिक्काओं में भी जैनधर्म के प्रतीक मिलते हैं, जिन देशों में जैनधर्म के प्रचारकों ने वहाँ के राजाओं को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था।

भारत में अब तक के प्राप्त सिक्कों में लीडिया देश के सोने और चाँदी से मिश्रित श्वेत धातु के सिक्के सबसे प्राचीन हैं। इन सिक्कों को भारत में माल खरीदने के लिये वहाँ वाले यहाँ लाये थे। कई वर्ष हुए पंजाब के बन्नू जिले में सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर लीडिया के राजा क्रीसस का सोने का एक सिक्का मिला है। रंगपुर जिले के सद्यः पुष्पकारिणी नामक गाँव के प्रसिद्ध जमीन्दार श्रीयुत् मृत्युञ्जय राय चौधरी ने यह सिक्का खरीद लिया है[1]। इस सिक्के में एक ओर एक वृषभ और एक सिंह का मुँह बना है तथा दूसरी ओर एक छोटा और एक बड़ा पंच मार्क चिन्ह अंकित है।

1 According to Herodotus the earliest stamped money was made by the Lydians—Coins of Ancient India P. 3

उपर्युक्त सिक्के में अंकित प्रतीक वृषभ और सिंह का सम्बन्ध जैनधर्म की धार्मिक भावना से है; क्योंकि सिक्का निर्माता ने अपने प्रिय धर्म के इस युगीन प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ के चिन्ह वृषभ (साँड) तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के चिन्ह सिंह को अंकित कर आदि तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर के प्रति भक्ति अभिव्यक्त की है। जैनग्रन्थों से विदित भी होता है कि यूनान, रोम, मिस्र, ब्रह्मा, श्याम, अफ्रीका, सुमात्रा, जावा, बोर्निओ आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार ईस्वी सन् से कई शताब्दि पहले ही वर्तमान था। अतएव क्रीसस का अहिंसा धर्म का पालक होना असंभव नहीं है।

रैप्सन ने अपने 'भारतीय सिक्के' नामक ग्रन्थ और रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका के अनेक निबन्धों में भारतीय यूनानी राजाओं के सिक्कों का विवरण उपस्थित किया है[1]। इस विवरण से प्रतीत होता है कि यूनानी अनेक राजाओं पर जैनधर्म का पूर्ण प्रभाव था; इसी कारण उन्होंने अपने सिक्कों में जैन प्रतीकों को स्थान दिया। अयिलिप[2] के दस प्रकार के चाँदी के सिक्के मिले हैं, जो सबके सब गोलाकार हैं। इनमें कई सिक्कों पर जैन प्रतीक नहीं हैं। किन्तु इसके ताँबे के सात प्रकार के सिक्कों में से दूसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर खड़े हुए हरक्यूलस की मूर्ति, दूसरी ओर अश्व की मूर्ति है। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर अश्व के बदले में वृषभ की मूर्ति है, चौथे प्रकार के सिक्कों पर वृषभ के स्थान पर हाथी की मूर्ति है। पाँचवे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर हाथी की मूर्ति और दूसरी ओर वृषभ की मूर्ति है।

The earliest coinage, of the ancient world would appear chiefly to have been of silver and electrum; the latter metal being confined to Asia Minar, and the former to Greece and India. Some of the Lydian Staters of pale gold may be as old as Gyges. Ibid, P. 19

1 Notes on Indian Coins and Seals, Journal of the Royal Asiatic Society, 1900—5, Coins of the Greco-Indian Sovereigns, Agathocleia and Strato, Soter and Strato II Philopator.

Numismtic Notes and Novelties, Journal of the Asiatic Society of Bengal—Old series, I, 1890

2 Catalogue of Coins in the Punjab Museum, Lahore Vol. I, P. 139, Nos 361-62

Connigham's Coins of Ancient India Vol. I, P. 50, इसकी जैनधर्म के प्रति-श्रद्धा थी—देखें संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खंड २ पृ० १३

उपर्युक्त अयिलिष के ताँबे के सिक्कों में जैन प्रतीकों का उपयोग किया गया है। अश्व तृतीय तीर्थंकर भगवान् संभवनाथ का चिन्ह है, वृषभ प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ का चिन्ह है तथा हाथी द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ का चिन्ह है। इस राजा के चाँदी के सिक्कों पर एक भी जैन प्रतीक अंकित नहीं है, ताँबे के सिक्कों में तीन-चार प्रकार के सिक्के जैन प्रतीकों से युक्त हैं, इससे प्रतीत होता है कि यह राजा प्रारम्भ में जैन धर्मानुयायी नहीं था। उत्तरकाल में किसी जैन श्रमण के प्रभाव से अहिंसा धर्म का अनुयायी बन गया था। वास्तविक बात यह है कि शक राजाओं में कई राजा जैनधर्म का पालन करते थे।

ईस्वी सन् से पूर्व पहली और दूसरी शती के उज्जयिनी के ताँबे के सिक्कों पर एक ओर वृषभ और दूसरी ओर सुमेरु पर्वत अंकित हैं[1]। इन सिक्कों में स्पष्टतः जैन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। वृषभ से आदिम तीर्थंकर की भावना और सुमेरु पर्वत से विशाल विश्व की भावना अभिव्यक्त की गयी है। जैनागम में सुमेरु को इस पृथ्वी का केन्द्र बिन्दु माना है। प्राचीन हस्तलिखित कतिपय ग्रन्थों के अन्त में सुमेरु पर्वत ग्रन्थ समाप्ति के अनन्तर अंकित किया गया है। इस भावना का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र नित्य सुमेरु की प्रदक्षिणा किया करते हैं, उसी प्रकार यह जैनधर्म 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' स्थित रहे। सुमेरु की रचना के सम्बन्ध में भी कई विधियाँ प्राप्त होती हैं। कुछ सिक्कों में तीन चिपटे शून्यों का पर्वताकार ढेर, कुछ में छः चिपटे शून्यों का ढेर और कुछ में नौ चिपटे शून्यों का पर्वताकार ढेर है। तीन शून्य रत्नत्रय के प्रतीक, छः शून्य षट् द्रव्य के प्रतीक और नौ शून्य नवपदार्थ के प्रतीक हैं। इस प्रकार सुमेरु की विभिन्न आकृतियों में जैन भावना को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। वैदिक या बौद्धधर्म में सुमेरु को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, जितना जैनधर्म में। यही कारण है कि प्राचीन लिपिकारों ने ग्रन्थ समाप्ति में सुमेरु की आकृति अंकित की है।

जनपद और गणराज्यों के प्राप्त सिक्कों में कुछ सिक्के उदुम्बर जाति के माने जाते हैं। स्मिथ साहब ने ताँबे और पीतल के बने हुए बहुत से छोटे-छोटे गोलाकार सिक्कों को उदुम्बर जाति के सिक्के माना है[2]। उनका कहना है कि दो प्रकार के ताँबे के सिक्कों पर उदुम्बर जाति का नाम लिखा मिलता है। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक

1 Coins of Ancient India P. 14; Indian Museum Coins Vol. I, P. 154-155, No, 29, 30, 34; P. 155 No 35.

2 Coins of Ancient India P. 88

ओर हाथी, घेरे में बोधि वृक्ष और नीचे एक साँप है। दूसरी ओर दो तल्ला या तीन तल्ला मन्दिर स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्मचक्र हैं [1]।

निश्चय ही ये पहली प्रकार के सिक्के किसी जैन धर्मानुयायी उदम्बर जाति के राजा के हैं। इन मुद्राओं में अंकित धर्म भावना जैनधर्म की है। हाथी द्वितीय तीर्थंकर का लाञ्छन और बोधि वृक्ष केवलज्ञान प्राप्त करने का संकेत है अथवा भगवान के आठ प्रतिहार्यों में से पहला प्रातिहार्य है [2]। नीचे साँप अंकित है, वह तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का चिह्न है। अतः मुद्रा की प्रथम पीठिका जैन संकेतों से युक्त है। दूसरी पीठिका में जो मन्दिर स्तम्भ के उपर स्वस्तिक और धर्मचक्र बताये गये हैं, वे भी जैन प्रतीक हैं। मन्दिर के स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्मचक्र अंकित करने की प्रणाली आज भी जहाँ-तहाँ पायी जाती है। स्वस्तिक को जैनधर्म में मंगलकारी माना गया है, कहीं-कहीं स्याद्वाद दर्शन का प्रतिक भी स्वस्तिक को माना है। जो व्यक्ति इसे स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक मानते हैं, वे इसका अर्थ सु = समस्त, अस्ति = स्थिति, क = प्रकट करनेवाला अर्थात् समस्त संसार की समस्त वस्तुओं की वास्तविक स्थिति प्रकट करने की सामर्थ्य स्याद्वाद दर्शन में है, अतः स्वस्तिक स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में ग्रन्थ आरम्भ के पहले स्वस्तिक चिह्न तथा ग्रन्थ समाप्त करने पर भी स्वस्तिक चिह्न मंगल-सूचक होने के कारण दिया गया है।

स्वस्तिक में जैन मान्यतानुसार जीवन की भी अभिव्यञ्जना वर्तमान है। स्वस्तिक के किनारेदार चारों छोर चार गतियों के प्रतीक हैं। जीव अधर्म—स्वभाव बहिर्मुख होने के कारण नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतियों में परिभ्रमण करता है, जब यह धर्म— स्वस्वभाव में स्थिर हो जाता है तो प्रभु बन जाता है। धर्म स्वभाव का द्योतक स्वस्तिक में मध्य केन्द्र बिन्दु माना है और अधर्म का द्योतक मध्य बिन्दु से हटकर कोई भी स्थान है, जो बन्ध का कारण है। जैनमान्यता में स्वस्तिक को प्रत्येक

---

1 Journal of Proceedings of the Asiatic society of Bengal, Vol X. Numismatic supplement, No XXIII P., 247. Coins of Ancient India P. 68

२ उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख—

माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं—

बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥—भक्तामर स्तोत्र पद्य सं० २८

शिल्प ग्रन्थ, मुद्रा आदि में अंकित इसलिये किया गया है कि जीव अपने स्वभाव को पहचान कर चतुर्गति के परिभ्रमण से छुटकारा पा सके।

धर्मचक्र जैन संस्कृति का प्रमुख प्रतीक है,[१] इसकी गणना अर्हन्त के अतिशयों में की गयी है। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ प्रवर्तनकाल में धर्मचक्र आगे चलता है। जैन साहित्य में बताया गया है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने तक्षशिला में इसका प्रवर्तन किया था। प्राचीन जैनागम में धर्मचक्र का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, यह योजन प्रमाण सुविस्तृत सर्वरत्न मय होता है। कुषणकाल से लेकर मध्यकाल तक की जैन प्रतिमाओं के नीचे धर्मचक्र का चिह्न अवश्य रहा है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त उदम्बर जाति का सिक्का जैन है; उसमें अंकित सभी प्रतीक जैन हैं। जैनधर्म का श्रद्धानी राजा ही इस प्रकार की मुद्रा प्रचलित कर सकता है। प्राचीन गणतन्त्र भारत में अनेक जनपदीय शासक जैनधर्म का पालन करते थे[२]।

मालव जाति के कई सिक्के जैन हैं; इस जाति के आठ प्रकार के सिक्के अबतक उपलब्ध हुए हैं[३]। द्वितीय उपविभाग के सिक्कों के एक ओर अशोक वृक्ष, दूसरी ओर कलश है[४]। तीसरे उपविभाग के सिक्कों पर पहली ओर घेरे में अशोक वृक्ष और दूसरी ओर कलश है[५]। ऐसे सिक्के दो प्रकार के हैं— चौकोर और गोलाकार। चौथे उपविभाग के सिक्के चौकोर हैं, इन पर दूसरी ओर सिंह मूर्ति है। पाँचवें उपविभाग के सिक्कों पर दूसरी ओर वृषभ है। ये भी गोलाकार और चौकोर हैं। कारलाइल ने इस जाति के चालीस राजाओं के नामों के सिक्के ढूंढ़े हैं, परन्तु आजकल २० राजाओं के ही सिक्के मिलते हैं। इन बीस राजाओं में यम, मय और जायक जैनधर्म के श्रद्धानी थे। यम ने आचार्य सुधर्म के संघ में जाकर जैन दीक्षा ग्रहण की थी।

यौधेय जाति के सिक्के साधारणतः तीन भागों में विभिक्त हैं[६]। प्रथम विभाग

१ देखें —श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १७ किरण १ पृ० ५६–६० तथा Baranett, Antiquities of India P. 253

२ जैनिज्म इन नार्थ इंडिया पृ० ७६–१४६ प्रकरण जैनिज़्म इन रायल फेमिली

3 Indian Museum Coins Vol. I, P. 170-171, Nos. 1-11

४ प्राचीन मुद्रा पृ० १४५

5 Indian Museum Coins Vol. I, P. 171, Nos 12-13, 14-22

6 Indian Museum Coins Vol. I, P. 165; Coins of Ancient India P. 76

के सिक्के सबसे प्राचीन हैं, और ये ही सिक्के जैन हैं। इन सिक्कों पर एक ओर वृषभ और स्तम्भ एवं दूसरी ओर हाथी और वृषभ हैं। पहली ओर ब्राह्मी अक्षरों में "यधेयन (योधेयानां)" लिखा है [१]। शेष दो विभाग के सिक्कों पर जैन प्रतीक नहीं हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि यौधेय जाति के राजा पहले जैनधर्म पालते थे, पीछे भागवत धर्म में दीक्षित हो गये थे; क्योंकि द्वितीय और तृतीय विभाग के सिक्कों में भागवत् धर्म की भावना अंकित है।

यद्यपि गुप्तवंश के कई राजा जैनधर्म के श्रद्धालु थे, परन्तु इस वंश के प्राप्त सिक्कों में जैन प्रतीकों का प्रायः अभाव है। इसका प्रधान कारण यही है कि गुप्तवंश के राजा कट्टर ब्राह्मण धर्मानुयायी थे, इसलिये उन्होंने अपनी धर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये ब्राह्मण धर्म के प्रतीकों को ही ग्रहण किया है। यद्यपि जैन इतिहास में ऐसे अनेक उल्लेख वर्तमान हैं, जिनसे गुप्तकालीन जैन साहित्य और जैनधर्म की पर्याप्त उन्नति प्रकट होती है। असल बात यह है कि ब्राह्मण धर्मानुयायी होते हुए भी गुप्तवंश के राजाओं ने सभी धर्मों को प्रश्रय दिया था।

ईस्वी सन् की पहली शताब्दी में मालव और सौराष्ट्र में महाक्षत्रप उपाधिधारी शक राजाओं ने राज्य स्थापित किया था। इस उपाधिधारी राजाओं में दो वंश के राजाओं का प्रभुत्व प्रधानता से सौराष्ट्र पर रहा है। पहले राजवंश के कुषाण साम्राज्य स्थापित होने से पहले और दूसरे राज्यवंश ने कुषाण राजवंश के साम्राज्य के नष्ट होने के समय सौराष्ट्र पर अधिकार किया था। प्रथम राजवंश में केवल दो राजाओं के सिक्के मिलते हैं। पहले राजा का नाम भूमक था। इसके दो ताँबे के सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उन पर एक ओर सिंह की मूर्ति, दूसरी ओर चक्र; तथा एक ओर खरोष्ठी अक्षरों में "छहरदास छत्रपस भूमकस" और दूसरी ओर ब्राह्मी अक्षरों में "क्षयरातस क्षत्रपस भूमकस" लिखा है [२]।

उपर्युक्त सिक्कों में जैन प्रतीक अंकित हैं, अतएव यह मानना असंगत नहीं कहा जा सकता है कि भूमिकस जैन था। इस राजा का उत्तराधिकारी क्षत्रप नहपान बताया गया है। जिनसेनाचार्य ने इसका उल्लेख नरवाहन नाम से किया है, इसका राज्यकाल ४२ वर्ष लिखा है। अनुमानतः यह ई० पू० ५८ में राज्याधिरूढ़

---

१ राखालदास बन्द्योपाध्याय की प्राचीन मुद्रा पृ० १४६; Rodgers Catalogue of Coins, Lahore museum.

2 Rapson, Catalogue of India Coins in the British museum, Andhras, Western Ksatrapas etc. pp. 63-64, Nos 237-42

हुआ था [१] । जैन शास्त्रों में इसका उल्लेख नरवाहन, नरसेन, नहवाण आदि रूपों में किया गया है [२] । इसका एक विरुद भट्टारक आया है, जिससे इसका जैन होना स्वतः सिद्ध है [३] । नहपान के सिक्के बहुलता में अभी तक नहीं मिले हैं। कनिंघम साहब को इस राजा का ताँबे का एक सिक्का मिला था। इस पर एक ओर वज्र और ब्राह्मी अक्षरों में नहपान का नाम तथा दूसरी ओर घेरे में अशोक वृक्ष है । अतएव भूमिकस और नहपान के सिक्के जैन हैं।

नहपान के राजत्व काल के अन्तिम वर्षों में आन्ध्रवंशी गोतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों के पहले क्षत्रप वंश का अधिकार नष्ट कर दिया था और नहपान के चाँदी के सिक्कों पर अपना नाम लिखवाया था। ऐसे सिक्कों पर एक ओर सुमेरुपर्वत और उसके नीचे साँप तथा ब्राह्मी अक्षरों में "राञो गोतमि पुत्रस सिरि सात कणिस" लिखा है। दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न है। इस राजा ने स्वयं अपने भी सिक्के बनवाये थे; इन सिक्कों पर इसने एक ओर राजा का मुख और ब्राह्मी अक्षरों में "राञो गोतमिपुतससिरियञसातकणिस" लिखा है। दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न सुमेरु पर्वत, साँप और दाक्षिणात्य के ब्राह्मी अक्षरों में............ 'णष गोतम पुत्रष हिसयञ हातकणिष" लिखा है [४] ।

गोतमीपुत्र शातकर्णी के सिक्कों में जैन प्रतीक हैं। यह राजा पहले वैदिकधर्मानुयायी था, परन्तु अपने पिछले जीवन में इसने जैनधर्म ग्रहण कर लिया था [५] । नासिक के शिलालेख में इसे असिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप विदर्भ और अकरावन्ती का शासक बताया है। इसका राज्यकाल ई० १००-४४ है। इसका जैन गृहस्थ के व्रतों का पालन करने का भी उल्लेख मिलता है।

दक्षिणापथ के सिक्कों में आन्ध्रजातीय राजाओं के सिक्के सबसे पुराने हैं। किसी समय आन्ध्र राजाओं का साम्राज्य नर्मदा नदी के दक्षिणी किनारे से समुद्रतट तक था। इसलिये मालव, सौराष्ट्र, अपरान्त आदि भिन्न-भिन्न देशों में भी आन्ध्र राजाओं ने भिन्न-भिन्न सिक्के प्रचलित किये थे। आन्ध्र देश— कृष्णा और गोदावरी

1 Journal of the Bihar and Orissa Research Society Vol. 16, P. 289

२ राजपूताने का इतिहास भाग १ पृ० १०३

३ भरुयच्छेणयरे नहवाहणो राया कोससमिद्धो—आवश्यकसूत्र भाष्य।

4 Rapson British Museum Coins P. 68—70 Nos 253-54, P. 45, N. 178

५ संक्षिप्त जैन इतिहास द्वितीय भाग, द्वितीय खंड पृ० ६१-६६

नदी के बीच के प्रदेश में दो प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये दोनों प्रकार के सिक्के पुडुमावि, चन्द्रशाति, श्रीयज्ञ और श्रीरुद्र आदि राजाओं ने प्रचलित किये थे। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर सुमेरु पर्वत और दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न है। इन सिक्कों के निर्माता वाशिष्ठी पुत्र श्री पुडुमावि, वाशिष्ठी पुत्र श्रीशातकर्णि वाशिष्ठी पुत्र श्री चन्द्रशाति, गोतमीपुत्र श्रीयज्ञशातकर्णि और रुद्रशातकर्णि हैं[1]।

दूसरी प्रकार के सिक्के पर एक ओर घोड़ा, हाथी अथवा दोनों की मूर्त्तियाँ तथा दूसरी ओर सिंह की मूर्त्ति है। ये सिक्के श्रीचन्द्रशाति, गोतमीपुत्र श्रीयज्ञशातकर्णि और श्रीरुद्रशातकर्णि के हैं। निश्चय ही ये दोनों प्रकार के सिक्के जैन हैं; क्योंकि इनमें जैन प्रतीकों का व्यवहार किया गया है[2]।

मालव में आन्ध्र राजवंश के कुछ पुराने सिक्के मिले हैं[3]। स्वर्गीय पंडित भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने एकत्रित किये हुए सिक्के लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम को प्रदान किये हैं[4]। इन सिक्कों में दो प्रकार के सिक्के मिलते हैं। इन पर अंकित लेख का जो अंश पढ़ा गया है, उससे पता चलता है कि ये सिक्के आन्ध्र राजाओं के ही हैं। पहले प्रकार के सिक्के ईरान के पुराने सिक्कों के ही समान हैं। कनिंघम ने लिखा है कि इस प्रकार के सिक्के पुरानी विदिशा नगरी (बेसनगर) के खंडहरों में बेस तथा बेतवा नदी के बीच मिले हैं[5]। इसी कारण रैप्सन ने अनुमान किया है कि ये सभी सिक्के पूर्व मालव के हैं। इन सिक्कों को चार विभागों में बाँटा जा सकता है। पहले विभाग के सिक्के पोटिन के बने हैं, इन पर एक ओर घेरे में बोधिवृक्ष, उज्जयिनी नगरी का चिन्ह, वृषभ और सूर्य चिन्ह अंकित हैं। दूसरी ओर हाथी और स्वस्तिक चिन्ह हैं[6]। दूसरे विभाग के सिक्के ताँबे के हैं; इन पर एक ओर हाथी की मूर्त्ति और दूसरी ओर घेरे में बोधिवृक्ष (अशोकवृक्ष) और उज्जयिनी नगरी के चिन्ह हैं। तीसरे विभाग के सिक्कों पर पहली ओर सिंह

---

1 Rapson, Catalogue of Indian Coins Andhras, W. Khatrapas etc. p. I XXII

2 Rapson, Catalogue of Indian Coins Andhras, W. Khatrapas, etc. p. I XXIV; प्राचीन मुद्रा पृ० २१४

3 Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Vol. XIII, 10. 311

4 Rapson, British Museum Coins p. XCVI.

5 Cunnigham's Coins of Ancient India, p. 99

6 Rapson, British Museum Coins P. 3, Nos 5-6-7-8-9-11

की मूर्त्ति और वृषभ चिन्ह तथा दूसरी ओर बोधिवृक्ष और उज्जयिनी नगरी के चिन्ह हैं। ये तीसरे विभाग के सिक्के भी ताँबे के हैं। चौथे विभाग के सिक्के पोटिन के बने हुए हैं। इन पर पहली ओर सिंह की मूर्ति और स्वस्तिक चिन्ह हैं तथा ब्राह्मी अक्षरों में "रञो सातकंणिस" लिखा है। दूसरी ओर वृषभ, उज्जयिनी नगरी का चिन्ह और घेरे में बोधिवृक्ष हैं।

उपर्युक्त सिक्कों में अंकित धार्मिक भावना स्पष्टतः जैन है। सूर्य को जैन संस्कृति में केवलज्ञान का प्रतीक माना गया है। अतएव उपर्युक्त सिक्कों को निस्सन्देह जैन माना जा सकता है। जो राजा अर्धस्वतन्त्र थे, उज्जयिनी के आधीनस्थ थे, वे अपने सिक्कों में उज्जयिनी चिन्ह अंकित करते थे। अतएव आन्ध्र देश में मिले हुए जिन सिक्कों पर सुमेरुपर्वत, उज्जयिनी, सर्प, सिंह, वृषभ, हाथी, बोधिवृक्ष, स्वस्तिक, कलश अंकित हैं, वे सिक्के निश्चय जैन हैं।

पल्लव राजाओं के प्राप्त सिक्कों में, जिन पर सिंह का चिन्ह और संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा में कुछ लिखा मिलता है,[1] वे सिक्के भी जैन हैं। इस वंश का राजा महेन्द्रवर्मन् जैनधर्मानुयायी था।

ईस्वी सातवीं शती के उपरान्त चालुक्यवंशी राजा दो भागों में विभक्त हो गये थे। पूर्व की ओर चालुक्य राजा कृष्णा और गोदावरी नदी के बीच के प्रदेश में राज्य करते थे और पश्चिम ओर चालुक्य राजाओं का राज्य दक्षिणापथ के पश्चिम प्रान्त में था। इन राजाओं के सिक्के सोने और चांदी के मिलते हैं। इन सिक्कों की धार्मिक भावना यद्यपि वैदिक ही है, परन्तु जैन संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इस वंश का प्राचीन लेख धारवाड़ जिले के आदुर ग्राम से मिला है, जिसमें राजा कीर्त्तिवर्मा प्रथम द्वारा नगर सेठ के बनाये जैन मन्दिर को दान देने का उल्लेख है। इस वंश के राजाओं ने जैन गुरुओं को भी दान दिये थे।

कदम्बवंश के प्राप्त सोने के सिक्कों में कमल की भावना अंकित है। इस वंश में मृगेशवर्मा से लेकर हरिवर्मा तक राजा जैनधर्मानुयायी थे। इन्होंने कमल द्वारा मोक्ष-लक्ष्मी की भावना को व्यक्त किया है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में कमल पद्मप्रभु भगवान का चिन्ह है। कमल प्रतीक को रखने का एक अन्य हेतु यह भी है कि लौकिक दृष्टि से यह उत्साह, आनन्द, स्फूर्त्ति और कार्यपरायणता का द्योतक है। कदम्बवंश के राजाओं की मुद्राओं में इसीलिये दो प्रकार के चिन्ह मिलते हैं, कि उनमें आदिम कई राजा वैदिक धर्मानुयायी थे। इस वंश के जो राजा वैदिकधर्म

---

1 Indian Coins P. 37

का पालन करते थे उनके सिक्कों में वराह अवतार अथवा लक्ष्मी की मूर्त्ति मिलती है। जैन राजाओं ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये कमल को प्रतीक चुना था।

यादव वंशी राजाओं के राज्य देवगिरि और मैसूर के द्वारसमुद्र नामक स्थान में थे। देवगिरि में राज्य करनेवाले राजाओं के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के मिले हैं, परन्तु इन सभी सिक्कों पर हिन्दू धार्मिक भावना का प्रतीक गरुड़ अंकित किया गया है।

मैसूर के द्वारसमुद्र नामक स्थान में भी इस वंश के राजाओं के सोने और ताँबे के सिक्के मिले हैं। सोने के सिक्कों पर एक ओर सिंह की मूर्ति और दूसरी ओर कन्नड़ लेख है। ताँबे के सिक्कों पर एक ओर हाथी की मूर्त्ति और दूसरी ओर कन्नड़ लेख है[1]। इस स्थान के यादववंशी राजाओं के सिक्कों पर नाम के बदले में उपाधि मिलती है; जैसे—श्रीतलकाडु गोमड अर्थात् तलकाडु विजयी। उपर्युक्त द्वारसमुद्र से प्राप्त सिक्के जैन हैं; क्योंकि इनमें जैन प्रतीकों का व्यवहार किया गया है।

वरंगल के काकतीय वंश के राजाओं के सोने और ताँबे के सिक्के मिले हैं। इन पर एक ओर वृषभ का चिन्ह है और दूसरी ओर कन्नड़ी अथवा तेलगू भाषा का लेख है[2]। ये सिक्के भी जैन हैं।

दक्षिणापथ में पाण्ड्य, चेर, राष्ट्रकूट, गंग आदि कई वंश के राजा जैन धर्मानुयायी थे। इन्होंने १२ वीं, १३ वीं और १४ वीं शती में मुद्राएँ प्रचलित की थीं। इन राजाओं की मुद्राओं पर भी जैन प्रतीक मिलते हैं। वास्तव में दक्षिणापथ में जैनधर्म का प्रचार कई शताब्दियों तक जोर से रहा है। इस धर्म ने राजाश्रय पाकर अपनी उन्नति की थी। अनेक राजाओं ने जैन गुरुओं को दान दिये थे।

मिहिर कुल के प्राप्त सिक्कों में दो प्रकार के ताँबे के सिक्के प्रधान हैं। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर राजा का मस्तक और उसके मुँह के पास 'श्रीमिहिर कुल; अथवा 'श्रीमिहिरगुल' लिखा है। दूसरी ओर ऊपर खड़े हुए वृषभ की मूर्त्ति है और उसके नीचे 'जयतु वृष' लिखा है[3]। ये पहले प्रकार के सिक्के जैन हैं। द्वितीय प्रकार के सिक्कों पर एक ओर खड़े हुए राजा की मूर्त्ति और उसके बगल में

1 Elliott's South Indian Coins p. 152, Nos 87-89½; 90-91

2 प्राचीन मुद्रा २२६; South Indian coins p. 152 Nos 93-95

3 Indian Museum Coins Vol. 1, P. 337 Nos 1.

एक ओर 'षाहिमिहिरकुल' लिखा है। दूसरी ओर सिंहासन पर पद्मावती की मूर्त्ति है[1]। मिहिरकुल के ये सिक्के तोरमाण के सिक्कों पर बने हुए हैं[2]। हमारा अनुमान है कि यह तोरमाण जैनाचार्य हरिगुप्त का प्रशिष्य और देवगुप्त का शिष्य था[3]। यही कारण है कि मिहिरकुल के सिक्कों में जैनधर्म की भावना अंकित की गयी है।

उत्तरापथ के मध्ययुगीन सिक्कों में उद्भाण्डपुर में शाही राजवंश के पाँच राजाओं के सिक्के मिले हैं। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर वृषभ और दूसरी ओर घुड़सवार की मूर्ति है। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर हाथी और दूसरी ओर सिंह की मूर्ति है[4]। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर सिंह और दूसरी ओर मयूर की मूर्ति है। हाथी और सिंह की मूर्त्तिवाले सिक्कों पर 'श्रीपदम', 'श्रीवक्कदेव' और 'श्रीसामन्तदेव' नाम मिले हैं। हाथी और सिंह की मूर्त्तिवाले सिक्के निश्चय जैन हैं। इन सिक्कों पर जैन भावना का प्रभाव है।

गुजरात में कुमारपाल और अजयपाल के सिक्के अधिक संख्या में मिले हैं[5]। ये चालुक्यवंशी राजा थे[6]। ग्वालियर राज्य में अजयपाल के राज्यकाल का वि० सं० १२२९ का खुदा हुआ एक शिला लेख मिला है[7]। इसी जगह कुमारपाल के राज्यकाल में वि० सं० १२२० का एक शिलालेख खुदा है। इसका अन्य शिलालेख मेवाड़ राज्य के चित्तौर में वि० सं० १२०७ का खुदा हुआ मिला है[8]। कुमारपाल का अजयपाल पुत्र था[9]। कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र से जैन धर्म की दीक्षा ली थी। इसने जैनधर्म के प्रचार के लिये अनेक प्रयास किये थे। शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा के लिये संघ निकालकर संघपति की उपाधि ग्रहण की थी और अनेक जैन मन्दिर भी बनवाये थे[10]।

1 Indian Museum coins Vol 1, P. 337 Nos 1.
2 Indian Coins P. 30
३ जैन साहित्यनो इतिहास पृ० १३२
4 Indian Museum Coins Vol. 1, P. 243, 246-248, Nos 1-15
5 Indian Coins P. 31
६ संक्षिप्त जैन इतिहास द्वितीय भाग, द्वितीय खंड पृ० १२६
7 Indian Antiquary Vol. XVIII, P. 347
8 Epigraphia Indica, Vol. II P. 422
9 Epigraphia Indica, Vol. VIII, App. 1 p. 14
१० बम्बई प्रान्त के जैन स्मारक पृ० २१० तथा संक्षिप्त जैन इतिहास द्वि० भा० खं० २ पृ० १३३

कुमारपाल के सिक्के उद्भाण्डपुर के शाही राजाओं के सिक्कों के ढंग पर मिश्र धातु के हैं। इनमें एक ओर सिंह तथा दूसरी ओर हाथी की मूर्त्ति है। अजयपाल कट्टर वैदिक धर्मानुयायी था, पर इसके सिक्के भी कुमारपाल के ही समान हैं। इस प्रकार अनेक सिक्के जैन हैं, अन्वेषणशील विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

विविघ-विषय

[ले० श्रीयुत पं० माधवराम शास्त्री, न्यायतीर्थ]

नेमिचन्द्रिका—

हिन्दी जैन कवियों में कवि मनरंगलाल का महत्वपूर्ण स्थान है। आपने चौबीसीपाठ, सप्तर्षिपूजा, सप्तव्यसनचरित्र, नेमिचन्द्रिका और शिखिर-सम्मेदाचल-माहात्म्य आदि ग्रन्थों का निर्माण हिन्दी भाषा में किया है। श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा के हस्तलिखित ग्रन्थागार में सं० १८९५ की लिखी हुई 'नेमिचन्द्रिका' की एक प्रति उपलब्ध हुई है। इस प्रति के लिपिकार श्री रघुनाथ द्विज हैं, तथा यह प्रतिलिपि पट्टनपुर में की गयी है। नेमिचन्द्रिका पद्यबद्ध रचना है, इसमें ४८६ पद्य हैं।

यह एक खण्डकाव्य है। कविने इसमें दोहा, चौपई, भुजंगप्रयात, नाराच, सोरठा, अडिल्ल, गीता, छप्पय, त्रोटक, पद्धरी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। पिंगलशास्त्र की दृष्टि से इनके सभी छन्द प्रायः शुद्ध हैं, गणदोष, पददोष, वाक्यदोष, यतिभंग आदि का अभाव है। एकाध स्थल पर लिपिकार की असावधानी के कारण छन्दोभंग प्रतीत भी होता है; परन्तु कवि ने वास्तव में यह त्रुटि नहीं की है।

इसकी भाषा कन्नौजी से प्रभावित खड़ी बोली है। यों तो भाषा में कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है। सानुप्रास, प्रसादगुण से अलंकृत एवं परिष्कृतपना इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। करुणरस के वर्णन में शब्द स्वयं करुणा का मूर्तिमानरूप लेकर प्रस्तुत हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं करुणा ही शब्दों का रूप धारण कर प्रादुर्भूत हुई है। प्रसंगानुसार भाषा का स्वरूप परिवर्तित होना इनकी विशेषता है।

कविने अपने कलापक्ष को पुष्ट करने के लिये अलंकारों का भी सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग पाया जाता है। शब्दालंकारों में प्रधानतः अनुप्रास[1], यमक आदि और अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा[2], रूपक, उपमा[3], आदि विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

---

१ यहाँ और को काको रखै, निज कन्धा धरि धीर।

२ दुःख सों भरी देह घट छूटा। जनु बरषत अति दीरघ छटा।

३ बालचन्द्र जिमि कुंवर वपु, बढ़त महा सुख कंद।

रस का परिपाक भी इसमें रसशास्त्र के नियमानुसार हुआ है। कवि ने प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का सुन्दर विश्लेषण किया है। शान्तरस, वात्सल्यरस, करुणरस और विप्रलम्भशृंङ्गार रसों का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है। सीमित मर्यादा में स्वस्थ वातावरण को उपस्थित करने वाला विप्रलम्भशृंङ्गार विशेष रूप से राजुल के विलाप वर्णन में आया है।

कथावस्तु निम्न है—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अन्तर्गत सौराष्ट्र देश में द्वारावती नाम की नगरी थी। इस नगरी में राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। वे बड़े धर्मात्मा, पराक्रमशाली और शूरवीर थे। इनकी रानी का नाम शिवदेवी था। इनके पुत्र का नाम नेमिकुमार रखा गया। नेमिकुमार बचपन से ही होनहार, धर्मात्मा और पराक्रमशाली थे। इन्हीं के वंशज कृष्ण, बलभद्र थे। ये बड़े पराक्रमशाली और शूरवीर थे। कृष्ण ने अपने भुज-बल द्वारा कंस, शिशुपाल और जरासंध जैसे दुर्दमनीय राजाओं का क्षण भर में संहार कर दिया था। इनके सोलह हजार रानियाँ थीं, जिनमें आठ रानियाँ पट्ट महिषी के पद पर प्रतिष्ठित थीं। एक समय नेमिकुमार के पराक्रम को सुनकर कृष्ण के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई तथा इन्होंने उ : शक्ति की परीक्षा करने के लिये उनको अपनी सभा में आमन्त्रित किया। नेमिकुमार यथासमय कृष्ण की सभा में उपस्थित हुए और अपनी कनिष्ठा अंगुली पर जंजीर डालकर कृष्ण आदि को झुला दिया। कृष्ण को बहुत आश्चर्य हुआ। फलतः उन्होंने अपनी पटरानियों को नेमिस्वामी के घर भेजा। रानियों ने चारों तरफ से नेमिस्वामी को घेर लिया और विवाह करने के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध किया। कृष्ण ने नेमिस्वामी का विवाह जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से निश्चित कराया। वहाँ पर इन्होंने अपनी कूटनीति से पशुओं को पहले से कैद करवा दिया था। जिससे नेमिस्वामी के मयबरात के वहाँ पहुँचने पर अगवानी के पश्चात् टीका को जाते समय पशुओं की चीत्कार नेमिस्वामी को सुनाई दी। नेमि-स्वामी को चीत्कार से वैराग्य उत्पन्न हो गया और इन्होंने पशुओं को कैद से छुड़ाया। दीक्षा ग्रहण कर गिरनार पर्वत पर नेमिस्वामी तपस्या करने लगे। राजुलमती अपने पिया नेमिस्वामी को गिरनार पर्वत पर गया हुआ जान तथा दीक्षा ग्रहण कर तपस्या में संलग्न हैं, समाचार सुनकर विलाप करने लगी। मातापिता के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी अन्य के साथ विवाह करने को तैय्यार न हुई। गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षा ग्रहण कर तप तपने लगी। तप के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में ललितांग नामक देव हुई। नेमिस्वामी आठों कर्मों को नाश कर मोक्ष पधारे।

कवि परिचय—

ग्रन्थान्त में रचयिता ने स्वयं ग्रन्थ रचने के कारणों का विश्लेषण करते हुए अपना परिचय दिया है, जिससे उनके जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अब सुनहु मित्र बनाय बकी विधि कौन विधि बनिबो भयो ।
शुभ दे अन्तर वेद मझ कान्ह कुब्ज भलो ठयो ॥
तहाँ बसौं श्रावक भूरि विशाल जिन पद पूजहीं ।
लखि सब सब सिद्ध परस्पर आनन्द सों मन बूझहीं ॥
तहाँ पल्लिवार इक्ष्वाकवंशी बहु ना शिव लिखा ।
जिनदेव शास्त्रसिद्धान्त सुगुरु भीनि जिनके अति हिया ॥
शुभ करहि चरचा पढहि निश दिन बरहि मग्धा जानिकैं ।
तिन सबनि मह इक बसत श्रावक नाम कहौं बखानिकैं ॥
हुलाससराय सुनाम तिनको कहत सब जन टेरिकै ।
तिनके जुगल सुत भये सुन्दर लिखि सब अब फेरि के ॥
शुभ ज्येष्ट लाल कनीष्ठि गोविन्दराम नाम कनिष्ट को ।
तिन शिशुन मह जो ज्येष्ट मनरंगलाल नाम कहैं सबै ।
तिन लाल मनरंग के सु भव गुलालदस भये तबै ॥
सो प्रानहु ते अधिकहि वल्लभ सकल गुन की खानि जो ।
जिन भक्ति शास्त्र जिनेश कूँ त सुनि रुच करत मान जानिजो ॥
नहि रहत सुत वय राज तिनके शोध करते ना लख्यो ।
निति देखि जैनी करत बहु विधि जैनधरम सुधा चख्यो ॥
इत्यादि बहुगुणयुत सु खुस्यालचंद तनो सदा ।
इक तीसरी नित्त रहत निश दिन पलक बिछुरत ना कदा ॥
तिनके ही हम सों बात या विधि मित्र सूनु चित ल्याय के ।
शुभ नेमचन्द्र कि चन्द्रिका अब हमहि देहु बनाय के ॥
तिन बचन अमिय समान अतिप्रिय सुने आनन्द सों भरे ।
अनु जलधि बरषत सुधा मदन खेत सूदन को खरे ॥
तब शुभ विचार चितारि चित सों छन्द जह नाना धरे ।
तिन हेत इह शुभ लेश कीन्हों सुनत संकट ही दरे ॥
इह रहो जग बल गु विदित बल गुन कनक को भूधरा ।
नभ उदधि जब लग रहौ भूतल चन्द अवर दिवाकरा ॥

अर्थात्— कन्नौज में श्रावकों का एक समुदाय था, जो अधिकांश अपना समय जिनेन्द्र पूजा, सैद्धान्तिक चर्चा आदि धार्मिक कार्यों में व्यतीत करता था। उस समुदाय में हुल्लासराय नामक श्रावक का भी नाम था। हुल्लासराय प्रायः अपना सारा समय देव, शास्त्र, गुरु के पूजा-पाठ में तथा तत्व-चर्चा में लगाया करते थे। ये इक्ष्वाकुवंशी थे। इनकी जाति 'पल्लीवाल' और गोत्र 'शिव' था। इनके दो पुत्र थे, जिनमें जेष्ट पुत्र कनौजीलाल और कनिष्ठ गोविन्दराम थे। शुभ कर्मोदय से कनौजीलाल को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम मनरंगलाल रक्खा गया। कनौजीलाल को अन्य पुत्ररत्नों की भी प्राप्ति हुई, किन्तु सब में जेष्ठ मनरंगलाल थे। मनरंगलाल के सुयोग्य मित्र गोपालदास थे। इन दोनों में मैत्रीभाव अत्यन्त घनिष्ट था। गोपालदास जिनेन्द्रदेव, शास्त्र और गुरु में अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। शास्त्र प्रेमी थे। छल-कपट और क्रोध के लिये इनके अन्दर स्थान नहीं था। इनके पिता का नाम खुस्यालचन्द्र था। गोपालदास शास्त्रों का संग्रह करने के लिये हमेशा कटिबद्ध रहते थे। इन्हीं के अनुरोध से तथा इनके वचनों को अमृत समान अत्यन्त प्रिय समझ कर मनरंगलाल ने नेमिनाथ की चन्द्रिका नाम की पुस्तक की रचना जेठ सुदी ११ गुरुवार सं० १८८०, नक्षत्र स्वाति, सूर्य उत्तरायन में पूरी की।

१— मास जेष्ठ शशि पक्ष की एकादश विचारि।
नक्षत्र स्वाति गुरुवार दिन, उत्तरायन रविसार ॥१॥
एक सहस्र अरु आठ सतक, वरष असीति और।
याही संवत् मो करी, पूरन इह गुण गौर ॥२॥

पुण्यास्रव कथाकोष की प्रशस्ति —

जैन इतिहास के निर्माण में ग्रन्थ-प्रशस्तियों का बड़ा महत्व है। अधिकांश ग्रन्थों में रचयिताओं ने अपने गण गच्छ, गुरु, परम्परा एवं अपने जीवन का उल्लेख किया है। कई ग्रन्थों की अन्तिम प्रशस्ति में अनेक इतिहासोपयोगी बातें उल्लिखित हैं। दिगम्बर साहित्य की ग्रन्थ-प्रशस्तियों का अभी सम्पूर्ण संकलन नहीं हो सका है। यद्यपि जैन सिद्धान्त भवन आरा ने प्रशस्ति-संग्रह प्रथम भाग तथा अभी हाल में दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी से भी प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित हुआ है।

पुण्यास्रव कथाकोष की प्रशस्ति में रचयिता ने स्वयं पद्यबद्ध इस अधूरे ग्रन्थ को प्राप्त तथा पूर्ण करने के कारणों का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में पूजादिक छः अधिकार हैं। इन अधिकारों के अन्तर्गत ५६ कथाएँ हैं। आदिपुराण आदि में जिस विषय का प्रतिपादन है, उसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ का

निर्माण संस्कृत भाषा में रामसेन ने किया है। पं० दौलतराम ने इसका अनुवाद हिन्दी भाषा में किया तथा कथाओं को शृंखलाबद्ध भी। इस बचनिका को पद्यबद्ध करने की इच्छा भावसिंह नामक कवि को हुई। इन्होंने चौपई आदि छन्दों में इस बचनिका को बाँधने का पूर्ण प्रयत्न किया। आयु का अन्त और काल की विचित्रता ने इनके इस कार्य में विघ्न पैदा किया, जिससे इस कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहे; केवल शीलाधिकार तक ही इस ग्रन्थ को लिख सके। इस अधूरे ग्रन्थ के पुण्य के प्रताप से भैरोसिंह को दर्शन हुए। भैरोसिंह के मन में इसको पूर्ण कराने की उत्कृट इच्छा उत्पन्न हुई। समय का फेर और भैरोसिंह के तीव्र शुभ कर्मोदय से इन्हें इस ग्रन्थ के पूर्ण कराने के साधन शीघ्र प्राप्त हो गये। इन्होंने जियराम नामक कवि को इस ग्रन्थ के पूर्ण करने का भार सौंपा। कवि ने इस ग्रन्थ को चैत्र सुदी २ सं० १७९२ के शुभ दिन में पूर्ण किया।

पुन्यास्रव यह कथा रिसाल। पूजादिक अधिकार विशाल ॥
पट् अधिकार परम उत्कृष्ट। छप्पन कथा जास में मीष्ट ॥
आदिपुराणादिक जे कहा। अभिप्राय तसु यामैं लहा ॥
आचारज जिन धरि अभिलाप। कीनी तास संस्कृत भाप ॥
तास वचनिका रूप सुधार। दौलतराम कथा बुधसार ॥
तातैं भावसिंह निज छन्द। आरंभ कियो चौपई बन्द ॥
शील अधिकार ताई उन जोड़। भेज दिया लिख ना हम ओड़ ॥
भली कथा हम लखिकै लिख्यौ। ताकूं काल भावसिंह भख्यो ॥
भैरोदास पुन्य परकास। देखा ग्रन्थ अधूरा पास ॥
मो सैं भणा सम्पूर्ण करो। आनत कछू नम नमैं धरो ॥
मैं भाषा भाषू सुखमान। ज्यों कर लगै सम्पूर्ण पुराण ॥
तब उन कछुक समैं में खोज। मो पै भेज दिया ले खोज ॥

॥ दोहा ॥

गुथौं कर्म संजोग तैं, पर सेवा में लीन।
जा छिन थिरता चित गही, चित जुत रचना कीन ॥
ग्रन्थ बड़ा मो मति अल्प, ऐसा बना नियोग।
हास निवारसु सोधियो, विनउ पंडित लोग ॥

अडिल्ल छन्द

एक हजार सात सै बानवै जानिये । चैत सुदी द्वितीया दिन नीका मानिये ॥
ता दिन पूरो ग्रन्थ कियो जियराज ने । मंगल करो सकल शैली समाज ने ॥

चौपई छन्द-- जैसो लिख्यो वचना लिखे । तैसो छन्द माहि मैं रख्यो ॥
जो कछु यामैं परे सन्देह । तौ तामैं देखो धर नेह ॥
याके पढ़ै मिथ्यात मिटाइ । काल लब्धि जो पहुँचै आइ ॥
याके पढ़ै सुने बुधिमान । जिन्हैं जिनवानी सरधान ॥
जो जाय धर्म ध्यान रुचि धरै । आगम पढ़न सुनन मन करै ॥
आगम से सम्यक् गुण पाइ । शिव मग पग धरे चित लाइ ॥

दोहा-- कर्म न भेदा आतमा, कर्म न भेदो जोइ ।
आतम पद परमातमा, निहचैं धारो सोइ ॥
जो वांछा शिव पद धरै, राग द्वेष को गार ॥
ममता तजि समता नमौ, काम क्रोध को मार ॥
प्रभु को सुमिरण ध्यान कर, पूजा जाप विधान ।
जिन प्रणीत मार्ग विषै, मगन होउ मतिमान ॥

इति पुण्यास्रव कथा-कोष भाषा चौपईबद्ध भावसिंह जियराज कृत समाप्तं ।

प्रशस्ति के अन्त में इस प्रति के लिपिकार का नाम ऋषि हरिचन्द्र है। यह लिपि लाला ललितराम ने करायी। इस प्रति की लिपि पौष वदी ८ रविवार सम्वत् १८४८ में लक्ष्मण पुरी में की गयी है।

॥ श्री ॥

त्रैलोक्य प्रदीप—

जैनागम में तीनों लोकों का वर्णन करने वाले तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, लोकतत्व विभाग आदि कई प्राचीन ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत त्रैलोक्य प्रदीप में विस्तार पूर्वक तीनों लोकों का वर्णन किया गया है। यद्यपि इसका विषय त्रिलोकसार से बहुत कुछ मिलता-जुलता है किन्तु संस्कृत भाषा में गणित प्रदर्शन पूर्वक लोक के गणित का इतना सुन्दर और विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जिससे इस विषय का पूर्ण परिज्ञान हो जाता है।

इस ग्रन्थ के रचयिता इन्द्रवाम देव हैं। इन्होंने पुरवाडवंशी राजा जोमन के पुत्र नेमिदेव के अनुरोध से इस ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ रचयिता ने स्वयं ग्रंथ रचने का कारण बतलाते हुए लिखा है कि--

अस्त्यत्र वंशः पुरवाडसंज्ञः समस्तपृथ्वीपतिमाननीयः ।
त्यक्त्वा स्वकीयां सुरलोकलक्ष्मीं देवाऽपि इच्छन्ति हि यत्र जन्म ॥
तत्र प्रसिद्धो ऽजनि कामदेवः पत्नी च तस्याजनि नामदेवी ।
पुत्रौ तयोर्जोमनलक्ष्मणाख्यौ बभूवतु राघवलक्ष्मणाविव ॥
रत्नखनेः शशि जलनिधेरात्मोद्भवः श्रीपतेः ।
तद्वज्जोमनतो बभूव तनुजः श्री नेमिदेवाह्वयः ॥
यो बाल्ये ऽपि महानुभावचरितः सज्जैनमार्गेरतः ।
श्रीगुणभूषणक्रमनतः सम्यक्त्वचूलांकितः ॥
यस्यागेन जिगाय कर्णनृपतिं न्यायेन वाचस्पतिं ।
नैर्मल्येन निशापतिं सत्स्थैर्यभावेन च ॥
गांभीर्येण सरित्पतिं मलततिं सद्धर्म सद्भावनात् ।
स श्रीमद्गुणभूषणोन्नति नतो नेमिश्वरं नन्दतु ॥
तत्सत्कारपुरस्कृतेन सततं तज्जैनता दर्शनात् ।
सन्तुष्टेन तदार्जवादि सगुणैर्हृष्टेन पुष्टेन च ॥
तस्य प्रार्थनया सुसंस्कृतवचो बंधेन सन्निर्मिता ।
ग्रन्थोऽयं त्रिजगत्स्वरूपकथनः सम्पुरयनिर्मापिणः ॥

अर्थात् -- पुरवाड वंश में समस्त राजाओं के द्वारा वंदनीय कामदेव नाम का राजा हुआ था। उनकी पत्नी का नाम नामदेवी था। इनके जोमन और लक्ष्मण नामक दो पुत्र हुए। जोमन का नेमिदेव नामक पुत्र हुआ। यह बचपन से ही जैन धर्म का माननेवाला सम्यक्त्व चूड़ामणि था। इसने अपने दान से कर्ण को, न्याय से बृहस्पति को, निर्मलता से चन्द्रमा को और स्थिरता और गंभीरता से समुद्र को जीत लिया था। इस धर्मात्मा, न्यायनिपुण राजा की प्रार्थना से संस्कृत भाषा के अनुष्टुप छन्दों में तीनों लोकों का वर्णन करने वाला यह ग्रंथ लिखा गया है।

कवि ने अपने वंश को नैगमसंज्ञक वंश बतलाया है। इन्द्रवामदेव प्रतिष्ठाचार्य, धर्मात्मा, जिनभक्तपरायण, नाना शास्त्रों का पारंगत और करणानुयोग के मर्मज्ञ विद्वान थे। इन्होंने ग्रन्थारम्भ में चतुर्विंश तीर्थंकर, नेमिचन्द्र, त्रैलोक्यकीर्ति धर्माकर मुनि और वीरसेनाचार्य आदि को स्मरण किया है। ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा करते हुए बताया है "त्रैलोक्यसारमालोक्य ग्रन्थं त्रैलोक्यदीपकं" अर्थात् त्रिलोक सार नामक ग्रन्थ का सार लेकर इस ग्रन्थ को रचा जा रहा है। इस ग्रन्थ में तीन

अधिकार हैं-- अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। प्रथम अधिकार में २०५ श्लोक, द्वितीय में ६१६ श्लोक और तृतीय अधिकार में ४६५ श्लोक हैं।

आरम्भ में ही विषय प्रारम्भ करते हुए बताया है कि आकाश के मध्य में अणु के समान असंख्यात प्रदेशी यह लोक है। इसमें छह द्रव्यों का-- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल संघात पाया जाता है। इसलिए यह लोक का मान लौकिक और लोकोत्तर दो तरह का है।

लौकिक मान एक दश शत सहस्र आदि दश गुणोत्तर है। लोकोत्तर मान चार प्रकार का है— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। द्रव्यमान के दो भेद हैं-- संख्योपमा, संख्यात्मक। संख्यात्मक के तीन भेद हैं-- संख्यात, असंख्यात और अनन्त। संख्यात जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। असंख्यात और अनन्त तीन-तीन प्रकार के हैं-- परीत, युक्त, द्विगुण। इनके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से २१ भेद होते हैं। संख्यात ज्ञान के निमित्त अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका इस तरह इन चार कुण्डों की कल्पना कर संख्यानयन किया है। काल प्रमाण का वर्णन बहुत विस्तार से किया है। पूर्वांग, पूर्व, पर्वांग, पर्व, नयुतांगं, नयुतं, कुमुदांगं, कुमुदं, पद्मांगं, पद्मं, नलिनांगं, नलिन, कमलांगं, कमलं, तुडिदांगं, तुडिदं, अडडांगं, अडडं, अममांगं, अममं, हाहाहूहूअंगं, हाहाहूहू, विद्युल्लता, लतांगं, लता, महालतांगं, महालता, शीघ्रप्रकंपितं, हस्तप्रहेलिका और अचलात्मक आदि काल परिमाणों को अंकसंख्या प्रदर्शनपूर्वक बताया है। अंकसंख्या की दृष्टि से ये संख्याएँ अत्यन्त महत्व पूर्ण हैं।

लोक के नाना प्रकार के आकार बतला कर गणितानयन किया है, जो कि नवीन न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण हैं। नरकों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, उभय और प्रकीर्णक बिलों का आनयन गणित क्रिया के साथ बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। लम्बाई, चौड़ाई के अतिरिक्त बिलों की स्थूलता का आनयन भी किया है, जो एक नवीन गणित शैली है। अधोलोक व्याख्यान के अन्त में नेमिदेव की यशवृद्धि की आकांक्षा करते हुए बताया है।

> पद्मावतीपुत्रपवित्रवंशः क्षीरोदचंद्रामलयशाः यशाश्य।
> तनांकदः श्रीजिनपादसेवी स नेमिदेवश्चिरमत्र जीयात्॥

मध्यलोक का वर्णन करते हुए द्वीप और समुद्रों के वलय, व्यास, सूचीव्यास, सूक्ष्मपरिधि, स्थूलपरिधि, सूक्ष्मफल, स्थूलफल आदि का गणित प्रदर्शन पूर्वक आनयन किया गया है। गणितानयन प्रक्रिया की दृष्टि से यह प्रकरण रोचक और ज्ञानवर्द्धक

है। आगे चलकर जम्बूद्वीप के षट्कुलाचल और सप्त क्षेत्रों का गणित बहुत विस्तार और स्पष्ट रूप से दिया गया है। श्री, ह्री, आदि देवियों के मन्दिरों के चित्र, उत्सेध, आयाम आदि का प्रमाण, परिधि का प्रमाण एवं अंगरक्षक अनीकादि देवों की संख्या बहुत विस्तार से बतायी गयी है। पद्म, महापद्म आदि छहों सरोवरों का सचित्र वर्णन तथा आयाम, गाम्भीर्य, व्यास, फल आदि का प्रमाण गणित दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। विजयार्द्ध के उत्तर, दक्षिण नगरों की नामावली तथा उनका आयाम, विस्तार आदि बतलाया गया है। सुमेरुपर्वत तथा उसके अवयव भद्रशाल, नन्दन सौमनस, पाण्डुकवन आदि का गणित भी विस्तार पूर्वक सचित्र बतलाया गया है। गणितज्ञों के लिये यह प्रकरण मनोरंजक ही नहीं, बल्कि विशेष ज्ञानवर्द्धक है। पूर्वविदेह और पश्चिम विदेह के देवारण्य और भूतारण्य के विस्तार आदि का निरूपण करने के अनन्तर बताया है।

> वर्षन्ति मेघवृन्दानि काले काले यथायथम्।
> दुर्भिक्षं दैन्यता नास्ति नास्ति चौरादिकं भयम्॥
> कुदेवः कुत्सितो लिङ्गी कुशास्त्रं न च गर्विता।
> शलाकापुरुषाः सन्ति सन्ति केवलिनः सदा॥

अर्थात्—इन दोनों वनों में सदा यथासमय वर्षा होती है। दुर्भिक्ष, दैन्य, आधि, व्याधि, चौर आदि का अभाव है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र वहाँ पर नहीं हैं। सर्वदा त्रेसठ शलाका पुरुष और केवली विद्यमान रहते हैं।

अनन्तर भरतक्षेत्र के उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के षट्कालों का वर्णन करते हुए चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और चौबीस तीर्थकरों की आयु, शरीरोन्नति, विभूति आदि का संदृष्टि प्रदर्शन पूर्वक सुन्दर वर्णन किया है। मध्यलोक व्यावर्णन में व्यास, परिधि, सूचीफल, क्षेत्रफल, घनफल आदि के आनयन के लिये कई करणसूत्र भी दिये हैं तथा इन करणसूत्रों का सोदाहरण गणित विस्तार भी बतलाया गया है। अन्त में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवों की आयु बतलायी गयी है।

ऊर्ध्वलोक व्यावर्णन नामक प्रकरण के प्रारम्भ में भवनवासी देवों के ग्रह, आवास, निलय आदि का वर्णन करने के पश्चात् इनकी ऋद्धि, इन्द्र तथा आदिपरिषद, मध्य-परिषद और बाह्यपरिषद की विभूति का विस्तार सहित वर्णन किया है। यों तो यह प्रकरण त्रिलोकसार से प्रायः मिलता जुलता है, किन्तु भेद-प्रभेद और कथनशैली में में थोड़ा अन्तर है। भवनवासियों की देवियों, उनकेनिवासस्थान आदि के सम्बन्ध का

विस्तार से प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है। व्यन्तर देवों के वर्णन में आकाशोत्पन्ना, प्रीतिङ्करा, भुजगा, महागंधा, गंधाका, अनुत्पन्ना, उत्पन्ना, कुसुमाण्ड, अन्तर्वासिन, दिग्वासिन, नित्योत्पादक आदि भेदों का बड़े ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। जोतिर्लोक व्यावर्णन में ज्योतिषियों के विमान, बिम्ब आदि का आयाम, विस्तार और स्थूलता प्रभृति बातों का विस्तार से विवेचन किया गया है। आगे चलकर भरत, हिमवत्, हैमवत, महाहिमवत्, हरिवर्ष, निषध, विदेह, नील, रम्यक, रुक्मी, हैरण्यवत, शिखरी और ऐरावत क्षेत्र की ताराओं का अंकसंदृष्टि द्वारा विवेचन किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश और प्रभाव का गणित भी जानकारी के लिये उत्तम है। इनकी शीघ्र, मन्द और मध्य गतियां का विवेचन भी ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से ज्ञान वर्द्धक है। कृतिका से नक्षत्र गणना कर नक्षत्रों की ताराओं और उनकी आयु आदि का कथन भी जानकारी बढ़ाने वाला है। ऊर्ध्वलोक व्यावर्णन में सोलह स्वर्गों का गणित पूर्वक विस्तार से वर्णन किया है। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक विमानों का सचित्र वर्णन करते हुए इनके आयाम आदि सगणित बतलाये गये हैं। इस प्रकरण में जानकारी के लिये अनेक बातें हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ करणानुयोग का अनूठा है। प्रकाशन संस्थाओं को ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर ध्यान देना चाहिये। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषिता संदृष्टियों की है। समग्र ग्रन्थ में लगभग १५० संदृष्टियाँ हैं।
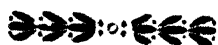
साहित्य-समीक्षा

वर्णी जैनग्रन्थमाला काशी के तीन प्रकाशन—

पञ्चाध्यायी:— टीकाकार: व्या० वा० साहित्यसूरि पं० देवकीनन्दन सिद्धान्त-शास्त्री; सम्पादक: श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; पृष्ठसंख्या: ५६+३३९ और मूल्य नौ रुपये।

स्वर्गीय व्याख्यान वाचस्पति पं० देवकीनन्दन शास्त्री ने पञ्चाध्यायी का हिन्दी अनुवाद आज से बहुत पहले किया था तथा यह ग्रन्थ शास्त्राकार प्रकाशित भी हुआ था; किन्तु प्रस्तुत संस्करण में अनेक विशेषताएँ हैं। श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने विशेषार्थ लिखकर इस ग्रन्थ की उपयोगिता में चार चाँद लगा दिये हैं। शंका, समाधानों के द्वारा ग्रन्थ का विषय बिलकुल स्पष्ट हो गया है। ग्रन्थारम्भ में ५२ पृष्ठों की विस्तृत प्रस्तावना में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों की आलोचना उक्त पंडित जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ की है। ग्रन्थकर्ता के 'दरिद्र और श्रीमान् कर्म कृत हैं' इस विषय की समीक्षा अपने अध्ययन के आधार पर की है तथा आपके द्वारा निकाला गया निष्कर्ष बहुत कुछ अंशों में ठीक जँचता है। यद्यपि आपने कोई प्रबल शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है, फिर भी निष्कर्ष बुद्धि ग्राह्य है। पंडित जी प्रस्तावना में वेदमीमान्सा करते हुए वेद के कार्य का जो निर्देश किया है, वह आपके शास्त्रीय चिन्तक का द्योतक है। जैन कर्म मान्यता के अधार पर आपके द्वारा निकाला गया यह परिणाम प्रत्येक विचारक को अपील करेगा। इसी प्रकार व्यवहार और निश्चय नय के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का प्रमाण देते हुए सुन्दर और प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले हैं।

निमित्त और उपादान की चर्चा की गुन्थी सुलझाने का प्रयत्न पंडित जी ने किया है। अनेक लौकिक उदाहरण भी दिये हैं; परन्तु चर्चा अधूरी सी है, इसको और थोड़ा विस्तृत करने के आवश्यकता थी। प्रस्तावना ज्ञानवर्द्धक और पाण्डित्यपूर्ण है। वर्णी ग्रन्थमाला ने पञ्चाध्यायी का यह सर्वाङ्ग सुन्दर संस्करण प्रस्तुत किया है। स्वाध्याय प्रेमियों को लाभ उठाना चाहिये।

तत्त्वार्थ सूत्र (हिन्दी विवेचन)—विवेचन कर्त्ता: श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री; पृष्ठ संख्या: ३२×४६१; मूल्य: पाँच रुपये।

तत्त्वार्थसूत्र जैन समाज के सभी फिरकों में मान्य है। इसका विस्तृत विवेचन श्वेताम्बर परम्परा के आधार पर श्री पं० सुखलाल जी ने लिखा था, उसी से प्रेरणा

प्राप्त कर दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भ में विवेचन कर्त्ता ने तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता के सम्बन्ध में अपना नया ऐतिहासिक अनुसन्धान उपस्थित किया। आपने सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य को सिद्ध किया है तथा उमास्वाति को श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य का कर्त्ता इनसे भिन्न व्यक्ति बताया है। प्रस्तावना छोटी होती हुए भी तथ्यपूर्ण है।

श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री अध्ययनशील, सिद्धान्त के मर्मज्ञ और दार्शनिक विद्वान हैं। इस विवेचन में आपकी प्रखर प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं। विवेचन की शैली सरल, सुबोध, रुचिवर्धक एवं हृदय गम्य है। पंडित जी ने इस विवेचन द्वारा एक बड़ी कमी की पूर्त्ति की है। जैन सिद्धान्त के समुद्र इस सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन के प्रचार की परमावश्यकता है। प्रत्येक मन्दिर और पुस्तकालय में तो इसे रखना ही चाहिये। स्वाध्याय प्रेमियों को भी तत्त्वार्थ के रहस्य को समझने में यह विवेचन अत्यधिक सहायक होगा। छपाई-सफाई, गेटप आदि उत्तम हैं।

अपभ्रंश-प्रकाश:—लेखकः श्री देवेन्द्र कुमार एम० ए०, साहित्याचार्य; प्रस्तावना लेखकः श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; पृष्ठ संख्याः ८+७+२२४; मूल्यः तीन रुपये।

हिन्दी भाषा का निकास अपभ्रंश से हुआ है; अतः हिन्दी भाषा के अध्ययन के लिये अपभ्रंश भाषा का व्याकरण जानना आवश्यक है। श्री देवेन्द्रकुमार उदीयमान लेखक और विचारक हैं, आपकी लेखनी से प्रसूत रचना हिन्दी भाषा के अध्ययन में विशेष सहायक होगी। वर्णी ग्रन्थमाला के संचालक उपर्युक्त अवसर के उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन के लिये धन्यवादार्ह हैं।

श्री रायचन्द्र शास्त्र माला के दो प्रकाशन—

प्रथमरति प्रकरण—रचयिता उमास्वाति; सम्पादकः श्री प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य; प्रकाशकः श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल, जौहरी बाजार बम्बई; मूल्य छः रुपये।

इस ग्रन्थ में २२ अधिकार हैं। इन अधिकारों में कषाय, इन्द्रिय, राग द्वेष आदि को जीतने का मार्ग बतलाया गया है। इसका विषय तत्त्वार्थसूत्र के विषय से बहुत-कुछ साम्य रखता है। संसार के विषयों में लिप्त व्यक्ति के लिये विरक्ति प्राप्त करने में इस ग्रन्थ का स्वाध्याय परमोपयोगी होगा। इसका प्रत्येक श्लोक ललित, सरस और वैराग्य से ओत-प्रोत है। माध्यस्थ्य, वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम, प्रशम दोष-क्षय और कषाय विजय आदि वैराग्य के पर्यायवाची नाम हैं। जब तक व्यक्ति

विकारों के आधीन रहता है, परतन्त्र है; जब उसकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुख हो जाती है, वह स्वावलम्बी बन जाता है। रागादि का बिल्कुल शमन हो जाना प्रशम है, इससे बढ़कर अन्य कोई सुख और शान्ति नहीं है। जीव के लिये अशान्ति का कारण राग ही है। आचार्य ने इसके कई नाम बतलाये हैं। वास्तव में राग के अभाव में जो आनन्दानुभूति होती है, वह वर्णनातीत है, शाश्वत है और परमोपादेय। इस ग्रन्थ में इसी आनन्दानुभूति की प्राप्ति का उपाय बतलाया है।

अनुवाद प्रो० राजकुमार जी साहित्याचार्य ने बहुत ही सुन्दर किया है। हृदयंगम करने में विशेषार्थ तथा हरिभद्रसूरि की संस्कृत टीका का भाषानुवाद विषय समझने में बड़े सहायक हैं। इस सुन्दरतम अनुवाद के लिये उदीयमान लेखक साधुवादार्द हैं। छपाई-सफाई अच्छी है। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगाना चाहिये।

न्यायावतार—रचयिता: आचार्य सिद्धसेन दिवाकर; अनुवादक: पं० विजयमूर्त्ति शास्त्राचार्य, एम० ए०; मूल्य: पांच रुपये।

यह न्याय शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण, प्रमेय का सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। इसमें कुल ३२ कारिकाएँ हैं। अनुवादक ने मूल कारिकाओं और सिद्धर्षिगणि की संस्कृत टीका का भाषानुवाद किया है। न्याय शास्त्र के अनुवादक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इस कारण अनुवाद की भाषा प्रायः उलझी रह जाती है। इस ग्रन्थ के अनुवाद में पर्याप्त श्रम किया गया है, तथा भाषा की उलझन को बहुत कुछ अंशों में दूर करने का प्रयास सफल रहा है। न्याय शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये ग्रन्थ उत्तम है। छपाई सफाई, गेटप आदि अच्छे हैं।

प्रशस्ति संग्रह— सम्पादक: श्री कस्तूर चन्द कासलीवाल एम० ए० शास्त्री; प्रकाशक: प्रबन्ध कारिणी कमेटी, श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी; मूल्य छः रुपये।

जैन इतिहास के निर्माण में ग्रन्थ प्रशस्तियाँ बड़ी उपयोगी हैं। दिगम्बर जैन समाज में एक प्रशस्तिसंग्रह जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से प्रकाशित हुआ था और दूसरा प्रशस्तिसंग्रह यह है। इसमें आमेर शास्त्र भंडार तथा जयपुर के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषा के ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संकलन किया गया है। प्रस्तावना में सम्पादक ने अनेक ज्ञातव्य बातों के साथ प्रशस्ति संग्रह में आये हुए आचार्यों, लेखकों एवं कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इस प्रशस्ति संग्रह से कई नवीन ग्रन्थों का पता चलता है। अपभ्रंश भाषा का विपुल साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा है, इसके प्रकाशन की व्यवस्था शीघ्र होनी चाहिये। प्रशस्तियों

का सम्पादन सुन्दर हुआ है। यदि सम्पादक लिपिकर्त्ताओं की प्रशस्तियों के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ और प्रकाश डालते तो इस प्रकाशन में चार-चाँद लग जाते। हम इस बहुमूल्य ऐतिहासिक संकलन के लिये उदीयमान प्रतिभाशाली सम्पादक तथा महावीरजी तीर्थक्षेत्र कमेटी को धन्यवाद देते हैं, जिनके प्रयास से प्रशस्तियों का यह संकलन प्रकाशित हुआ है। प्रत्येक अन्वेषक विद्वान् और पुस्तकालय को हमें मंगाना चाहिये।

जैनधातु— प्रतिमालेख (प्रथम भाग)--- सम्पादकः मुनि कान्तिसागर; प्रकाशकः मंत्री, श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार, सूरत।

प्रारम्भ में मुनिजी की एक छोटी सी प्रस्तावना है, जो अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक है। आपने इसमें जैन धातु प्रतिमाओं के संक्षिप्त इतिहास की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। इस संग्रह में संवत् १०८० से सं० १९५२ तक की धातु प्रतिमाओं के लेखों का संकलन किया गया है। इसमें कलकत्ता, बम्बई, अमरावती, भद्रावती, नासिक, बालापुर, नागपुर और सम्मेदशिखर आदि स्थानों की श्वेताम्बर जैन धातु प्रतिमाओं के ३६९ लेख संग्रहीत किये गये हैं। परिशिष्ट में हस्तलिखित एक गुटके के आधार से सिद्धाचल की नव टोंकों के प्रतिमा लेख भी अविकल रूप से दिये गये हैं। अन्त में लेखों में आये हुए आचार्य, प्रतिष्ठापक मुनियों का नाम तथा गच्छ और नगरों के नाम भी दिये हैं, जिससे इन संकलन की उपयोगिता कई गुनी बढ़ गयी है। मुनि जी पुरातत्त्व और कला के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, उनके द्वारा इसका सम्पादन सर्वाङ्गीण सुन्दर हुआ है। इतिहास-प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

नेमिचन्द्र शास्त्री

भारत धर्म महामण्डल वर्धा के दो प्रकाशन—

समाज और जीवन— सम्पादकः जगनालाल जैन साहित्यरत्न; मूल्य एक रुपया।

विचारशील लेखों का यह संग्रह पर्याप्त सुन्दर बन पड़ा है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से 'सुख और शान्ति' शीर्षक निबन्ध हमें बहुत रुचा है। गहन विषय का इतनी चलती भाषा में प्रतिपादन करना, महात्मा भगवानदीन जैसे कुशल कलाकार का ही चमत्कार है। वास्तव में हमलोग सुख-शान्ति नहीं चाहते, बल्कि उसकी बिडम्बना करते हैं। यों तो सभी निबन्ध प्रशंसनीय हैं, पर उदाहरण के लिये उपर्युक्त निबन्ध ही चुना है। राजमल ललवानी के निबन्ध भी हमारे जीवन की

जड़ता को दूर करने में पर्याप्त सहायक होंगे। संस्कार समय की देन हैं, परिस्थितियों की देन हैं, पर कुछ संस्कार सदियों से लिपट कर हमें जड़ बनाये हैं, पर आज के युग में उन स(ं)स्कारों का कोई उपयोग नहीं है। इस पुस्तक के सभी निबन्धों के पीछे पर्याप्त चिन्तन है। छपाई-सफाई, गेटप आदि अच्छे हैं।

जीवन जौहरी—लेखक: श्री रिषभदास रांका; सम्पादक: जमनालाल जैन साहित्यरत्न; मूल्य एक रुपया चार आना।

प्रस्तुत पुस्तिका में श्री रिषभदास रांका ने अपने भाई के नाम जो बी० कम० पास कर जीवन-संग्राम में प्रवेश कर रहे हैं, पत्र लिखे हैं। स्व० श्री जमनालाल बजाज के जीवन-संस्मरण पत्र में लिख-लिख कर रांकाजी ने अपने भाई को उपदेश-संबल दिया है। उदाहरण के लिये घटनाओं का चुनाव बहुत समीचीन है। सत्य और अहिंसा का दैनिक जीवन में प्रयोग स्व० बजाज जी ने किस सफलता से किया, इसके प्रचुर उदाहरण पुस्तक में है। संस्मरणों द्वारा मनुष्य जीवन में बहुत कुछ सीख सकता है, इस दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है पुस्तक को पत्रावली में लिखकर रांका जी ने संस्मरणों को प्रभावशाली बना दिया है। छपाई अच्छी है।

प्रो० राजेश्वरीदत्त मिश्र एम० ए०

समाज मनोविज्ञान के कुछ पहलू—लेखकः प्रमोद कुमार एम० ए०; प्रकाशकः सरला पुस्तक माला, जमशेदपुर; मूल्यः पाँच रुपये।

हिन्दी भाषा में समाज मनोविज्ञान पर यह प्रथम प्रयास है। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिये तो यह लाभदायक है ही, साथ ही रोचक शैली में होने के कारण साधारण पाठकों के लिये भी उपादेय है। कोई भी पाठक इसके द्वारा अपने व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ लाभ उठा सकता है। लेखक का वैज्ञानिक और प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रशंसनीय है। सामाजिक विषयों पर यद्यपि अधिक वैज्ञानिक विचार नहीं किया है फिर भी हिन्दी भाषा में इस पुस्तक का महत्व है।

—प्रो० रामनरेश सिंह एम० ए०

भारतीय साहित्य सदन की प्रकाशित चार पुस्तिकाएँ—

आत्मदर्शन (प्रथम भाग)—लेखक: श्री प्रो० पन्नालाल धर्मालङ्कार काव्यतीर्थ; पृष्ठ संख्या ८०; मूल्य: आठ आने।

इसमें संवाद द्वारा णमोकारमन्त्र, सदाचार, धर्म, सप्तव्यसन, पाँच पाप आदि को परिष्कृत आधुनिक भाषा में समझाया है। यह छात्रों के लिये विशेषोपयोगी है। चरित्र

निर्माण और धार्मिक ज्ञान कराने के लिये यह पुस्तक विशेष कर लिखी गयी है, इससे एक अभाव की पूर्ति हो जाती है। लिखने का ढंग नया है। छात्र इस पुस्तक को बड़ी रुचि से पढ़ेंगे। ऐसी उपयोगी पुस्तक का पठन क्रम में शामिल होना लाभदायक होगा। छपाई सफाई भी अच्छी है, किन्तु प्रूफ संशोधन की असावधानी यत्र तत्र नजर आती है। जैसे--पृष्ठ ८० में मोक्षमार्गस्य, तद्गुणलब्धये आदि। द्वितीय संस्करण में भाषा को सरल तथा पारिभाषिक शब्दों के बोझ को हल्का करना चाहिये। आत्म दर्शन नाम कुछ क्लिष्ट सा है, इसको भी बदलने की आवश्यकता है।

भक्तामर स्तोत्र सार्थ--अनुवादक : श्री पं० अमृतलाल जी साहित्यदर्शनाचार्य; पृष्ठ संख्या ४+४८; मूल्य : छह आने।

इसमें संस्कृत श्लोकों के नीचे हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वय, शब्दार्थ और भावार्थ दिया गया है। प्रारम्भ में पं० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री, प्रधानाध्यापक - श्री स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस का प्राक्कथन है। जिसमें श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित ४४ और दिगम्बर परम्परा में प्रचलित ४८ पद्यों के रहस्यों को बतलाया है। श्री पं० अमृतलाल जी साहित्य व दर्शन के विद्वान ने इनका अनुवाद किया है। प्रत्येक श्लोक का विभक्ति के अनुसार अर्थ लिख कर नीचे भावार्थ में विषय को स्पष्ट कर दिया गया है। श्री पं० अमृत लाल जी दर्शन व साहित्य के विद्वान हैं, उनकी इस विद्वत्ता की छाप इस अनुवाद पर स्पष्ट है। अब तक के प्रकाशित भक्तामर के हिन्दी अनुवादों में यह निस्संन्देह प्रामाणिक अनुवाद है। आचार्य मानतुङ्ग के दो श्रेष्ठ चित्रों ने प्रस्तुत संस्करण को और भी चित्ताकर्षक बना दिया है। यद्यपि कला की दृष्टि से दोनों ही चित्रों में समचतुरस्र संस्थान का अभाव है। जंजीर से जकड़े हुए चित्र में कुहनी से हाथ तक का भाग सम नहीं है। मुख पृष्ठ के चित्र में भी हाथ जोड़ने की मुद्रा में अस्वाभाविकता है। फिर भी इस सुन्दर संस्करण के लिये प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

दीपमालिका विधान-- सम्पादक : श्री प्रो० पन्नालाल धर्मालंकार काव्यतीर्थ; पृष्ठ संख्या: २ + १२ + ४८; मूल्य: आठ आने।

इसमें स्तोत्र और दीपमालिका सम्बन्धी पूजाओं का संकलन है। यद्यपि इसमें सायंकालीन दीपमालिका के पर्व का संक्षिप्त विधान है, फिर भी बही खाते आदि की पूजा तथा अन्य तत्सम्बन्धी कार्यों की विशेष क्रियाओं का अभाव खटकता है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि क्रिया-काण्ड के विशेष प्रोफेसर साहब ने नवीन बही खातों के संस्कार के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला, फिर भी सामान्य पाठकों के

लिये यह विधान उपयोगी है। अगला संस्करण संशोधन सहित प्रकाशित होने की आवश्यकता है।

मोक्षशास्त्र— अनुवादक: प्रो० पन्नालाल धर्मालङ्कार का०तीर्थ; पृष्ठ संख्या: २३ + ३५ + ३५ + ३८९; मूल्यः दो रुपये।

प्रारम्भ में ख्याति प्राप्त दार्शनिक विद्वान प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए० की प्रस्तावना है, जिसमें आपने आचार मार्ग और ज्ञानमार्ग पर जोर देते हुए आचार मार्ग के लिये ज्ञानमार्ग की अत्यन्त आवश्यकता बतलायी है तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में प्राप्त मोक्षशास्त्र की टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जोर दिया है। आपका अनुमान है कि दिगम्बर परम्परा की रचनाएँ श्वेताम्बर परम्परा की रचनाओं से प्राचीन है। मोक्षशास्त्र के अब तक अनेक संस्करण निकल चुके हैं, प्रत्येक संस्करण की अपनी-अपनी कुछ न कुछ विशेषता रहती है। इस संस्करण को प्रो० सा० ने अंग्रेजी पढ़नेवाले छात्रों के लिये उपयोगी बनाना चाहा है। परन्तु हमारा यह ख्याल है कि ऐसे छात्रों की मनोवृत्ति का अध्ययन कर यदि प्रोफेसर सा० सरल और सुबोध भाषा में उपर्युक्त विषय का ज्ञान कराने के लिये कोई नवीन पुस्तक लिखते तो ज्यादा लाभ होता। हमारे सम्मान्य विद्वानों को प्रकाशित साहित्य के अनुवाद की ओर न झुक कर अब नवीन साहित्य के निर्माण या पुरातन अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन की ओर लगना चाहिये।

प्रस्तुत संस्करण के गेटप और मुद्रण की हम प्रशंसा करते हैं। प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियाँ इस ग्रन्थ माला के सभी प्रकाशनों में है। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगा कर लाभ उठाना चाहिये।

माधवराम न्यायतीर्थ

सम्पादकीय

आगामी अंक—श्रीदेवकुमाराङ्क

हम अपने अतीत का इतिहास जानने के लिये अधिक उत्सुक रहते हैं; क्योंकि वर्तमान की अपेक्षा अतीत हमें अधिक प्रिय होता है। हम अतीत के गौरव द्वारा अपने वर्तमान को गौरवमय बनाना चाहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देश, समाज और राष्ट्र अपने उज्वल अतीत के कणों को एकत्रित कर वर्तमान का निर्माण करता है। जिस जाति का अतीत जितना प्रकाशमान होता है, उसका वर्तमान और भविष्य भी उतना ही समुज्ज्वल।

जैन समाज का भी अतीत अत्यन्त प्रकाशमान और गौरवशाली है; परन्तु इसके क्रमबद्ध इतिहास का निर्माण अभी होना शेष है। यद्यपि सुदूर अतीत के इतिहास सृजन की ओर अनेक जैन विद्वान और जैन संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं; परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि निकट अतीत के इतिवृत्तों के संकलन की ओर जैन समाज का ध्यान अभी नहीं गया है। इस बीसवीं शताब्दी में जैनधर्म और उसके अनुयायियों की गतिविधि क्या रही है? समाज के कर्णधार कौन कौन व्यक्ति हुए और उन्होंने समाज का संचालन कैसा किया? किस दिशा में किस प्रकार प्रगति की है? उन्नति के लिये कौन-कौन आन्दोलन किये गये हैं तथा उनमें कहाँतक सफलता और असफलता मिली है? आदि इतिवृत्तों के संचय की ओर हमारा बिलकुल ध्यान नहीं गया है। इस बीसवींशती के अर्धशतक की ओर हमने कभी देखने का प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि विगत पचास वर्षों के इतिहास निर्माण के लिये हमारे पास प्रामाणिक सामग्री मौजूद है तथा जीवित वृद्ध व्यक्तियों की जुबानी भी इतिहास निर्माण के बहुत से उपकरण प्राप्त हो सकते हैं। आज यह सामग्री सुलभ है, पर कुछ ही दिनों के बाद यही ऐतिहासिक सामग्री अन्धकाराच्छन्न हो जायगी। जैसे आज सुदूर अतीत के इतिहास निर्माण के लिये पुरातन खण्डहरों को झाँकना पड़ रहा है, तथा जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों के पन्नों को टटोलना पड़ रहा है; उसी प्रकार सौ-दो सौ वर्ष के बाद ही इस शतक के इतिहास के निर्माण के लिये भी हमें जी-तोड़ श्रम करना पड़ेगा। आज इस कार्य को हम अल्पशक्ति और अल्प श्रम से कर सकते हैं, भविष्य में हमें इसके लिये अपनी अधिक शक्ति और श्रम लगाना पड़ेगा।

लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी बनारस का ध्यान इस ओर गया था। उन्होंने जैन समाज के इस अर्धशतक के इतिहास को लिखने के लिये

साधन-सामग्री एकत्रित की थी तथा श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें भी मंगवाई थीं। इस विषय पर उक्त पंडितजी के दो-तीन फुटकर निबन्ध भी जैन सन्देश में प्रकाशित हुए थे; परन्तु अपनी उलझी हुई परिस्थितियों के कारण उन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य को बीच में ही छोड़ दिया।

'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' के परिवार ने इधर यह निर्णय किया है कि इस अर्धशतक में जितने प्रमुख समाज सेवक हुए हैं; जिन्होंने समाज में जीवन ज्योति प्रकाशित की है, उन व्यक्तियों के इतिवृत्त एवं सेवाओं के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से निबन्ध संकलित कर विशेषाङ्क प्रकाशित किये जाँय। अपने इस निर्णय के अनुसार 'भास्कर' की अगली किरण 'श्रीदेवकुमाराङ्क' नाम से जैन क्षितिज पर उदित होगी। स्वर्गीय दानवीर श्री बाबू देवकुमार जी का जन्म आरा नगर में चैत्र सुदी ८ सं० १९३३ में धनी-मानी, परिवार में हुआ था। आपके पिता का शुभ नाम श्रीमान् बाबू चन्द्रकुमार जी था और पितामह का नाम श्रीमान् पण्डित प्रभुदयालजी था। श्रीमान् बाबू देवकुमारजी रईस ने अपने जीवन काल में तन, मन, धन से जैनधर्म का प्रचार और प्रसार किया था। जैन समाज की प्रगति का इतिहास आपके जीवन के साथ बहुत कुछ सम्बद्ध है। आपने जैन समाज में शिक्षा प्रसार, जागृति और उन्नति के अनेक कार्य किये हैं। आप अपने समय के प्रमुख नेता थे, जैन समाज का अपने जीवनकाल में आपने सच्चा पथ-प्रदर्शन किया है।

जैनगजट के वर्षों सम्पादक आप रहे। महासभा का नेतृत्व अपने ऊपर लेकर आपने इस संस्था की अत्यधिक उन्नति की थी। तीर्थक्षेत्रों की सुरक्षा और सुव्यवस्था का सूत्रपात आपके ही द्वारा हुआ था। मन्दारगिरि जैन क्षेत्र को अन्य धर्मावलम्बियों के हाथ से निकालकर जैन समाज को सौंप देना आपका ही बुद्धिकौशल था।

जैन साहित्योद्धार की प्रवृत्ति के जन्मदाता आप ही हैं। यत्र-तत्र बिखरे हुए तथा ग्रन्थागारों में बन्द प्रकाश और धूप के अभाव में दीमक के पेट में जाते हुए ग्रन्थ-रत्नों की रक्षा और संचयन के लिये आपने जीवन के अन्त समय में उपदेश दिया था—

"आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मन्दिरों और शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिये; क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्व का अस्तित्व रहेगा; मैं तो इस ही चिन्ता में था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जबतक इस कार्य को पूरा न करूँगा, तबतक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभोग्यदय से मुझे

इस परम पवित्र कार्य को करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ; अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तम्भ स्वरूप हैं, इसलिये इस परमावश्यक कार्य का सम्पादन करना आप सबका परम कर्त्तव्य है"।[1]

अनेक समाजोत्थान के कार्यों के अतिरिक्त श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की स्थापना श्री बा० देवकुमारजी ने ही की थी। आपकी मृत्यु ३१ वर्ष की अवस्था में श्रावण सुदी ८ सं० १९६४ में हो गयी।

विद्वान् लेखकों से सादर अनुरोध है कि इस अर्धशती के प्रकाशमान नक्षत्र श्री बा० देवकुमारजी के सम्बन्ध में संस्मरण, निबन्ध, कविता आदि अपनी रचनाएँ भेजने का कष्ट करें। जिन महानुभावों के पास उनके पत्र हों वे शीघ्र उन पत्रों को यहाँ भेजने की कृपा करें। रचनाएँ मार्च महीने के अन्ततक आ जानी चाहिये।

सम्राट् अकबर पर जैनधर्म का प्रभाव—

सम्राट् अकबर अध्यात्म प्रेमी था। आत्म-तत्त्व को अवगत करने की ओर उसकी विशेष रुचि थी; इसी कारण उसने 'दीनइलाही' नामक एक नये धर्म का प्रचार करना चाहा था। इस नये धर्म की नींव अध्यात्मवाद पर आश्रित थी। अकबर के दरबार में जैनाचार्य श्री हीरविजय सूरि, विजयसेन, जिनचन्द्र और भानुचन्द्र गुरु के पद पर आसीन थे। दिगम्बर जैन धर्मानुयायी भटानियाकोल (अलीगढ़) निवासी साहु टोडर अकबर की शाही टकसाल में अध्यक्ष के पद पर आसीन थे। इनका प्रभाव भी अकबर पर पर्याप्त पड़ा था। सम्राट् की सहायता से इन्होंने मथुरा के क्षेत्रों की यात्रा के लिये एक विशाल संघ निकाला था और वहाँ पर जाकर जैन स्तूपों का जीर्णोद्धार कराया था। मेड़ता के नवा मन्दिरों के शिलालेखों से प्रतीत होता है कि अकबर पर अहिंसा धर्म का पूरा प्रभाव था। बताया गया है कि—

श्री अकब्बर साहि प्रदत्त युगप्रधानपदप्रवरैः प्रतिवर्षाषाढीयाष्टाह्निकादिषाण्मासिकामारिप्रवर्तकैः। श्रीपंत (स्तम्भ) तीर्थोदधिमीनादिजीवरक्षकैः। श्री शत्रुञ्जयतीर्थकरमोचकैः। सर्वत्र गोरक्षाकारकैः पंचनदीपीरसाधकैः ।:युगप्रधानश्रीजिनचन्द्रसूरिभिः। आचार्य श्री जिनसिंहसूरि श्री समयराजोपाध्याय वा० हंसप्रमोद वा० समयसुन्दर वा० पुण्यप्रधानादिसाधुयुतैः।[2]

अर्थात्— अकबर ने जैन मुनियों को युगप्रधान पद प्रदान किये। प्रति वर्ष आषाढ़ के अष्टाह्निका पर्व में जीवहिंसा निषेध (अमारि); प्रति वर्ष सब मिलाकर छः

१—श्री बा० देवकुमारजी का यह उपदेश लिखितरूप में जैन सिद्धान्त भवन, आरा में सुरक्षित है।

२—प्राचीन जैन लेख संग्रह 'लेखाङ्क' ४५३

१६१७ पर्यन्त अपने समस्त राज्य में जीवहिंसा निषेध, खम्भात के तालाब में जलचर जीवों की रक्षा; शत्रुञ्जयतीर्थ का कर मोचन और सर्वत्र गोरक्षा प्रचार आदि कार्य किये थे।

जम्बूस्वामी चरित्त में कवि राजमल्ल ने अकबर का वर्णन करते हुए लिखा है—

मुमोच शुल्कं त्वथ जेजियाभिधं स यावदंभोधरभूधराधरम्।
धराश्च नद्यः सरितांपतेः पयः पयः शशीश्रीमदकब्बरस्य च ॥
वधैनमेतद्वचनं तदाहरतो न निर्गतं क्वापि निसर्गतं शिव (तश्च ?) तः।
अनेन तद्यूनमुदस्तमेनसः सुधर्मराजः किल वर्ततेऽधुना ॥
प्रमादमादाय जनः प्रवर्तते कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः।
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं निवारयामास विदांवरः स हि[१] ॥

अर्थात्— अकबर ने जैनधर्म से प्रभावित जजिया कर बन्द कर दिया था। हिंसक वचन उसके मुख से नहीं निकलते थे। हिंसा से वह सदा दूर रहता था, द्यूत का भी उसने अपने राज्य में निषेध कर दिया था। मद्यपान का भी उसने निषेध कर दिया था, क्योंकि मद्य पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे व्यक्ति की कुमार्ग में प्रवृत्ति होती है।

श्री जैन सिद्धान्त-भवन के अंजनासुन्दरीरास की प्रशस्ति में श्री विद्याहर्ष सूरि ने लिखा है कि हीरविजयजी ने अकबर को प्रतिबोधा था तथा श्री विजयसेन गणि ने अकबर के दरबार में भट्ट नामक विद्वान को वाद-विवाद द्वारा पराहत किया था। इसी कारण जैनधर्म से प्रभावित होकर अकबर ने अमारि घोषणा करायी थी। जैनधर्म के प्रभाव के कारण अकबर के हृदय में अहिंसा की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित होती थी। श्री विजयसेन गणधरार रे। त्रिस्ता०[२]

जिणि शाहि अकबर नी सभा माहि भट्ट सुं रे कीधो कीधो वादु अभंग रे।
मिथ्यामतरेपडी करी रे जिणि गच्छु गच्छु जिन शासन रंग रे ॥
गाय-वृषभ-महिषादिक जीवनी रे, कीधी कीधी निरन्त अमारि रे।
बंदि नकालइ को गुरुवयण थी रे, द्रव्य अपुत्र नुं धारि रे ॥

अर्थात्— अकबर ने जैनधर्म से प्रभावित होकर गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि की हिंसा का निषेध कर दिया था। अकबर ने प्रसन्न कैदियों को छुटकारा दिया था तथा जैन गुरुओं के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की थी। दान, पुण्य के कार्यों

१—जम्बू स्वामी चरित
२—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० १०६

में भी यह सदा अग्रेसर रहता था ।

ईसाई पादरी पिन्हेरो ने लिखा है कि अकबर जैन नियमों पर अमल करता है। जैन विधि से आत्म चिन्तन और आत्म आराधन में सदा संलग्न रहता है। मांस, मदिरा और द्यूत की निषेध आज्ञा प्रचलित कर दी है।

सम्राट् जहाँगीर ने राज्यारोहण के पश्चात् १२ आज्ञाएँ प्रचलित की थीं। इनकी ११ वीं आज्ञा के देखने से पता चलता है कि सम्राट् अकबर जैनधर्म से कितना प्रभावित था।

"मेरे जन्म मास में, सारे राज्य में मांसाहार निषिद्ध रहेगा। वर्ष में एक-एक दिन इस प्रकार के रहेंगे, जिसमें सभी प्रकार की पशुहत्या का निषेध है। मेरे राज्याभिषेक का अर्थात् गुरुवार और रविवार के दिन भी कोई मांसाहार नहीं करेगा। क्योंकि संसार का सृष्टि-सर्जन सम्पूर्ण हुआ था, उस दिन किसी भी जन्तु का प्राण घात करना अन्याय है। मेरे पिता ने ग्यारह वर्षों से अधिक समय तक इन नियमों का पालन किया है और उस समय रविवार के दिन कदापि मांसाहार नहीं किया। अतः मैं भी अपने राज्य में उन दिनों में जीवहिंसा का निषेधात्मक उद्घोषणा करता हूँ"।[1]

जिनचन्द्रसूरि ने अकबर को प्रतिबोध कराने के लिये 'अकबर प्रतिबोध रास' नामक एक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रन्थ से प्रकट होता है कि अकबर ने अनेक अवसरों पर जैनपूजा करवायी थी। कहा जाता है कि एक समय अकबर के पुत्र सलीम सुरत्राण के मूल नक्षत्र के प्रथम पाद में कन्या का जन्म हुआ। ज्योतिषी लोगों ने कन्या के ग्रह पिता के लिये अनिष्टकारक बतलाये तथा उसका मुख भी देखने का निषेध किया। सम्राट् अकबर ने शेख अबुलफजल आदि विद्वानों को बुलाकर मूल नक्षत्र की शान्ति का उपाय पूछा। उनसे परामर्श कर सम्राट् ने मंत्रीश्वर कर्मचन्द्र को आदेश दिया कि जैनदर्शन के अनुसार इस दोष की उपशान्ति के लिये उचित प्रबन्ध शीघ्र किया जाय।

सम्राट् की आज्ञानुसार मन्त्रिवर कर्मचन्द्र ने सोने, चाँदी के कलशों द्वारा चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन श्री सुपार्श्वनाथ भगवान का अभिषेक धूमधाम से सम्पन्न किया। पूजन समाप्त होने पर मंगल दीपक और आरती के समय सम्राट् और उनके पुत्र अनेक दरबारियों के साथ वहाँ आये और दश हजार रुपये जिन मन्दिर को भेंट किये। अभिषेक का गन्धोदक सम्राट् और उनके पुत्र ने अपने शरीर में लगाया था।

१—युग प्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि पृ० ११८

तथा इसे रनवास में रानियों के लिये भी भेजा गया। मूलनक्षत्र का समस्त दोष इस पूजा से दूर हुआ।[1]

सम्राट् अकबर ने गिरनार, शत्रुञ्जय, मथुरा आदि जैनतीर्थों की रक्षा के लिये अहमदाबाद के सूबेदार आजमखान को फरमान देकर भेजा था और उससे कहा था कि जैनतीर्थों, जैनमूर्तियों और जैनमन्दिरों को किसी भी प्रकार की हानि मेरे राज्य में कोई नहीं पहुंचा सकता है। जो मेरी इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा, वह दण्ड का भागी होगा।

सम्राट् अकबर जैनधर्म से पूर्ण प्रभावित था, इस बात को सुप्रसिद्ध इतिहासकार विंसेन्ट ए० स्मिथ ने भी अपनी पुस्तक 'अकबर दी ग्रेट मुगल' में स्वीकार किया है।

'अकबर का लगभग पूर्णरूप से मांसाहार का परित्याग करना एवं अशोक के समान क्षुद्र से क्षुद्र जीवहिंसा का निषेध करने के लिये सख्त आज्ञाओं का जारी करना, अपने जैन गुरुओं के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने ही के परिणाम थे। हिंसा करनेवालों को कड़ी सजा देना यह कार्य प्राचीन प्रसिद्ध बौद्ध और जैन सम्राटों के अनुसार था। इन आज्ञाओं से अकबर की प्रजा में बहुत लोगों को और विशेषतः मुसलमानों को बहुत कष्ट हुआ होगा'।[2]

स्मिथ साहब ने इसी पुस्तक में यह भी स्वीकार किया कि जैनधर्म से प्रभावित होने का कारण ही अकबर ने अपने-अन्तिम जीवन में मांसाहार का त्याग कर दिया था।[3] अकबरी दरबार नामक पुस्तक से भी प्रतीत होता है कि अकबर पर अहिंसा की छाप अमिट थी। उसने स्वयं तो मांसाहार का त्याग किया ही था, परन्तु अपने आश्रितों को भी मांसाहार का त्यागी बनाया था। विश्व इतिहास में भी अकबर के धार्मिक विचारों का विश्लेषण करते हुए उसे अध्यात्म प्रेमी, दयालु, परोपकारी और विशुद्धाहारी बताया है। जैनधर्म के प्रभाव के कारण ही उसमें आम गुण थे। बिना जैनधर्म के प्रभाव के दयालु और विशुद्धाहारी होना संभव नहीं है।

श्री प्रो० ईश्वरी प्रसाद ने भी मुसलिम शासन के इतिहास का वर्णन करते हुए अकबर को जैनाचार्यों से पूर्ण प्रभावित बतलाया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि सम्राट् का रहन-सहन बिल्कुल जैन नियमों के अनुकूल है। स्मिथ साहब ने अकबर की जैन शिक्षाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

१—अकबर प्रतिबोध रास के आधार पर 'युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि' में उल्लखित पृ० ८५

२—अकबर दी ग्रेट मुगल पृ० १६७

३—उपर्युक्त ग्रन्थ पृ० ३३५-३३६

"But the Jain holy men undoubtedly gave Akbar prolonged instruction for years, which largely influenced his actions and they secured his assent to their doctrines so far that he was reputed to have been converted to Jainism."[1]

अर्थात्— जैन साधुओं ने वर्षों तक अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया तथा उनके उपदेशों का अकबर के कार्यों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने सिद्धान्त यहाँ तक मनवा लिये थे कि लोग सम्राट को जैन समझने लगे थे। लोगों की यह समझ केवल अनुमान से ही नहीं थी, किन्तु उसमें वास्तविकता भी थी। कई विदेशी यात्रियों को भी अकबर के व्यवहारों से यह निश्चय हो गया था कि अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी था।

हिन्दी विश्वकोश में बताया गया है कि[2] "जीवहिंसा अकबर को प्रिय न थी। वे अधिकतर मांस न खाया करते थे और गोमांस को छूते भी नहीं थे। उनके मत से गोमांस अखाद्य पदार्थ था। एक बार उन्होंने चित्त के आवेग में कहा था, "क्या करूँ, मेरा शरीर अधिक बड़ा नहीं है। यदि मेरा शरीर बड़ा होता तो इस मांस पिंड रूपी देह को त्याग देता, जिसमें जगत् के जीव सुख से भोजन करते। प्राणी हिंसा फिर देखने में न आती।" विवाह के सम्बन्ध में अकबर ने कहा था—"यदि इस समय के समान ही मेरी चित्तवृत्ति पहले भी होती, तो शायद मैं विवाह न करता। किससे विवाह करता? जो मुझसे अवस्था में बड़ी है, उनको माता की दृष्टि से देखता हूँ। जिनकी अवस्था छोटी है, वे मेरी कन्या के समान हैं और जो समान अवस्था की स्त्रियां हैं, उन्हें मैं अपनी बहन जानता हूँ" अकबर के ऐसे विचार निश्चय ही जैन धर्म के संसर्ग से उत्पन्न हुए थे।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपनी "मुगलसाम्राज्य के पतन के कारण" नामक पुस्तक में लिखा है कि अकबर अहिंसाधर्म का पालन करता था, जिससे अनेक मौलवी उससे असंतुष्ट थे। इन्हीं मौलवियों के सहयोग सलीम अकबर के विरुद्ध हो गया था तथा सलीम को बगावत में सफलता भी ऐसे ही मुसलमानों के सहयोग से प्राप्त हुई जो अकबर की दयालुता के कारण उससे असन्तुष्ट थे। वास्तव में अकबर के ऊपर जैन धर्म का असाधारण प्रभाव पड़ा था, इसलिए वह हिंसा, झूठा, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों का त्यागी था। सदाचार उसके जीवन का प्रमुख

१—जैन टीचर्स ऑफ अकबर

२—हिन्दी विश्वकोश भाग १ पृ० २५.

तत्त्व था। प्रजा के साथ सहानुभूति और वात्सल्य का व्यवहार करता था। प्रजा पालन अपना कर्त्तव्य समझता था, कलाकार और साहित्यकार उसके राज्य में खूब फले-फूले थे।

कवि शिखरचन्द—

विक्रम की बीसवीं शती के हिन्दी जैन कवियों में कवि शिखरचन्द का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। यह प्रसिद्ध कवि वृन्दावन के लघु पुत्र थे। इनकी माता का नाम रुक्मणी था। यह गोयल गोत्री अग्रवाल थे। कवि वृन्दावन का जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में सं० १८४८ में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द्र था। कवि वृन्दावन १२ वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ बनारस में आगये थे। काशीनाथ आदि विद्वानों की सत्संगति का लाभ कवि को हुआ था। यह काशी में बाबर शहीद की गली में रहते थे। इन्होंने चौबीसी पाठ, तीसी चौबीस पूजा पाठ, छन्दशतक, प्रवचनसार टीका एवं फुटकर अनेक पद्य रचे थे।

सुयोग्य कवि की सन्तान भी कवि ही थी। इनके तीन पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र अजित दास और लघुपुत्र शिखरचन्द कवि थे। विंशति विद्यमान जिनपूजा की प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ कवि ने ग्वालियर के भट्टारक राजेन्द्रभूषण जी के उपदेश से सं० १८३२ में रचा था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन्होंने भट्टारक महेन्द्रकीर्त्ति की गद्दी में रहकर पं० मन्नालाल लक्ष्मीचन्द्र तथा दिलसुख लक्ष्मीचन्द्र से भी शिक्षा प्राप्त की थी। जैन शास्त्रों का पाण्डित्य इन्दौर और ग्वालियर के भट्टारकों के पास रहकर प्राप्त किया था; यही कारण है कि इनकी कविता भावनाओं के विश्लेषण के ख्याल से कवि वृन्दावन से भी ऊँचे दर्जे की है। श्री जैन सिद्धान्त भवन में इनकी दो पूजाएँ वर्तमान हैं—विंशति विद्यमान जिनपूजा और जिनसहस्रनाम पूजा। सहस्र नाम पूजा की रचना कवि ने बिहारीलाल अग्रवाल के दि० जैन मन्दिर काशी में वि० सं० १९४२ पौषसुदी ८ को की है। ग्रन्थ लिखना मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी को शुरू किया था, एक महीने में यह विशाल पूजन ग्रन्थ लिखा गया है। इस ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या १०७ है।

विद्यमानविंशति जिनपूजा की प्रशस्ति में बताया है—

स्वस्ति श्री काष्ठासंघे भट्टारकललितकीर्त्तिपट्टस्य राजेन्द्रकीर्त्तिआम्नाय साधुवृन्दावनपुत्रशिखरचन्द्रेण इदं विंशतिविद्यमानजिनपूजनं कृतम्; स्वज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं, भव्यजनकल्याणार्थम् ॥

दशकत श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये गोपाचलपट्टे श्रीभट्टारक जिदेवजिनेन्द्रभूषणस्तत्पट्टे श्रीभट्टारकमहेन्द्रभूषणजिदेवस्तत्पट्टे श्रीभट्टारकराजेन्द्रभूषणस्तेनोपदेशात्

वाराणस्यां नगर्यां श्री शिखरचन्द्रअग्रवालस्तेन रचितं सीमन्धरादि पूजनं अभ्यर्जावपाठनार्थं शुभम् ।

पत्र शुभ संवत् १९११ का मिती फागुन वदी ९ चन्द्रवार भट्टारक श्री १०८ महेन्द्रकीर्त्तिजी गादी इन्दौर जनकी मन्दिर गोराकुण्ड के पास पहुंच ध्यालवाला के पास पंडित मनालाल लक्ष्मीचन्द्र दिजसुखलक्ष्मीचन्द्रस्तेनोपदेशात् वाराणस्यां नगर्यां श्रीशिखरचन्द्रअग्रवालस्तेन रचितं श्रीगुरुपाठकारापितम् ॥

जिनसहस्रनाम पूजा के अन्त की प्रशस्ति—

मुनिराज जिनेंद्र कवीन्द्रनि काव्यमयी शुभ नाम बखाना ।
ताकर पाठ प्रताप सुनो भवि होइ तुम्हें सुख सिन्धु महाना ॥
पुत्र कलत्र जु मित्र सुवित्त लहै तुमको मन मान प्रधाना ।
शुद्ध सुभाव प्रभाव मिलै सिव जानहु हे गुनज्ञान निधाना ॥
मगसिर सुदि अष्टमी सुदिन कियो आरम्भ उदार ।
पौससुदी अष्टमी सुबुध पूरन भयो सुप्यार ॥
संवत विक्रम भूपके जुग नभि ग्रह ससि जान ।
यह रचना पूरन भई मंगलमुदसुख थान ॥

लिपिकार ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्याम्नाये हंसारपट्टे दिल्लीसिंहासनाधीश्वर श्री १०८ भट्टारकोत्तम भट्टारक राजेन्द्रकीर्त्तिस्तत्पट्टे भट्टारक मुनीन्द्रकीर्त्तिलिपिकृतं श्री जिनसहस्रनाम पूजा ॥

जैनागम में वितत भिन्न का आध्यात्मरूप—

यों तो गणितशास्त्र का उपयोग लोक व्यवहार चलाने के लिए होता है, पर अध्यात्म-क्षेत्र में भी इस शास्त्र का व्यवहार प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। मन को स्थिर करने के लिये गणित एक प्रधान साधन है। गणित की पेचीदी गुत्थियों में उलझ कर मनस्थिर हो जाता है तथा एक निश्चित केन्द्रबिन्दु पर आश्रित होकर आत्मिक विकास में सहायक होता है। जैनाचार्यों ने धर्मशास्त्र में गणित का उपयोग मन को स्थिर करने के लिये किया है। निकम्मा मन प्रमाद करता है; जब तक यह किसी दायित्व पूर्ण कार्य में लगा रहता है, तबतक इसे व्यर्थ की अनावश्यक एवं न करने योग्य बातों के सोचने का अवसर ही नहीं मिलता है। पर जहाँ इसे दायित्व से छुटकारा मिला— स्वच्छन्द हुआ कि यह उन विषयों को सोचेगा, जिनका स्मरण भी कभी कार्य करते समय नहीं होता था। नया साधक जब ध्यान का अभ्यास

आरम्भ करता है, तब उसके सामने सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि अन्य समय जिन सड़ी, गली, गन्दी एवं घिनौनी बातों की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी, वे ही उसे याद आती हैं और वह घबड़ा जाता है। इसका प्रधान कारण यही है कि जिसका वह ध्यान करना चाहता है, उसमें मन अभ्यस्त नहीं है और जिनमें मन अभ्यस्त है उनसे इसे हटा दिया गया है, अतः इस प्रकार की परिस्थिति में मन निकम्मा हो जाता है। किन्तु मन को निकम्मा रहना आता नहीं है, जिससे वह पुराने चित्रों को उधेड़ने लगता है; जिनका प्रबल संस्कार इसके ऊपर पड़ा है।

जैनाचार्यों ने धार्मिक गणित की गुन्थियों को सुलझाने के मार्ग द्वारा मन को स्थिर करने की प्रक्रिया बतलायी है क्योंकि नये विषय में लगने से मन ऊबता है, घबड़ाता है, रुकता है और कभी कभी विरोध भी करने लगता है। जिस प्रकार पशु किसी नवीन स्थान पर नये खूँटे से बाँधने पर विद्रोह करता है, चाहे नयी जगह उसके लिये कितनी सुखप्रद क्यों न हो, फिर भी अवसर पाते ही रस्सी तोड़कर अपने पुराने स्थान पर भाग जाना चाहता है। इसी प्रकार मन भी नये विचार में लगना नहीं चाहता है। कारण स्पष्ट है; क्योंकि विषय चिन्तन का अभ्यस्त मन आत्म-चिन्तन में लगने से घबड़ाता है। यह बड़ा ही दुर्दमनीय और चंचल है। धार्मिक गणित के सतत अभ्यास से यह आत्म चिन्तन में लगता है; जिससे व्यर्थ की अनाव-श्यक बातें विचारक्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो पातीं।

वितत भिन्न का प्रयोग भी इसी कारण जैनाचार्यों ने किया है। इसके द्वारा संख्याओं का परिज्ञान तो होता ही है, पर साथ ही मन को निश्चित स्थान पर आधा-रित करने का यह श्रेष्ठतम साधन है।

यद्यपि आज के गणितज्ञ वितत भिन्न के आविष्कार का श्रेय साधारणतः इटालियन गणितज्ञ पिट्रो एनटोनिया कॉटालडी, जिसकी मृत्यु १६२६ ई० में हुई, को देते हैं। उसने इसका प्रयोग वर्गमूल निकालने के लिये किया था; जैसे—

√२८ = ५ + १/३ + १/२ + १/३ + १/१० + १/३ + १/२ + १/१० ······

यह एक आवर्त वितत भिन्न के रूप में है। साधारण प्रयोगों के सिवा इस महानुभाव ने वितत भिन्न को सैद्धान्तिक रूप नहीं दिया था। इसके पूर्व राफेलो बाम्बेली नामक एक गणितज्ञ के बीजगणित में, जिसकी रचना सन् १५७२ ई० में की गयी है, वितत भिन्न की चर्चा मिलती है। हो सकता है कि कॉटालडी को वितत भिन्न की प्रेरणा इसी पुस्तक से प्राप्त हुई हो। इस अवस्था में भी कॉटालडी को वितत भिन्न की सांकेतिकता के आविष्कार का श्रेय दिया ही जायगा। डेनियल-

श्वीनटर ने सन् १५८५-१६३६ ई० में Geometrica Practica में वितत भिन्न का उपयोग किया है। पर सिद्धान्त की चर्चा का श्रीगणेश सन् १६५५ में प्रकाशित लार्डब्रानकर का समीकरण— $\frac{१}{१} + \frac{१^२}{२} + \frac{३^२}{२} + \frac{५^२}{२} + \cdots \frac{\pi}{\triangle}$; ऐसा समझा जाता है कि इनकी कल्पना का आधार वालिस (Wallis) का समीकरण है।

$$\frac{\triangle}{\pi} = \frac{३ \cdot ३ \cdot ५ \cdot ५ \cdot ७ \cdot ७ \cdots\cdots}{२ \cdot ४ \cdot ४ \cdot ६ \cdot ६ \cdot ८ \cdot ८ \cdots\cdots}$$

जान वालिस ने अपने पाटी गणित में (१६५६ ई०) साधारण वितत गणित की संसृतियाँ और आरम्भिक सिद्धान्तों की चर्चा की है। ह्यूजेन ने सन् १७०३ में सरल वितत भिन्नों का प्रयोग किया है। निकोल सॉन्डरसन (१६८८-१७३९), आयलर और लैम्बर्ट ने वितत भिन्न के सिद्धान्तों का निरूपण किया है लैगरेंजेज ने आयलर के बीजगणित का सम्पादन कर नये नये सिद्धान्तों की चर्चा की है। ए० स्टर्न नामक गणितज्ञ ने १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में इस विषय पर काफी लिखा है। पाश्चात्य गणितज्ञों में वितत भिन्न की संसृति के सिद्धान्त का श्रेय बहुत से गणितज्ञों को है; उनमें एक स्टर्न साहब भी हैं। इ० बी० वॉन, क्लॉक आदि गणितज्ञों ने निस्सीम वितत भिन्न, जिसकी राशियाँ Complex हैं, की संसृति का सिद्धान्त निकाला।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य गणित-जगत में १६ वीं शती के पहले वितत भिन्न का प्रयोग नहीं किया गया था। जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों में समस्त जीवराशि, गुणस्थानों की जीवराशि, मार्गणाओं की जीवराशि का प्रमाण निकालने के लिये वितत भिन्न का प्रयोग धवलाकार ने नवीं शती में सिद्धान्त निरूपण पूर्वक किया है। धवलाटीका के रचयिता श्री वीरसेनाचार्य ने उपर्युक्त जीवराशियों का प्रमाण निकालने के लिये अपने पूर्ववर्त्ती जैनाचार्यों के गणित सूत्रों को उद्धृत किया है। निश्चय ही ये गणित सूत्र पाँचवीं शती से लेकर आठवीं शती के मध्यवर्ती काल के हैं। असंख्यात, असंख्यातासंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त के आन्तरिक प्रभेदों और तारतम्यों का सूक्ष्म विवेचन वितत भिन्न के सिद्धान्तों के आलम्बन बिना संभव नहीं था। द्विरूपवर्गधारा, घनाघनवर्गधारा तथा करणीगत वर्गित राशियों के वर्गमूल के आनयन में भी वितत भिन्न का प्रयोग जैनाचार्यों ने किया है।

"असंखेज्जभागकहियसव्वजीवरासिणा तदुवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? असंखेज्जभागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि। उक्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जभागब्भहियसव्वजीवरासिणा तदुवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? जहण्णपरित्तासंखेज्जभागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि। अणंतभागब्भहिय

सव्वजीवरासिणा तदुपरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? अणंतभागहीणअसंखेज्जदिभागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि । सव्वत्थकारणं पुव्वं च वत्तव्वं । एत्थ उवउज्जंतीओ गाहाओ—

> अवहारवड्ढिरूवाणवहारादो हु लद्धअवहारो ।
> रूवहिओ हाणीए होदि हु वड्ढीए विवरीदो ॥
> अवहारविसेसेण य छिण्णवहारादु लद्धरूवा ।
> रूवाहियऊणा वि य अवहारो हाणिवड्ढीणं ॥
> लद्धविसेसच्छिण्णं लद्धं रूवाहिऊणयं चावि ।
> अवहारहाणिवड्ढीणवहारो सो मुणेयव्वो ॥'

भावार्थ—असंख्यातवाँ भाग अधिक सम्पूर्ण जीवराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर असंख्यातवाँ भाग हीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है। उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातवाँ भाग अधिक सम्पूर्णराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर जघन्य परीतानन्तवाँ भागहीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है। अनन्तवाँ भाग अधिक सम्पूर्ण जीवराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर अनन्तवाँ भाग हीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है ।

उपर्युक्त राशियों के आनयन की प्रक्रिया वितत भिन्न स्वरूप है। इस भिन्न की संसृति द्वारा ही उपर्युक्त राशियाँ निकाली जा सकती हैं। वीरसेनाचार्य ने इसी कारण अपने से पूर्व प्रचलित वितत भिन्न की संसृति के सिद्धान्तों का निरूपण किया।

भागहार में उसी के वृद्धिरूप अंश के रहने पर भाग देने से जो लब्ध भागहार आता है, वह हानि में रूपाधिक और वृद्धि में इससे विपरीत—एक कम होता है।

भागहार विशेष से भागहार को छिन्न—भाजित करने पर जो संख्या आती है उसे रूपाधिक अथवा रूपन्यून कर देने पर वह क्रम से हानि और वृद्धि में भागहार होता है।

लब्ध विशेष से लब्ध को छिन्न—भाजित करने पर जो संख्या उत्पन्न हो उसे एक अधिक अथवा एक कम कर देने पर वह क्रम से भागहार की हानि और वृद्धि का भागहार होता है।

सिद्धान्त— $\frac{अ}{ब} = क$ तो $\frac{अ}{ब + \frac{ब}{न}} = क - \frac{\quad}{न + १}$;

१—धवला टीका जिल्द ३ पृ० ४५-४६

और $\frac{अ}{ब - \frac{ब}{न}} = क + \frac{क}{न - १}$। यदि $\frac{अ}{ब} = क$ तो $- \frac{अ}{ब + स} = क - \frac{क}{\frac{ब}{स} + १}$

और $\frac{अ}{ब - स} = क + \frac{क}{\frac{ब}{स} - १}$। यदि $\frac{अ}{ब} = क$ और $\frac{अ}{ब} = क + स$ तो −

$ब = ब - \frac{ब}{\frac{क}{स} + १}$; और यदि $\frac{अ}{ब} = क - स$, तो $ब = ब + \frac{ब}{\frac{क}{स} - १}$।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने आत्मिक विकास के लिये वितत भिन्न का प्रयोग सिद्धान्त निरूपण के साथ ई० सन् की पाँचवीं या छठवीं शती में किया है।

भारतीय अन्य गणित शास्त्र में वितत भिन्न का प्रयोग सिद्धान्त प्रतिपादन के रूप में भास्कराचार्य के समय से मिलता है। यों तो आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के गणित ग्रन्थों में भी इस भिन्न के बीजसूत्र वर्तमान हैं, परन्तु सिद्धान्त स्थिर कर विषय को व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने तथा उससे परिणाम निकालने की प्रक्रिया उन ग्रन्थों में नहीं है। धवला टीका में उद्धृत गाथाओं में वितत भिन्न के सिद्धान्त इतने सुव्यवस्थित हैं, जितने आज पाश्चात्य गणित का सम्पर्क या वितत भिन्न के सिद्धान्त स्थिर हुए हैं।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVI DECEMBER 1950. No. II

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at:

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

An Inscription on a Jain Image
from
Patur, Akola

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XVI
No. II

ARRAH (INDIA)

December
1950.

AN INSCRIPTION ON A JAINA IMAGE FROM PATUR, AKOLA.

By
Sri Asoke Kumar Bhattacharyya M. A.

About a year ago Mr. S. S. Patwardhan, Curator, Central Museum, Nagpur very kindly sent me at my request a number of photographs of some interesting Jina images preserved in his Museum, along with which an ink-impression of an inscription over the image of Suvidhi from Patur, Dist. Akola, was also sent. The present note is based on a reading of the inscription from the said ink-impression a photograph of which is reproduced here and I must acknowledge here the courtesy shown to me by Mr. Patwardhan in this regard and the help rendered by Mr. R. Gupta, Photographer, Indian Museum, Calcutta.

The inscription in three lines is written in the North Indian characters of the 12-13th Cent. A. D. and the language is Sanskri which is very much corrupt. The writing occupies a rectangular space measuring $10\frac{1}{2}'' \times 3\frac{1}{2}''$, and the most interesting point to note here is that the letters vary considerably in their shape and size, some portion of the beginning of line 2 seems to have been peeled off rendering the reading of the text well nigh impossible in that portion.

The inscription refers itself to the year 1245 of the Vikram Samvat very peculiarly indicated by Saṁ Ma[ṁ] for Saṁ Vat, corres-

ponding to 1188 A. D. The text of the inscription is extermely corrupt, as noted above. So far as orthography is concerned (dental) S is invariably used for Ś (palatal) except once e.g. Srī for Śrī (line 1), siṣya or sīṣya for śiṣya (lines 1 & 2). Indiscriminate use of the long ī and the short i, e g. Virasena for Vīrasena, sīṣya for siṣya (both line 2) and so on, violation of the rules of euphonic combination e. g. devatat = sīṣya for devastat = siṣya siṣya Srī for śiṣyah śrī etc, are also some of the noticeable points in the orthography of the text. The variant forms of the subjoining "ya" deserve mention in this connection, thus: in (line 1) and (line 2.).

The importance of the inscription lies in the succession list of Jain Pontiffs it supplies us with beginning from a certain Śrī N [ai] vīradeva. It is said that this N [ai] vīradeva had a disciple Srī [Māṇi] ka (Māṇikya) deva whose disciple was Śrī Vı (ī) ra sena deva whose disciple was pā [ṁ] ga sena deva, the last having a disciple in V [ra ?] na sena deva. The Gaccha or the Gaṇa is not mentioned.

The text is read as follows :

Line 1. Saṁ ma [ṁ] 1245 S (Ś)ri N [ai] vīradeva tats (ś)ṣya S(Ś)rī

Line 2. [Māṇī] ka (Māṇikya) senadeva tat S (ś) ī (i) ṣ ya Śri Vi (ī) resenadeva [ta—]

Line 3. t sī (śi) ṣya Pā [ṁ] gasenadeva tat sī (śi)ṣya V [ra ?] na senadeva iti [I].

The line of Jain teachers mentioned in the inscription is not otherwise known although from the names it appears to be some branch of the Sena gaṇa to which Vīra sena, the author of Dhavalā commentary and Jina sena, the author of Ādipurāṇa belong. Of this Sena gaṇa we get a certain Lakṣmīsena belonging to the Mūla Sangha and Saraswati gaccha. He flourished in the 16th. cent, A.D. and, pertained to the line of Kundakunda.[1] In this connection we may make reference to the Paṭṭāvali of the Senagaṇa[2] published in the J. A. Although there occur such names as Mānikasena, Vīrasena etc. the order of succession does not tally at all with that in the present inscription.

---

1. *Vide, Pratimā lekha Sangraha* by K. P. Jain, p. 25, no. 54.
2. A Paṭṭāvali of the Senagaṇa–by A.N. Upadhyaga, (J.A. Vol XIII. 2, p. 1)

DO ANCIENT JAIN BOOKS SHED ANY LIGHT ON ANCIENT HISTORY?

By

Sri. L. A. Phaltane B. A. LL. B. Pleader, Islampur (Satara).

Due to ignorance or to their fear of their sacred books being poluted by the touch of non-Jain hands, the Jains have upto now been very careful not to publish their ancient literary treasures or allow them to be touched by foreigners. According to my opinion if proper interpretations, consistent with the discoveries made by modern scholars of history, are put upon the contents of the Jain ancient book it would be possible to speak with some certainty about the ancient date of the teaching of Jainism. It must be borne in mind however that the Jain thinkers of old never thought it proper to reduce their knowledge or learning to writing; that they generally avoided Sanskrit language for imparting religious and secular teaching; that they always encouraged the use of the then prakrit languages which were in vogue among the public in those days and that their knowledge came down to posterity by oral teaching from preceptor to disciple.

This went on well until so long as the school of Jain thought continued to remain strong and continuous and well adjusted with the other elements of human life. But during some centuries before Christ, decadent tendencies began to appear in the Jain School and the Jain sages began to perceive that their knowledge was gradually disappearing. So about the beginning of the Christian era the great Jain Acharya Shri Umaswami composed a book named 'Tatwartha-Sutra' in Sanskrit in which all the Jain tenets are enumerated in condensed Sutra form. This, therefore is the first Sanskrit written work among the Jains acknowledged as true and complete by all the three important Jain Sects—Digambars, Swetambars and Sthanak-wasis. After this book came into existence, numerous commentators arose who have written books of extensive commentaries which are available at present. But it must however be remarked that 'Tatwartha-Sutra' is the main authoritative code of the principles of Jainism and the readers are requested to look to it primarily to

ascertain what true tenets of Jainism are and to try to interprete those principles in the light of the modern discoveries and inventions.

We would like to draw the attention of the readers to the following extract taken from the issue of 8-2-33 of 'Times of India' at page 14 under the caption "Vanished Country Traced-Sea Land."

"Evidence that, beginning about 4400 years ago there existed a country now entirely blotted out, which comprised an extensive portion of the Arabian peninsula and was known as the 'Country of the Sea or the Sea Land' is announced by the Professor Raymond P. Dougherty of Yale University.

'The Sea Land' played a major role in the history of the south western Asia for 2000 years, until about 500 B. C. he declares. It was contemporaneous with the ancient nations of biblical times and had a highly developed culture which flourished and died leaving its imprint on the early civilizations developed in the Tigris-Euphrates Valley............",

Dr. Dougherty gained his conception of the Sea Land's location and political importance by the careful comparison and correlation of all the references left disconnected in the numerous texts of the Babylonian and Asoyrian literature. If therefore we can find from the Sutras in the Jain book Tatwartha Sutra or rather if we can, by interpreting those sutras in the light of the discoveries, find that those sutras enable us to conceive that some such state of things must have existed in ancient days, it would be possible for us to presume that those Sutras or their original ancient forms must have been as old as the time given by Dr. Dougherty in the above extract,

For this purpose we shall have to take into consideration the Sutras which appear in the third Chapter of the 'Tatwartha Sutra'. The Sutras 1 to 6 of that Chapter give information regarding the Nāraka beings while the rest of the Chapter deals with the description about continents, seas, mountains, rivers etc. on the earth. The ideas about hell and hellish beings (Nārakas) entertained by the Christian and Muslim religionists are different from those of the religions of the Indian origin while those found in the Jain religious books show considerable difference from the ideas of their Hindu brother religionists. It appears that the Jain books locate the Nāraka

beings to the south or the lower place and they place the rest of the world to its north, and then the 4th Chapter of the book deals with Vaimanic gods who are shown to be moving in the air without support of the earth.

The first Sutra of the third Chapter runs as follows .—

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमो महातमःप्रभा-
भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाःसप्ताधोऽधः ॥१॥

Ratna Sharkarā Vāluka panka dhuma tamo Mahātamahprabhā Bhoomayo Ghanāmbuwātākāsha Pratisthah Saptadhodhah 1.

Meaning :—Seven regions of the earth lie one below the other and their names are Ratnaprabhā, Sharkarāprabhā, Vālukāprabhā, Pankaprabhā, Dhumaprabhā, Tamoprabhā and Mahātamahprabhā. These are surrounded by deep water air and sky.

Now what must have been the location of these regions is to be ascertained. Ratna (रत्न) in Sanskrit means both a jewel and shining sand and hence Ratnaprabha would mean a region mainly consisting sand, sandy shore of a sea. Along with this the commentary under Sutra 10 of the 4th Chapter of the book must be read which is as under :—

रत्नप्रभायाःपंकबहुलभागे असुरकुमाराणां भवनानि, खरपृथिवीभागे
उपर्यधश्च एकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेष नवानां कुमाराणामावासाः

Ratnaprabhāyah Pankabahulbhāge Asoorkumārānām Bhawanani Khara Prithivibhāge Uparyadhascha ekaika Yojansahasram Varjayitwa Shesha navānām kumārānāmavāsāh.

Meaning :—The residences of Asurakumāras are to be found in the part which is watered by (literally which mainly consists of) the mud of Ratnaprabhā. The remaining nine kumāras reside on dry earth in low and high lands leaving one thousand Yojanas each.

The tenth Sutra of the fourth Chapter deals with ten kinds of tribes. (Kumāra means a tribe). The first two of which are Asurakumār and Nagakumar and these two are necessary for this article. The Asura tribe mentioned in the Sutra can be identified by the Assyrian people who had a flourishing civilization in olden days in the valley of the Euphrates and Tigris rivers. Above them that is to the north of that territory comes the territory inhabited

according to that Sutra by the Naga tribe. The Greek traditions, Assyrian mythology and the Indian Purānas also give the same place for the Naga tribe. We, thus. come to the conclusion that Ratna-prabhā of the Jain Sutra must mean the Persian Gulf which is a part of the Arabian sea. The remaining six Prabhās are below the first (अधोध: one below the other). They are described as Bhumis or lands. The commentary below the third Sutra of the third Chapter mentions the colour or complexion of these people.

प्रथमद्वितीययोः कापोतीलेश्या, तृतीयायामुपरिष्टात्कापोती, अधोनीला, चतुर्थ्यां, नीला पंचम्यामुपरिनीला अधःकृष्णा, षष्ठ्यां कृष्णा सप्तम्यां परमकृष्णा

Prathama Dvitiyayoh Kapoteeleshya, Triteeyāmuprishtāt kapotee Adhoneela, Chaturthyāmneela Panchamyāmupari neela Adhah Krishna, Shashtyām Krishna Saptamyām Param Krishnā.

Meaning :—The complexion of the Narakas of the first and second lands is grey or dirty white. The upper part of the third is grey while that of the lower part is blue. The complexion of the beings in the fourth division is blue. The people of the upper part of the fifth land have blue complexion while those of the lower part of the land have dark complexion The complexion of the inhabitants of the sixth land is black and that of the seventh very black.

Southward one goes from the mouth of the Euphrates complexion of the people grows darker and darker.

The fifth Sutra of the Third Chapter of Tatwartha Sutra runs as under :—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥५॥

Sanklishtāsurodeeritduhkhāsch Prāk chaturthyām: /5/

Meaning :—The miseries of the people upto the fourth land are caused by the infuriated Asuras.

The Assyrian mythology contains stories that the Assyrian people had subjugated the first three of the seven lands which stood to the south of their country.

We take the following line from a verse in Manusmriti.

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः

Āpo Nārā iti procta āpo Vai Narasoonvah

Meaning :—Āpa i.e. water has nārā as its equivalent:

Waters are also called sons of Nara.

From this, the word 'Nāra' or 'Nara' would mean a son of water or an island man or a sailor. Even now in Satara district there are several families which have got Narake (नरके) as their surname.

All these references and arguments go to show that the Naraka beings described in the third Chapter of the Tatwartha Sutra are no others than the people who dwelt in lands which spread far and wide at one time in the Arabian sea and which were known as Sea lands or Narakas. We can further infer that the original form of the Sutras from which the 6 Sanskrit Sutras No. s 1 to 6 of the third Chapter of the Tatwartha Sutra were formed must be as old as four thousand and four hundred years.

JAINA GURUS OF THE NAME OF PUJYAPADA.

By
(Sri Jyoti Prasad Jain, M.A., LL B)

(*Continued from Vol. XVI, No. I, p. 6.*)

Of these so many different Pujyapadas, the one refferred to in no. 18 above, seems to be the latest. The inscription[33] is of a very late date and the Gurus mentioned in it were probably the later Bhattarakas of medieval times, who were associated with the Jaina establishment of Karkal. The famous statue of Bahubali at Karkala was installed by Vir Pandya Bhairrasa the ruler of that place in 1431-32 A.D.[34] Since then Karkala became quite an important centre of Jainism. According to the colophon of Dasa Bhaktyadi-mahasastra (completed in 1542 A. D) by Vardhamana Munindra,[35] one Dharma-bhusana Bhattaraka had for his devotees the Vijyanagar emperor Devaraja (1429-1451 A.D.) and also Sankappa Sresthi, a noble of his court. This Dharmabhusana seems to have been associated with Karkala, Charukirti and Srutakirti who just precede him in the inscription, are also mentioned in the same order in this colophon. And one Bhattaraka Charukirti, the author of Gita-Vitraga lived in circa 1400 A.D.[36] According to the same colophon one Srutakirti was revered by king Sabevaraya with whose immediate successors, Mallirayа, Sangiraya etc., Vadi Vidyanand (died 1541 A.D.) the most prominent Jaina Guru of that century and a respected colleague of the author, also came in contact. This Vidyananda was also associated with Karkala. Hence the Pujyapada Swami of this inscription, who was in the time of Charukirti, Srutakirti and Dharma-bhusana, and was most probably a Bhattaraka of Karkala, may be placed in circa 1500 A.D. He may have belonged to still later times since in such lines of Gurus same names, often the same succession of names are many a time found repeated; but

---

33. M. A. R. (1920-21), p 6.
34. Prasasti Sangraha (Arrah), p 39.
35. *Ibid*, pp 120-149.
36. *Ibid*, p. 4, 65.

in no case did he live much prior to the beginnig of the 16th century. Nothing else is known about him.

The Pujyapada Vrtipa (no. 17) mentioned by Pandya Kshmapati in the beginning (v. 8) of his Bhavyananda Sastra,[37] soon after Nagacandra and Devacandra, the author's own immediate Gurus, also seems to have been an earlier Bhattaraka or Guru associated with Karkala and being contemporary of these persons, must be assigned to the first half of the 15th century i.e. circa 1450 A.D.[38] It is also possible that the two Pujyapadas so far discussed might have been identical.

The Pujyapada muni referred to in no. 14, as the Guru of Mangaraja, the author of Khagendra-mani-darpana (c. 1360 A D.) and described there as a great master of the science of medicine,[39] must have belonged to the early part of the 14th century A.D. His medical achievements and writings seem to have become quite celebrated. The famous Pujyapada (no. 15) who had conducted his experiments in alchemi (Sidharasa) on a hill with the basadi of Parswa Jina on it, near the town of Pugataka in Karnataka, as mentioned by Devarasa in his Gurudattacharita (1650 A.D.)[40], is most probably identical with the Guru of Mangraia. The several later works on medicine as referred to in no. 19, such as the Vaidyasara or Vaidyasara sangraha[41], Madan-Kama-ratnarna[42], Nidanamuktavali[43] etc. also seem to be the creations of this very Pujyapada, because about the two Bhattarkas of Karkala nothing is known of their proficiency in medicine. Some non Jaina medical writers like Basavaraja, Nityanatha, the authors of Madhavanidana, of Rasaratnasamuccaya etc. also refer to Pujyapada as a medical

37. *Ibid*, p 34.
38. *Ibid*, pp. 36-39.
39. Karnataka Kavicharite, I. p 412-422
40. *Ibid*. pp 391-392.
41. PS., p 151.
42. *Ibid*, p. 13.
43. *Ibid*, p 15.

authority[44], and most of these references seem to indicate the same Guru of circa 1300 A.D.[45] No doubt, a very much earlier Pujyapada was also a great authority on that science, but the nature, style and language of those works and references preclude any possibility of their being written by the author of Jainendra, Sarvarthasidhi etc. Even this Kalyanakaraka referred to by Vijvanand Upadhyaya as the basis of his Sarasangraha[46] is either the creation under an older name of Mangaraja's Guru or is a later recession of Jagadalla Somnath's work (referred to in no. 9) which purports to be Kannada rendering of the original Kalyanakaraka of the older Pujyapada.

According to a South Indian tradition, Sidha Nagarjuna a famous alchemist of South India was the sister's son and desciple of the great master Pujyapada yogi[47]. Some people confuse this alchemist Nagarjuna with the famous Buddhist savant of that name who belonged to the early centuries of christian era and hence have also concluded that the Pujyapada to whom he is said to have been related must have been the original Pujyapada alias Devanandi of 5th century A.D. Dr. Saletore is, however, doubtful and asks himself,

---

44. Kalyanakaraka (Sholapur), Intro pp. 32-36

(i) Basava Rajiya: at the end of '[illegible] गुडदाव योग' is written 'पूज्यपाद [illegible]' [illegible] at the end of '[illegible] (नस्यक रसायनम्)' is written '[illegible] पूज्यपादेन [illegible]' and '[illegible]' (पूज्य पादीय)' [illegible] p 110, and at the end of p 111 - '[illegible]' in another place - '[illegible]' etc.

(ii) Nityanathiya — at the end of '[illegible]' is written '[illegible] पूज्यपाद [illegible]' and at the end of '[illegible]' is said '[illegible] पूज्यपादेन [illegible]'

(iii) Madhava Nidana (Ch. I, p. 30)—'पूज्यपाद [illegible]'

(iv) Rasa-ratna-samuccaya in one place mentions '[illegible] पूज्यपाद[illegible]' etc

(v) Many other Yogas found scattered in medical literature of S. India are ascribed to Pujyapada.

45. V. P. Sastri in his Introd. (p. 34) to Kalyanakaraka, however, holds that all these references refer solely to the first Pujyapada of 6th century A.D. But he evidently appears to have been mistaken

46 PS. p 149.

47 Kavicharite, I. pp. 11-12. It says that 'another Jaina writer who also wrote on medicine was Nagarjuna who was Pujyapada's sister's son and was a famous alchemist and Tantric scholar"

'was he the same as Nagarjuna of Budhist tradition or a different person ?'[48] In fact, there is absolutely no ground for any of the two above mentioned identifications. The Jaina Nagarjuna who was a famous alchemist and tantric scholar is quite a different person and must have been related to the later Pujyapada yogi of C. 1300 A.D. No doubt, the famous Sidha School of medicine of South India, which is quite characteristic of and quite in keeping with the non-violent creed of the Jainas, which totally denounced the use of flesh, wine etc. owed its development particularly to Jainas. The first Pujyapada might have been responsible for its origin, but it was the later Pujyapada of C. 1300 A.D. alongwith his celebrated desciple and nephew Sidha Nagarjuna who set the school on a sound footing and succeded in popularising it as a definite system. According to Munindra Vardhaman's account the famous statue of Parswa Jina in the the Parswa-basadi on Mount Kankachala was installed by Nagarjuna.[49] It appears that the Parswa-basadi mentioned by Devarasa is the same and the hill containing it, which was situated near the town of Pugataka in Karnataka, and on which the famous Pujyapada is said to have conducted his experiments in alchemy (Sidha-rasa) and yoga[50] was this very Kanakachala (the Golden mountain).

As to the Pujyapada yogi (no. 13) who rendered into Kannada the Prakrit Satapadi of Vasavachandra as mentioned by Payanvarni who himself wrote the same work in Sangalya metre in 1659 A.D., he obviously preceded Payanavarni and came after Vasavachandra. This Paynamuni had completed his Sanatkumar charta in 1606 A.D.[51] The Kattule Basadi record[52] of Sravana Bela-Gola informs us that the colleagues of Vasavachandra were Devendramuni, Prabhacandra the grammarian and logician who was paid homage to by king Bhoja of Dhara, Dawanandi, Maghanandi, Maladharideva,

48. Med. Jainism, p. 267.
49. PS. p. 123 Fri.
50. Kavicharite p. 11-12; also Pujyapada Charita.
51. Kavicharite p. 352.
52. E. C. II 69, p. 35.

Yasakirti who was honoured by the king of Ceylon and Trimusbh-muni the desciple of Gopanandi. Gandavimukta-maladhari Hemacandra was another desciple of this Gopanandi and thus seems to be identical with the Maladharideva mentioned above. And Gopanandi lived in the reign of Vikramaditya VI Tribhuvanamalla,[53] while the Hole-Belagola stone inscription assigns him to A.D. 1094.[54] The date of his another contemporary Prabhacandra who was patronised by King Bhoja and also perhaps by his successors King Jayasimha of Dhara, and who in the capital city wrote his famous works Prameya-Kamala-martanda, Nyaya-Kumuda-candra, Sabdambhoja bhaskara, Kathakosa, Ratnakaranda Tika etc. is fixed as circa 1010-1080 A.D.[55] This shows that Vasavacandra must also belong to the 11th century. Hence the Pujyapada yogi referred to in no. 13 might have lived any time between 1100 and 1600 A.D. He could be identical with any one of the three Pujyapadas so far discussed, but the epithet yogi attatched to his name indicates that he was probably the same person as Mangaraja's Guru the alchemist or, he might have been quite a different person.

One Pujyapada (no. 12) is mentioned by Ayyaparya in his Jinendra-Kalyanabhyudaya (completed in 1320 A.D.), as the author of a Pratishthapatha.[56] These works dealing with the rules, regulations and rituals of the consecrational ceremoniale commenced to be written very late and were much popularised by the Bhattarakas of the Medieval period. Practically no scholar prior to the 8th or 9th century is known to have written any Pratishthapatha. At least the authorship of no Pratishthapatha is anywhere attributed to the Pujyapadas referred to in nos. 1 to 11. Of the other eight writers of this type of works mentioned by Ayyaparya, most of them are later Bhattarakas or laymen. Of these, Asadhara, Ekasendhi and Hastimalla belong to the 13th, Vasunandi to the 12th and Indranandi to the 11th century A.D. Of the remaining three writers,

53. MJ. p. 55.

54. E. C. V cn. 148, pp. 189-190.

55. D. L. Kothia—Anekant VIII, 12, pp. 466-469. Pt. Mahendra Kumar, however, assigns him to 980-1065 A. D. (See Anekant IV, 2, pp. 124-132).

56. PS., p. 104.

Jinasena, Gunabhadra and Viracarya, the two famous Jinasenas-the author of Harvamsa (783 A.D.) and the author of Adipurana, Parswabhyudaya and Jayadhavala (837 A.D.), as also the latter Jinasena's desciple Gunabhadra who was the author of Atmanusasana and Uttarapurana (898 A.D.) are not known to have written any Pratishthapathas. Similar is the case with regard to Viracarya or Mahaviracarya the famous mathematician of the 9th century A.D.[57] Hence the Pujyapada mentioned herein was either the Pujyapada Yogi of C 1300 A.D. who besides being a Yogi, an alchemist, a physician and a medical writer was also probably the author of the Kannada Satapadi or Jñana-candra Charita, a poetical narrative, or he must have been some other Pujyapada who lived any time between C. 900 and 1300 A.D.

Now by far the most celebrated, wellknown and popular guru of this name was Pujyapada Devanandi alias Jinendra budhi referred to in no. I. His original name was Devanandi. Jinendrabudhi and Pujyapada were his titles, although he has been generally known and referred to simply by the latter name. He belonged to Karnataka, probably the southern part of it which then comprised the Ganga teritory, and was an Acarya of the Nandi Samgha, a branch of the Mulasangha of Kundakundaya's anvaya. He was undoubtedly the author of Jainendra Vyakarana, the Sarvarthasidhi Tika of Tattwartha Sutra, Samadhi-tantra or Samadhi-sataka, and probably also of Iṣṭopadesa and of Sidha-bhaktyadi-sangraha. We begin to find numerous references to him and to his works in literature as well as epigraphical records from as early as the 7th century A.D. And all these references make him a very prominent and ancient Acarya who has always been remembered alongwith other ancient celebrities like Bhadrabahu, Kandakunda, Umaswami, Samantabhadra, Aklanka etc. But he is invariably placed soon after the first four, in the same order, and before Aklanka, Virsena, Jinasena, Vidyananda etc. So there remains no doubt that the Pujyapada thus referred to in the various Guruvavalis and epigraphical records (mentioned in no. II) which we shall presently discuss, is this Pujyapada Devanandi and none else. And it is he who is mentioned in the Pattavali

57. C. M. Duff—'Chronology of India' gives Viracarya's date as A. D. 810.

of the Nandi Sangha (referred to in no. 2) according to which he was the tenth Guru of that line. A second Pattavali of that Sangha which is in Prakrit and is most probably older than the first one also confirms this fact except with regard to dates, as we shall see later on.

According to the evidence of the Darsanasara (no. 3), he was the Guru of Vajranandi who was the founder of the Dravidasangha. But from the above-mentioned Pattavalis it appears that Pujyapada was not the immediate preceptor of Vajranandi and that two other Gurus, Jayanandi and Gunanandi had intervened in between them, and also that Vajranandi came 58 years after Pujyapada's death. The Darsanasara which was written by Devasena who belonged to Ujjain in Vik. S. 990 (A.D. 933), gives the traditional date of the foundation of the Dramila (or Dravida) Sangha by Vajranandi as V. S 526 (A.D. 469).[58] He does not associate himself with any Sanghas but in his work he gives the origins of several later sanghas, particularly of those which he thought were not quite orthodex and were merely Jainabhasa or pseudo-Jaina. He is often vague and I think should not be much relied upon unless supported by some other more reliable evidence. Moreover, because he belonged to northern India and particularly to the Ujjain region, and so was used to the Vikrama era alone, he gives all the dates in that era. It is very likely that with regard to South Indian traditions he wrote merely from heresay and although accepted the figures of the dates he did not pay any attention to their era which probably was Saka, since in the South Saka era was much more popular and current than the Vikrama era. Hence it appears that this particular date might have been Saka 526 (or A D. 604). Anyway, this piece of evidence at least establishes the fact that Vajranandi came sometime after Devanandi Pujyapada and that the former could not have lived much beyond circa 604 A D. This means Pujyapada Devanandi cannot be placed later than the middle of the 6th century A.D. The sequence of these two Gurus is established not only by the

58. JBRAS.—XVII p. 74; SIJ. p. 21-22; Hist of Tamils p. 247; Studies in Tamil Lit. p. 21-22; Upadhye - Introd. to Pravacanasara p. XXI; Hiralal —cat. Mss. p. 652—on its p. XXX the author attributes the foundation of the Dravida sangha to Pujyapada whom he calls its first acarya.

Darsansara and the Pattavalis but by other evidences as well while Vajranandi's connection with the Dravida or Dramila sangha is also corroborated by certain epigraphical records, particularly by the inscription of Saka 1059 (A.D 1137) discovered on the ceiling of the Somanayiki temple situated in the compound of the Ramanuja-carya temple in the Balur Taluka.[59] This inscription mentions him alongwith Samantabhadra, Patrakesari, Vakragriva, Sumati Bhattaraka and Samayadipaka Aklanka. Herein Vajranandi is placed after Patrakesari swami and is described as the head of the Dramila-sangha (श्रीमद्द्रामिलसंघाग्रेसरर ..). The inscription of 1129 A. D.,[60] however, places Vajranandi immediately after Vakragriva and before Patrakesari who by the grace of Padmavati is said to have refuted the trilanana theory. This record also tells us that Vajranandi was the author of Navastotra 'an elegant work embodying the variety of the teachings of all the Arhatas.' The record of A.D. 1160[61] says that the Arungula-anvaya of Dramila sangha came down increasing from Bhutabali and Puspadanta, from Samantabhadra and Aklanka-deva, from Vakragriva, from Vajranandi and others down to Vasupujya Swami. The same with slight variations is repeated in the record of 1169 A D.[62] Hence there is no doubt that the Pujya-pada referred to in Darsanasara as the Guru of Vajranandi was no other than Pujyapada I Devanandi.[63] The epigraphical records (referred to in no. II) provide sufficent corroborative material to fix his identity and to enable us to distinguish him from the other and later Pujyapadas.

(To be continued.)

59. E. C. V BE. 17, p. 51.
60. E. C II 67, pp. 25-26.
61. E. C. VI Kd 69 p. 13.
62. E. C. V Ak. 1, p. 112.
63. The evidence of Darsanasara has been accepted by Ramaswami (Studies, p 52), Srinivasa Ayenger (Hist. of the Tamils, p. 247), Ramachandra Divitar (Studies in Tamil Lit. p 21-22) etc. But Dr. Saletore (in MJ., p. 238) thinks that the epigraphical records invalidate the assertion of Darsanasara. Hence he disregards the date given by it and places it in the last quarter of the 9th or first quarter of the 10th century. He has, in fact himself confused the evidences of those records and of the traditions, and is thus quite mistaken in his conclusions about the division of the Digambara Mula Sangha and about the dates of Arhadbali, Bhutabali; Puspadanta etc.

HISTORY OF MATHEMATICS IN INDIA FROM JAINA SOURCES

By

Dr. Sri A. N. Singh, M. Sc. D. Sc., Etc Lucknow University

(*Contd. From Page 46 Vol XV No. II*).

GEOMETRY AND MENSURATION

Fig. 1.

The Hinduswere acquainted with the formulae for finding out the areas of the parallelogram, the trapezium the cyclic quadrilateral, the triangle, the circle and its sector. Formulae for the volumes of the parallelopiped, the pyramid on a plane base, the cylinder and the cone were also known. The Hindu works, however, do not give us any inkling as to how these results were obtained. In the Dhavala we find a full description of a method for finding out the volume of a frustum of a cone. This description shows that the method used in India for the study of geometry was quite unlike that of the Greeks. The principle of deformation of a given area or volume into a simpler area or volume without change of area or volume has been employed in the demonstration referred to above. It is possible now to reconstruct the proofs for the mensuration formulae found in the works of Hindu and Jaina mathematicians. We shall attempt such a reconstruction. But before doing that, we give below the original text of the Dhavala along with its translation.

The problem is to find the volume of the Universe which is supposed to be of the form of three conical frustums placed one on top of the other as shown in fig. 1. The dimensions are shown in the figure. The volume of the Universe is calculated in the Dhavala.

Fig. 2

The following extract refers to finding the volume of the lowest frustum, whose dimensions are (see fig. 2)

Diameter of base	=	7 units
Diameter of face	=	1 unit
Height	=	7 units.

The commentary proceeds as follows :

Edassa muhatiriyavaṭṭassa egāgāsapadesabāhallassa pariṭhao ettio hodi $\frac{355}{113}$. Imamaddheṇa vikkhambhaddheṇa guṇide ettiyaṁ hosi $\frac{355}{452}$. Adhologabhāgamicchāmo tti sattahi rajjūhi guṇide khāyaphalamettiyaṁ hodi $5\frac{215}{452}$.

Of this; the horizontal circular boundary at the face having the uni-dimensional thickness has (its) circumference (of length) this: $\frac{355}{113}$. Half of this multiplied by half of the diameter becomes this : $\frac{355}{452}$. Now we want to find out (the volume of) the lower portion. (The above obtained area) being multiplied by seven will yield $5\frac{215}{452}$ for the volume of the hollowed space. (i.e. the volume of the cylinder which we take out.) (See fig. 2)
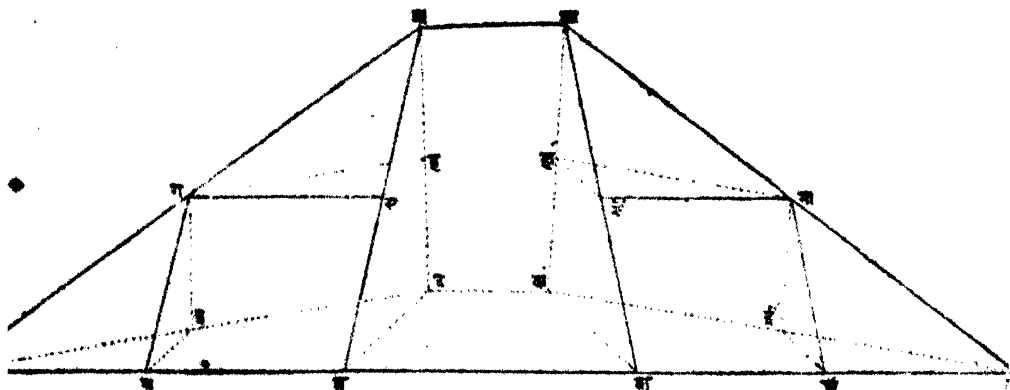
Fig. 3

Puṇo ṇissûikhettaṁ coddasarajjuâyadaṁ do khaṇḍâṇi kariya tattha heṭṭhimakhaṇḍaṁ ghettûṇa uḍḍhaṁ pâṭiya pasaride suppakhettaṁ hoûṇa cheṭṭhadi. Tassa muhavittharo ettiyo hodi $\frac{355}{113}$. Talavittharo ettiyo hodi $21\frac{112}{113}$. Ettha muhavittharena chindide do tikoṇakhettaṇi eyamayadacaurassakhettaṁ ca hoi.

Tattha tava majjhimakhettaphalamaṇiñjada : Edassa usseho satta rajjûo. Vikkhambho puṇa ettis hodi $\frac{355}{113}$. Muhammi egagasapadesabahallaṁ, talammi tiṇṇi rajjubahallo tti sattahi rajjûhi muhavittharaṃ guṇiya talabahalladdheṇa guṇide majjhimakhettaphalamettiyaṁ hoi $32\frac{223}{226}$.

Saṁpahi sesadokhettaṇi sattarajjuavalambayaṇi terasuttarasadeṇa egarajjuṁ khaṇḍiya tattha aṭṭhetalîsakhaṇdabbhahiya navarajjubhujaṇi bhujakoḍipaaoggakaṇṇaṇi, kaṇṇabhûmiye alihiya dosu vidisasu majjhammi phalide tiṇṇi tiṇṇi khettaṇi honti.

Now dividing the needle-less (the cylinder-less) volume which is fourteen units deep into two parts, then taking the lower part, (see figure 1) cutting it from the top (downwards) and spreading it yields a volume like a winnowing pan: Of this the face length is this: $\frac{355}{113}$. Its base length is this: $21\frac{112}{113}$ Here cutting it from the face-ends downwards are obtained two triangular volumes and one volume on a rectangular base. (See fig 3)

Now we find out the volume of the middle part. Its height is seven units, and its length is this $\frac{355}{113}$. In the face the breadth is uni-dimensional (i e. zero), and at the base the thickness is three units So the face length multiplied by seven and (also) by half the thickness of the base, the volume of the middle part will be this: $32\frac{223}{226}$.

Now of the remaining two volumes (tetrahedrons) of height seven units; the length of the arms is forty-eight parts of one hundred thirteen parts of a unit and nine units (i.e. $9\frac{48}{113}$ units). Bases and arms correspond to hypoteneuses. Taking the hypoteneuses, both of them, and cutting from the middle in both (horizontal and vertical) directions gives rise to three volumes (in each tetrahedron). (See fig 3)
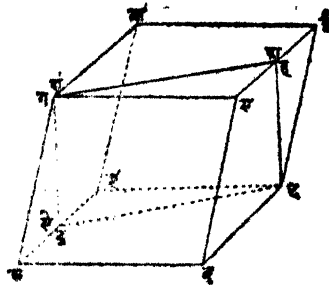
Fig. 4

Tattha do khettani addhuttha-rajjussehani chavvisuttara-visadehi egarajjuṁ khandiya tattha egatthikhandabbhahiyakhanda-sadena sadi eyacattarirajjuvik-khambhani, dakkhina-vamahet-thimakone tinni rajjubahallani, dakkhina-vam konesu jahaka-mena uvarima-hetthimesu diva-ddharajjubahallani, avasesadoko-nesu egagasabahallani. Annattha kamavaddhigadabahallani ghet-tuna, tattha egakhettassuvari vidiyakhette vivajjasaṁ kauna tthavide, savvatha tinni rajju-bahallakhettaṁ hoi. Edassa vittharamussehena guniya vehena gunide khayaphalamettiyaṁ hoi $49\frac{217}{452}$.

Then in respect of two of the volumes, the height (हृ हृ and हा पे each) is three and a half units; the length (फ ब and फा बा each) being 161 parts out of 226 parts of a unit increased by 4 units (i.e. $4\frac{161}{226}$ units); the thickness on the right (बा हा) and left (ब हृ) bottom sides (each) being 3 units; on the right and left sides in the top and the bottom the respective thickness being one and a half units, and in the remaining two corners the thickness is uni-dimensional (i.e. zero). Elsewhere gradually increasing thickness having been obtained, (so) when the second body after reversing it is placed on the first body there will be produced a body of uniform thickness of 3 units. (See fig. 4) The length of this multiplied by the height and then multiplied by the thickness will be this: $49\frac{217}{452}$.

Avasesacattari khettaṇi addhuṭṭharajjussehaṇi chavvısuttaravisadehi egarajjuṁ khaṇḍiya tattha egaṭṭhisadakhaṇḍehi sadireyacattarirajjubhujaṇi. Kaṇṇakkhette alihiya dosu vi pasesu majjhammi chiṇṇesu cattari ayadacauraṁsakhettani aṭṭha tikonakhettaṇi ca honti.

(Now) the remaining four bodies have three and half units height, and have arms of length 161 parts out of 226 parts of unity increased by four units (i.e. ($4\frac{161}{226}$ units). Their hypotenueses being taken and they being cut in both (horizontal and vertical) directions from the middle yield four volumes on quadrilateral bases and eight volumes on triangular bases.

Ettha caduṇhamayadacaüraṁsakhettaṇaṁ phalaṁ puvvilladokhettaphalassa caübbhagamettaṁ hodi. Cadusu vi khettesu bahallavirohena egaṭṭhaṁ kadesu tiṇṇirajjubahallaṁ; puvvillakhettavikkhambhayamehiṁto addhamettavikkhambhayamapaṃaṇakhettuvalambhado. Kiṃaṭṭhaṁ caduṇhaṁ pi milidaṇaṁ tiṇṇi rajjubahallattaṁ? Puvvillakhettabahallado saṁpahiyakhettaṇamaddhamettabahallaṁ hodūṇa tadussehaṁ pekkhidūṇa addhamettussehadaṁsaṇado.

Here the (total) volume of the the four bodies on quadrilateral bases will be one fourth of the (total) volume of the two (similar) aforesaid bodies. The four bodies taken together, two at a time (as before) and they being placed together in respect of thickness, produce a thickness of 3 units, (and) the length and height are found to be half of the length and height of the volume mentioned before. How is the thickness of the solid obtained by joining the four together is 3 units? (Because) the length of the present solid is half of the length etc. of the solid mentioned before, and the height (also) is seen to be half as compared to the height of the previous solid.

Saṁpahi sesaaṭṭhakhettaṇi puvvaṁ va khaṇḍiya tattha solasa tikoṇakhettāṇi aṇantaradīdakhettaṇamussehado vikkhambhado bahallado ca addhamettaṇi avaṇiya aṭṭhaṇhamayadacaüraṁsakhettaṇaṁ phalamaṇantaraikkaṁtacadukhettaphalassa caübhagamettaṁ hodi,

Now cutting the remaining eight volumes (tretranedrons) as before, there (are obtained) sixteen tretrahedrons with heights, lengths, thicknesses etc. half of those of the previous ones; removing these (sixteen tretrahedrons) the combined volume of the (remaining) eight volumes on quadrilateral-base[8] is one-fourth of that of the four (such) volumes before.

Evaṁ solasa-battīsa-caüsaṭṭhi-adikameṇa ayadacaüraṁsakhettaṇi puvvillakhettaphalado caübbhagamettaphalani hodūṇa gacchanti java avibhagapalicchedaṁ pattaṁ ti.

In this way, being sixteen, thirty two, sixty four and so on, step by step, are obtained volumes on quadrilateral bases with (combined) volumes being one-fourth of the preceding; this goes on till the stage of further indivisibility is reached.

Evamupaṇṇasesakhettaphalam elavaṇavihaṇaṁ uccade. Taṁ jaha-savvakhettaphalaṇi caüguṇakameṇa avaṭṭhidaṇi tti kudūṇa tattha antimakhettaphalaṁ caühi guṇiya rūvūṇaṁ kaüṇa tiguṇidachedeṇa avaṭṭide ettiyaṁ hoi 65$\frac{118}{113}$. Adhologassa savvakhettaphalasamaso 104$\frac{107}{451}$.

(Now) we describe the method of finding the total of the unlimited volumes (bodies) so produced. It is thus: the volumes obtained are in succession fourfold, therefore; there, the last volume multiplied by four and divided by that minus one, (i.e., by 3) will give this: 65$\frac{118}{113}$. (Therefore) the total volume of the lower universe is this: 104$\frac{107}{451}$.

The main items of interest in the above, from the point of view of History of Mathematics, are as follows :—

(i) It has been assumed that a body with curved boundaries can be deformed into another with plane boundaries in such a way that its volume remains unchanged. In particular, if the hollowed out cone of figure (2) is deformed into the figure (3) which has plane boundaries, then the volume remains unchanged.

(ii) The principle of construction for the purpose of demonstration or proof has been assumed to hold true. In particular, this principle has been used to find the volume of the tetrahedrons अ ब स द and आ बा सा दा.

(iii) The formula $S = \frac{a}{1-r}$, $r < 1$, for the sum of the geometric series $S = a + ar + ar^2 + \ldots\ldots + ar^n + \ldots\ldots$ has been assumed.

(iv) The value of π has been taken to be $\pi = \frac{355}{113}$.

RECONSTRUCTION OF PROOFS OF MENSURATION FORMULAE

The principles of deformation and construction employed in the above demonstartion can be used to obtain the mensuration formulae known and used in India as follows :—

AREA

1. **Rectangle:** The area of a rectangle is equal to its length multiplied by its breadth.
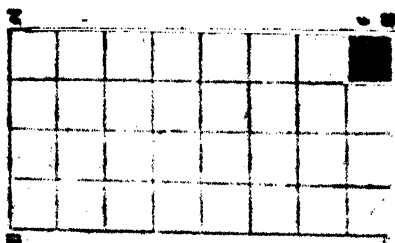
Fig. 5.

2. **PARALLELOGRAM: The area of a parallelogram is equal to the length of its base multiplied by its height.**
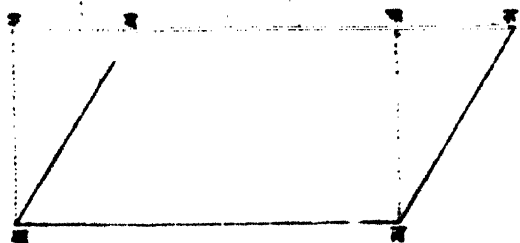
Fig. 6

Construction. Cut the portion ब स फ (ब फ perpendicular to स द) and take it to the other side (अ प द). The resulting figure is a rectangle, hence the theorem.

First Principle of Deformation: If one of the sides of a parallelogram is moved along itself, the area of the parallelogram remains unchanged.

In the figure अ ब स द; स द sliding in its own line is moved to the position फ प giving the rectangle of equal area.

3. TRIANGLE: The area of a triangle is equal to half the length of its base multiplied by its height.

This result is true because a triangle is half of a parallelogram on the same base and of the same height.

Second principle of deformation. If the vertex of a triangle is moved parallel to the base, the area of the triangle remains unchanged.
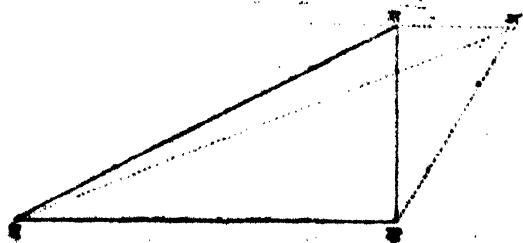
Fig. 7.

4. **Trapezium :** The area of a trapezium is equal to half the sum of the lengths of its base and face multiplied by its height.
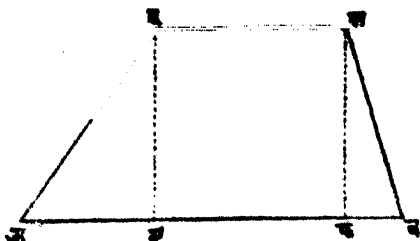
Fig. 8.

The result follows from the construction shown in the figure.

The principle of deformation holds true in the case of a trapezium also, i.e. the area of the trapezium is unffected by a deformation brought about by moving one of the parallel sides in its own line.

5. **Sector of a Circle :** The area of a sector of a circle is equal to half the length of its arc multiplied by its radius.

Fig. 9.
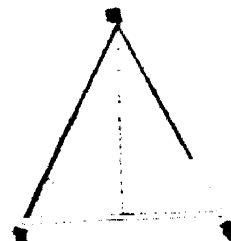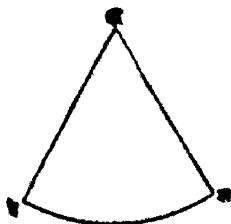
Fig. 10.

Construction : Divide the sector अ ब स (Fig. 9) into a large number of smaller sectors (which may be equal), so that the arcs of these sub-sectors are so small that they differ little from straight lines. The sector is thus divided into a large number of triangles.

Now place these triangles with their bases abutting on one another on the line ब स (see fig. 10) and move the vertices so that they all come to अ. The area of the sector is thus seen to be the same as the area of the triangle अ ब स whose base ब स is equal to the length of the arc ब स and whose height is equal to the radius of the sector .

Third principle of deformation: If a sector of a circle is deformed into a triangle whose base is equal in length to the arc of the sector and whose height is equal to the radius, the area remains unaltered.

The deformation is brought about by keeping the bisector of the angle at the centre fixed and then making the circular arc straight.

6. CIRCLE The area of a circle is equal to half the length of its circumference multiplied by its radius.

Construction: Cut the circle along a radius and spread it out into a triangle. The area of the circle is equal to the area of this triangle whose base is equal to the circumference and whose height is equal to the radius of the circle. Hence the result.

Corollary: The area of the figure bounded by two concentric circles of radii a and b, and two radii is equal to the area of the trapezium whose parallel sides are equal to the length of the two arcs and whose height is equal to the difference between the radii of the circles.

Fig. 11.
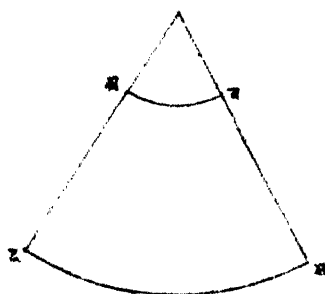
Fig. 12.
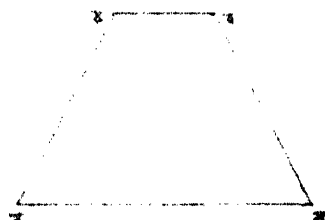
7. The volume of a cylinder (of uniform cross-sections) is equal to the area of its base multiplied by its height.

8. The volume of a tetrahedron is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

A prism on a triangular base can be divided into three equal tetrahedrons, hence this result.
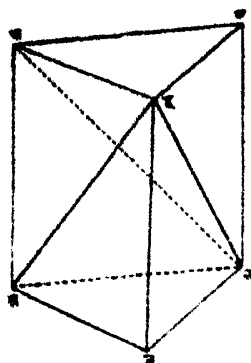
Fig. 13.

An alternative method of finding the volume of a tetrahedron has been given in the demonstration quoted above.

9. The volume of a pyramid is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

Construction: The pyramid can be cut into a number of tetrahedrons. The result follows.

10. The volume of a right cone is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

Construction: Cut the cone along a radius of the base vertically up to the vertex. Then spread it out so that the base is deformed into a triangle as in 6. The cone is deformed into a tetrahedron of equal volume by virtue of the third principle of deformation. The volume of this tetrahedron is equal to one third the area of the base multiplied by its height, hence the result.

By the fourth principle of deformation the result is true for any cone, right circular or not.

11. The volume of the frustum of a cone could be found out by subtraction, for the frustum is obtained by cutting the cone by a plane parallel to the base. The frustum being given, the original cone by cutting which the frustum has been obtained must be found out. Instead of doing that, the author of the Dhaval finds the volume of the frustum directly taking recourse to construction and the principles of deformation, which we have attempted to reconstruct.

Let a and b be the radii of the base and face of the frustum of a cone whose height is h. Then extracting out a cylinder of radius

b and height h, and performing construction and deformation one obtains the body in fig. 3.

In the figure,

$$AA' = BB' = 2\pi b$$
$$BD = B'D' = a - b$$
$$BC = B'C' = \pi(a - b)$$
$$AD = A'D' = h$$

This body is then cut into three parts by vertical planes passing through A and A'. We get the prism ABDD' B' A', and two equal tetrohedrons ABDC and A'B'D'C'. The volume of ABDD'B'A', which is a prism of height $2\pi b$ on a triangular base ABD, is

$$\tfrac{1}{2}\, BD \times AD \times 2\pi b$$
$$= \tfrac{1}{2}(a - b) \times h \times 2\pi b$$
$$= \pi bh(a - b) \ldots\ldots\ldots\ldots \text{(i)}$$

The volume of the two tetrahedrons together is

$$2\, \tfrac{1}{3}\, \tfrac{1}{2}\, BD \times BC \times AD$$
$$= \tfrac{1}{3}(a - b) \times (a - b)\pi \times h$$
$$= \tfrac{1}{3}\pi(a - b)^2 \times h \ldots\ldots\ldots\ldots \text{(ii)}$$

The volume of the frustum is, therefore,

$$\pi b^2 h + \pi bh(a - b) + \tfrac{1}{3}\pi(a - b)^2 h$$
$$= \tfrac{1}{3}\pi h\{3b^2 + 3ab - 3b^2 + a^2 + b^2 - 2ab\}$$
$$= \tfrac{1}{3}\pi h\{a^2 + b^2 + 2ab\},$$

which is the well known formula.

AN INFINITE PROCESS.

The volume of the two tetrahedrons has been directly found out. Each tetrahedron is cut into three parts by drawing horizontal and vertical planes through the middle point G(G') of AB (A'B') (see fig. 4). The bodies BDHEGIF and B'D'H'G'I'F' being placed one on the other produce a parallelopiped of height $\frac{h}{2}$ on a rectangular base with sides

$$BD = (a - b)$$
$$\text{and } BF = \tfrac{1}{2}\pi(a - b)$$

Let K denote the volume of this parallelopiped, i. e.,

$$K = \tfrac{1}{2}\pi(a - b)^2 . \tfrac{1}{2}h$$
$$= \tfrac{1}{4}\pi(a - b)^2 . h$$

Now cut the four tetrahedons produced in the above construction, each into three parts, by horizontal and vertical planes drawn as

before through the middle points of the sides. This produces eight tetrahedrons and four bodies like B D H . . . These four being placed together produce a rectangular parallelopiped whose volume is one-fourth the volume of the previous one, i. e. the volume of this is $\frac{1}{4}$ k. Continuing the process we get successively volumes as below :

$$K, \frac{1}{4} K, \frac{1}{4^2} K, \frac{1}{4^3} K \ldots\ldots\ldots$$

whose sum is

$$K\left(1+\frac{1}{4}+\frac{1}{4^2}+\frac{1}{4^3}+\ldots\ldots\right)$$
$$=\frac{4K}{3}$$

As K is known to be equal to $\frac{1}{4}\pi(a-b)^2$, therefore,

$$\frac{4K}{3}=\frac{1}{3}\pi(a-b)^2 h = \text{the volume of the two tetrahedrons.}$$

Continued construction as above reduces the volume of the tetrahedrons, so that they are reduced to points when the construction is continued indefinitely. The tetrahedrons, as has been rightly remarked by the author of the Dhavala are reduced to points and so oontribute nothtng to the volume. The volume of each of the tetrahedrons ABCD and A'B'C'D' is therefore

$$\frac{1}{6}\pi(a-b)^2 . h$$
$$=\frac{1}{3}.\frac{1}{2}\pi(a-b)(a-b). h$$
$$=\frac{1}{3}. \text{area of base. height.}$$

The main points to be noted in the above are :

(i) the actual use of an infinite sequence of constructions and

(ii) the actual use of the formula for the sum of an infinite series.

We shall perhaps never know how the ancient mathematicians of India justified the use of infinite processes. We content ourselves by stating that the Hindu mathematicians did use infinite processes as early as the 8th or 9th century A. D.

THE VALUE OF π

The problem of 'squaring the circle' or what was more fundamental in India from the point of view of religious requirements, the problem of 'circling the square' originated and acquired special

importance in connection with the Vedic sacrifices, when the earliest hymns of the *Rg. Veda* were composed (before 3,000 B. C.). The three primary altars viz., the Gārhapatya, Ahavanīya and Dakṣina were to be of the same area but of different shapes—square, circle and semi-circle. The five altars called *Rathacakra-citi*, *Samuhya-citi* and Paricāyya-citi, mentioned in the *Taittiriva Samhita* required the construction of a circle equal in area to a given square of $7\frac{1}{2}$ units area. The value of π used in those early days varied between 3 and 3·1. For further datails the reader is referred to *The Science of the Sulba* by B. B. Datta (Calcutta University Press, 1932).

The value $\pi=\sqrt{10}$ seems to have been used by Jaina scholars first. It was used by *Umasvati* who wrote about the beginning of the Christian Era. He says:

"The square-root of ten times the square of the diameter of a circle is its circumference. That multiplied by a quarter of the diameter (gives) the area.[1]

This value ($\pi=\sqrt{10}$) became very popular and was used by most of the Hindu astronomers and mathematicians—Brahmagupta, (628) Sridhara (c. 750), Mahavira (c. 850). Aryabhata II (c. 950) etc. Aryabhata I (499) used the value

$$\pi=\frac{62832}{20000}$$

He says:

"100 plus, 4. multiplied by 8 and added to 62000. This will be the approximate value of the circumference of a circle of diameter 20000.[2]

Now

$$\frac{62832}{20000}=3+\cfrac{1}{7+\cfrac{1}{16+\frac{1}{11}}}$$

The successive convergent are

$$3, \tfrac{22}{7} \text{ and } \tfrac{355}{113}.$$

The value $\frac{22}{7}$ was employed by the Greeks and is known as the Greek value of π. It is the second convergent obtained from Aryabhata's value and has been used in India by Aryabhata II and by Bhaskara II as a "gross" value of π.

1. Tattvarthadhigama sutra with the *bhāṣya* of Umasvati, ed. by K. P. Mody, Calcutta, 1904, iii II (gloss).
2. Aryabhatiya, II, 10.

The value $\pi = \frac{355}{113}$ which is the third convergent has been very rarely used by Hindu mathematicians and astronomers. This value has been called the Chinese value of π as it occurs in the works of Chinese scholars about the seventh century A. D.

Virasena the author of the *Dhavala* completed his work on 8th October, 816 A. D. He uses the volue $\pi = \frac{355}{113}$ and in support quotes the following from a previous author:

Vyasaṁ ṣodaśagunitaṁ sodaśasahitaṁ
tri-rupa-rupairbhaktaṁ |
Vyasaṁ trigunitasahitaṁ sukṣmadapi
tadbhavetsûkṣmaṁ ||

The literal translation of the above, according to modern sanskrit usage, will run as follows:

"The diameter multiplied by sixteen added by sixteen (and) divided by three one-one, together with three times the diameter is finer than the fine (value of the circumference)"

This gives

$$C = 3\ D + \frac{16\ D + 16}{113}$$

wher C stands for the circumference and D the diameter of a circle.

Virasena, however, interprets the above as

$$C = 3\ D + \frac{16\ D}{113} = \frac{355\ D}{113}$$

$$\text{i. e. } \pi = 3\tfrac{16}{113} = \tfrac{355}{113}$$

Virasena's interpretation, however. cannot be correct unless "*Śoḍaśasahitaṁ*" in the first line is interpreted to mean "added sixteen times". so that the translation of the couplet would run as follows:

"The diameter multiplied by sixteen, (that is) added sixteen times (and) divided by three-one-one together with three times the diameter is finer than the fine (value of the circumference)."

Now, the term "*Sahitaṁ*" was used in the sense of addition as well as "multiplication", i. e. "repeated addition a number of times" in the *Vedaṅga jyotiṣa* but has not been used in that double sense by Aryabhaṭa (499) and suceeding mathematicians. This leads one to conclude that the above quotation is from some work written before the fifth century A. D., when "*Sahitaṁ*" was being used in both the senses of multiplication as well as addition. It would appear,

therefore, that the so called chinese value of $\pi = \frac{355}{113}$ was also known in India and was perhaps used in India earliear than in China. It might be that the Chinese got this value from India, through Buddhist missioneries or perhaps they found out the value independently.

Another noteworthy feature in the above quotation is the remark "finer than the fine." From this it follows that a "fine" value of π was already known. This fine value of π may have been $\sqrt{10}$ or $\frac{22}{7}$. If the latter, the connection with Aryabhata's value is obvious—the third convergent being a closer approximation than the second.

RENASCENT INDIA AND VAISALI

By

Prof. Sita Rama Singh, M. A.
Lecturar in History. H. D. Jain College, Arrah.

It is only in the fitness of things that Renascent India should look with increasing interest and enthusiasm to Vaisali— the cradle of republicanism, and the religious centres of the Jainas and the Budhists. Republicanism is the political garb of Modern India, and Non-violence— the central theme of the teachings of both Lord Mahavira and the Buddha—is her message to the suffering world. The Jaina contribution to the building up of New India has been considerable, and in order to make it more effective the Jainas shall have to revive once more the traditions of Vaisali.

Now it has been proved beyond doubts on the ground of unimpeachable evidences that Lord Mahavira was born at Kundagrama near Vaisali, and not at Lichchuai or Kundalapura as was the popular belief among the Jainas. The birth of Lord Mahavira was an event of paramount importance in the history of the Lichchavi Republic. As Dr. Radhakumud Mookerji, as eminent historian, has pointed out, "The personality and preachings of Mahavira rapidly built up Vaisali as a centre of Jainism and of the spiritual discipline and asceticism upon which it was based. Vaisali thus achieved an early reputation in the religious world of India for its teachers devoted to the practice of uttermost penance and austerity, of which Mahavira stood out as the most prominent example." More than this Mrs. Rhys Davids has even pointed out that the Buddha was first initiated into Jainism at Vaisali and Alara and Uddaka were his first teachers. Thus the Buddha began his quest for truth from Vaisali.

A more definite proof of the Buddha beginning his religious life as a Jaina is to found in the fact that he took to severe penance, practised austerities, reduced himself to a mere skeleton, skin and bones, and ultimately reduced his food to what might he contained in his hollowed palms. When he found that his body could not stand the rigours of such severe penance, he took to his famous Middle Path.

So during the 6th. cent B. C. Vaisali was the centre of the religious movements that were springing up in India at that time. Dr. Smith has characterised these movements as the protests of the Kshatriyas against the all-powerful Brahmins. One, however, may well be tempted to ask as to why these protests of the Kshatriyas were voiced by the republican clans rather than by the Monarchical Chiefs who were more powerful. Dr. Smith would have been nearer the truth if he had sought the origins of the religious movements in the healthy political life of the Vajjian Republican Confederacy to which the Buddha himself paid tributes. A further proof of the republican character of Jainism is to be found in the fact that Lord Mahavira emphasized the dignity of man, that He said that man could mould his own destiny and attain salvation through self-less action and that for his salvation the help of no outside agent was needed. This teaching was a bold proclamation of the republican ideal in religion.

Vaisali is also the embodiment of the dedication of the individual, however great he might be, to the well-being of the community. Lord Mahavira was the son of Sidhartha, a Lichchavi Chief, and Trishala the sister of Chetaka, the Lichchavi Raja. His princely origin not withstanding, Lord Mahavira kicked wordly luxuries and devoted himself to healing the religious sores from which the common people were suffering at that time.

To sum up : the message of Vaisali is that republicanism is the best sort of constitution under which the individual has the best opportunities to unfold his personality to the utmost extent, that such a developed individual should dedicate himself to the well-being of the community, that Lord Mahavira was the finest flower which blossomed at Vaisali, embodying its best ideals, and that the religion of a republic should be the cult of self-reliance.

These ideals of ancient Vaisali can inspire Renascent India to action. But it is a matter of regret that due attention has not been paid to the excavation work at Vaisali, that only an insignificant part of which should have been done has been done, and that many valuable informations yet lie buried beneath mounds. Every Indian is under sacred obligation to Vaisali, but most of all the Jainas owe a

sacred duty to the birth-place of their twenty-fourth and last Tirthankara. The Jainas, though not numerous, are a wealthy and influential community in India and they can and should do something for unearthing the hidden treasures at Vaisali. A Jain Dharmashala, a Museum and further excavations are the crying needs of Vaisali. By doing so, the Jainas will not only be paying homage to their own religion, but also doing a great service to Mother India.

CONTRIBUTION OF THE JAINAS TO HINDI LITERATURE.

By

Sri C. S. K. Jain, M. A.

The great political storm which swayed over India just before and after the advent of the Musalmans, threw away the Indian people, all of a sudden, so far away from their old traditions, that they could not be able to get together even those valuables which were the results of thousands of years of their experiments and thoughts. The period of Indian History after the death of Harsha upto the settlement of Muslim Empires, has been rightly branded as The Dark Age, because the current literature of the general folk of the time, the burning torch of the age, has been sacrificed among the high flames of communalism and racealism.

The Jain-literature has proved itself to be the only helpful means for having a peep through the veil of ignorance spread over the age. According to Jain philosophy, the *Shastras* (sayings of respectable Jain monks) have been held in regard just on equal footing with the Devas (Jain dieties) and the Gurus (Jain sages). As a result, the Jainas tried their best to protect Jain literature also along with their sacred images. This vast literature, still safe in big Jain religious libraries all over Iudia, has its significance not only for getting a clue to our long debated religious, historical or philological problems, but also in bridging the way to our ancient literary glory. It is a matter of regret that only a few literary magnets have cared to survey or even to pass through this highway of our literary tradition.

Right from the lifetime of Bhagwan Mahabir, language of the general folk received its due respect in Jain literature. Jain monks and poets always tried to incorporate the feeling, the thought and the voice of the general mass in its own language. Near about the 10th century A. D., Jainism was the most pupular faith in some parts of India such as the Deccan, the Rajasthan, Gujrat and other western provinces. Under suitable state-protection Jain monks remained always busy in injecting Jain religious principles among the householdersthrough their works on almost all branchs of literature like history,

epic, drama, mythology, grammar etc. They took care to use the same character of language which was current among all grades of people for their daily expressions. So the common literature of the time is mostly the result of the unshaken labour and brilliance of the Jain literators. It was the age when Apbhransha the traditional heir to Sanskrit was taking shape of modern provincial languages like Bengali, Gujrati, Awadhi, Rajasthni etc. in all parts of India. Jain literature of the age is mostly found in Apbhransha but its stock of words is nearer to old Hindi than the literary form of Apbhransha itself. So we should have a regard for these literators as pioneers of Hindi literature.

Apart from its liberal philological view-point, the above Jain literature constitutes the stepping stones leading to that glory of literary revival which reached its zenith during the famous Golden Age of Hindi literature, producing genii like Kabir, Jayasi, Sur, and Tulsi. The poetic arts of these venerable poets are only full bloomed beauties of the said Jain literature. Whether in treatment of subject, in composition of verses, in use of figures of speech, in selection of touching scenes or other beauties of rhetoric and prosody, the formers have always been found following the footsteps of their Jain predecessors.

Leaving aside his philosophical differences, we may say that the art of Tulsi owes much to Jain poet *Swayambhu Dev* (791 A.D.), the composer of the great epic *Paümchariū* (the Jain Ramayan) in *Chaupias* and *Ghattās*. It contains marvellous descriptions of battles, lamentings, and pictorial views of nature, intermingled with philosophical ideas, as is found in Tulsi Ramayan also.

We enjoy the romantic and mystic flavour of Sufi poets like Jayasi as far back as 1100. A. D. in Muni *Naya Nandi*, through his composition *Sudanshan Chariū*. When we see the inclination to Shringar Rasa, description of female beauty, nature painting, a mystic idea of universal co-relation, and then the selection of verses also, in a way just corresponding to the Romantic epics, we are free to form an idea that, in absense of any such literature to be found elsewhere at so early period, Naya Nandi is the first known composer of Romantic epic (Prem Kavya) and Sufi poets were not ignorant of his art.

Though thoughts of Kabir are the direct evolution of the preachings of Sahajyani Sidhas and Nath Panthi yogis, yet some lines of Kabir resemble so much with those of Muni Ram Singh (near about 1110 A. D. that it becomes evident that they were popular in the environment which was shaping the ideas of Kabir. For example these lines of Kabir—

केसन कहा बिगारिया जो मूंडो सौ बार ।
मन को क्यों नहीं मूंडिये, जामे विषै विकार ॥

can be well compared with these lines from Pahur Doha—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया । सिर मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ । संसारहँ खंडणु तिं कियउ ॥

Muni Ram Singh was a staunch supporter of the view that even strict adherance to outward rituals does not ensure self-emancipation, which is only possible through real self-conciousness and inner purity. He has used the same words in abhorance of such ascetics and *Pandits* as Kabir did afterwards against the so called contractors of human progress.

There is no doubt that composition of epics in Hindi literature owes its origin to the Jain Poets, the most important of which known up till now, are acquainted herewith along with their works :—

Poet's name.	Age (Settled up till now)	Works.
1. Swayambhu Dev	790 A. D.	1. Paum Chariū
		2 Ritthnemi Chariū
		3. Panchami Chariū
		4. Swayambhu Chhand
2. Maill Dhawal	10th cen. A D.	1. Davv Sahao Payas
		2. Harivansha Purañ
3. Mahakavi Puspadant		1. Tissith Mahapuris Guñalankār
		2. Naya Kumar Chariū
		3. Sasahar Chariū
		4. Kosha Granth
4. Dhanpal	10th cen. A. D.	1. Bhavishyavat Katha
5. Muni Naya Nandi	1100 A. D.	1. Sudanshan Chariū
6. Acharya Hemchandra	1088 A. D.	1. Kumarpal Charitra

2. Sidha Haim Shabdanushashan
3. Prakrit Vyakaran
4. Deshi Nammala
5. Chhandonushashan

Acharya Hemchandra needs special reference because he was the first to write an Apbhransha Vyakaran and a book on prosody. Deshi Nammala contains a list of such words which were popular in public and were used in literature of that period. Besides these the names of Somprabhsuri, Vinayachand Suri, Acharya Merutung and Rajshekhar Suri are also worth remembering who decorated Hindi literature with different kinds of works on poems, dramas, short stories etc. We have not come across any Jain writer of lyric poems which has its artistic growth in Sur. But the art of lyric poetry was not foriegn to them. We find an unbroken chain of Jain poets right upto the end of the 15th century A. D.

Year 1586 is one of the most important dates, in this connection, for it celebrates the birth of a great genius Banarsidas Jain of Jaunpur, who was anxious for spreading the sphere of Hindi literature, so far limited within epics and lyrics only. He was one of the few early prose-writers of Hindi. His prose truely represents current Brajbhasha of his time. His Ardhakathanak (autobiography) is the only work of its kind in old Hindi. He was a good poet and one among the fast friends of Tulsidas. He also produced the Hindi version of Natak Samaysar of Kundkundacharya. Thus Banarasidas stands at a remarkable place in Hindi literature.

Even in the sphere of prose, we should not forget the importance of Pt. Daulatram Jain of Baswa (Madhya Pradesh) who translated Jain *Padma Purana* of Ravishenacharya into Khari Boli in 1766 A. D. As Pt. R. C. Sukla notes, his language represents that character of Khari Boli which was prevalent among the majority of literate people, not influenced a little by foriegn languages like Urdu or Persian. His work proves that writing of prose in Khari Boli had begun long before the British tried to shape its outlines in the Fort-William.

Even to day we see several Jain literators busy in promoting the grandeur of Hindi literature in almost all its branches. Shri Rishabh Charan Jain is famous for his fictions. Jainandra Kumar has its own importance for his philosophical outlook and psychological study of characters in his novels and short stories. He is also a renowned critic in modern Hindi literature. Dr. Hiralal Shastri has gained a memorable place for his research works on Jain literature. It is his effort that brought to light the vast Jain literature of old Hindi and drew the attention of Hindi world towards its importance. Besides these Shikherchand Jain, Shree Gyanchand Jain and various others are true devotees of Hindi literature who are doing there best to fill up its treasure or mark the value of its present diamonds. Jain contributions to Hindi literature, though a few in quantity, have their unique importance for they mark the mile-stones of the path of its progress.

Thus we come to the conclusion that the Jainas, though constituting a very small number of Hindi speeking population, are not less important for their share of offerings at the altar of Hindi. It is for the present generation to continue the tradition and keep the torch of learning bright, the only means of human emancipation from the distructive elements of to day, resulting influence of undue evolution of brain without due collaboration with the heart, the fountain of life and fraternity.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED BY D. K. JAIN, AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

ाग १५ | किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XIV | No. I

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.

Prof. G. Khushal Jain, M. A. Sahityacharya.

B. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.

Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH, BIHAR, INDIA.

Inland Rs. 5. | Foreign 4s 8d | Single Copy Rs. 1/8.

JULY, 1948.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १५ | जुलाई १९४८ | किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न,

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३।) | एक प्रति का १॥)

विषय सूची

पृष्ठ

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १५ | जुलाई १९४८ । श्रावण, वीर नि० सं० २४७४ | किरण १

कदम्ब नरेश रविवर्मा और उनका एक शिलालेख

[ले०—श्रीयुत बा० कामताप्रसाद जैन डी० एल०, एम० आर० ए० एस०, अलीगंज]

कदम्बवंश के राजा लोग कर्णाटक देश के अधिवासी थे। उनका कुल-वृक्ष 'कदम्ब' था। उसके कारण वह 'कदम्ब' कहलाये थे। तामिल साहित्य में कदम्बों का उल्लेख कोंगाकानम् देश के 'नन्नन' नामक राज्याधिकारी के रूप में हुआ है। तामिल ग्रन्थकार 'कडम्बु' नाम से भी उनका उल्लेख करते हैं। इनकी राजधानी वनवासी या वैजयन्ती थी। श्री जिनसेनाचार्य जी ने 'हरिवंश पुराण' के सर्ग १७ में लिखा है कि हरिवंश में राजा ऐलेय प्रसिद्ध हुए। उनके वंशज चरम नृप ने वनवासी को बसाया था। कदम्बों का राज्यशासन वर्तमान मैसूर स्टेट के शिमोगा और चितलदुर्ग जिलों एवं उत्तर कनारा, धारवाड़ तथा बेलगांव जिलों पर था। प्रारंभ में कदम्ब वंश के राजा वैदिकधर्मानुयायी थे, परन्तु उपरान्त वे जैनधर्म के श्रद्धालु हुए थे। इन्होंने सन् २५० ई० से ६०० ई० तक राज्य किया था।

वनवासी के इन कदम्ब वंशी राजाओं में रविवर्मा एक प्रसिद्ध नरेश थे। इनके पिता मृगेशवर्मा का स्वर्गवास इनके बाल्यकाल में हो गया था। अतएव इनके चाचा मानधातावर्मा ने राजकाज को संभाला था। युवा होकर रविवर्मा ने राज्यभार संभाला था और पूरी अर्द्ध शताब्दि तक (४५०-५०० ई०) शानदार शासन किया था। वनवासी के कदम्ब राजाओंमें वही अन्तिम प्रभावशाली शासक थे। उन्होंने कई संग्राम लड़कर अपने राज्य को समृद्धिशाली बनाया था। उनके चाचा विष्णुवर्मा ने विद्रोह खड़ा किया था, किन्तु रविवर्मा ने बड़ी सफलता से उसका शासन किया था। विद्रोही नष्ट हुए थे। शासन

प्रबंध में उनके छोटे भाई भानुवर्मा ने उनका खूब ही हाथ बटाया था। उनका पुत्र हरिवर्मा उनके पश्चात् शासनाधिकारी हुआ था।

सम्राट् रविवर्मा भी अपने पिता मृगेशवर्मा के समान जैनधर्मानुयायी थे। हल्सी (बेलगाँव) से प्राप्त हुये उनके दानपत्र से उनकी जैनधर्म में दृढ़ श्रद्धा प्रकट होती है। उसमें लिखा है :—

"महाराज रवि ने यह अनुशासन पत्र महानगर पालासिक में स्थापित किया कि श्रीजिनेन्द्र की प्रभावना के लिये उस ग्राम की आमदनी में से प्रति वर्ष कार्तिकी पूर्णिमा को श्री अष्टान्हिकोत्सव, जो लगातार आठ दिनों तक होता है, मनाया जाया करे; चातुर्मास के दिनों में साधुओं की वैयावृत्य की जाया करे; और विद्वज्जन इस महानता का उपभोग न्यायानुमोदित रूप में किया करें। विद्वत्मंडल में श्री कुमारदत्त प्रधान हैं; जो अनेक शास्त्रों और सुभाषितों के पारगामी हैं, लोक में प्रख्यात हैं, सच्चरित्र के आगार हैं और जिनकी संप्रदाय सम्मान्य है। धर्मात्मा ग्रामवासियों और नागरिकों को निरन्तर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करना चाहिये। जहाँ जिनेन्द्र की पूजा सदैव की जाती है वहाँ उस देश की अभिवृद्धि होती है, नगर आधि व्याधि के भय से मुक्त रहते हैं और शासक गण शक्तिशाली होते हैं"।

रविवर्मा स्वयं श्रावक के दैनिक कर्म—दान देना और जिनपूजा करना, करते थे और अपनी प्रजा को भी उनको पालने के लिये प्रोत्साहित करते थे, उनका भाई भानुवर्मा भी जिनेन्द्रभक्त था और निरन्तर दान दिया करता था। रविवर्मा सदाही धर्मोत्कर्ष का ध्यान रखते थे। होरमंग नामक स्थान से प्राप्त उनका दानपत्र भी उनकी महानता को बताता है। 'आर्केलाजिकल सर्वे ऑव मैसूर' से हम उसे यहाँ सधन्यवाद उपस्थित करते हैं :—

कदम्ब नरेश रविवर्मा का कोरमंग दान-पत्र

१ स्वर्यांशुद्युति परिषिक्त पङ्कजानां शोभां यद्वहति सदास्य पादपद्मम्।

सिद्धम् २ देवानाम्मकुटमणिप्रभाभिषिक्तं सर्व्वज्ञस्स जयति सर्वलोकनाथः॥

३ कीर्त्या दिगन्तरव्यापी रघुरासीन्नराधिपः
काकुस्थतुल्यक्काकुस्थो यवीयांस्तस्य भूपतिः।

४ तस्याभूतनयश्श्रीमाञ्शान्तिवर्म्मा महीपतिः
मृगेशस्तस्य तनयो मृगेश्वर पराक्रमः॥

५ कदम्बामल वंशाद्रेः मौलिता मागतो रविः
उदयाद्रि मकुटस्येव दीप्तांशुरिवांशुमान् ॥

६ नृपशलनकी विष्णुर्दैत्यजिष्णुर्यं स्वयं
हिरण्मयचलन्मालंत्यक्त्वाचक्रंविभावितः ॥

७ साम्राज्ये नन्दमानोपि न माद्यति परंतपः
श्रीरेषा मदयत्यन्यानतिपीतेव वारुणी ॥

८ नर्म्मदं तम् मही प्रीत्या समाश्रित्याभिनन्दति
कौस्तुभाभारुणच्छायं वक्षो लक्ष्मीर्हरेरिव ॥

९ रवावधि जयन्तीयं सुरेन्द्रनगरीं श्रिया
वैजयन्ती चलश्चित्र वैजयंती विराजते ॥

१० रवेर्भुजाङ्गदासीव चंदनप्रीतमानसा
तथा श्रीन्नभिवत्प्रीता मुरारेरपि वक्षसि ॥

११ विश्वावसुमति नाथन्नाथनं नयविदम्
धौरिवेन्द्रं ज्वलद्रत्नदीप्तिकोशाङ्किताङ्गदम् ॥

१२ यस्य मूर्ध्नि स्वयं लक्ष्मीहेमकुम्भोदर च्युतैः
राज्याभिषेकमकरो दम्भोजशकलेज्जलैः ॥

१३ रघुणालम्बितामौली कुण्डो गिरिरधारयत्
रवेराज्ञां वहत्यद्य मालामिव महीधरः ।

१४ धर्म्मार्थं हरिदत्तेन सोयं विज्ञापितो नृपः ॥
स्मितज्योत्स्नाभिषिक्तेन वचसा प्रत्यभाषत ॥

१५ चतुस्त्रिंशत्तमे श्रीमद्राज्यवृद्धिसमासमा
मधुम्मासस्तिथिः पुण्या शुक्लपक्षश्च रोहिणी ॥

१६ यदा तदा महाबाहुरासंग्रामपराजितः
सिद्धायतन पूजार्थं संघस्य परिवृद्धये ॥

१७ सेतोरुपलकस्यापि कोरमंगश्रितां महीम्
अधिकान्निवर्त्तनान्येन दत्तवां स्वामरिन्दमः ॥

१८ आनन्दो दक्षिणस्याथ सेतोः केदारमाश्रितम्
राजमानेन मानेन क्षेत्रमेक निवर्त्तनम् ॥

१९ समणे सेतुबंधस्य क्षेत्रमेक निवर्त्तनम् ।
तचापि राजमानेन वेटिकोटे त्रिनिवर्त्तनम् ॥

२० उन्छादिपरिहर्त्तव्ये समाधिसहितं हितम् ।
दत्तवां श्श्री महाराजस्सर्व्वसामंतसंनिधौ ॥

२१ ज्ञात्वा च पुण्यमभिपालयितुर्व्विशालं
तद्भंगकारणमितस्य च दोषवत्ताम् ॥

२२ ...श्रमस्खलित संय्यमनैकचित्ताः ।
संरक्षणेस्यजगतो पतयः प्रमाणम् ॥

२३ बहुभिर्व्वसुधामुक्ताराजभिस्सगरादिभिः
यस्ययस्य यदाभूमि स्तस्यतस्य तदाफलं ॥

२४ अद्भिर्दत्तंत्रिभि र्भुक्तंसद्भिश्चपरिपालितम् ।
एतानि न निवर्त्तन्ते पूर्व्वराजकृतानि च ॥

२५ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां ।
षष्ठिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तुसः ॥

भावार्थ— सिद्धम् । सर्वलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान् की जय हो, जिनके पाद पद्म देवों की मुकुट-मणि-प्रभा से अभिषिक्त हुए ऐसे शोभते हैं, जैसे पंकज सूर्य किरणों से आच्छादित शोभते हैं। रघुराज की कीर्ति दिगन्तों में व्याप्त थी। उनका छोटा भाई काकुस्थ राम के तुल्य था। उनका पुत्र श्रीमान् शान्तिवर्मा नामक नरेश था। मृगेश उनका पुत्र मृगेश सदृश पराक्रमवाला था। अमल कदम्बवंश रूपी पर्वत की उच्चतम शिखरवत् रवि नरेश हुए, जो मानो उदयाद्रि की शिखिर पर सूर्य ही चमक रहे हों। यह राजन् साक्षात् दैत्य विजयी चक्रविभा युत विष्णु ही थे। अपने साम्राज्ययोग में आनंद मानते हुए भी वह मानकषाय में नहीं वहे थे। उनका वैभव दूसरों को मदमत्त बनाता था। पृथ्वी ने हर्षयुत हो इस चतुर नरेश का आश्रय लक्ष्मी-वत् प्रसन्नचित हो लिया था। रविनरेश की राजनगरी वैजयन्ती सुरेन्द्रनगरी—अमरावती को भी अपने सौन्दर्य से मात करती थी। विष्णु के वक्षस्थल पर विराजती हुई लक्ष्मी उतनी प्रसन्न नहीं हुई जितनी वह रवि नरेश के बाहुपाश से बंदी रह कर हुई। लोक ने इस राजनीतिज्ञ राजा को वैसे ही अपना स्वामी

माना जैसे स्वर्ग में इन्द्र माना जाता है। स्वयं लक्ष्मी ने ही उनका अभिषेक किया था। मीलीकुण्ड पर्वत ने रघु को धारण किया था। अब वही पर्वत रवि नरेश के आदेशों को मालावत धारण करता है। हरिदत्त ने जब उस नरेश से दान करने की विनती की तो मुस्कुराहट की ज्योत्स्ना बिखेरते हुए उन्होंने समुचित उत्तर दिया था। उनके वर्द्धमान शासनकाल के ३५ वें वर्ष में मधु (चैत्र) शुक्लपक्ष की एक शुभ तिथि को जब रोहिणी नक्षत्र था, तब इन महाबाहु अपराजित नरेश ने आसन्दि नामक ग्राम सिद्धायतन पूजा के अर्थ और संघ की परिवृद्धि के लिये भेंट किया। उसके अतिरिक्त कोरमंगादि प्रदेश की कुछ भूमि भी प्रदान की, जिसका नाप तोल दिया है। रविनरेश ने यह दान अपने सामन्तों के समक्ष उंछादी राजकर से मुक्त करके दिया था। लोक के वे शासकगण, जिनके मन कषायवासनों को जीतने में लगे हैं, इस दान की रक्षा करने के लिये उत्तर-दायी होंगे, क्योंकि दान की रक्षा करने से महान् पुण्यफल एवं उसके नाश के पाप-फल से वे अवगत होंगे। सगर आदि नरेशों द्वारा यह पृथ्वी भोगी जा चुकी है। जो कोई इसका शासक होगा उसे ही इस दान का फल मिलेगा। जो संकल्प कर के दिया गया अथवा तीन पीढ़ियों से जो भुक्तमान है या पूर्व राजाओं द्वारा प्रदत्त है वह दान कभी भी नहीं मिटाया जायगा। जो कोई दान की हुई भूमि जो जब्त करेगा वह साठ हजार वर्षों तक नर्क में उबाला जायगा। आजकल आसन्दि ग्राम कडूर जिले के कडूर तालुके में अज्जमपुर के पास अवस्थित है। यही ग्राम रविवर्मा नरेश ने जैनसंघ और सिद्धायतन की पूजा के लिये प्रदान किया था। 'सिद्धायतन' संभवतः सिद्ध भगवान् का बोधक है।

एक साम्प्रदायिक चित्रण

[लेखक—श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री]

२-३ वर्ष हुए, भारतीय विद्या-भवन से प्रकाशित होनेवाली 'भारतीय विद्या' नामक पत्रिका का एक अंक स्व० बाबू श्री बहादुर सिंह जी सिंघी स्मृति ग्रन्थ के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसके सम्पादक मुनि श्री जिनविजय जी हैं। उसमें मुनि जी ने जैसलमेर के शास्त्र भण्डारों के कतिपय ग्रन्थों की काष्ठ की पटियों पर चित्रित कुछ चित्रों के ब्लाक भी मुद्रित कराये हैं। उनमें तीन चित्र (इ-ई) ऐसे हैं जो दिगम्बर श्वेताम्बर विषयक एक शास्त्रार्थ से सम्बन्ध रखते हैं।

कहा जाता है कि गुर्जरेश्वर सिद्धराज की सभा में श्वेताम्बराचार्य देवसूरि और दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें कुमुदचन्द्र को ८४ वादियों का विजेता बतलाया जाता है। किन्तु दिगम्बर परम्परा में इस घटना का तो कोई उल्लेख है ही नहीं, इस तरह के किसी कुमुदचन्द्र नाम के दिगम्बराचार्य का भी पता नहीं चलता। प्रत्युत श्रवण बेलगोला के शिलालेख नं० ४० में आचार्य श्रुतकीर्ति का वर्णन करते हुए उन्हें विपक्षी देवेन्द्र का विजेता बतलाया है। प्रोफेसर हीरालाल जी का कहना[1] है कि जिन विपक्ष सैद्धान्तिक देवेन्द्र का यहाँ उल्लेख है वे सम्भवतः प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार के कर्त्ता वादिप्रवर श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्र या देवसूरि हैं, जिनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने वि० सं० ११८१ में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र को वाद में पराप्त किया था। अस्तु,

इन चित्रों का परिचय मुनि जिनविजय जी ने उक्त स्मृति ग्रन्थ में गुजराती भाषा में कराया है। मुनि जी लिखते हैं :—

'इन पट्टिकाओं की चित्रावली का विषय ऐतिहासिक है, और श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में अति प्रसिद्ध है। वादी देवसूरि नाम के एक प्रख्यात आचार्य सिद्धराज के समकालीन थे। वि० सं० ११८१ में, पाटन में सिद्धराज की सभा में, उन्हीं की अध्यक्षता में, आचार्य देवसूरि का दिगम्बर सम्प्रदाय के एक अति प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य कुमुदचन्द्र के साथ, श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के बीच के मतभेदों की अमुक मान्यता के विषय में एक निर्णायक वादविवाद हुआ था। उसमें वादी देवसेन सूरि की विजय हुई थी। 'प्रभावक चरित्र' 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'चतुरशीति प्रबन्ध संग्रह' आदि श्वे० जैन ऐतिहासिक प्रबन्ध ग्रन्थों में देवसूरि का विस्तृत इतिहास पाया जाता है और इस वाद-विवाद का भी खूब विस्तार से लिखा है। साथ ही, इस प्रसंग को लेकर यशश्चन्द्र नाम के एक समकालीन

(1) देखो, जैन-शिलालेख-संग्रह पृ० २९ की पाद टिप्पणी।

कवि ने मुद्रित 'कुमुदचन्द्र' नाम के एक सुन्दर नाटक की भी रचना की है, जिसमें घटनाओं का बहुत कर के वर्णन किया गया है।'

मुनि जी का मत है कि ये चित्र उक्त घटना के ५-७ वर्ष के अन्दर ही सिद्धराज के समय में ही चित्रित किये गये हैं। आगे मुनि जी चित्रप्लेट (इ) का परिचय देते हुए कहते हैं :—

'इस चित्र में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर-वादी देवसूरि की व्याख्यान सभा का दृश्य अंकित किया गया है। गुजरात के आशापल्ली स्थान पर, जिसे पीछे से कर्णावती भी कहते थे, जुदे जुदे धर्मस्थानों में ये दोनों आचार्य एक साथ आकर ठहरे थे। उन दोनों में प्रसंगवश विद्या विषयक स्पर्धा शुरु हुई। और वे दोनों अपने २ शिष्यों और भक्तों के आगे एक दूसरे के साम्प्रदायिक मंतव्यों का खण्डन मंडन करने लगे। इस चित्रखण्ड में प्रथम दृश्य दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र की सभा का है। इसमें एक ऊँचे लकड़ी के आसन पर नग्न रूप के दिगम्बराचार्य बैठे हैं। उनके सामने उनके कोई मुख्य शिष्य तथा पीछे भक्त गृहस्थ बैठे हैं। आचार्य के पीछे उनके कोई क्षुल्लक शिष्य खड़े हैं। उनकी बगल में मयूरपीछी है और हाथ में एक वस्त्र का टुकड़ा है। उसके द्वारा वह आचार्य को हवा कर रहे हैं। आचार्य की मुद्रा उपदेश प्रवण है। और उसका भाव खूब उत्तेजक है। श्रोतागण भी आचार्य के कथन को उत्साह और आवेग पूर्वक सुन रहे हैं।'

'इसके बाद देवसूरि की व्याख्यान सभा का दृश्य है। यह भी ऊँचे लकड़ी के आसन पर श्वेतवस्त्र पहने बैठे हैं। इनके सामने एक कोई प्रौढ़ शिष्य बैठा है। उसके पास दो श्रावक बैठे हैं, एक लघु शिष्य पीछे खड़ा हुआ वस्त्र से आचार्य को हवा कर रहा है। इन आचार्य की मुद्रा भी वैसी ही उपदेश प्रवण और भावोत्तेजक है किन्तु उनके हस्तस्फालन में जरा अधिक मृदुता और मुख पर अधिक सौम्य भाव बतलाया है। इतना दृश्य तो दोनों आचार्यों का समान है। किन्तु देवसेन सूरि की सभा में एक व्यक्ति खड़ा है जो उत्तेजनात्मक भाषण कर रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इसमें लिखे हुए वाक्य से यह प्रकट होता है कि जो व्यक्ति खड़ा है वह दिगम्बराचार्य का आदमी है। और वह देवसूरि के आगे कोई वाद विवादात्मक विषय में लगता हुआ सम्भाषण कर रहा है। यह आदमी क्या कहता है इसका सरस शाब्दिक चित्र मुद्रित कुमुदचन्द्र नाटक के प्रथम अंक में दिया है, जिज्ञासुओं को वहाँ से जान लेना चाहिये, यहां देने का अवकाश नहीं है।

'चित्रप्लेट (ई)—दोनों आचार्यों में यह ठहराव हुआ कि उन्हें पाटन में सिद्धराज की राजसभा में शास्त्रार्थ करना चाहिये और अपनी अपनी विद्याशक्ति का परिचय देकर राजा से जय पराजय का प्रमाणपत्र लेना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार दोनों आचार्य जब

अपने अपने परिवार के साथ आशापल्ली स्थान से पाटन जाने के लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय का दृश्य इस चित्र में अंकित किया गया है। इसमें ऊपर के चित्र में देवसूरि के प्रस्थान का दृश्य बतलाया है। पाटन में सिद्धराज की सभा में, कुमुदचन्द्र के साथ जो वाद-विवाद होगा उसमें उनकी विजय हो, इस लिये आशापल्ली के जैन संघ ने शुभ शकुनों का प्रबन्ध कर रखा था। देवसूरि जब मकान से बाहर निकले तब उनके सामने भव्य जैन रथयात्रा निकल रही है, जिसमें एक सुन्दर रथ में जिनमूर्ति को बैठाकर उसके आगे नृत्य गीत आदि का सुन्दर प्रबन्ध किया गया है। देवसूरि उत्साह पूर्वक आगे पैर रख रहे हैं। उनका शरीर खूब कद्दावर और हृष्टपुष्ट है। आँखों में गाम्भीर्य और मुख पर प्रसन्नता छाई हुई है। दो भक्त विकसित मुख और आदर सूचक मुखमुद्रा से अभिनन्दन कर रहे हैं। आचार्य और श्रावकों के आगे एक नर्तक मण्डली चल रही है। जिसमें एक नर्तकी भावभंगी पूर्ण नृत्य कर रही है।...... नर्तकमण्डली के पीछे जिनमूर्ति-वाला सुन्दर काष्ठ रथ है। जिसे पुरुष और युवक खूब उत्साह से खींच रहे हैं। इन शुभ शकुनों के साथ होने वाले प्रस्थान से देवसूरि का संघ अपने पक्ष की भावी विजय के विश्वास के साथ उत्साह पूर्वक पाटन की तरफ जा रहा है।'

'इसके नीचे के दूसरे चित्र में आचार्य कुमुदचन्द्र के प्रयाण का दृश्य बतलाया है। दिगम्बराचार्य पालकी में बैठ कर पाटन तरफ जाने के लिये निकले हैं। इनके अनुचरों में ३-४ जने पालकी उठाने वाले हैं। ३-४ जने छत्र लिये हुए हैं। आगे दो सुभट चल रहे हैं जिनके हाथ में ढाल और तलवार है। सब से आगे एक अनुचर बिगुल देता हुआ चल रहा है, जिसके सुनने से लोग यह समझ सकें कि किसी बड़े धर्माचार्य की सवारी आ रही है।... दिगम्बराचार्य की सवारी गाँव द्वार से बाहर निकल कर जैसे ही एक स्थान पर पहुंचती है उसके आगे ऊँचा फणा किये बैठा एक बड़ा काला सर्प दिखाई देता है। आचार्य के अनुचर इस अपशकुन को देख कर मन में खिन्न होते हैं और एक दूसरे का मुख देखने लगते हैं। आचार्य भी इस अपशकुन को देख कर मन में जरा उद्विग्न हो जाते हैं। चित्रकार ने उनके मुख के ऊपर इस उद्वेग का अच्छा भाव मार्मिकता के साथ दिखाया है।'

'इसके बाद के चित्र में, दिगम्बराचार्य पाटन के राजा के अन्तःपुर में, बहुत करके राजमाता से मिलने जाना चाहते हैं, किन्तु द्वारपाल उन्हें रोक देता है।.. इस चित्र का भाव यह है कि सिद्धराज की माता मयणल्ला देवी दक्षिण की राजकुमारी थी और उनका पितृपक्ष दिगम्बर सम्प्रदाय की तरफ पक्षपात रखता था। कुमुदचन्द्राचार्य भी दक्षिण देश के वासी थे। इससे उनकी ओर राजमाता का भक्तिभाव था। इससे दिगम्बराचार्य राजमाता से व्यक्तिगत रूप से मिलने के लिये और उनके पक्ष की जिससे विजय हो ऐसा

कोई उपाय करने की सूचना प्राप्त करने के लिये, पीछे के दरवाजे से अन्तःपुर में जाना चाहते हैं। किन्तु शस्त्रधारी द्वारपाल उन्हें पीछे हटा देता है। द्वारपाल की मुखमुद्रा खूब उत्तेजित है और कड़ाई के साथ निषेध करता हुआ उसका हाथ कठोर दिखाई देता है। पीछे हटते हुए नग्नाचार्य को उसके सामने अजीब दृष्टि से विनम्रता पूर्वक कुछ कहते हुए तथा उतावले ढंगों से चले जाते हुए बताया है'।

इस चित्र परिचय को समाप्त करते हुये मुनि जी ने लिखा है कि पश्चिम भारत की चित्रकला के इतिहास में इन पट्टिकाओं के चित्र अपने को एक महत्त्व के प्रकरण की मूल्यवान सामग्री देते हैं।

जिस 'मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण' का मुनि जी ने उल्लेख किया है उसे भी हमने देखा है। इन चित्रों और उक्त प्रकरण को देखने से हमें तो उनमें ऐतिहासिकता से अधिक साम्प्रदायिकता का ही चित्रण किया प्रतीत होता है। यह तो हम नहीं कह सकते कि ऐसी कोई घटना घटी ही नहीं होगी, किन्तु उक्त घटना को आवश्यकता से अधिक तूल अवश्य दिया गया है। और लेखनी तथा कूर्चिका चलाने वालों ने, बराबर इस बात का प्रयत्न किया है कि जिससे दिगम्बर और उनके आचार्य लोगों की दृष्टि में गिरें और श्वेताम्बर तथा उनके आचार्य लोगों की दृष्टि में उठें। इसीने चित्र तथा प्रकरण में की अनेक बातें ऐसी निबद्ध कर दी गई हैं जो दिगम्बर परम्परा के तथा एक साधु के प्रतिकूल हैं।

लोगों की दृष्टि में गिरानेवाली बातें

इस झगड़े का प्रारम्भ दिगम्बराचार्य की ओर से हुआ बतलाया गया है। दिगम्बरा-चार्य का एक शिष्य देवसूरि की सभा में जाकर अंट संट बकता है और देवसूरि अपने पद के योग्य क्षमा भाव प्रदर्शित करते हैं। फिर कुमुदचन्द्र पर तम्पर (भुजंग) लोगों की गोष्ठी में एक वृद्धा आर्यिका को नचाने का अभियोग लगाया गया है। वह आर्यिका देवसूरि की सभा में जाकर कहती है कि कुमुदचन्द्र ने मेरा अपमान किया है। इसी पर शास्त्रार्थ की चर्चा चलती है। देवसूरि की ओर से एक दूत कुमुदचन्द्र की सभा में जाता है और वहां दोनों में खूब झड़प होती हुई बतलाई गई है। आगे दिगम्बराचार्य को घूस देने में चतुर बतलाते हुए कहा है उसने घूस देकर सभासदों को और राजा के आदमियों को वश में कर लिया। शास्त्रार्थ में भी इसी तरह की विडम्बना प्रदर्शित की गई है।

दिगम्बराचार्य का पालकी पर बैठकर चलना, आगे शस्त्रधारी भटों का चलना, शिष्यों से हवा करवाना, विटों के साथ सहवास करना और आर्यिका वृद्धा को सभा में नचाना

आदि ऐसी बातें हैं जो साम्प्रदायिकता से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। इसी तरह दिगम्बरा-चार्य का अपनी विजय के लिये छिपकर राज-माता के पास जाना और वहां द्वारपाल के द्वारा तिरस्कृत होना भी है। यदि कुमुदचन्द्र वास्तव में इतने बड़े विद्वान् थे जितना उन्हें बतलाया गया है तो वे इस तरह के गर्ह्य उपाय काम में नहीं ला सकते थे। और यदि उन्होंने ऐसे उपाय काम में लिये तो कहना पड़ेगा कि देवसूरि के प्रतिद्वन्दी कोई विद्वान् नहीं थे। अस्तु,

जो हो, हमें तो खेद इसी बात का है कि इतिहासज्ञ जन भी साम्प्रदायिकता पूर्ण चित्रणों को इतिहास कहकर उसका प्रचार करते हैं।

——:०:——

भ० महावीर के समकालीन नृपतिगण

[ले०—श्रीयुत अगरचंद नाहटा]

"वीर" के गत महावीर जयन्ती विशेषांक में प्रज्ञाचक्षु पं० गोविन्दरायजी का "महावीर के समय का भारत" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। लेख के शीर्षक एवं श्री फागुल्लजी की टिप्पणी के अनुसार प्रस्तुत लेख भ० महावीर के समय के भारत की स्थिति का दिग्दर्शन करानेवाला होने से बड़ा होना चाहिये। पता नहीं इसके अप्रकाशित अंश में क्या प्रकाश डाला गया है ? पर यदि "वीर" में प्रकाशित लेखांश ही पूर्ण है तो इसका नामकरण "महावीर के समकालीन भक्त नृपतिगण" होना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि तत्कालीन भारत की स्थिति का इस लेख से परिज्ञान नहीं होता। अस्तु।

जैसा कि सम्पादकीय टिप्पणी में कहा गया है लेख गवेषणापूर्ण है पर वह पूर्ण एवं अभ्रान्त नहीं प्रतीत होता, अतः उसके सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक होने से प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है। आशा है शीघ्र ही गोविन्दरायजी या डा० जगदीशचंद्रजी आदि अन्य अधिकारी विद्वान् महावीर कालीन भारत पर सुन्दर प्रकाश डालकर हमारी जानकारी बढ़ायेंगे। आलोच्य लेख की अपूर्णता एवं विचारणीय बातोंपर प्रकाश डालने से पूर्व उसके ऐसे होने के कारण पर अपने विचार प्रकट कर देना भी आवश्यक समझता हूं ताकि भविष्य में उनकी ओर ध्यान रखा जाय।

हमारे विद्वानों के लेखन में मुझे एक बड़ी कमी यह अनुभव हो रही है कि हमारा ज्ञान बहुत कुछ एकाङ्गी है। जैन कहलाने पर भी हम पूरे जैन नहीं, पर अधिकतर दि० या श्वे० ही प्रतीत होते हैं। हमारा पठन पाठन एक सम्प्रदाय के ग्रन्थों तक ही सीमित होने से सम्पूर्ण जैन इतिहास, साहित्य, कला, तत्वज्ञान आदि का हमें प्रायः परिचय नहीं होता। अतः सबसे पहले हमें इस कमी को हटाना आवश्यक है। किसी भी विषयपर लिखने से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के प्राप्त साहित्य का समभाव पूर्वक अध्ययन बढ़ाना होगा, तभी हमारा लेखन जैन सम्बन्धित कहलाने योग्य होगा।

पं० गोविन्दरायजी के लेख से ध्वनित होता है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है वह दि० ग्रन्थों के आधार से लिखा है जब कि मेरे नम्र मतानुसार इस विषयपर श्वे० जैनागमों के अध्ययन के बिना ठीक से लिखा ही नहीं जा सकता। तत्कालीन इतिहास का जैसा विशद एवं प्रामाणिक वर्णन जैनागमों एवं उनकी नियुक्ति भाष्य, चूर्णि आदि में सुरक्षित है, अन्यत्र अप्राप्य है। महावीर कालीन भारत पर लिखने के दूसरे साधन हैं, बौद्ध पिटक ग्रन्थ। जैनागमों के भलीभाँति अध्ययन करनेका सुयोग न भी मिले तो उनके आधार से लिखित मुनि कल्याणविजयजी का "श्रमण भ० महावीर" एवं गोपालदास पटेल लिखित "महावीर कथा" इन दो ग्रन्थों का अध्ययन कर लेनेपर काम चलाऊ

ज्ञान हो सकता है। मान्यवर डा० जगदीशचन्द्रजी का "वर्द्धमान महावीर" एवं उनकी थीसिस भी जो अभी प्रकाशित भी हो चुकी है, उपयोगी साधन है।

दूसरी सावधानी साधनों के उपयोग करने में विवेक की आवश्यकता है। घटनाओं से बहुत पीछे के लिखे ग्रन्थों को पौराणिक-सा मानकर उनके मूल तत्त्व को अन्य प्राचीन साधनों से खोज निकालना आवश्यक होता है। ग्रन्थान्तरों में एक ही घटना कई प्रकार से लिखी मिलती है एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं स्थानों के नामादि में अन्तर पाया जाता है वहाँ प्राचीन ग्रन्थ को ही अधिक महत्त्व देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार पद-पद पर साधनों के उपयोग करने में विवेक, समभाव (निष्पक्षपात), टिप्पणी में अन्य साधनों का निर्देश व स्पष्टीकरण आदि बातें विशेषरूप से ध्यान में रखनी चाहिये।

तीसरी सावधानी प्रमाणों के उचित मूल्याङ्कन के सम्बन्ध में रखने की होती है। हम जैन या दि० या श्वे० हैं इसलिये यदि जैन या दि०, श्वे० की प्रत्येक बातको बढ़ा चढ़ा कर लिखने या अनुचित महत्त्व देने लगेंगे तो वह लेखन सर्वमान्य व प्रामाणिक नहीं हो सकेगा। बहुत-सी बार ऐसा अनुभव होता है कि कोई ग्रन्थ या कवि साधारण होता है पर हम उसकी बहुत प्रशंसा कर देते हैं और कहीं कहीं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को निष्पक्षपात से नहीं पढ़ने के कारण उसको साधारण बतला देते हैं, यह उचित नहीं कहा जा सकता। अतः जहाँतक हो सके तटस्थता के साथ अध्ययन करने की ओर ध्यान रखना आवश्यक है। साम्प्रदायिक दृष्टि व बहावे में न लिखकर घटना, एक वस्तु को उचित महत्त्व देना ही उपयुक्त है।

उपर्युक्त बातें किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके नहीं लिखी गयी हैं पर प्रसंगवश साधारणतया ध्यान में रखने के लिये ही लिखी गयी हैं। आशा है पाठक इसे उचित अर्थ में ग्रहण करनेका ध्यान रखेंगे। इस प्रासङ्गिक भूमिका के बाद मूल विषय पर आता हूं।

जैसा कि मैं पूर्व कह चुका हूँ कि पं० गोविन्दरायजी के लेखका आधार दि० साहित्य है पर उसके आधार ग्रन्थ कितने प्राचीन हैं? लेख में निर्देश नहीं होने से प्राचीनता व प्रामाणिकता के विषय में कुछ कह नहीं सकता पर उसमें प्रकाशित कई बातें प्राचीन श्वे० साहित्य में भिन्न प्रकार से वर्णित देखने में आई हैं उन्हीं की यहाँ सूचना कर देता हूँ।

१ आपके लेख में वैशाली के राजा चेटक की पहिली कन्या प्रियकारिणी का विवाह सिद्धार्थ से हुआ और उसी से महावीर का जन्म हुआ बतलाया गया है, पर श्वे० आवश्यक चूर्णि आदि के अनुसार महावीर की माता चेटक की कन्या नहीं, पर बहिन थी। चेटक की पुत्री ज्येष्ठा का भ० महावीर के बड़े भाई नंदीवर्द्धन से विवाह होनेका उल्लेख उसी ग्रन्थ में अवश्य आता है।

२ चेटक की सात कन्याएँ थीं, यह तो ठीक है पर उनके क्रम, नाम, एवं पतियों के नाम, व स्थान के सम्बन्ध में आवश्यक चूर्णि से गोविन्दरायजी के लिखित क्रमादि भिन्न हैं यथा—

आवश्यक चूर्णि के अनुसार—

पुत्रीनाम—	पति—	स्थान नगर—
१ प्रभावती	उदयन	वीतिभय
२ पद्मावती	दधिवाहन	चंपा
३ मृगावती	शतानीक	कौशम्बी
४ शिवा	प्रद्योत	उज्जयिनी
५ ज्येष्ठा	नंदीवर्द्धन	कुंडग्राम
६ सुज्येष्ठा—कुमारिकावस्था में दीक्षा		
७ चेल्लणा	श्रेणिक	राजगृह

पं० गोविन्दरायजी के लेख के अनुसार—

पुत्रीनाम—	पति—	स्थान नगर—
१ प्रियकारिणी	सिद्धार्थ	कुंडलपुर
२ मृगावती	शतानीक	कौशाम्बी
३ सुप्रभा	दशरथ	हेरकच्छ
४ प्रभावती	उदयन	रोरुक
५ ज्येष्ठा	सात्यक	गंधार—

(विवाह से पूर्व दीक्षित)

इनमें से चूर्णि का समर्थन मूल आगमों से भी होता है अतः विशेषरूप से मान्य किये जाने योग्य है। जैसे प्रभावती के पति उदायन की राजधानी सिंधु—सौवीर देश के वीतिभय नगर में होने व उनके उत्तराधिकारी अभीचि कुमार (भानजा) आदि का उल्लेख भगवतीसूत्र में विस्तार से आया है अतः उनकी राजधानी कच्छ काठियावाडका रोरुक बतलाना सही नहीं प्रतीत होता। विशेष जानने के लिये मुनि जिन विजयजी का "वैशालिना गण सत्ताक राज्य नो नायक राजा चेटक" लेख देखना चाहिये जो कि जैन सा० संशोधक वर्ष २ अङ्क ४ में प्रकाशित है। चेटक के सम्बन्ध में एक अन्य लेख विश्ववाणी के गत अगस्त के अङ्क में भी प्रकाशित है।

३ दशार्ण देशकी राजधानी हेरकच्छ व राजा दशरथ बतलाया गया है तब श्वे० आगमानुसार राजधानी दशार्णपुर-मृतिकावति का राजा दशार्णभद्र था जो कि भ० महावीर के पास दीक्षित हुआ था।

४ कौशाम्बी नरेश शतानीक के दीक्षित होने एवं उनके तीन अन्य उत्तराधिकारी होने के पश्चात उदयन का राजा होना लिखा गया है पर जैनागमों के अनुसार शतानीक ने दीक्षा ग्रहण नहीं की वह वैसे ही कालधर्म को प्राप्त हुआ। मृगावती भ० महावीर के पास दीक्षित अवश्य हुई थी। भागवत पुराण में ३ राजाओं का होना व सहस्रानीक का शतानीक के पद पर आसीन होना कहा गया है पर वह सही नहीं प्रतीत होता। जैनागमों के अनुसार सहस्रानीक शतानीक का पिता था और शतानीक के समय उदयन छोटा अवश्य था पर राजकार्य मन्त्रियों की सहायता से मृगावती संभालती थी। मृगावती के दीक्षा लेनेपर उदयन का राज्याभिषेक हुआ था। अत: शतानीक का उत्तराधिकारी उदयन हुआ न कि बीचमें अन्य तीन व्यक्ति।

५ जीवन्धर की कथा का आधार कितना प्राचीन है? कहा नहीं जा सकता अतः उस कथा में जितने राजादि के नाम आये हैं वे महावीर के समकालीन थे यह संदिग्ध है? उक्त कथानुसार मिथिलाका

राजा गोविन्दराज था तब जैनागमों के अनुसार तत्कालीन मिथिला के राजा का नाम जितशत्रु या जनक था। जितशत्रु के धारिणी नामक रानी थी।

६ वैशाली को आजकल की तिरहुत नगरी होने की संभावना की गई है पर उसका वर्तमान नाम बसाडपट्टी प्रसिद्ध ही है। वह आज भी मुजफ्फरपुर एवं हाजीपुर से २३ मील पर अवस्थित है।

७ श्रावस्ति के राजा प्रसेनजित का नाम जैन साहित्य में जयरीत होना बतलाया गया है पर वह उल्लेख दि० ग्रन्थों में होगा। श्वे० आगमानुसार श्रावस्ति का राजा जितशत्रु था एवं श्वेताम्बिका का राजा प्रदेशी था।

८ आराधना कथाकोश के उल्लेखानुसार अवन्ति सुकुमार को महावीर कालीन (प्रद्योत के राज्य में) बतलाया है पर श्वे० आवश्यक चूर्णि आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार वह आचार्य आर्य सुहस्ती के समय में हुआ है जिनका समय वी०नि० २४६ से २९१ है। विशेष जानने के लिये विक्रम स्मृति ग्रन्थ में डा० शार्लोटे क्राउझे (सुभद्रा देवी) का "जैन साहित्य में महाकालमंदिर" शीर्षक लेख देखना चाहिये।

अर्थात् गोविन्दरायजी के उक्त छोटे से लेख में ८ बातों में श्वे० प्राचीन साहित्य से मतभेद प्रतीत होता है। अब श्वेताम्बर जैनागमों एवं चरित्र ग्रन्थों में से उक्त लेख में वर्णित राजाओं के अतिरिक्त जिन राजाओं का उल्लेख श्रमण भ० महावीरादि में मिलता है उनका यहाँ निर्देश कर दिया जाता है।

१ आलभिया, बनारस, लोहार्गल, काकंदी, कंपिल्ला के तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। संभव है जितशत्रु अमुक राजाओंका एक विशेषण भी हो।

२ कनकपुर के राजा का नाम प्रियचन्द और रानीका नाम सुभद्रा था। उनके युवराजकुमार वैश्रमणकुमार और युवराज के पुत्रका नाम धनपति था। इनमें से धनपति भ० महावीर से दीक्षित हुए थे।

३ पृष्ठ चंपा के राजा शाल और छोटे भाई युवराज महाशाल महावीर से दीक्षित हुए। इनके राज्यका उत्तराधिकारी इनका भानजा गागलि हुआ, उसने भी दीक्षा ली थी।

४ कोटिवर्ष के राजा किरातराजने साकेत नगर में भ० महावीर से दीक्षा ली।

५ चम्पा के राजा का नाम जितशत्रु और दत्त लिखा मिलता है। दत्त के रक्तवती रानी व महचंद्रकुमार पुत्र था। कुमारने भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण की। पीछे कोणिक ने चंपा अपनी राजधानी बनाई।

६ पुरिमताल का राजा महाबल था।

७ पोतनपुर के राजा प्रसन्नचंद्रने भ० महावीर के पास दीक्षा ली थी। आवश्यक चूर्णिके अनुसार ये क्षितिप्रतिष्ठित एवं गुणचन्द्र गणि के अनुसार ताम्रलिपि के राजा थे।

८ पोलासपुर के राजा विजय थे, जिनकी रानी श्रीदेवी के पुत्र अतिमुक्तक कुमार ने बाल्यावस्था में भ० महावीर से दीक्षा ली।

९ बनारस के राजा अलक्ष को भ० महावीर ने दीक्षित किया था।

१० महापुर के राजा का नाम बल, रानी का नाम सुभद्रा, राजकुमार का नाम महाबल था। महाबल भ० महावीर के पास दीक्षित हुए थे।

११ मृगगाम का राजा विजय क्षत्रिय एवं रानी मृगावती थी।

१२ रोहीतक नगर का राजा वैश्रमणदत्त एवं रानी श्रीदेवी थी।

१३ वर्धमानपुर का राजा विजय मित्र था।

१४ विजयपुर का राजा वासवदत्त व रानी कृष्णा थी। राजकुमार सुवास ने भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण की।

१५ वीरपुर के राजा का नाम वीरकृष्ण मित्र एवं रानीका नाम श्रीदेवी था। राजकुमार सुजात भ० महावीर के शिष्य बने थे।

१६ साकेत के राजा मित्रनंदि और रानी श्रीकान्ता थी।

१७ सुघोष नगर का राजा अर्जुन, रानी तत्ववती थी। राजकुमार भद्रनंदी भ० महावीर के उपदेश से पहले श्रावक फिर साधु होगये थे।

१८ सौगन्धिका नगरी के राजा अप्रतिहत एवं रानी सुकृष्णा थी।

१९ हस्तिशीर्ष नगर का राजा अदीनशत्रु व रानी का नाम धारिणी था।

२० स्थानाङ्ग सूत्र के ८ वें स्थानक में भ० महावीर के दीक्षित ८ राजाओं के नाम हैं—

(१) वीरांगक (२) वीरजस (३) संजय (४) एणेयक (५) श्वेत (सेय) (का पुत्र शिवभद्र था) (६) शिव (७) उदायन और 'संख' इनमें शिव, गजपुर (हस्तिनापुर) एवं उदायन, वीतभय के राजा थे। अवशेष नरेश कहाँ के थे? अन्वेषणीय है। नं० १ से १९ तक राजाओंका उल्लेख "श्रमण भ० महावीर" नामक ग्रन्थ में है।

प्रसंगवश यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण और भी कर देना आवश्यक समझता हूं कि भ० महावीर-कालीन सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति के बारे में आजकल जो कुछ लिखा जाता है वह भी एकांगी एवं त्रुटिपूर्ण है। उस समय में सब धर्मों के धर्माचार्यों के प्रति बहुमान एवं धार्मिक जिज्ञासा आदि अनेक अनुकरणीय एवं उपयोगी बातें बड़ी ही सुन्दर थीं उन पर कोई विद्वान् प्रकाश तक नहीं डालता। मैंने अपने "भ० महावीर के समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति" लेख द्वारा विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित भी किया था जो कि महावीर संदेश व १ अं १४ में प्रकाशित है, खेद है कि अभीतक किसीने ध्यान नहीं दिया। आशा है भविष्य में उस ओर भी ध्यान दिया जायगा।

२१ "श्रीमहावीर" कथा के अनुसार कुछ अन्य राजाओंके नाम इस प्रकार हैं—

स्थान—	राजा—
१ वाणिज्य ग्राम	मित्र
२ साभांजनी	महाचंद्र
३ मथुरा	श्रीदाम
४ पाटलिखण्ड	सिद्धार्थ
५ शौरिकपुर	शौरिकदत्त
६ वृषभपुर	धनावह
७ आमल कप्पा (रायपसेणी सूत्र)	सेय

इनमें से सेय संभवतः स्थानाङ्ग सूत्रोक्त भ० महावीर के दीक्षित से यही होंगे।

इस लेखमें वर्णित सभी नृपतियों के नाम ऐतिहासिक दृष्टि से सही हैं यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगमादि ग्रन्थ एक हजार वर्ष तक मौखिक रहे हैं अतः विस्मृति से नामों में रद्दोबदल भी हो सकता है। कई नाम पीछले महावीर चरित्र ग्रन्थों के आधार से भी लिखे गये हैं जिनका प्राचीन आधार अज्ञात है अतः बौद्ध साहित्य के आधार से जाँच कर के उपयोग करना आवश्यक है।

इनके अतिरिक्त पावापुरी के राजा हस्तिपाल एवं ९ मल्लकी ९ लिच्छवि १८ गण राजाओं का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है। १८ गण राजाओं के नाम अन्वेषणीय हैं।

मुनि ज्ञानसुन्दर जी ने प्राचीन इतिहास संग्रह भा० २ में अन्य कई राजाओं का उल्लेख किया है पर उनका निर्णय करना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त-चाणक्य इतिवृत्त के जैन आधार

[ले० श्रीयुत बा० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०]

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा राजनीति के महान् पण्डित आचार्य चाणक्य भारतीय इतिहास क्षितिज के प्रारंभिक प्रकाशमान नक्षत्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। यदि मौर्य चन्द्रगुप्तको प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है, तो आचार्य चाणक्य केवल उक्त साम्राज्य के कर्णधार एवं कुशल व्यवस्थापक थे वरन् अधुना भारतीय राजनीतिविज्ञान के प्रख्यात आदि नियामक एवं प्रणेता भी थे।

इतिहास के विद्यार्थी को उक्त दोनों व्यक्तियों के विषय में आज बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध है, अनेक आधुनिक इतिहासान्वेषकों एवं इतिहास लेखकोंने उनके सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा है। किन्तु जब हम तत्सम्बन्धी ऐतिह्य मूलाधारोंपर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें चार प्रकार का पाते हैं—(१) प्रथम उन विदेशी (यूनानी) लेखकों के वर्णन हैं जो ४ थी शताब्दी ईस्वी पूर्व के चतुर्थपाद में तथा तदुपरान्त भारत के सम्पर्क में आये। विशेष-कर, सिकन्दर महान् की आक्रमणकारी सेना से सम्बद्ध (३२६-३२३ ई० पू०) यवन लेखकों तथा यवनराज सेल्यूकस द्वारा मगधराज्य दरबार में भेजे गये यूनानी राजदूत मेगस्थनीज तथा उनके आधारपर स्ट्रैबो, जस्टिन, करटियस आदि[१] यूनानी इतिहास-कारों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी वृत्तान्तों में भारतवर्ष की तत्कालीन राज्यशक्ति, राज्य व्यवस्था, एवं देश तथा समाज की दशा के ऊपर अच्छा प्रकाश पड़ा है। परन्तु इन लेखकों ने मन्त्रीश्वर चाणक्य अथवा सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का कोई स्पष्ट नामोल्लेख भी नहीं किया और न उनके व्यक्तित्व अथवा जीवन सम्बन्धी विशिष्ट घटनाओं के विषय में ही कुछ लिखा। तत्कालीन भारतस्थ प्राचीन नरेश का नाम उन्होंने सैन्ड्रोकस, सैन्ड्रोकोटस, सैन्ड्रोक्रिप्टस, सैन्ड्रोकुटस आदि रूपों में, थोड़े-थोड़े अन्तर को लिये हुए दिया है, जिसका कि १८ वीं शताब्दी के अन्त में सर विलियमजोन्स की कल्पना के आधारपर आधुनिक इतिहासज्ञ विद्वानोंने सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ प्राय: सुनिश्चितरूप से समीकरण मान लिया है, यद्यपि उक्त समीकरण में मतभेद की पर्याप्त गुञ्जायश है और कितने ही विद्वान् प्रबल प्रमाणाधार से उसे भ्रमपूर्ण समझते भी रहे हैं[२]।

(२) दूसरा आधार ब्राह्मण अनुश्रुति एवं साहित्य है। विष्णु आदि हिन्दू पुराणों में तो भविष्यवाणी के रूप में प्राय: केवल इतना उल्लेख ही प्राप्त होता है कि 'नवनन्दों का

---

१ See Mccriudel's Translations.

२ Viz. T. L. Shah—Ancient India Pt II.

चाणक्य ब्राह्मण नाश करेगा और वही मौर्य चन्द्रगुप्त को राज्य देगा।' विशाखदत्त के प्रसिद्ध 'मुद्राराक्षस नाटक' में चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्य प्राप्ति के उपरान्त नन्दों के भूतपूर्व मन्त्री राक्षस तथा चाणक्य के बीच राजनैतिक संघर्षों एवं कूट द्वन्दों का दिलचस्प चित्रण है। उक्त नाटक के टीकाकार ढुंढीराजने चाणक्य अपर नाम विष्णुगुप्त ब्राह्मण को दण्डनीति का पण्डित, सर्वविद्या पारगत एवं नीतिशास्त्र का आचार्य करके लिखा है; और चन्द्रगुप्त को नन्द की मुरा नामक शूद्रा दासी का पुत्र कथन किया है। 'कथा सरित्सागर' में चाणक्य द्वारा नन्द के श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करने और शकटार के षड्यन्त्र से सुबन्धु के होता बनाये जाने पर अपना अपमान मान क्रोधावेश में नन्द के नाश की प्रतिज्ञा करने का वर्णन है। अस्तु इन आधारों से चाणक्य के मगध राजनीति में पदार्पण करने से पूर्व के इतिवृत्त के सम्बन्ध में, उसको पितृकुल, व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी अन्तिम अवस्था के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। साथ ही ये आधार चन्द्रगुप्त चाणक्य से लगभग एक हजार वर्ष से भी अधिक पीछे के हैं।

चाणक्य का स्वरचित प्रख्यात 'अर्थशास्त्र' अपने शुद्ध मौलिक रूप में आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु विष्णुगुप्त नामक विद्वान् की टीका के रूप में जैसा कुछ भी वह मिलता है वह मूलकर्ता अथवा उसके स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त के इतिहासपर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। यह ग्रन्थ वास्तव में नितान्त असाम्प्रदायिक एवं अनात्मवैज्ञानिक दृष्टि से लिखा गया है, और अपने वर्तमान रूप में पर्याप्त त्रुटित एवं क्षेपकपूर्ण है।

(३) तीसरा आधार बौद्ध अनुश्रुति है। मोग्गलन के बौद्ध इतिहास ग्रन्थ 'महावंश' में चाणक्य ब्राह्मण द्वारा क्रोधावेश में धननन्द का नाश करके मौर्यों के वंशज चन्द्रगुप्त को सकल जम्बूद्वीप का राजा बनाने का उल्लेख करते हुए चाणक्य को तक्षशिला के एक ब्राह्मण का पुत्र, तीनों वेदों का ज्ञाता, शास्त्रों में पारंगत, मन्त्र विद्या में निपुण और नीति शास्त्र का आचार्य बताया है। महावंश के अतिरिक्त 'वंसत्थप्पकासिनी' (सिंहली संस्करण) जिसके कि आधार थेरवादियों की 'सीहलट्ठ कथा' तथा धम्मरुचिकों की 'उत्तर विहारट्ठ कथा' हैं, और 'महाबोधिवंस' 'महापरिनिर्वाणसुत्त' 'नन्दपेतवत्थु' आदि ग्रन्थों में भी चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्दों, मौर्यों आदि के सम्बन्ध में कुछ सामान्य संक्षिप्त उल्लेख हैं। वंसत्थप्पकासिनी के अनुसार राजा धननन्द बड़ा दानशील था, उसकी दानशाला में नित्यप्रति दान वितरण होता था और लगभग एक करोड़ मुद्रा प्रतिवर्ष इस प्रकार दान की जाती थीं। इस कार्य के लिये राजाने एक दाणग्ग (दान विभाग) स्थापित किया था जिसकी व्यवस्था एक संघ (समिति) द्वारा होती थी और उसका अध्यक्ष शास्त्रार्थ में विजयी सर्वाधिक विद्वान् होता था जो कि 'संघब्राह्मण' कहलाता था। संयोगवश अपनी योग्यता के बल से चाणक्य को यह पद प्राप्त हुआ किन्तु उसकी असह्य कुरूपता के कारण राजा ने उसे बलपूर्वक दानशाला से निकलवा दिया। अतः नन्द, क्रोधी चाणक्य का कोप भाजन हुआ अ

चन्द्रगुप्त की सहायता से नाश को प्राप्त हुआ। इस प्रकार बौद्ध अनुश्रुति से भी चन्द्रगुप्त-चाणक्य की जीवन सम्बन्धी घटनाओंपर विशेष अधिक प्रकाश नहीं पड़ता, और फिर ये ग्रन्थ भी सुदूर सिंहल में उक्त घटनाओं से एक सहस्राब्द के उपरान्त ही लिखे गये हैं।

(४) चौथा आधार जैन साहित्य और अनुश्रुति है। इस आधार की सबसे विशेषता यह है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य एवं मन्त्रीश्वर चाणक्य दोनों ही विविक्तित व्यक्तियों के जीवनपर आदि से अन्ततक—दोनों के ही जन्म से उनकी मृत्युतक अच्छा विशद प्रकाश डालता है, साथ ही इस आधार का प्रामाणिक सिलसिला प्रायः उक्त व्यक्तियों के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है और शनैः शनैः विकास को प्राप्त होता हुआ मध्यकाल तक चला आता है। विपुल, विविध, विशद, व्यापी, प्रायः परस्पर एवं पूर्वापर अविरुद्ध, प्रामाणिक एवं प्राचीनतम होते हुए भी, खेद इसी बात का है कि इतिहासकारों के हाथों इसकी बहुधा उपेक्षा ही हुई है, और इसका जैसा चाहिये था वैसा उपयोग नहीं हो पाया।

इस आधार को निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) दिगम्बर कथा साहित्य—शिवार्य की भगवती आराधना (१ ली शताब्दी ई० पू०), उसकी टीकाएँ (४ थी से १२ श०), हरिषेण का बृहत्कथाकोष (९३१ ई०), प्रभाचन्द्र की आराधना सत्कथा प्रबन्ध (१०५० ई० लगभग), श्रीचन्द्र का कथाकोष (१२वीं १३ वीं श०); ब्रह्मनेमिदत्त का आराधना कथाकोष (१५३० ई० लगभग) आराधनासार कथा-कोष, पुण्यास्रवकथाकोष इत्यादि

(ब) श्वेताम्बर आगम साहित्य—विशेषकर उत्तराध्ययन एवं आवश्यक सूत्रोंपर रची गयीं निर्युक्तियाँ एवं चूर्णियाँ, हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति देवेन्द्रगणि कृत सुखबोध आदि।

(स) ऐतिहासिक ग्रन्थ—हेमचंद्राचार्य कृत स्थविरावलि चरित्र अर्थात् परिशिष्टपर्व, रत्ननंदि आचार्यकृत भद्रबाहु चरित्र, देवचंद्रकृत राजावलिकथे आदि।

(द) फुटकर ग्रन्थ—यथा प्राकृत मरणसमाहि आदि।

(य) जैन शिलालेख—दक्षिण भारतस्थ मूड़बद्री आदि स्थानों में उपलब्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त सम्बंधी अनेक प्राचीन शिलालेख, सम्राट् पियदर्शी के शिलालेख, कलिङ्ग सम्राट् खारवेल के अभिलेख, सुदर्शन झील के लेख आदि।

और इन सब जैनाधारों का मूलस्रोत दिगम्बर आम्नाय का 'अङ्गबाह्य-श्रुत' था जिसके कतिपय अवशेष, दिगम्बर, श्वेताम्बर संघभेद के पश्चात् श्वेताम्बर 'पयन्नासंग्रह' के रूप में प्रसिद्ध हुए। उक्त अङ्गबाह्यश्रुत अथवा पयन्नों की विषय सामग्री संक्षिप्त गाथाबद्ध सूत्र रूप में गुरु परम्परा द्वारा मौखिक द्वार से चन्द्रगुप्त चाणक्य के स्वसमय से लगभग १०० ई० पू० तक अस्खलित, अविकृत रूप में ही चली आयी थी; तत्पश्चात् वह परम्परागत अनुश्रुति भी अन्यों के साथ-साथ लिपिबद्ध भी होनी प्रारम्भ हो गयी और मौखिक द्वार से

भी वाचक गुरुओं की परम्परा द्वारा सुरक्षित रहती चली गयी। अवश्य ही कालदोष तथा नित्यप्रति वृद्धिगत एवं विस्तार को प्राप्त होते हुए सम्प्रदायों, संघों, गणों, गच्छों आदि के कारण वास्तविक घटनाओं की एक मूल अनुश्रुति भी कई विभिन्न धाराओं में बँटकर कुछ सामान्य अन्तरों को लिये हुए कुछ विविध, विकसित एवं सदोष भी होती चली गयी। तथापि विवक्षित घटनाओं के सम्बन्ध में अन्य सर्व अनुश्रुतियों और आधारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त जैन आधारों का—आधार (य) को छोड़कर और विशेषरूप से (व) अर्थात् श्वेताम्बर साहित्यका मुनि श्री न्याय विजयजीने अपने लेख 'चाणक्य और उसका धर्म'[1] में आर्य चाणक्य को जैन धर्मानुयायी सिद्ध करने में सफलतापूर्वक उपयोग किया था। आधार स य, का और कुछ अंश में अ, का उपयोग भी अनेक पाश्चात्य, पौर्वात्य विद्वान् सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का गुरु-शिष्य सम्बन्ध, चन्द्रगुप्त का जैनत्व तथा जैन-मुनि के रूप में संघ सहित दक्षिण को विहार करना, वहां श्रवणबेलगोल के निकट चन्द्रगिरि पर्वत पर निवास करना और समाधिमरण को प्राप्त होना आदि के सिद्ध करने में सफलता के साथ कर चुके हैं। फलस्वरूप सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैनधर्मानुयायी होने में अब प्रायः किसी इतिहासज्ञ विद्वान् को सन्देह नहीं है। अभी कुछ दिन हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास-विभागाध्यक्ष प्रो० सी० डी० चटर्जी महोदय ने डा० विमल चरण लॉ अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित अपने एक विद्वत्तापूर्ण विस्तृत लेख में जैनाधार अ, व, स का कुशल उपयोग करते हुए चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारंभिक जीवन और प्रसंगतः मन्त्रीराज चाणक्य के भी प्राथमिक जीवन सम्बंधी घटनाओं पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला है।

किन्तु आपके लेख का जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है वह उक्त जैनाधारों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन है, यद्यपि उसमें कई स्थलों पर पर्याप्त मतभेद की गुञ्जायश है और कोई कोई विचार भ्रमपूर्ण भी प्रतीत होता है, फिर भी उक्त विवेचन अतीव उपयोगी एवं उद्धृत करने योग्य है। अतः आपके शब्दों में "जैनियों का प्राकृत एवं संस्कृत लौकिक साहित्य चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य सम्बंधी अनुश्रुति की कमसे कम दो धाराएँ प्रस्तुत करता है, जिनमें से एक (श्वे०) आवश्यक एवं उत्तराध्ययन (आगम सूत्रों) की व्याख्याओं में उपलब्ध होती है और दूसरी विशेषरूप से (दिग०) जैन कथासाहित्य में। 'आवश्यक' की परम्परा मूलतः वही है जो 'उत्तराध्ययन' की, यद्यपि इन दोनों के बीच कतिपय तत्सम्बंधी गौण बातों में कुछ अन्तर है। इन दोनों ही (श्वे०) अनुश्रुत धाराओं के बीज उक्त दोनों आगम सूत्रों पर निर्युक्तियों अर्थात् संक्षिप्त पद्य व्याख्याओं में उपलब्ध होते हैं।

1 अनेकान्त वर्ष २ किरण ५ पृ० १०५

कालान्तर में, प्राचीन जैन विद्वानों ने, जिन्होंने निश्चय ही जैन आम्नाय में गुरु परम्परा से चले आये उक्त कथानकों को विश्वस्त रूप से सुरक्षित रक्खा था, उन्हें विविध उपाख्यानों के संवर्धन से विकसित किया, ये कथानक अथवा उपाख्यान इस प्रकार अनेक शताब्दियों तक वाचक गुरुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से स्मृति में सुरक्षित रहते चले आये। कितने काल तक चन्द्रगुप्त-चाणक्य सम्बंधी अनुश्रुतियाँ केवल स्मृति में ही सुरक्षित रहती रहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि ऐसा देवर्द्धि क्षमा श्रमण की प्रसिद्ध बल्लभी वाचनाके—जो वीर निर्वाण (लगभग ४८६ ई० पू०)[1] से ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् हुई थी—उपरान्त रहा हो। यह वाचना श्वेताम्बर सिद्धान्त और उसकी व्याख्याओं के संकलन एवं लिपिबद्ध करने के लिये हुई थी।

चन्द्रगुप्त सम्बन्धी अनुश्रुति का सर्व प्रथम लिखित रूप संभवतया आवश्यक निर्युक्ति की चूर्णि[2] में उपलब्ध होता है। उसके आधार पर सन् ७४०-७७० ई० के बीच किसी समय विद्याधर कुल (गच्छ) के प्रसिद्ध जैन टीकाकार हरिभद्रसूरि ने चन्द्रगुप्त चाणक्य की कथा को बड़े विशद रूप में वर्णन किया और उसमें बहुत-सी प्रसंग की बातें भी सम्मिलित कीं, किन्तु ऐसा जो कि विश्वास किया जाता है, उन्हें उस सम्बंध में मौखिक परम्परा से प्राप्त हुई थी। यह कथा श्वेताम्बर आगम के द्वितीय मूलसूत्र 'आवश्यक' पर उनके द्वारा संस्कृत में रची गई 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' में उपलब्ध होती है। उसके लगभग तीन शताब्दी पश्चात् श्वेताम्बरों के प्रथम मूलसूत्र 'उत्तराध्ययन' पर अपनी व्याख्या में देवेन्द्रगणि ने यह कथा प्राकृत भाषा में नये शिरे से लिखी, जिसके बीच बीच में उन्होंने प्राकृत एवं संस्कृत पद्यों का भी समावेश किया। उनकी यह टीका 'सुखबोध' नाम से प्रसिद्ध है और सन् १०८३ ई० में समाप्त हुई प्रतीत होती है। यह बात सुस्पष्ट है कि देवेन्द्रगणि ने 'आवश्यक वृत्ति' में वर्णित चन्द्रगुप्त-चाणक्य की कथा की उपेक्षा की, किन्तु साथ ही साथ यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उन्होंने अपने कथानक को मूलतः 'आवश्यक चूर्णि' पर अधारित किया, जिसमें से उन्होंने अपनी कथा का प्रकृत पाठ बहुलता

---

१ इस विद्वान् लेखक के मतानुसार महावीर निर्वाण सन् ४८६ ई० पूर्व में हुआ था। किन्तु प्रबल प्रमाणाधारों से यह बात भली प्रकार सुनिश्चित हो चुकी है कि महावीर निर्वाण ५२७ ई० पूर्व में हुआ था।

(ज्यो० प्र० जै०)

२ आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि—पृ० ५६३-५६५ (जैन बंधु प्रिंटिंग प्रेस इन्दौर १९२८ ई०)

नोट—यह बात केवल श्वेताम्बर अनुश्रुति के लिये कही जा सकती है, क्योंकि दिगम्बर अनुश्रुति (कथासाहित्य) एवं आगमों का लिपि बद्ध होना तो पहली शताब्दी ई० पूर्व से ही आरंभ होगया था। श्वे० आगमों पर निर्युक्तियाँ बराहमिहिर ज्योतिषी के भाई श्वे० आचार्य भद्रबाहु द्वारा ६ ठी शताब्दी ईस्वी में रची गई, तदनन्तर चूर्णियाँ बनी।

(ज्यो० प्र० जै०)

के साथ उद्धृत किया है; संभवतः उनका उद्देश्य मूल कथा को उन कतिपय संशोधनों एवं परिवर्तनों के साथ पुनः निर्मित करने का था जो कि उनकी स्वगुरुपरम्परा द्वारा सम्मत थे अथवा उस आम्नाय में, जिससे उनका स्वयं का सम्बंध था, स्वीकृत थे। विविक्षित कथानक का एक अन्यरूप 'स्थविरावलि चरित्र' अर्थात् 'परिशिष्ट पर्व' में उपलब्ध होता है, जिसे कि हेमचन्द्रसूरि ने अपने 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप में लगभग सन् ११६५ ई० में संस्कृत पद्य में रचा था। यह कथानक प्रधानत: हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति में वर्णित कथा पर आधारित है और २७६२ श्लोक प्रमाण है। इस सम्बंधमें यह कहा जा सकता है कि अनुश्रुति का वह अंश जो चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के पश्चाद्वर्ती समय से सम्बंधित है, चाहे हरिभद्र द्वारा अथवा देवेन्द्रगणि द्वारा वर्णित हुआ हो, इतिहास में अधिक महत्व नहीं रखता।[*]

इस अनुश्रुति की दूसरी धारा का, जो कि विशेषरूप से जैन कथा साहित्य (दिगम्बर) में उपलब्ध होती है, सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व हरिषेण के 'बृहत्कथाकोष'[२], प्रभाचन्द्र के 'आराधनासत्कथाप्रबंध', ब्रह्मनेमिदत्त के आराधनाकथाकोष, तथा श्रीचन्द्र के 'कथाकोष'[३] में प्राप्त होता है। जहाँ तक इन ग्रन्थों के साहित्यिकरूप का सम्बंध है, हरिषेण और नेमिदत्त के कथाकोष संस्कृतपद्य में हैं और श्रीचन्द्र का प्राकृत पद्य में। उक्त कथानक सहित प्राकृतगद्य में कोई कथा कोष अद्यावधि ज्ञात नहीं हुआ है, जबकि प्रभाचन्द्र का ग्रन्थ संस्कृत गद्य में है। इन चारों कथा कोषों में सर्व प्राचीन और संभवतया सर्वाधिक महत्व पूर्ण हरिषेण (९३२ ई०) का कथाकोष है और सबसे अन्तिम नेमिदत्त (लगभग १५३० ई०) का, जबकि शेष दोनों बीच के काल में रचे गये।[४] उक्त चारों ही ग्रन्थकारों ने अपनी अनुश्रुत कथाएं जैनों (दिग०) के एक प्राचीनतर आराधनाग्रन्थ-अर्थात् शिवार्य, शिवकोटि अथवा शिवकोट्याचार्य के 'भगवती आराधना'[५] से प्राप्त की प्रतीत होती हैं।

* लेखक के इस कथन का कारण यह प्रतीत होता है कि चूंकि चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के उपरान्त का इतिहास आधुनिक विद्वानों ने अन्य जैनेतर आधारों से भली प्रकार सुनिश्चित कर लिया है, अतः उसमें जैनाचार्यों में वर्णित अनुश्रुति के साथ कहीं २ विरोध होने के कारण उस सम्बंध में जैन अनुश्रुति को महत्व नहीं देना चाहिये!

२ बृहत्कथाकोष—डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित, पृ० ३१९-३२८, बम्बई १९४३

३ वहीं, भूमिका पृ ५७ क

४ वही—प्रशस्ति श्लो० ११-१२ (=९३१-९३२ ई०); winternity—Hist of Ind. lit. ii p. 514.

५ यह आराधना अथवा मूलाराधना भी कहलाता है (मूलाराधना—सं० टीका तथा हि० अनुवाद पद्य १५५६—शोलापुर १९३५), डा० उपाध्ये का यह कहना कि इस ग्रन्थ की भाषा शौरसेनी प्राकृत है, ठीक ही है (बृहत्का भू० पृ० ५०), किन्तु वह अमिश्रित नहीं है, क्योंकि उसमें अर्धमागधी शब्द भी पर्याप्त संख्या में प्रयुक्त हुए हैं।

और यह ग्रन्थ अपनी भाषा संबंधी तथा पाठगत विशेषताओं की दृष्टि से प्रथम शताब्दी ईस्वी का हो सकता है।[6] किन्तु 'भगवती आराधना' स्वयं उक्त अनुश्रुति का मूल स्रोत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उक्त उपाख्यान संग्रह के द्वारा इस अनुश्रुति को और अधिक प्राचीनतर काल तक लक्षित किया जा सकता है। वस्तुतः, चाणक्य-चन्द्रगुप्त अनुश्रुति के पाषाणावशेष 'पयन्नों' के साहित्यिक स्तर में जड़े प्राप्त होते हैं, (अर्थात् पयन्ने) जैसा कि ज्ञात है, श्वेताम्बरों के आगम साहित्य और दिगम्बरों के 'अङ्गबाह्यश्रुत'[7] का अङ्ग हैं।

दश पयन्नों में से वे दो जिनमें उक्त अनुश्रुति का बीजभूतरूप उपलब्ध होता है, 'भट्ट परिन्ना' और 'संथार'। इन दोनों में ही जैनमुनि के रूप में चाणक्य की मूलकथा वर्तमान जैनधर्म के प्रस्थापक भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित एवं स्वीकृत धार्मिक आचरण के समर्थन एवं दृष्टान्त रूप में, सर्व प्रथम उपलब्ध होती है।[8] पयन्नों की तिथि सुनिश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु इस बात को ध्यान में रखते हुए कि सुविख्यात दिगम्बराचार्य, निर्ग्रन्थ दार्शनिक कुन्दकुन्द और उनके सुयोग्य शिष्य उमास्वामि ने—जो कि दोनों ही प्रथम शताब्दी ईस्वी के प्रारंभिक भाग में हुए थे[9]—अपने अपने ग्रन्थों में दिगम्बर अङ्ग एवं

६ हमने यह तिथि अनुमानतः प्रस्तुत की है क्योंकि वह प्रायः ठीक ही मालूम होती है। तथापि इस सम्बंध में और अधिक खोज वाञ्छनीय है। हां ग्रन्थ में ऐसा सुनिश्चित संकेत नहीं मिलता कि शिवार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामि के पूर्ववर्ती थे—जैसा कि डा० उपाध्ये मानते हैं—

(बृहत्कथा० भू० पृ० ५५; V. Indra)

(नोट—शिवार्य के समय के सम्बंध में देखिये 'भगवती आराधना और उसके कर्ता'—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ।—

(हीरा० प्र० जै०)

७ दिगम्बर द्वादशाङ्ग श्रुत से इतर एवं गौण साहित्य का समावेश उनके अङ्गबाह्यश्रुत में है।

८ देखिये—चतुः शरणादिमरणसमाध्यन्तम् प्रकीर्णकदशकम् (आगमोदय समिति संस्करण नं० ४६), भट्टपरिन्ना पद्य १६२; संथार प० ७३-७५

९ यदि दिगम्बर पट्टावलि को विश्वस्त माना जाय तो हमें उमास्वामी को प्रथम शताब्दी ई० (वि० सं० १०१ = ४४ ई०) का विद्वान मानना होगा, किन्तु ये पट्टावलियाँ, चाहे श्वेताम्बरों की हों अथवा दिगम्बरों की, परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत तिथिक्रमों पर पूरा भरोसा करना कठिन है। सरस्वती गच्छ की दिगम्बर पट्टावलि के उमास्वामी भद्रबाहु द्वि० से जो कि भ० महावीर के पश्चात् ७वें गुरु थे (यहां लेखक को भ्रम हुआ है, विवक्षित भद्रबाहु द्वि० ७ वें नहीं २७ वें गुरु थे, भद्रबाहु प्रथम ८वें थे) और ५२ ई० पू० (वि० सं० ४) में मृत्यु को प्राप्त हुए छठे गुरु थे। और श्वे० तपागच्छ पट्टावलि के अनुसार आर्य महागिरि (मृत्यु वी० नि० २९१, तथा खरतरग० पट्ट० के अनुसार वी० नि० २४९) से, जो महावीर स्वामी के पश्चात् ८ वें गुरु थे, द्वितीय गुरु थे। अतः हमें उनको २ री० शत० ई० जितना पीछे का विद्वान मानना किसी प्रकार उचित नहीं है (Ind. Aut. XI—p. 246 and 251; XX p. 351) पूर्ण सम्भावना इसी बात की है कि कुन्दकुन्द और उमास्वामी दोनों ही ७५ ई० पू० से ५० ई० के बीच हुए। (नोट—यद्यपि लेखक की अन्तिम अनुमानित तिथि प्रायः ठीक है, तथापि गुरु परम्पराके समयादि त्रुटि पूर्ण हैं)

अङ्गबाह्यश्रुत (उपलब्ध) का पूरा पूरा उपयोग किया था'', पयन्नों के काल की अन्तिम उत्तरावधि अधिक से अधिक १०० ई० पूर्व मानी जा सकती है।[11] अतः यह असंभव है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त कथानक का जो प्राचीन रूप पयन्नों में निहित है वह ईस्वी सन् के प्रारंभ के पश्चात् का हो। चूंकि दिगम्बरों ने आवश्यक, उत्तराध्ययन तथा पयन्नों को अप्रमाणिक एवं अप्रासंगिक मान कर अपने आगम से बहिष्कृत कर दिया अतः संभव है चाणक्य को जैनमुनि का रूप देना श्वेताम्बरों की ही कृति हो।* यदि यह बात ठीक भी हो तो भी हमें इस बात का समाधान करना फिर भी शेष रह जाता है कि तब चाणक्य सम्बंधी-अनुश्रुति की वे दो धाराएँ क्यों कर हुईं, जिनमें से एक आवश्यक और उत्तराध्ययन से संबंधित है और दूसरी पयन्नों से, और इन दोनों के बीच इतने अन्तर क्यों लक्षित होते हैं।

१० कुन्दकुन्द, और उमास्वामी की रचनाओं का समावेश दिगम्बरों के २ रे वेद-द्रव्यानुयोग में होता है।

११ यह विश्वास करना कठिन है कि उमास्वामी के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र जैसा जैन सिद्धान्त एवं आचार का सारसंकलन; जो जैनधर्म में वही स्थान रखता है जैसा कि बौद्धधर्म में विशुद्धिमग्ग, दिगम्बर सम्प्रदायक द्वारा अपने अङ्ग एवं अङ्गबाह्य साहित्य का स्वरूप एवं आकार भली प्रकार सुनिश्चित कर लेने से भी पूर्व रचा जा सका हो।

* यह कथन सत्य नहीं मालूम होता। जैन अनुश्रुति में सर्वत्र चाणक्य अपने अन्तिम जीवन में जैन मुनि के रूप में मिलते हैं। श्वे० ने उन्हें जैन मुनि का रूप नहीं दिया बल्कि श्वे० धारा के लिपि बद्ध होने से लगभग ५०० वर्ष पूर्व लिपि बद्ध हुई जैनधारा के कथा ग्रन्थों में जैसा कि ऊपर देख आये हैं—वे समाधिमरण द्वारा सद्गति को प्राप्त होने वाले आदर्श जैन मुनि के रूप में ही चित्रित हुए हैं। (ज्यो० प्र० जै०)

कतिपय प्राचीन पट्टे परवाने

[ले० श्रीयुत भँवरलाल नाहटा]

प्राचीन काल से राजाओं का प्रभाव जन-साधारण पर बहुत अधिक रहा है। इसीके परिचायक "यथा राजा तथा प्रजा" नामक लोकोक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके दो प्रधान कारण हैं, पहला तो राजा को लोग ईश्वर मानकर उनके वचन एवं अनुशासन को मान्य करते थे और राजा के प्रसन्न होनेपर सम्मान, धनादिका लाभ होने की भी आशा रहती है। अतः स्वार्थ एवं दबाव के कारण राजा लोग जिस कार्य से प्रसन्न रहें वही कार्य करने की जनता की प्रवृत्ति होती है। दूसरा है "महाजन येन गतः स पन्थाः" "एवं गतानुगतिको लोकः" वाला जन मानस। वास्तव में हरेक व्यक्ति विचारक सुशिक्षित एवं विवेकी नहीं हो सकता। सभी समय में यही देखने में आता है कि कुछ इने गिने व्यक्ति ऊँचे उठते हैं अधिकांश व्यक्तियों के विचारों एवं प्रवृत्तियों का स्तर साधारण ही रहा करता है। अतः जन-साधारण को जो जिस तरफ झुकाना चाहता है प्रभावशाली व्यक्ति उसी ओर झुका सकता है। राजाओं के पास तो अनेक प्रकार के साधन एवं सत्ता रहती है अतः उनका प्रभाव सर्वाधिक होना स्वाभाविक ही है। इसी बात को ध्यान में रखकर समय समय पर धर्म प्रचारकों ने अपने धर्म के प्रति राजाओं एवं विशिष्ट अधिकारियों को आकर्षित करने का लक्ष्य रखा व प्रयत्न किया है।

भारतवर्ष के इतिहास का सिंहावलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि राजाओं से अधिक प्रभावशाली व्यक्ति यदि कोई होता था तो वह धर्मप्रचारक। क्योंकि भारत अध्यात्म प्रधान देश है यहाँ त्याग, तपश्चर्या एवं धर्म के प्रति सब समय अत्यधिक आदर रहा है। अतः राजा महाराजा भी धर्मप्रचारक महापुरुष ऋषि मुनियों के पैरों में अपना मस्तक झुकाते थे। भ० महावीर के समय पर ही विचार करें तो कितने राजा महाराजा आदि उनका जहाँ कहीं उपदेश होता बड़े भक्ति भाव से आते एवं उससे प्रभावित होकर त्याग मार्ग स्वीकार कर लेते थे। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध का प्रभाव बौद्ध ग्रन्थों से भलीभाँति विदित होता है। उसके पश्चात् सम्राट् अशोकने बौद्ध धर्मका कितना जबरदस्त प्रचार किया व सम्राट् सम्प्रति ने जैन धर्मका, यह जैन एवं बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है। दक्षिण में दि० सम्प्रदाय को जहाँतक आश्रय मिला वहाँ तक उसको बढ़ती होती ही गयी। मारवाड़ एवं गुजरात में श्वे० सम्प्रदाय को राजाश्रय मिला तो उसका सितारा चमक उठा। जैन इतिहास के विद्यार्थी से भी ये बातें अपरिचित नहीं हैं।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि अपने अपने धर्म एवं सम्प्रदाय का प्रभाव बढ़ाने के लिये राजाओं को आकर्षित करने के लिये धार्मिक विषयों पर

राजसभाओं में बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किये जाते थे। कहीं कहीं उनमें यह शर्त भी तय हो जाती थी कि जिस धर्मका आचार्य शास्त्रार्थ में निरुत्तर व परास्त हो जाय उसे उस राज्य में प्रवेश करने का अधिकार नहीं रहेगा; अतः राजाश्रय नष्ट होनेपर अन्य सम्प्रदायवालों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ता था। राज्याश्रय प्राप्त करना धर्म प्रचार का प्रमुख साधन बन चुका था। इस बात को ध्यान में रखकर जैनाचार्यों ने भी अनेक राजा महाराजाओं पर प्रभाव डालकर समय पर धर्मोन्नति की है। श्वे० आचार्य वप्पभट्टि सूरि के आम राजा एवं आचार्य हेमचंद्र के कुमारपालको जैन धर्म का प्रतिबोध देकर शासन प्रभावना करने का वर्णन अनेक ग्रन्थों में विस्तार से किया है और वे शासन प्रभावक महापुरुष माने गये हैं।

भारतीय नरेशों की विलासिता एवं पारस्परिक फूट के कारण बाहर से आकर मुसलमानों ने अपना शासन जमा लिया। पहले-पहल उनका आक्रमण अपना राज्य स्थापित करने के लिये नहीं हुआ। पर भारत धन धान्यादिमे बहुत समृद्ध था उसी पर उनकी आँखें लगी हुई थीं। किन्तु जब उन्होंने देखा कि यहीं-वालोंसे हमें सहायता मिल रही है तो वे कब चूकनेवाले थे। मुसलमानी शासन से भारत को सबसे अधिक महत्व का यदि कोई नुकसान हुआ तो धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से हुआ। मतान्ध मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार बड़े अन्याय एवं क्रूरता के साथ किया। भारतीय धर्मोंके प्राचीन स्मारक कलापूर्ण मन्दिर-मूर्तियों आदिका जिस हृदयहीनता से विनाश किया गया वह कभी भी भूला नहीं जा सकता। स्थानीय जनता के साथ जिस बर्बरता—अमानुषिक ढंग से वे पेश आये उसका वर्णन पढ़ने से ही रोमांच होने लगता है। अतः कुशल जैनाचार्योंने स्वधर्म रक्षा के लिये उन मुसलमान शासकों को प्रभावित करना उचित समझा। कुछ जैन व्यापारियों का मुसलमान ग्राहकों से अच्छा सम्बन्ध था कई जैन व्यक्ति उनके शासन संचालन में अधिकारी रूप में योग देते थे। उनकी मारफत मुसलमान सम्राटों एवं सूबेदार, वजीर आदि से मिलकर जैनाचार्य उन्हें प्रभावित करते और उनको अपने धर्मपर किये जानेवाले अत्याचारों से बचाते, अत्याचार का संशोधन करवाते, इसीसे विधर्मी शासकों के हाथ से जितनी क्षति अन्य हिन्दू समाज को हुई उसके शतांश में भी जैन धर्म को नहीं हुई, यह उन्हीं दूरदर्शी कुशल जैनाचार्यों की बुद्धिमत्ताका ही सुफल है। कलकत्ते में पुरातत्त्वविद मुनि जिन विजयजीने अपने एक भाषण में इसकी प्रशंसा बड़े ही गौरव के साथ की थी। उन्होंने कहा था कि गुजरात में आज ४०० वर्ष पुराना भी कोई हिन्दू मन्दिर सुरक्षित नहीं है तब जैन मन्दिर हजार आठसौ वर्षों के बहुत बड़ी संख्या में सुरक्षित हैं एवं प्राचीन ग्रन्थ भी ताड़ पत्रादिपर लिखित जैन भंडारों में १००० वर्षोंके सैकड़ों मिल जायँगे पर किसी भी जैनेतर संग्रहालय में एक भी प्राचीन प्रति नहीं मिलती। इस बात पर गंभीरता से विचार करने पर उस समय के जैन मुनियों एवं श्रावकों ने स्वधर्म रक्षा एवं उन्नति के लिये कितना

महान् कार्य किया। यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। उन्होंने अपने कलापूर्ण मंदिरों एवं चमत्कारी मूर्तियों और ग्रन्थों को बचाया ही नहीं, पर उस विकट समय में जबकि चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही थी, साहित्य एवं धर्म की बात जाने दीजिये लोगों की जान के लाले पड़ रहे थे, हजारों नई जैन जैनमूर्तियाँ बनवायीं, सैकड़ों मन्दिर बनवाये। हजारों ग्रन्थ निर्माण किये, नये लिखवाये, बड़े-बड़े तीर्थ यात्रा के संघ उन्हीं मुसलमान सम्राटों से फरमान प्राप्त कर निर्विघ्नतापूर्वक निकाले, अपने धार्मिक उत्सवों को बढ़ाया अर्थात् बड़ी भारी उन्नति की। इसकी तुलना में आज के (सब साधनों के होते हुए भी) जैन समाज की क्या हालत हो रही है ? कहने पर दो बूँद आँसू बहाये बिना नहीं रहा जाता। कहाँ हमारे पूर्वजों ने उस विकट परिस्थिति में धर्मका महान् उद्योग किया और कहाँ आज की निर्मालय जैन जनता। आज सब प्रकार के साधन सुलभ हैं पर हम उनकी ओर कोई भी ध्यान नहीं देते। वास्तव में यह सर्वथा सत्य है कि धर्म पंगु है। उसके चलानेवाले ही उसकी उन्नति एवं अवनति हैं "न धर्मो धार्मिकैः बिना"।

जैनाचार्य जिनप्रभ सूरिजीने सम्राट् मुहमद तुगलक को जैन धर्मके प्रति आकर्षित कर कैसा धर्मोद्योग किया इस पर अपने शासन प्रभावक जिनप्रभ सूरि "निबन्ध" में प्रकाश डाल चुके हैं एवं सम्राट् कुतुबुद्दीन और सिकन्दरको चमत्कृत करनेवाले जिनचंद्रसूरि व जिनहंससूरिका वृतान्त भी अपने ग्रन्थ एवं लेखमें दे चुके हैं। सम्राट् अकबर पर हीर-विजयसूरि व भानुचंद्रका प्रभाव प्रसिद्ध ही है एवं जिनचंद्रसूरि, जिनसिंहसूरि, पद्मसुंदरादिके सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला जा चुका है। यह प्रभाव कितना व्यापक एवं स्थायी हुआ। इसका परिचय इस लेख में प्रकाशित कतिपय पट्टे परवानों की नकलों से पाठकों को मिल जायगा। बादशाही प्रभाव के कारण राजा लोग भी आचार्यों की संतति को बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। इसीलिये ये प्रकाशित सभी पट्टे परवाने जोधपुर के राजमान्य वैद्यवर उदमचंद्रजी गुरांसा के पास हैं उनके पास से नकल करके यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं: इससे भूतकालीन जैन धर्मके गौरव एवं यतियोंके प्रभावादिका अच्छा परिचय मिलता है। इस प्रकार के पचासों पट्टे परवाने अन्यत्र भी मिलेंगे उन्हें प्रकाश में लाने का नम्र अनुरोध है। अन्यथा वे भण्डारों में पड़े-पड़े सड़ जायँगे और दीमक के भक्ष्य बन जायँगे और जैन इतिहास के महत्वपूर्ण साधन नष्ट हो जायँगे। आशा है उनकी सुरक्षा एवं प्रकाशनकी ओर शीघ्र ध्यान दिया जायगा।

छाप महाराजा विजय सिंहजी री

१

मुताबिक २ मुआफिक फरमान आलीसान तमाम हिन्दुस्थान के बादशाहों के हजरत अकबर बादशाह व जहाँगीर बादशाह, हजरत शाहजहाँ बादशाह, हजरत आलमगीर

औरंगजेब बादशाह, हजरत महमद फरुखशियर बादशाह गाजी हजरत महमदशाह बादशाह, हजरत अहमदशाह बादशाह, हजरत आलमगीर सानो बादशाह, हजरत बादशाह गाजीसाह आलम गग्ज इन तमाम बादशाहान के फरमान के मुताबिक दरजा और ताजीम व दाद व सनद तमाम व अलकाब व आदाब जगत् गुरु आजारज श्री पूज्य श्रीजी महाराज प्रभु व हरि (श्री ?) जिनचंद जैन बादशाह देवशरण श्रीचरण व श्री जिन चिरंजीव श्री जिनराज भोर (सूरि ?) जी श्री जिन रस्ना (रत्न ?) भोर (सूरि ?) जी श्री धे-(त्ते ?) म लाभ सागरजी श्री जिनसत्त जी देव व जगतगुरु भोज धरम सतगुरु श्री ज्ञानभद्रजी वनेसेजी, वनेसागरजी, वेल्लवजी जब बादशाही दरबार में पहुँचे तब ताजीम परणाम दराडोत और तस्लीमात की बादशाह ने अपने तखतपर बिठाया और इनकी ताजीम में तखतखाश और तखत खाँ और छंवर छाया गीर वगैरा खास व पालकी व मोरछल आफ्ता बीजरीन और सोने और चाँदी की चोब, सिंहासन, करमसी जरीन भेट फरमाई और हजरत बादशाहने फरमान जारी किया कि यह मरतबा और दस्तूर हमेशे जारी रखना चाहिये और सबको चाहिये के तमाम कौम मुसलमान और हिन्दू वगैरा गुरुजी की ताजीम करें और अपना गुरु समझें और फर्श या अदात डालकर शहर में इज्जत व ताजीम से ले जावें और श्री गुरुजी के सामने दराडोत और तस्लीमात बजा लावें और ताबेदारी के कायदों से बाहर न होवें और हर घर में एक रुपया और एक अदद नारियल फसल व फसल और साल व साल नजर व नयाज देते रहें और यह दस्तूर तमाम हिन्दुस्थान में हमेशे हमेशे जारी रहे। और किसी तरह से तगय्युर व तबद्दुल न होवेगा खशूसन तमाम कौमें मुसलमानों की और हिन्दुओं की ताबेदारी से बहुत ताजीम और दंडोत तमाम गुरुओं की बजा लानें और इन तमाम गुरुओंको मुरशिद और धरम सत्पूज्य गोस्वामीनाथ और परमेश्वरस्वरूप अपना जानें और आदाब बजा लावें और तस्लीम और आदाब बजा लाने में कोई कसर और दकीका न रखें और अकवाम मजकूर से कोई तकसीर या लापरवाही इनके बारे में साबित होगा तो यह तमाम गुरु उनको सजा देने में जो सजा इनके मजहब में मालूम होवें देवें या माफ कर देवें यह इनको अख्तियार है और यह मरातिब ताजीम के जो इनके लिये मुकर्रर है वह अगले जमाने के राजाओं में जैसे राजा वीर विक्रमादीत और राजा सालिवाहन वगैरा तमाम राजगान चक्रवर्ती और महाराजा श्रीजयचंद्रजी व इनके लश्कर व फौज रखते थे और महाराजा चौहान और कुल राजगान छोटे और बड़े भी मरातिब ताजीम के इन गुरुओंके लिये बहाल रखते थे बल्कि अपनी तरफ से दुगनी ताजीम बजा लाते थे और हिन्दुस्थान के तमाम के तमाम बादशाहों के फरमानों के मुताबिक इन गुरुओं के मरातिब और मनासिब जैन बादशाह जगतगुरु पूज्य परम सतगुरु श्री बनेसागरजी और श्रीजगतगुरु पूज्य श्रीहेमराजजी देवश्री देवचरण यह

दोनों और जो लायक चेले सागर फला के जहाँ कहीं होवें उनकी नशस्ति दरबार में निहायत ताजीम के साथ होगी और शहर में जो इस दरबार के तहत और तसरूफ में है वैसी ही मशतिक ताजीम और ताबेदारी बजा लावें। और ताजीम में कोई कसर न रखें। और यह सरकार भी सतगुरु पूज्य अपना जानते हैं और सामेला हिकमद भेंट बुलन्द दरजा बजा लाते रहेंगे और तमाम जैनी और जैनी महाजनान वगैरा गुरु के हुक्म के ताबेदार रहें और अताअत करते रहें और ताजीम इनकी वाजिब जानते रहें। और मुवाफिक परवाना जात इस सरकार ने भी और श्रीमहाराजा अजीतसिंहजी और महाराजा श्रीअभय-सिंहजी और श्री बड़ा महाराजजीने परवाने और खास रुक्के लिखकर दिये हैं और मरातिब ताजीम का खयाल रखा गया है और छोटा चेला और बड़े चेलेके ताबेदार रहें और उनके हुक्म से बाहिर न जावें। हाथी और जागीर और छतर तोब नुकएई व तुलाई व आफतानोके साथ पालखी में बैठकर आवें। और उनके सामने खड़ा होकर खड़े-खड़े ताजीम बजा लाई जावे और सिरे दरबार आसन उनके लिये बिछाया जावे और रोज बरोज उनके मरातिब की ताजीम बर करार रहे अगर कोई इनकी ताजीम से इनहराफ करे तो अपने दीन से तीन लोक में पूज्य के दीन से मरदूद हो। तलाक तलाक तलाक यह तमाम गुरु परम सतगुरु हमारे हैं यह दरजे हमेशा हमेशा जारी और मुकर्रर रहे। जो इनकी ताजीम से बाहिर जावे वो नालायक नालायक नालायक।

सीताराम जी

२

सिद्धश्री राजराजेसुर महाराजाधिराज महाराजा श्रीअजीतसिंहजी जोग्य लिखतं महाराजाधिराज महाराजा श्री सवाई जैसिंघजी केन जुहार अवधारी जो। अठै रा समाचार किरपा श्री·········जी की स्यौ भला छै। राज्य का सदा भला चाहिजै, अपंच राज्य बड़ा छौ अठा उठै की व्योहार में कही बात री जुदायगी न छै अठै छोडा राजपूत छै सो राज्य का काम में छै विस्तेक काम काज होवे सो लिखावता रहोला समाचार सगला अणंदराम लिख्या सो अठे तो सिवाई सत्वाह महाराज की और कोई बात न छै। अब समाचार सारा अणदराम अरज करै लौ कागद समाचार लिखावता रहोला मिती सावण सुदि १४ संवत १७७६ लिखतं जैपुर सूं।

इसी पत्र के ऊपर के भाग में महाराजा के स्वहस्त से जैन यति जीके लिये निम्नलिखित विज्ञप्ति लिखी हुई है।

जगत गुरु परमसतगुर जैन पातसाह श्रीगुरुदेव महाराजा श्री पूज्यजी श्री १०८ श्री जयशीलजी भट्टारकजी श्रीनैणसिहजी देवश्री चरणो की हजूर में दंडवत प्रणाम १०८ मालूम करोला। जगतगुरु पूज्य गछनायक छतरी बंश के परमसतगुरु छै। राठौर

कछवाह सीसोदियों के तो विशेष सदैव श्री गुरु ईश्वर रूप छै श्री कलि केवली जगतगुरु पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी गुरुदेव महाराज की क्रिपा कर अठा कौ राज्य छै। राज्य का श्रीगुरुदेव छै, अठारा श्री कुल गुरु छै, सदैव अठाका श्रीगुरुदेव छै, श्रीगुरु परमेश्वर रूप छै अठै दास कौ राज्यकौ प्रताप श्री गुरुदेवाँ के चरणारविन्द के प्रसाद कृपा कौ छै चरणारविन्दां डंडोत कर अठे कृपाकर पधारे तो अरज करोला, अठा कौ राजश्री गुरुदेवां कौ छै श्रीगुरुदेवां की शिष्य परंपरा कौ विशेषकर पाटधारी शिष्य को परम सतगुरु पूज्यभाव अठै सदैव रहैलो असल छत्री वंश कछवाहौ सदैव परम सतगुरु पूज्यभाव राखैलौ, मानैलो, मरजादन लोपै लै। मरजाद लोपैलो सो कुंभी पाक में पडैलो, अठाकी अरज करोला श्रीगुरुदेव अठा पधारै सो अरज राज करौला।

श्रीजिनराजसूरिजी

३

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीगजसिंहजी महाराज कुंवर श्रीअमरसिंहजी वचनातु जगतगुरु पूज्य परम सतगुरु श्रीगुरुदेव जैन पातसाह भट्टारक श्री पूज्य जंगम युग प्रधान श्री जिनराज सूरीसरजी नु भेंट करी लिखी दियौ सरब देस में पातसाही कागदा में लिखी भाव भगती रहसी, जती महाजन वगैरह सरब जैनी श्रीगुरुदेवां का हुकम माफक चालसी, आदेश उपदेश मानसी, भेंट निजर पधरावणी पग मंडा सामेला। भाव भगती वगेरे उच्छव श्रीगुरुदेवां रे दिन दिन अधिक होसी सरब उच्छव खरतर गच्छ रा प्रथम तुमी, सरब देश में राज होसी सो उच्छव करावसी श्रीपातसाही हुकम छै। सं० १६९० वर्ष आषाढ बदी १ मु गरीदेवे श्रीमुखपर वदनी भंडारी लूण।

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराज श्रीजसवंतसिंहजी महाराज कुंवर श्रीपृथीसिंहजी वचनात् मुहणौत नैणसी दिसै सुपसाद बांची जो तथा जगतगुरु पूज्य परम सतगुरु जैन पातसा श्री पूज श्रीगुरुदेव भट्टारक गुरुजी............श्रीश्रीश्री जी देव श्री चरणां री आग्या माफक चाल जो। सामेला पगमंडा पधारमणी धाड़ा उछरंग सुंकी जो। पातसाही फुरमान परवाना माफक भाव भगती कर जो। पातसाही में सरब राजथान में सरब देश में श्रीपूज परम सतगुरु ऐ श्रीगुरुदेव है। भट्टारक श्री पूज है। तिके महाजनां रा है महाजन मानसी अठे एतो पूज छै जगत आचरज भट्टारक श्रीपूज परम सतगुरुदेव है सो इणांने पातसाहजी सरब राजा, राव, नवाब, खान, उमराव वगैरह सरब जगत सरब जती महाजन

वगैरह सरब जैनी परम सतगुरु श्रीगुरुदेव करी गुरू परमेसर रूप माने हैं भेट नजर पधरामणी पूजन सेवा बंदगी इर्प्पारां करे है और दूजा भट्टारक श्रीपूज है तिणने तो महाजन कितराक जती मांने है सो बिचार राखी जो सरब देसरा जती महाजन मथेन भट्टारक लुंकीपाखु बह वा मुँह बंधा वगैरह सरब जैन इणी श्रीगुरुदेव री आगे जा में चालसी श्रीपातसाही हुकुम छै। संवत् १७१६ रा माहसुदि ५ मुकाम अहमदावादे उपर ....आप राठौर ....श्री गुरुजी की इणी शिष्य परम्परा श्री मुख्य एक पाटधारी शिष्य सीसदा मरजाद मानसी राखसी परम सतगुरु श्रीगुरुदेवजी—मरजाद लोपे सो महापापी।

गुप्तकालीन जैनधर्म

[ले० रमेशचंद्र चंद्रराव जैन बी० ए०, (आनर्स इन हिस्ट्री) आर० ए०]

प्राचीन भारत का इतिहास पढ़ते या लिखते समय कुछ बातों का ख्याल अच्छी तरह से रखना पड़ता है। आज धर्म और जाति को लेकर खासी धाँधली मची है। उसीके कारण अन्यान्य धर्मों, जातियों एवं प्रान्तों में स्पष्ट रूपसे विभिन्नता का निर्माण हुआ है। लोगों में असूया, द्वेष जैसे दुर्गुण परले सिरे पर पहुँच कर जो अनबन पैदा हुई है, उसकी प्रतिध्वनि या असर मनुष्यों की विचार प्रणाली पर अवश्य हो जाती है। जिसके फलस्वरूप इतिहास को पढ़ते समय उनकी दृष्टि पूर्व ही दूषित होजाती है। जिससे वे इतिहास का सच्चा स्वरूप नहीं जान पाते। प्राचीन भारत के इतिहास में परधर्म सहिष्णुता तथा परमत सहिष्णुता सब कहीं बराबर दिखाई देती है। स्वधर्म, स्वमत तथा वैचारिक स्वाधीनता को सब अनुभव करते थे तथा उसके प्रचार के लिये उनको स्वतंत्रता थी और साथही साथ अन्य धर्मों के संबंध में वे समुचित आदर तथा प्रेम दिखा सकते थे। "यथा राजा तथा प्रजा" यह उक्ति कई बार असत्य सिद्ध होती थी। स्वयं राजपत्नी को भी अन्य धर्मियों के बारे में पहले सिरे की सहानुभूति तथा प्रेम दिखाने में कोई रुकावट न थी। तो फिर प्रजा का तो कहना ही क्या? और तो और प्रजा की भलमनसी के दबाव के कारण अन्य धर्मियों, मंदिरों तथा संस्थाओं को राजा की ओर से पुरस्कार तथा दान देने पड़ते। यही कारण है कि विभिन्न धर्मों में कोई भेद भाव नहीं रहता था। नागरिकों के अधिकार, ऊँचे-ओहदे तथा सद्गुणों के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये धर्म किनारे ही रहता था। गुप्तकाल का अध्ययन करते हुये इस बात की ओर विशेष-तौर के ध्यान देना परम आवश्यक है। यद्यपि गुप्तराजा स्वयं कट्टर वैष्णव थे फिर भी अन्य धर्मियों के साथ उदारता से तथा सहानुकंपा से पेश आते थे। ३ री, ४ थी, ५ वीं तथा ६ ठी शताब्दि में वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्म का आपस में खूब मेलजोल या घनिष्ठता थी।

(२) हिन्दुस्तान के इतिहास में गुप्तकाल का महत्त्व:—

इस काल में शास्त्र, कला, शिल्प तथा साहित्य की दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत प्रगति कर चुका था, साहित्य की सभी शाखाओं, उप-शाखाओं को कवियों ने अपनी कलम का विषय बनाया था, सभी प्रकार के ग्रंथों में राष्ट्र गाथाओं, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं, पुराणों, महाकाव्यों, आख्यादिकाओं नाटकों आदि की निर्मिति से साहित्य अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। इसी काल में महाकवि कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ। जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा के बलसे भारतीय साहित्य का नाम विश्वभर में उज्वल किया था। गणित तथा ज्योतिष शास्त्र की प्रगति आचार्य भट्ट वराहमिहरने बहुत अच्छे ढंग पर की थी। [ई० स० ४७६] चित्रकला, शिल्प, स्थापत्य ये कलाएँ उन्नति के

शिखर पर पहुँची थीं। गायन तथा नृत्य कला को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला था। सभी गुप्त राजा विद्या के बड़े प्रेमी थे और उन्होंने नालंदा के विश्वविद्यालय की वृद्धि के लिये अथक परिश्रम किया। युवानत्संग का कथन है कि उक्त स्थान में १०,००० विद्यार्थी विद्या ध्ययन करते थे। उनके परिचालनार्थ बड़ी-बड़ी जागीरें लगी हुई थीं। दुनियां भरके अनेकों शाखाओं को जैसेकि ज्योतिष, तर्क, न्याय, वैद्यक, गणित, भूमिति, संगीत, विज्ञान, व्याकरण, अलंकार, साहित्य और सभी धर्मों का दर्शन शास्त्र आदि-अध्ययन तथा पठन-पाठन वहाँ पर हुआ करता था। इस प्रकार इन सभी शास्त्रों में हिन्दुस्तान ग्रीकों की अपेक्षा कहीं अधिक अग्रेसर था। विक्रमादित्य के नामसे संबंधित नवरत्नों का उदय इसी काल में हुआ था। कहने का अभिप्राय यह है कि उस काल में हिन्दुस्तान सभी प्रकार से उन्नत दशा में था, सब कहीं "रामराज्य" था। उस कालकी तुलना अथेन्स के इतिहास के पेरिक्लिज तथा रोम के इतिहास के ऑगस्टस के साथ करने लायक है और यही कारण है कि इतिहास लेखक इस युग को "स्वर्ण युग" कहते हैं।

गुप्तकाल के राजा:—

इत्सिंग ने लिखा है, गुप्तकाल के आदि पुरुष का नाम महाराज गुप्त था। वह पहले पटना के नज़दीक के किसी छोटे गांव का सर्दार था और इसके पुत्र का नाम घटोत्कच गुप्त था। इसने कुछ कहने लायक काम नहीं किया। उसका पुत्र चंद्रगुप्त नाम से प्रसिद्ध है। इसीने अपना छोटा राज्य साम्राज्य में परिवर्तित किया। लिच्छवी कुलकी कन्या से ब्याहने के कारण इसका जीवन भिन्न दिशा में परिणत हुआ। समुद्रगुप्त उसका लड़का था, जिसकी तुलना नैपोलियन से की जाती है। इसने बड़ा ही साम्राज्य-विस्तार किया। विद्या, कला, शास्त्र को उत्तेजन देकर भारत का 'स्वर्णभूमि नाम सार्थक किया। समुद्रगुप्त ने अपने कार्य का बयान इलाहाबाद के शिला लेखों पर अंकित कर रक्खा है, जिसके कारण आज उपर्युक्त बातों का विश्वसनीय पता चलता है। इसके पीछे दूसरा चंद्रगुप्त बनाम विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा जिसके समय में गुप्तकाल वैभव के शिखर पर था! राज्य की व्यवस्था बहुत अच्छी थी; प्रजा सुखी थी और इसी कारण से कर्तृत्व की सभी शाखाओं, उपशाखाओं ने चरम सीमा पायी थी। चंद्रगुप्त के अनंतर उसके पुत्र कुमारगुप्त ने दीर्घ काल तक राज्य किया और अपनी गद्दी स्कंदगुप्त को सौंप दी। इसने समरांगण में पुष्यमित्र से लड़ते २ वीर गति पायी। इसके बाद साम्राज्य टूंक टूंक हुआ। तिसपर हूणों की टोलियों ने भारत में प्रवेश किया और वैभवशाली गुप्तवंश मटियामेट हो गया।

प्रमुखता से गुप्तराजाओं का झुकाव यद्यपि वैदिक धर्मों की ओर था, फिर भी उन्होंने धर्म की आड़ में बौद्ध या जैन धर्मों पर अत्याचार नहीं किया। सारे धर्म साथ-साथ चल रहे थे। उनमें पक्षपात, असहिष्णुता आदि दुर्गुण नहीं के बराबर थे। इस कालका इतिहास लिखने की

साधन सामग्री में सिक्कों, शिलालेखों, स्तंभलेखों, चीनी यात्रियों के लिखे हुए चीनी भाषा के प्रवास वर्णन बड़े लाभकारी सिद्ध हुए हैं। चीनी यात्रियों ने भारत भ्रमण करके सभी धर्मानुयायियों का जिक्र किया है। उनमें जैनधर्म विषयक बातें भरी पड़ी हैं। उनके आधार पर जैन धर्म के बारे में बहुत सी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अलावा जिसके चार शिलालेख अन्य अन्य स्थानों पर मिले हैं, जिनसे जैन धर्म तथा उसकी संस्कृति की क्या हालत थी, इसका अंदाज़ा किया जा सकता है।

(४) जैन शिलालेखः—गुप्तकाल का सबसे पुराना शिलालेख उदयगिरि पहाड़ी के पास—जो मध्य प्रांत के भेलसा जिले में है—मिला है यह प्रकृति में पाये गये टीलों पर अंकित किया है। तज्ञों के मत में इसका समय ई० स० ४२४ माना जाता है। इस शिलालेख से अनुमान निकलता है, कि आचार्य भद्रबाहु के संप्रदाय के शांकर नामक शिष्य ने —यह आचार्य गोशर्मा के शिष्य थे—भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की। वह इतना जमाना बीत जाने पर भी अच्छी अवस्था में ज्यों की त्यों बनी है। यहाँ भगवान पार्श्वनाथ का सदा का लांछन चिन्ह तो है ही, साथ साथ पिछली बाजू में नागका बड़ा ही विशाल फन है, उसके पार्श्व में कोई एक सेविका है। शांकर मुनि के पिता का नाम सांधिला था, उन्हें अश्वपति की उपाधि थी; बड़े २ राजा महाराजाओं के ही लिये जो उपयुक्त होती थी। इससे यह बात सिद्ध हो सकती है, कि बड़े बड़े सर्दारों, महाराजाओं पर जैनधर्म ने अपना काफ़ी प्रभाव छोड़ा था। दूसरी महत्त्व की बात यह है कि उदयगिरि की उन पहाड़ियों पर हिन्दुओं के भी अन्य दो शिलालेख पाये गये हैं, वह यही प्रांत है जिसपर एक समय पूरी तौरसे गुप्तराजाओं का शासन था। विहार करते हुए शांकर मुनिने वहाँ पहुँचकर तथा वहाँ अपना डेरा डालकर फिर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की और इस प्रकार उसी स्थान को जैनों का पवित्र उपासना क्षेत्र बनाया, जिससे निश्चय यही प्रमाणित होता है कि उस काल में जैनधर्म तथा वैदिक धर्मका आपसी मेल जोल निकट का था। यद्यपि एक को राजाश्रय था, फिर भी दूसरे पर उससे कभी आघात नहीं पहुँचाया जाता था न किसीकी ऐसी सामर्थ्य थी न किसी को ऐसा अधिकार था।

दूसरा एक शिलालेख मथुरा के पास कंकालीतिला में मिला है। २०० वर्ष ईसा के पूर्व से लेकर ई० स० १२०० तक मथुरा जैन शास्त्र तत्त्वज्ञान का केन्द्र था। वहाँ जैनों का बड़ा स्तूप एवं विहार है। इस स्थान में एक मंचक पर तीर्थंकर की मूर्ति विराजमान है। इसका पता अब भी नहीं चलता कि यह कौन तीर्थंकर हैं क्योंकि वह मूर्ति भग्नावस्था में है। तज्ञों की दृष्टि में यह लगभग ई० सं० ४३२ या गुप्तशक ११३ की होगी। इसके नीचे लिखा है "आचार्य धर्तिलाचार्य कोटिय्य गच्छ तथा विद्याधर शाखजी की अनुज्ञा से गृहमित्र पालिता नामक शासक की पत्नी की ओर से समर्पित।"

मथुरा जैन संस्कृति का बड़ा केन्द्र था इसके प्रमाण में इस शिलालेख का उल्लेख गर्व के साथ किया जाता है। यहाँ धर्मशील विद्वान, दानशूर लोग झुँड के झुँड में आया करते थे। जैनानुयायियों की तो वहाँ बड़ी ही चहल-पहल रहा करती थी। चीनीयों ने इसका उल्लेख अपने लेखों में स्पष्टतया किया है। इस प्रकार जैन संस्कृति का मंगल ध्वज कट्टर हिन्दुसाम्राज्य के कलेजेके पास में गर्व के साथ फहरा करता था। तीसरा शिलालेख युक्त प्रान्त के कहाऊ गाँव, जिला गोरखपुर में मिला है जो स्कन्दगुप्त के समय में खड़ा किया गया था, यह २४ फीट ४ इंच स्तंभ पर लेख खोदा गया है। इसका काल १४१ गुप्तवर्ष याने ई० स० ४६० है। यह लेख इस बात को प्रकट करता है, कि चद्र नामके व्यक्ति को दुनिया की क्षण-भंगुरता प्रतीत हुई, उसने अर्हत पदके प्रमुख पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ लाञ्छनों के सहित स्थापित कीं। वे आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर नाम से प्रसिद्ध थीं; इस तरह उसने स्वार्थ साधन के साथ २ जगतकल्याण का दरवाज़ा खोल दिया। मूर्तियों के नीचे शिलालेख दिखाई देता है। पार्श्वनाथ की नग्नमूर्ति ३ फीट ऊँची है, उसके सिर पर छत्र के तौरपर शेषनाग फण काढ़े खड़े हैं, उसके पार्श्व में दोनों ओर दो सेवक भी खड़े हैं। इन थोड़े से शिलालेखों में ४ थी तथा ५ वीं शताब्दि की जैन धर्म संबंधी कल्पना मिल जाती है।

All these few instances prove that Jainism claimed a fairly large followrs in different parts of Northern India.

इसमें कोई शक नहीं कि उत्तर भारत में असंख्य जैनानुयायी बस गये थे। वहाँ उनके अगणित मन्दिर हैं और उनके बनने से पहले तीर्थस्थान के लिए उन स्थानों की बड़ी प्रसिद्धि थी। शिलालेख को पढ़ते हुए इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त स्थानों पर जैन-धर्मियों की तादाद बहुत अधिक थी।

(५) चीनी यात्री:—

परदेश के बहुत कम लोगोंने हिन्दुस्तान की यात्रा की। उनमें से इनेगिने यात्रियों ने परिस्थिति का निरीक्षण किया और यात्रा वर्णन लिखने वाले तो गिनती के हैं। फाहियान, सुंग-युन तथा युवानुत्संग प्रमुख यात्री थे, जिन्होंने अपनी यात्रा का वर्णन चीनी में किया है। गुप्तकालीन हिन्दुस्तान का इतिहास लिखने में वह बड़ा सहायक हो सकता है।

फाहियान:—यह शेनस्सी प्रांत का निवासी था। जिसने १४ वर्ष तक ७००० मील यात्रा की। इसने बुद्धधर्म की दीक्षा ली, जब यह ३ वर्ष का था। बीस वर्ष की उम्र में इसकी माता ने इसको गृहस्थ बनने का बहुत आग्रह किया, पर वह न माना। २५ वर्ष की उम्र में (बौद्ध-धर्म-ग्रंथ) पाने की तीव्र अभिलाषायें लेकर हिन्दुस्तान की यात्रा में अकेला रवाना हुआ। शेन प्रांत को छोड़ कश्मीर, यारकंद, पेशावर तथा तक्षशिला से होकर हिन्दुस्तान में आया। सिर्फ धर्म का

अध्ययन करने की चाह से यातायात के साधनों के अभाव के होते हुए तथा कठिनाइयों का सामना करके मातृभूमि को छोड़ धर्म भूमि देखने को चलनेवाले दुनिया के इतिहास में शायद ही मिलेंगे। पहले वह तक्षशिला गया, बादमें उसने गन्धार को देखा। अफघान देखकर फिर बभू शहर को लौट आया। मथुरा, कन्नोज, सरस्वती, कपिलवस्तु, पटना, गया, ताम्रपाली आदि धर्म स्थानों को देखा फिर जलमार्ग से जाकर उसने सिलोन देखा और गया होकर चीनको प्रस्थान किया। पटना में तीन वर्ष रहकर संस्कृत सीखी और ताम्रपाली में दो वर्ष धर्मग्रंथों की नकलें उतारने में बिताये।

उसके यात्रा वर्णन में ऐतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा धार्मिक दृष्टि ही नज़र आती है। जैसे कि:—आँधी के समय बुद्ध की प्रार्थना करने से संकट दूर हुआ। फाहियान ने उत्तर भारत के क्षेत्र देखे, समाज देखा और उक्त कालके कुछ अधूरे वर्णन लिख रखे हैं। इसमें ज़रा भी शक नहीं है कि उसकी लिखी सामाजिक स्थिति तीनों धर्मों पर घटित होती है। उसने लिखा है:—"लोग जीव हिंसा के विरोधी थे, सभी सुखी थे। सजाएँ बहुत ही अल्प प्रमाण में दी जाती थीं। राजपुरुष न्यायी एवं ईमानदार थे। शराब का नाम तक नहीं था और तो और कंदमूल तक खाने के काम में नहीं लाये जाते थे। कई राजाओं ने विहार, मठ, बनवाये थे जहाँ श्रमणों—भिक्षुओं के टिकने की बड़ी सुविधा थी। मध्य भारत के शहर विशाल एवं वैभव संपन्न थे। स्थान-स्थान पर दातव्य औषधालय और धर्मशालाएँ बनी थीं। जनता इन संस्थाओं को बड़ी उदारता से, दोनों हाथों उलीच उलीच कर मदद देती थी। दूसरा चीनी यात्री युआनचाँग नामका था। इसका जन्म होनान प्रांत में ६०३ ई० में हुआ था। १३ वर्ष की उम्र में बौद्ध विहार में प्रवेश कर २० वें वर्ष बुद्ध धर्म की दीक्षा ली। हरेक प्रांत में घूमा। फाहियान का अनुसरण करके धर्म-ग्रंथों की खोज करना, स्तूपों तथा देवस्थानों को देखना, मनको बेचैन करने वाली शङ्काओं को भारतीय पण्डितों से निरसन कराना इत्यादि इन उद्देश्यों को लेकर वह ६२९ में यात्रा के लिये हिन्दुस्तान की ओर चल पड़ा। शान्सी प्रान्त, गोबीका रेगिस्तान, कश्मीर के रास्ते से उसने भारत में प्रवेश किया। फिर प्रयाग, मथुरा बनारस जैसे तीर्थस्थानों में १५ महीने बिताये। सारे भारत भरमें भ्रमण कर फिर एक बार हर्षवर्धन से भेंट की और सार्वधर्म परिषद् के अध्यक्ष पद को विभूषित कर सरहदी प्रांत से होकर स्वदेश लौट गया। जाते समय ६५७ धर्मग्रंथ, बुद्ध की रमणीय प्रतिमाएँ, अनेकों रत्न, तथा १५० बुद्ध के अवशेष अपने साथ ले गया।

(६) जैनों के उल्लेखों के आभास:—

ये बौद्ध चीनी यात्री सिर्फ बौद्ध-धर्म-ग्रंथों की खोज में आये थे और ज्यादा बौद्ध क्षेत्र ही देखे। उन्होंने सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक हालतों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। बनारस शहर के आसपास घूमकर जो भी कुछ देखा, तथा सुना वह लिपिबद्ध कर दिया है:—

यथाः—

There are a hundred or so DEVA temples with about 10,000 sectories They honour principally Mahavira. Some cut there hair off, other tie their hair in a knot and go naked without clothes.. They practice of all sorts of austerties. They seek to escape from birth and death.

[अनुवादः—] करीब १०० मन्दिर तथा १०,००० श्रावक, मुनि, ब्रह्मचारी आदि लोग भगवान् महावीर को मानने वाले थे। उनमें कोई केशलुंचन करते थे, कोई नंगधड़ंग घूमते थे। सभी प्रकार के व्रतों, तपों के आचरण के द्वारा जन्म मृत्यु के फेर से छुटकारा पाने की चेष्टा किया करते थे। जैन संस्कृति का आगार माना जाने वाले मथुरा नगर के लोग सज्जन और कुशल थे और धार्मिक ग्रंथों का पठन-पाठन स्तवन, करने में बड़े तत्पर थे। इसके अतिरिक्त बिंबिसार तथा अजातशत्रु के उल्लेखों में बौद्ध धर्म से कुछ-वैर सा प्रतीत होता है, जिससे इसी मत की पुष्टि हो जाती है कि वे दोनों जैनानुयायी थे।

(७) इतिहास की दृष्टि से महत्त्व —

इस लम्बे प्रवास का वर्णन चीनी भाषा में है और उसका नाम ता-त्संग-तुसी-उची है। राबर्ट बिलने उसका भाषान्तर "The Records of the western world." नाम देकर किया है। इस अनूदित ग्रंथ में अध्ययन पूर्वक, विचार-परिपूर्ण तथा महत्त्व की भूमिका जोड़ दी गयी है।

"These records enebody the testimony of indcpendent eye witness as to the facts related in them and having been faithfully preserved and alloted a place in the collection of the sacred books of the country. Their evidence is entirely.

[भाषांतरः—अपनी आँखों देखकर उसका.................. । उसी प्रकार मूल प्रति की हिफाजत करके धर्मग्रंथों के भाण्डार में उसको प्रवेश दिया गया है। इस कारण उसका विश्वसनीय और प्रबल प्रमाण के लिये उपयोग करने में कोई हर्ज नहीं है। फिर वह ग्रंथकर्त्ता कहते हैं:—

"We find the ample material for the study of geography, history, manners & religions of the people of India."

[भाषांतरः—भारत की, प्राकृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा धार्मिक विषयों के संबंध की जानकारी बहुत प्राप्त होती है। निरे अनुमान से या अंदाजे से नहीं; बल्कि नीचे उद्धृत किये अनुसार जैनधर्म विषयक स्पष्ट उल्लेख मिले हैं।

Though Brahamanical Hinduism was flourishing, side by side with the Budhism or Jainism the pious pilgrim gave us scanty or nothing about Budhism or Jainism, Jainism, too was not tacking in

progress. Mathura was no doubt the centre of Jainism there were Jain temples, Vihars, images and adhevents throught Northern India but they have no place in this record. Budhism, that too, in exaggerated from has been pictured by him.

[अर्थः—यद्यपि वैदिक तथा जैन धर्म बौद्ध धर्म के साथ २ उन्नति कर रहे थे, फिर भी इस धार्मिक वृत्ति के यात्री के सिवा बौद्ध धर्म के बहुत ही कम, बल्कि नहीं के बराबर वृत्तान्त कथन किया हुआ पाया जाता है। मात्र बुद्धों की जानकारी, वह भी चढ़ाबढ़ा कर लिखी मिलती है। जैनधर्म प्रगति पथ पर ही अग्रसर था। उत्तर भारत में कई स्थानों पर जैन मन्दिर, जैन बस्तियाँ, जिन प्रतिमाओं एवं अनुयायी दृष्टिगत होते हैं।
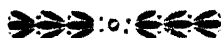
नीतिवाक्यामृत और सागारधर्मामृत

[लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री, दि० जैन संघ मथुरा]

नीतिवाक्यामृत के कर्त्ता आचार्य सोमदेव से सागारधर्मामृत के कर्त्ता पंडित प्रवर आशाधरजी लगभग ढाई-सौ वर्ष पीछे हुए हैं। पं० आशाधर जी पर आचार्य सोमदेव की रचनाओं का यथेष्ट प्रभाव है। उन्होंने जहां तहां अपनी रचनाओं में 'यदा सोमदेव पंडितः' कह कर उनके ग्रंथों से प्रचुर प्रमाण उद्धृत किये हैं। पं० आशाधर जी की सबसे बड़ी कृति अनागार धर्मामृत और सागार धर्मामृत का नाम-संस्करण भी आचार्य सोमदेव के नीति वाक्यामृत का ऋणी है।

पं० आशाधर जी ने नीतिवाक्यामृत के अनेकों सूत्रों को पद्यरूपी सांचे में ढालकर उन्हें ज्यों का त्यों अपनाया है। यहां ऐसे कुछ अवतरण दिये जाते हैं, जिनसे उक्त बात की पुष्टि में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

(१) आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः
करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥

(नीतिवा० पृ० ८४)

शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

(सागार ध० अ० २ श्लो० २२)

(२) प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा
भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥२७॥

(नीतिवा० पृ० १७)

नियमेनान्वहं किञ्चिद्यच्छतो वा तपस्यतः।
सन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनश्रितः ॥

(सागारध० अ० २, ४९)

(३) निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमंडनमिव ॥९॥

(नीतिवा० पृ० २२३)

स्त्रीतश्चित्तनिवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे।
मृतमंडनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥

(सागार० अ० ६, ३६)

(४) अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥२१॥
(नीतिवा० पृ० २२७)

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन् ।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयतेतराम् ॥
(सागार० ३, २६)

(५) ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थायेति कर्त्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥१॥
(नीतिवा० पृ० २५१)

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय वृतपंचनमस्कृतिः ।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥१॥
(सागार० ६, १)

(६) धर्मसन्ततिरनुपहता रतिर्गृहवार्त्तासुविहितत्वमाभिजात्याचार विशुद्धिर्देव द्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलम् ॥३०॥
(नीतिवा० पृ० ३७८)

धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् ।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥
(सागार० २, ६०)

(७) गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ॥३१॥
(नीतिवा० पृ० ३७८)

गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥
(सागार० २, ५९)

(८) पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दाहोपशान्तिरेव प्रयोजनम् ॥२७॥
(नीतिवा० पृ० ३८९)

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत् ॥
सागार० ३, २९)

नीतिवाक्यामृत के टीकाकार का प्रमाद

श्री माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रकाशित नीतिवाक्यामृत की भूमिका में श्री प्रेमीजी ने 'टीकाकार' शीर्षक स्तम्भ के भीतर टीकाकार के विषय में लिखा है कि 'वे बहुश्रुत विद्वान् थे और एक राजनीति के ग्रन्थ पर टीका लिखने की उनमें यथेष्ट योग्यता थी। इस विषय के उपलब्ध साहित्य का उनके पास काफी संग्रह था और टीका में उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया है" आदि। सटीक नीतिवाक्यामृत का पारायण करने के बाद उक्त बात पाठकों के हृदय पर अंकित हुए

बिना नहीं रहती। फिर भी कुछ स्थल ऐसे अवश्य दृष्टि में आये, जहां एक ही श्लोक को भिन्न भिन्न कर्त्ताओं के नाम के साथ उद्धृत किया गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक ही श्लोक को तीन तीन आचार्यों के नामों से उद्धृत करते हुए भी टीकाकार को स्वयं पूर्वापर विरोध प्रतीत नहीं हुआ !!! यदि ऐसे पद्यों के रचयिताओं के विषय में विवाद था, तो उसे बिना किसीका नामोल्लेख किये ही 'तथा चोक्तं, आदि कह कर उद्धृत कर सकते थे। समझ में नहीं आता कि एक बहुश्रुत टीकाकार द्वारा ऐसा प्रमाद कैसे हुआ ?

पाठकों को इसके परिचयार्थ यहां एक उद्धरण दिया जाता है :—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

इस प्रसिद्ध श्लोक को टीकाकार ने मात्र एक-दो शब्दों के हेर-फेर से तीन स्थलों पर तीन ही निर्माताओं के नाम से उद्धृत किया है। यथा:—

पृष्ठ १४३ पर 'तथा च भागुरिः,
पृ० २६४ पर 'तथा च शुक्रः, और
पृ० ३१२ पर 'तथा च वल्लभदेवः,

इतने बड़े बहुश्रुत विद्वान का इस प्रकार का प्रमाद अवश्य विचारणीय है।

इसी प्रकार पृ० ११३ पर टीकाकार ने 'काकतालीय' न्याय का भी बड़ा विचित्र अर्थ किया है। पाठकों के परिज्ञानार्थ उसका यहां देना अनुचित न होगा:—

अथवा काकतालीयं यन्मूर्खमंत्रात्कार्यसिद्धिः। कोऽर्थः ? तालवृक्षस्य तावद्वर्षशतेन फलं भवति, काकश्च सर्वेषां पक्षिणां सकाशादतीवाविश्वासी भवति, स तस्याधो गच्छन् तत्फलेन पतता यदि हन्यते तन्मूर्खमंत्रात्सिद्धिरिति।"

पृष्ठ १३५ पर 'स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम्' इस सूत्र का अर्थ करते हुए 'कृत्योत्थापन का बड़ा ही विलक्षण अर्थ किया है।

कुछ भूलें टीकाकार के अजैन होने एवं जैन परिभाषाओं से अपरिचित होने के कारण भी हुई हैं। जैसे पृष्ठ ८५ पर सूत्रकार ने सर्व वर्णों का समान धर्म बतलाते हुए अहिंसा, सत्य आदि पांच प्रसिद्ध व्रतों का उल्लेख किया है, वहां प्रयुक्त हुए 'इच्छानियमः' इस पद का सीधा-सादा 'परिग्रह परिमाण' अर्थ न करके 'स्वेच्छाप्रवृत्तिवृत्तं' किया है जो कि भ्रामक है।

दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश और विस्तार

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न]

दक्षिण भारत के इतिहास निर्माण में जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस संस्कृति का इस भूभाग के राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ा है। यद्यपि जैनधर्म के सभी प्रवर्त्तक उत्तर भारत में उत्पन्न हुए हैं, पर दक्षिण में इस धर्म का प्रवेश प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के समय में ही हो गया था। ऐसे अनेक ऐतिहासिक सबल प्रमाण वर्तमान हैं, जिनसे प्रागैतिहासिक काल में दक्षिणभारत में जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

मदुरा और रामनद से खुदाई में ई० पू० ३०० के लगभग का प्राप्त शिलालेख इस बात को सिद्ध करता है कि जैनधर्म दक्षिण भारत में ई० पू० ३०० से पहले उन्नत अवस्था में था। यह ब्राह्मी लेख अशोक लिपि में लिखा गया है, इसमें मधुराई, कुमत्तुर आदि कई शब्द तामिल भाषा के भी मिलते हैं। यद्यपि अब तक इस लेख का स्पष्ट वाचन नहीं हो सका है, किन्तु इसी प्रकार के अन्य लेख भी मारूगलतलाई, अनमैलिया, तिरूपरन्नकुरम् आदि स्थानों में मिले हैं; जिनके आस-पास तीर्थङ्करों की भग्न मूर्त्तियाँ तथा जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष भी प्राप्त हुए हैं, जिससे पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान है कि ये सभी लेख जैन हैं। अलगामलै की खुदाई में प्राप्त जैन मूर्त्तियाँ भी इस बात की साक्षी हैं कि दक्षिण भारत में यह धर्म ई० पू० ३०० के पहले एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया था जिससे कि जैन स्थापत्य और मूर्त्तिकला उन्नत अवस्था में थी[1]।

लंका के राजा धातुसेन (४६१-४७९ ई०) के समय में स्थविर महानाम द्वारा निर्मित महावंश नामक बौद्ध काव्य से पता चलता है कि ई० पू० ५०० के पहले दक्षिण भारत में जैनधर्म का पूर्ण प्रचार था। उस काव्य में बताया गया है कि राजा पाण्डुगभ्य ने अनुराधपुर में अपनी राजधानी ई० पू० ४३७ में बसाई थी। इस नगर में विभिन्न प्रकार के सुन्दर भवनों का निर्माण कराया गया था। राजा ने एक 'निग्गन्थ[2] कुबन्ध' नामका सुन्दर जैन चैत्यालय बनवाया था तथा इस नगर में ५०० विभिन्न धर्मानुयायियों के बसने का भी प्रबन्ध किया था। इस कथन से स्पष्ट है कि जैनधर्म लंका में ई० पू० ५०० के पहले विद्यमान था।

---

1. See Madras Epigraphical Reports 1907, 1910.
2. See Studies in South Indian Jainism P 33.

जैन प्रचारक यद्यपि लंका को समुद्र मार्ग से गये थे, पर लौटते समय वे स्थल मार्ग द्वारा दक्षिण के रास्ते से आये थे, यह बात तामिल और बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है। अतः लंका में जैनधर्म के प्रचार के साथ-साथ दक्षिण भारत में भी जैनधर्म का प्रचार ई० पू० ५०० के लगभग या इससे पहले हुआ होगा।

राजावली कथा एक प्रामाणिक ऐतिहासिक काव्य माना जाता है। इसमें बताया गया है कि विशाख मुनिने चोल और पाण्ड्य प्रान्तों में भ्रमण कर वहाँ के जैन चैत्यालयों की वन्दना की थी तथा वहाँ के निवासी श्रावकों को जैनधर्म का उपदेश दिया था। इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहु स्वामी के पहले भी जैनधर्म दक्षिण में था, अन्यथा विशाखमुनि को जिनमन्दिर और जैन श्रावक कैसे मिलते ?

तामिल साहित्य के प्राचीन व्याकरण अगथियम[1] और उससे प्रभावित तौल्काप्याम के अध्ययन से पता लगता है कि ये ग्रन्थ एक जैनाचार्य द्वारा रचे गये हैं। विद्वानों ने इनका रचनाकाल ई० पू० ४०० माना है। अतएव स्पष्ट है कि ई० पू० ४०० के लगभग दक्षिण भारत में जैनधर्म का व्यापक प्रचार था। संगम[2]कालीन तामिल काव्य 'मणिमेखलै' और 'सीलप्पडिकारम्' से ज्ञात होता है कि इस युग में जैनधर्म समुन्नत अवस्था में था। 'संगम' युग के समय निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग ई० पू० २०० के पूर्व के समय का नाम संगम या प्राथमिक युग बतलाते हैं तथा कतिपय विद्वान् ई० पू० चौथी शताब्दी से ई० दूसरी शताब्दी तक के काल समूह को। यदि इस विवाद में न भी पड़ा जाय तो भी इतना तो सुनिश्चित है कि भद्रबाहु स्वामी के दक्षिण पहुँचने के पूर्व ही जैनधर्म वहाँ विद्यमान था।

कन्नड़ रामायण में बताया गया है कि श्रीमुनिसुव्रत भगवान् के तीर्थंकर काल में श्री रामचन्द्रजी ने दक्षिण भारत की यात्रा की थी, इस यात्रा में उन्होंने जैन मुनि और जैन चैत्यालयों भी वन्दना की थी।

भागवत पुराण में भगवान् ऋषभदेव[3] के परिभ्रमण की एक कथा आई है। उस कथा में बताया गया है कि जिस प्रकार कुम्हार का चाक स्वयं चलता है, उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव का शरीर कोंक, वेंकट, कुटक इत्यादि दक्षिण कर्णाटक के प्रदेशों में गया। कुटक पहाड़ से सटे हुए जंगल में उन्होंने नग्न होकर वहाँ तपस्या की। अचानक जंगल दवाग्नि से भस्म हो गया और कोंक, वेंकट और कुटक के राजाओं ने ऋषभदेव के धर्म मार्ग को ग्रहण किया। इससे स्पष्ट है कि कुटक ग्राम, हट्टंगडि, कोंक आदि दक्षिण भारत

1. See Jaina Gazette, Vol. XIX, P. 75.
2. Buddhistic Studies, PP. 3, 68,
३ जैनसिद्धान्त-भास्कर भाग १० किरण १ तथा भाग ६ पृ० १०२

के प्रदेशों में जैनधर्म का प्रचार प्राचीन काल में ही था। उपर्युक्त स्थानों में हट्टेंगढि आज भी जैनियों का पवित्र क्षेत्र माना जाता है।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि नाभि और मरु के पुत्र ऋषभ ने बड़ी योग्यता और बुद्धिमानी से शासन किया तथा अपने शासन काल में अनेक यज्ञ किये। चतुर्थावस्था में वह अपना राज-पाट अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप कर सन्यासी हो गये और दक्षिण भारत में स्थित पुलस्त्य ऋषि के आश्रम में निवास किया। इससे स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थंकर दक्षिण में गये थे।

हिन्दू पुराणों में एक संवाद[1] आता है, जिसमें बताया गया है कि देव और असुरों के युद्ध के बीच जैनधर्म का उपदेश विष्णु ने दिया था—"बृहस्पतिसाहाय्यार्थं विष्णुना मायामोहसमुत्पादनम् दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रति जैनधर्मोपदेशः, दानवानां मायामोह-मोहितानां गुरुणा दिगम्बर-जैनधर्मदीक्षादानम्"। अर्थात् देव-मन्त्री बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु भगवान् ने मोहमाया नामक एक दिगम्बर साधु को उत्पन्न किया और दैत्यों को जैनधर्म का उपदेश उससे दिलाया, जिससे दानव दि० जैनधर्म में दीक्षित हो गये। इस संवाद में एक रहस्य यह छिपा प्रतीत होता है कि विष्णु ने दिगम्बर जैन मुनि का अवतार लेकर असुरों को दीक्षा दी। यदि यहाँ यह मान लिया जाय कि असुर जिनका यहाँ वर्णन किया गया है, वे वही लोग थे जो यहाँ के आदिम निवासी थे और दक्षिण भारत के किनारे के प्रदेशों में रहते थे। ये आदिम निवासी सभ्य, संस्कृत और स्वतन्त्र थे, दास नहीं। इन्होंने आर्यों के आने के पूर्व भारत को अपने अधिकार में कर लिया था; तो इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म का केन्द्र उस समय नर्मदा नदी के तटपर स्थित था जो कि आज भी तीर्थ स्थान के समान पूज्य है।

उपर्युक्त कथन का समर्थन काठियावाड़[1] में प्राप्त एक ताम्रपत्र से भी होता है। यह ताम्रपत्र महाराज नेबूचदनेज्जर प्रथम अथवा द्वितीय (ई० पू० ११४० या ई० पू० ६००) का है। प्रो० प्राणनाथ ने इसका वाचन करते हुए बताया था कि यह महाराजा विवलोनिया का निवासी था, वहाँ से यह द्वारिका आया था; यहाँपर इसने एक मन्दिर बनवाया और इस मन्दिर को नेमि या अरिष्टनेमि को अर्पण दिया। नेमि उस समय रैवत गिरि (गिरनार) के देव थे। इससे स्पष्ट है कि नेमि या अरिष्टनेमि जो कि जैन तीर्थंकर हैं, के प्रति नेबू की बड़ी भारी श्रद्धा और भक्ति थी। इस ताम्रपत्र में प्रतिपादित नेबू राजा को रेवानगर का स्वामी भी बताया है, संभवतः यह नगर सिद्धवर कूट के निकट का एक स्थान होगा, जो कि दक्षिण भारत में रेवा नदी के तटपर स्थित है।

---

१ विष्णुपुराण अध्याय १७, मत्स्यपुराण अ० २४, पद्मपुराण अध्याय १ और देवी-भागवत स्कन्ध ४, अ० १३

1. See Indian Culture April 1938, P. 515, and Times of India, 19th March, 1935, P. 9

दक्षिण भारत में जैन धर्म की प्राचीनता के जैन साहित्य में अनेक प्रमाण हैं। निर्वाण-काण्ड की निम्न गाथा में बताया है—

पण्डुसुआतिण्णिजणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडिओ।
सेतुंजय गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

अभिप्राय यह है कि पल्लवदेश में विराजमान भगवान् अरिष्टनेमि के निकट पाण्डवों ने जिनदीक्षा ग्रहण की थी; इनके साथ दक्षिण देश के और भी कई राजाओं ने मुनिव्रत धारण किया था; जो कि पाण्डवों के साथ तपकर शत्रुंजयगिरि से मुक्त[1] हुए थे।

महापुराण में बताया गया है कि जब कल्पवृक्ष लुप्त हो गये और कर्म भूमिका आरम्भ हो गया तो अन्तिम कुलकर नाभि राजा के पास प्रजा आयी उन्होंने उसे भगवान् ऋषभ-नाथ के पास भेज दिया। प्रजाने भगवान् ऋषभनाथ से प्रश्न किया—भगवन्! कृपाकर आजीविका का उपाय बतलाइये, जिससे हमलोग सुखपूर्वक रह सकें। भगवान् ने प्रजाको षट्कर्मों का उपदेश दिया। उनके स्मरणमात्र से इन्द्र अनेक देवों के साथ आ उपस्थित हुआ और उसने संकेतमात्र से ही नगर, गाँव, देश और प्रान्तों का वर्गीकरण कर दिया। तथा वहाँ जिन चैत्यालय, जिनबिम्ब एवं अन्य जैन संस्कृति के चिन्हों को प्रकट किया। बनाये गये देशों की संख्या ५२ बतायी गयी है; जिसमें दक्षिण भारत के अनेक बड़े-बड़े नागर शामिल हैं[2]—

करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणाः।
वनवासान्ध्रकर्णाटकोशलाञ्चोलकेरलाः॥
दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तकाः।
विदेहसिन्धुगान्धारपवनाश्चेदिपल्लवाः॥
कांबोजारट्टबाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः।

महापुराण में भरत चक्रवर्ती की विजय का वर्णन करते हुए दक्षिण दिशा के राजाओं पर की गयी विजय के निरूपण में बताया है कि—

चोलिकान्नालिकप्रायान्प्रायशोऽनृजुचेष्टितान्।
केरलान्सरलालापान्कलगोष्ठीषु चंचुरान्॥
पाण्ड्यान्प्रचंडदोर्दण्डान् खण्डितारातिमण्डलान्।

इससे स्पष्ट है कि भरत चक्रवर्ती ने चोल, पाण्ड्य, केरल आदि राजाओंको हराकर वहाँ जैनधर्म का प्रचार किया था। प्रत्येक नरेश उस युग में पराजित देशों में अपने धर्म का प्रचार करता था। दूसरी बात यह है कि भगवान् ऋषभदेव के संकेत से जब इन्द्र ने

१ देखें—संक्षिप्त जैनइतिहास भा० ३ खं० १ पृ० ११४

२ जिनसेनाचार्य विरचित महापुराण पर्व १६ श्लो० १३०–१६५

प्रान्तों और देशों का वर्गीकरण किया था, उस समय जैन चैत्यालयों का निर्माण भी हुआ था, अतः उत्तर के समान दक्षिण में भी भरत चक्रवर्ती ने जैन चैत्यालयों की बन्दना करते हुए विजय प्राप्त की थी।

पोदनापुर में दक्षिण भारत के प्रथम जैन सम्राट् बाहुबली स्वामी की राजधानी बतायी गयी है, यह स्थान आज भी दक्षिण भारत में स्थित है। इसी प्रकार जैन साहित्य में पोलासपुर, मदुरा, भद्दिल आदि नगरों के नाम मिलते हैं। इन नगरों में भगवान् ऋषभदेव के समय में ही जैन धर्मका प्रचार बताया गया है।

दाक्षिणात्य मथुरा—मदुरा नगर, को पाण्डवों ने बसाया था। कहा गया है—

सुतास्तु पाण्डोर्हरिचन्द्रशासनादकाण्ड एवाशनिपातनिष्ठुरात्।
प्रगत्य दाक्षिण्यभृता सुदक्षिणां जनेन काष्ठां मथुरां न्यवेशयन्[1] ॥

जब द्वारिका नगरी नष्ट हो गयी और कृष्ण अपने भाई बलदेव के साथ दक्षिण मथुरा को चले; रास्ते में कौशाम्बी के जंगल में जरतकुमार ने बाण चलाया, जो कि श्रीकृष्ण के पाँव में लगा; जिससे उनका आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़कर चला गया। जब पाण्डवों को यह दुःखद समाचार मिला तो वे बलदेव से मिलने के लिये कौशाम्बी के जंगल में आये और उन्हें समझा बुझाकर यह तय किया कि नारायण के शव का संस्कार शृंगी गिरि पर कर दिया जाय।

पाण्डव दक्षिण के पल्लव देशमें भगवान् नेमिनाथ का विहार अवगत कर मदुरा को लौट आये और भगवान् नेमिनाथ के पास जाकर जैन-दीक्षा ग्रहण कर ली। पाण्डवों के साथ और भी कई दक्षिणी राजाओं ने जैन-दीक्षा ग्रहण की, अतएव यह स्पष्ट है कि भगवान् नेमिनाथ ने दक्षिण के देशों में विहार कर जैनधर्म का प्रचार किया था।

अथ ते पाण्डवाञ्चंडसंसारभयभीरवः।
प्राप्य पल्लवदेशेषु विहरंतं जिनेश्वरम् ॥

हरिवंश पुराण के एक अन्य कथानक से ज्ञात होता है कि महाराज श्रीकृष्ण का युद्ध जब जरासिन्धु के साथ हो रहा था तो दक्षिण भारत के कई राजा भी उनके पक्ष में थे। इसका कारण यह है कि मदुरा में पाण्डवों का राज्य स्थापित हो जाने पर द्राविड़ राजाओं का सम्पर्क उत्तर के राजाओं के साथ घनिष्ठ होता जा रहा था। चेर, चोल, पाण्डय आदि वंश के राजाओं का इनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिये पाण्डवों के साथ इन्होंने जिन-दीक्षा ग्रहण की थी।

णायकुमार चरिउ[2] में कहा गया है कि भगवान् नेमिनाथ के तीर्थकाल में कामदेव नागकुमार हुए थे। नागकुमार का मित्र मथुरा का राजकुमार महाव्याल था। यह महा-

---

१ हरिवंश पुराण सर्ग ५४ श्लो० ७३

२ संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खं० १ पृ० ११४

व्याल पाण्ड्य देश गया था और पाण्ड्य राजकुमारी को विवाह कर ले आया था। भगवान् पार्श्वनाथ के समय में करकण्डु नामका एक राजा हुआ है। उसने अपने राज्य का खूब विस्तार कर एक दिन मंत्री से पूछा, हे मन्त्री ! क्या कोई ऐसा राजा है जो मुझे मस्तक न नमाता हो ? मंत्री ने उत्तर दिया—उत्तर के तो सभी राजा आपकी आधीनता स्वीकार कर चुके हैं, पर द्राविड़ देश के चेर, चोल और पाण्ड्य नरेश आपको नहीं मानते। राजा ने उनके पास दूत भेजा, पर उन राजाओं ने करकण्डु की अधीनता नहीं स्वीकार की और यह कहकर दूत को वापस कर दिया कि हम जिनेन्द्र भगवान् को छोड़ और किसी को सिर नहीं झुका सकते। राजा करण्डु को द्रविड़ राजाओं के उत्तर ने अधिक उत्तेजित कर दिया; इससे उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक इन राजाओं को वश में न कर लूँगा, शान्ति से राज्य नहीं करूँगा और इनको पददलित न करूँ तो राज्य-पाट छोड़ दूँगा।

करकण्डु ने सेना सजाकर युद्ध के लिये प्रस्थान कर दिया और रास्ते में तेरापुर नगर में पहुँचा, यहाँ राजा शिवने उसे भेंट चढ़ाई तथा राजा शिव के परामर्श से पास की पहाड़ी की गुफा में भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शन किये। उस पहाड़ी पर चमत्कार की एक बात यह थी, एक हाथी प्रतिदिन उस पहाड़ी पर स्थित एक वामी की पूजा करता था। राजा करण्डु ने उसकी पूजा को देखकर अनुमान लगाया कि निश्चित इस वामी के नीचे कोई देवमूर्त्ति है, अन्यथा यह पशु पूजा नहीं करता, अतः उस वामी को खुदवाया। खुदाई में नीचे भगवान् पार्श्वनाथ की एक मूर्त्ति निकली जिसे वह बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ गुफा में ले आया। इसके पश्चात् वह राजा इधर-उधर भ्रमण करता हुआ दक्षिण पहुँचा तथा चेर, चोल और पाण्ड्य नरेशों की सम्मिलित सेनाओं का सामना किया तथा अपने युद्ध कौशल से उन्हें हराकर अपना प्रण पूरा किया। जब करकण्डु राजा उन पराजित राजाओं के सिर के ऊपर पैर रखने लगा तो उनके मुकुटों में स्थित जिन प्रतिमाओं के दर्शन उसे हुए; जिससे उसे भारी पश्चात्ताप[१] हुआ। उन्हें उसने फिर राज्य देना चाहा, पर वे स्वाभिमानी द्रवड़ाधिपति यह कर तपस्या को चले गये कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही राज्य को चलायेंगे।

जम्बू स्वामी चरित्र से भी अवगत होता है कि विद्युच्चर नामका चोर जम्बूकुमार के प्रभाव के कारण चोरी से विरक्त हो गया था और यह भ्रमण करता हुआ समुद्र के निकट स्थित मलयाचल पर्वत पर पहुंचा। यहाँ से वह सिंहलद्वीप गया, लौटते समय वह केरल आया था। द्रविड़ देश को उसने जैन मन्दिरों और जैन श्रावकों से पूर्व देखा। अनन्तर वह कर्णाटक, काम्बोज, कांचीपुर, सह्यपर्वत, आभीर आदि देशों में भ्रमण करता हुआ

१ हा हा मइं मूढइं किं कियउ, जिण बिंबु विचरणो आहयउ।

किष्किन्धापुर में आया। इस भ्रमण वृत्तान्त से स्पष्ट है कि भद्रबाहु स्वामी के जाने के पहले दक्षिण प्रान्त में जैनधर्म फल-फूल रहा था। यदि वहाँ जैनधर्म उन्नत अवस्था में नहीं होता तो यह विशाल मुनिसंघ, जिसकी कि आजीविका जैन धर्मानुयायी श्रावकों पर ही आश्रित थी, विपत्ति के समय कभी भी दक्षिण को नहीं जाता। बुद्धि इस बात को कभी स्वीकार नहीं करती है कि भद्रबाहु स्वामी इतनी अधिक मुनियों की संख्या को बिना श्रावकों के कैसे ले जाने का साहस कर सकते थे? अतः श्रावक वहाँ विपुल परिमाण में अवश्य पहले से वर्तमान थे। इसीलिये भद्रबाहु स्वामी ने अपने विशाल संघ को दक्षिण भारत की ओर ले जाने का साहस किया।

भद्रबाहु स्वामी की इस यात्रा ने दक्षिणभारत में जैनधर्म के फलने और फूलने का सुअवसर प्रदान किया। बौद्धों की जातक कथाओं और मेगास्थनीज के भ्रमणवृत्तान्तों से अवगत होता है कि उत्तर में १२ वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था और चन्द्रगुप्त मौर्य भी अपने पुत्र सिंहसेन को राजगद्दी देकर भद्रबाहु के साथ दक्षिण में आत्मशोधन के लिये चला गया था। चन्द्रगिरि पर्वत पर चन्द्रगुप्त की द्वादश वर्षीय तपस्या का वर्णन मिलता है। भद्रबाहु स्वामीने अपनी आसन्न मृत्यु ज्ञातकर मार्ग में ही कहीं समाधिमरण धारण किया था। इनका मृत्युकाल दिगम्बर परम्परानुसार वीर नि० सं० १६२ और श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा वी० नि० सं० १७० माना जाता है।

दक्षिण में पहुँचकर इस संघ ने वहाँ जैनधर्म का खूब प्रसार किया तथा जैन साहित्य का निर्माण भी विपुल परिमाण में हुआ। इस धर्म के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से दक्षिण भारत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—तामिल प्रान्त और कर्णाटक। तामिल प्रदेश में चोल और पाण्ड्य नरेशों में जैनधर्म पहले से ही वर्तमान था, पर अब उनकी श्रद्धा और भी दृढ़ हो गयी तथा इन राजाओं ने इस धर्म के प्रसार में बड़ा सहयोग प्रदान किया। सम्राट् एल खारवेल के एक शिलालेख से पता चलता है कि उसके राज्याभिषेक के अवसर पर पाण्ड्य राजाओं ने कई जहाज उपहार भेजे थे। ये सभी राजा जैन थे इसीलिये जैन सम्राट् के अभिषेक के अवसर पर उन्होंने उपहार भेजे थे। इनकी राजधानी मदुरा जैनों का प्रमुख प्रचार केन्द्र बन गयी थी। तामिल ग्रन्थ 'नालिदियर' के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि भद्रबाहु स्वामी के विशाल संघ के आठ सहस्र जैन साधु पाण्ड्य देश गये थे, जब वे वहाँ से वापस आने लगे तो पाण्ड्य नरेशों ने उन्हें आने से रोका। एक दिन रात को चुप-चाप इन साधुओं ने राजधानी छोड़ दी; पर चलते समय प्रत्येक साधु ने एक-एक ताड़पत्र पर एक-एक पद्य लिखकर रख दिया; इन्हीं पद्यों का संग्रह 'नालिदियर' कहलाता है।

तामिल साहित्य का वेद कुरलकाव्य माना जाता है, इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इन्होंने असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इसे लिखा है, जिससे यह काव्य मानवमात्र के लिये अपने विकास में सहायक है। जैनों के तिरुक्कुरल, नालदियर, पळिमोळी, नानुळी. चिन्ता-

मणि, सीलप्पडिकारम्, वलयाप्पदि आदि तामिल भाषा के काव्य विशेष सुन्दर माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त पेरकंदै, यशोधरकाव्य, चूड़ामणि, एलादी, कलिंगतुप्परणी, नन्नूल, नेमिनाद, यप्पांरु, श्रीपुराणं, मरुमंदर पुराणं आदि तामिल ग्रन्थ भी कम प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि व्याकरण, छन्द, अलंकार, दर्शन और जैनागम प्रभृति विभिन्न विषयों के उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर तामिल वाङ्मय को समृद्धशाली और उत्कृष्ट स्थिति में लाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है। जैनाचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा में एक विशाल जैन संघ की स्थापना की थी; इस संघ द्वारा तामिल प्रान्त में जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द ने पोन्नूरग्राम के निकट नीलगिरि नामक पर्वत पर तपस्या की थी, इनके आश्रम में आकर पल्लव वंशी शिवस्कन्दवर्म महाराज ने प्राभृत त्रय का अध्ययन किया था।

तामिल देश के इतिहास में जैनधर्म ई० तीसरी और चौथी शताब्दी में लुप्त प्रायः दिखाई पड़ता है। पाँचवीं और छठीं सदी में शैवधर्म का बड़ा भारी जोर रहा है, फिरभी जैनों की तात्कालीन परिस्थिति का चित्रण वैष्णव और शैवपुराणों में मिल जाता है। सातवीं शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक शैवधर्म के समानान्तर जैनधर्म भी चलता रहा। गंगवाडि के गंगवंशीय राजाओं ने इस धर्म को विशेष प्रोत्साहन दिया, जिससे विधर्मियों के द्वारा नाना प्रकार के अत्याचारों के होने पर इसकी क्षीण रेखा ११ वीं सदी के अन्त तक दिखलाई पड़ती रही।

अनेक विदेशी विद्वानों ने अपने-अपने इतिहास में तामिल प्रान्त की जैनधर्म की उन्नति का वर्णन किया है। विशप काल्डवेल का कहना है कि जैनों की उन्नति का युग ही तामिल साहित्य की उन्नति का महायुग है। इन्होंने तामिल, कनड़ी और दूसरी लोकभाषाओं का प्रचार किया, जिससे वे जनता के सम्पर्क में अधिक आये। सरवाल्टर इलियट के मतानुसार दक्षिण की कला और कारीगरी पर जैनों का अमिट प्रभाव है। तामिल प्रदेश में जैनों के द्वारा ही अहिंसा का विशेष प्रचार हुआ. जिससे जनता ने मद्य, मान्स और मधु भक्षण का भी त्याग कर दिया था। ब्राह्मणों पर जैनों की अहिंसा का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि यज्ञों में भी हिंसा बन्द हो गई जीव हिंसा-रहित यज्ञ किये जाने लगे। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि विग्रहाराधना, पुराणपुरुषों की पूजा, गणपति पूजा, देवस्थान-निर्माण-प्रथा और जीर्णोद्धार-क्रिया प्रभृति बातें शैव और वैष्णव मतों में जैन सम्प्रदाय की देखादेखी प्रचलित हुईं। अतएव तामिल देश में ई० पू० ३०० से लेकर ई० ११०० तक जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ, किन्तु इसके अनन्तर शैव और वैष्णवों के धर्मद्वेष के कारण प्रभावहीन हो गया।

कर्णाटक—इस प्रान्त में जैन धर्म का विस्तार बहुत हुआ; वहाँ की राजनीति, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, विज्ञान, व्यापार प्रभृति सभी बातें जैनधर्म से अनुप्राणित थीं।

अनेक जैन राजाओं के साथ-साथ ऐसे निष्णात विद्वान्, कवि, कलाकार और प्रभावक गुरु हुए, जिनका प्रभाव दक्षिण प्रान्त की कर्णाटक भूमि के कण-कण पर विद्यमान था। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी मामलों में जैनाचार्यों का पूरा-पूरा हाथ था, उनकी सम्मति और निर्णय के उपरान्त ही किसी भी सांस्कृतिक कार्य का प्रारम्भ होता था। भद्रबाहु स्वामी के संघ के पहुँचने के पहले भी यहाँ जैन गुरुओं को सम्मान्य स्थान प्राप्त था। मौर्य साम्राज्य के बाद इस प्रान्त में आन्ध्रवंश का शासन स्थापित हुआ, इस वंश के सभी राजा जैनधर्म के उन्नायक रहे हैं। इनके शासन काल में सर्वत्र जैन-धर्म का अभ्युदय था। इसके पश्चात् उत्तर-पूर्व में पल्लव और उत्तर-पश्चिम में कदम्ब वंश के राज्य इस प्रान्त में स्थापित हुए। कदम्ब वंश के अनेक शिलालेख उपलब्ध हैं, जिनमें इस वंश के राजाओं द्वारा जैनों को दान देने का उल्लेख है। इस वंश का धर्म जैन था।

कदम्ब वंश के समान चालुक्य वंश के राजा भी जैनधर्मानुयायी थे। पल्लव वंश के राजाओं के जैन होने के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता है पर भगवान् नेमिनाथ का विहार पल्लव देश में होने से तथा उस समय के समस्त दक्षिण के वातावरण को को जैनधर्म से अनुप्राणित होने के कारण प्राचीन पल्लव वंश भी जैनधर्म का अनुयायी रहा होगा। चालुक्य नरेशों ने अनेक नवीन जैन मन्दिर बनवाये तथा उन्होंने अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार करया था। कन्नड़ के प्रसिद्ध जैन कवि पम्प का भी सम्मान इस वंश के राजाओं द्वारा हुआ था।

गंगवंश—कर्णाटक प्रान्त में जैनधर्म के प्रसारकों में इस वंश के राजाओं का प्रमुख हाथ है। इतिहास बतलाता है कि दक्षिण-भारतीय गंगराजाओं के पूर्वज गंगानद-प्रदेशवासी इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे। इनकी सन्तान परम्परा में दडिग और माधव नामके दो शूरवीर व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने पेरूर नामक स्थान पर जाकर आचार्य सिंहनन्दी का शिष्यत्व ग्रहण किया। उस समय पेरूर जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था, यहाँ पर जैन मन्दिर और जैन संघ विद्यमान था। आचार्य ने इन दोनों को राजनीति और धर्म-शास्त्र की शिक्षा देकर पूर्ण निष्णात बना दिया तथा पद्मावतीदेवी से उनके लिये वरदान प्राप्त किया। आचार्य की शिक्षा और वरदान के प्रभाव से इन दोनों वीरों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया तथा कुवलाल में राजधानी स्थापित कर गंगवाडी प्रेदश पर शासन किया। गंगराजाओं का राजचिन्ह मदगजेन्द्र लाञ्छन और उनकी ध्वजा पिच्छ चिन्ह से अंकित थी। उस समय जैनधर्म राष्ट्रधर्म था, और इसके गुरु केवल धार्मिक ही गुरु नहीं थे, बल्कि राजनैतिक गुरु भी थे।

दडिग ने जैनधर्म के प्रसार के लिये मंडलि नामक स्थान पर एक लकड़ी का भव्य जिनालय निर्माण कराया, जो शिल्पकला का एक सुन्दर नमूना था। क्योंकि उस

युग के मन्दिर केवल दर्शकों की भक्ति-पिपासा को ही शान्त नहीं करते थे, बल्कि धर्म, साहित्य, संस्कृति के प्रचार के प्रमुख केन्द्र स्थान भी माने जाते थे। गंगराजाओं में अवनीत के गुरु जैनमुनि कीर्तिदेव और दुर्विनीत के आचार्य पूज्यपाद थे। इस वंश का एक राजा मारसिंह द्वितीय था, यह इतना पराक्रमी और साहसी था कि इसने चेर, चोल और पाण्ड्य वंशों पर विजय प्राप्त करली थी। जीवन के अन्तिम समय में इसे संसार से विरक्ति हो गई थी, जिससे इसने विपुल ऐश्वर्य के साथ राज्यपद त्याग दिया और धारवार प्रान्त के वांकापुर नामक स्थान में अपने गुरु अजितसेनाचार्य के सम्मुख समाधिपूर्वक प्राण-त्याग किया था।

गंगवंश के २१ वें राजा राचमल्ल सत्यवाक्य के शासन काल में उसके मंत्री और कवि चामुण्डराय ने श्रवणबेलगुल स्थान में श्रीगोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। चामुण्डराय की वीरमार्त्तण्ड, चूड़ामणि, समरधुरन्धर, त्रिभुवन वीर, वैरीकुल-कालदण्ड, सत्य युधिष्ठिर इत्यादि अनेक उपाधियाँ थी। मन्त्रि प्रवर चामुण्डराय जैन-धर्म के बड़े भारी उपासक थे, इन्होंने अपना गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती को माना है। वीरता के साथ विद्वत्ता भी इनमें पूरी थी, संस्कृत और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। चारित्रसार संस्कृत भाषा में रचा गया इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, कन्नड़ में इन्होंने त्रिषष्ठि लक्षण महापुराण नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है। चामुण्डराय ने जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक कार्य किये हैं। इस प्रकार गंगवंश के सभी राजाओं ने मन्दिर बनवाये, मन्दिरों के प्रबन्ध के लिये भूमि दान की और जैन गुरुओं को सम्मान देकर साहित्य और कला का सृजन कराया। दुर्विनीत, नागवर्म, गुणवर्म प्रथम चामुण्डराय इत्यादि अनेक उल्लेखनीय जैन कलाकार गंगवंश के राज्यकाल में हुए हैं।

गंगवंशकालीन जैन साहित्य और कला—गंगराज्यकाल में संस्कृत और प्राकृत भाषा के साहित्य की विशेष उन्नति हुई। अशोक के शासन-लेखों और सातवाहन एवं कदम्ब राजाओं के सिक्कों पर अंकित लेखों से प्रकट है कि इस युग में प्राकृत भाषा का व्यवहार संस्कृत के साथ-साथ ब्राह्मण और जैन दोनों ही विद्वान् करते थे। ७ वीं और ८ वीं शती में गंगवाडि में अधिक संख्या में आकर जैन बस गये थे, तब वहाँ संस्कृत साहित्य की पवित्र मन्दाकिनी प्रवाहित हुई; जिसकी कल-कल ध्वनि से अष्टशती, आप्तमीमान्सा, पद्म-पुराण, उत्तरपुराण, कल्याण कारक प्रभृति रचनाएँ प्रस्फुटित हुईं।

संस्कृत और प्राकृत के साहित्य के साथ-साथ कन्नड़ भाषा का साहित्य भी उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था; प्राचीन कन्नड़, जो कि साहित्यिक भाषा थी, उसका स्थान नवीन कन्नड़ ने ले लिया था। इसमें पूज्यपाद, समन्तभद्र जैसे युग प्रवर्त्तक प्रसिद्ध आचार्यों ने भी साहित्य का निर्माण किया। इस युग में कुछ ऐसे कवि भी हुए हैं, जो दोनों भाषाओं के—

संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ के विद्वान् थे। गुणवर्म ने गंगराजा ऐरेयप्प के समय में 'हरिवंश' की रचना की थी। इन्हींके समकालीन कवि पम्प बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं, इन्हें कविता गुणार्णव, पूर्णकवि, सज्जनोत्तम आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। इस महाकवि ने लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर आदिपुराण, विक्रमार्जुन विजय, लघुपुराण, पार्श्वनाथपुराण और परमार्ग नामक ग्रन्थों की रचना की है।

पम्प के समकालीन महाकवि पोन्न और रन्न भी हैं। इन दोनों कवियों ने भी कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि में अपूर्व योग दिया है। पोन्न का शान्तिनाथपुराण और रन्न का अजितनाथपुराण कन्नड़ साहित्य के रत्न हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने उभय भाषाओं में ग्रन्थ रचना की है।

कला— गंगवाडि में स्थापत्य और शिल्पकला की विशेष उन्नति हुई थी। उस समय समस्त दक्षिण भारत में दर्शनीय भव्य मन्दिर, दिव्य मूर्त्तियाँ, सुन्दर स्तम्भ प्रभृति मूल्यवान् विशाल कृतियाँ स्थापित हुईं। गंगवाडि की जैन कला बिल्कुल भिन्न रही। गंगवंश के समस्त राजाओं ने जिनालयों का निर्माण कराया था। मन्दिरों की दीवाल और छतों पर कहीं-कहीं नक्कासी और पच्चीकारी का काम भी किया गया था। कोई-कोई मन्दिर दो मंजिल के भी थे और चारो ओर दरवाजे रहते थे। पाषाण के सिवा लकड़ी के जिनालय भी बनवाये गये थे। इस युग में मूर्त्ति निर्माण कला में भी जैन लोग बहुत आगे बढ़े-चढ़े थे; प्रसिद्ध बाहुबली स्वामी की मूर्त्ति इसका ज्वलन्त निदर्शन है। यह मूर्त्ति आज भी दुनिया की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है।

मन्दिरों के अतिरिक्त गंगराजाओं ने मण्डप और स्तम्भों का भी निर्माण कराया था। जैन मण्डप पाँच स्तम्भ के होते थे, चारो कोनों पर स्तम्भ लगाने के अतिरिक्त बीच में भी स्तम्भ लगाया जाता था और इस बीच वाले स्तम्भ की विशेषता यह थी कि वह ऊपर छत में इस प्रकार फिट किया जाता था जिससे तली में से रूमाल आर-पार हो सकता था। ये स्तम्भ मानस्तम्भ और ब्रह्मदेवस्तम्भ, इन दो भेदों में विभक्त थे।

ई० स० १००४ में जब गंगनरेशों की राजधानी तलकाद को चोल राजाओं ने जीत लिया तो फिर इस वंश का प्रताप क्षीण हो गया। इसके पश्चात् दक्षिण भारत में होय्सल वंश का राज्य प्रतिष्ठित हुआ। इस वंश की उन्नति भी जैन गुरुओं की कृपा से हुई थी। इस वंशका पूर्वज राजा सल था। कहा जाता है कि एक समय यह राजा अपनी कुलदेवी के मन्दिर में सुदत्त नामके जैन साधु से विद्या ग्रहण कर रहा था, इतने में वन से निकलकर एक बाघ सल को मारने के लिये झपटा। साधु ने एक डण्डा सल को देकर कहा— 'पोय सल'—मारसल। सल ने उस डण्डे से बाघ को मार डाला और इस घटना को स्मरण रखने के लिये उसने अपना नाम पोयसल रखा, आगे जाकर यही होय्सल हो गया।

गंगवंश के समान इस वंश के राजा भी विट्टिमदेव तक जैन धर्मानुयायी रहे और जैनधर्म के प्रसार के लिये निरन्तर उद्योग करते रहे। जब रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर विट्टिमदेव वैष्णव हो गया, तो उसने अपना नाम विष्णुवर्द्धन रखा। इसकी पहली धर्मपत्नी शान्तलदेवी कट्टर जैनी थी। उसीके प्रभाव के कारण इस राजा ने जैनधर्म के अभ्युदय के लिये अनेक कार्य किये।

विष्णुवर्द्धन का मंत्री गंगराज तो जैनधर्म का स्तम्भ था। श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में कई शिलालेख उनकी दानवीरता और धार्मिकता की दुहाई देते हैं। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम के मंत्री हुल्लास ने भी इस धर्म को दक्षिण में फैलाने का प्रयत्न किया। वस्तुतः मैसूर प्रान्त में इन दोनों मंत्रियों ने तथा चामुण्डराय ने जैनधर्म के प्रसार के लिये अनेक कार्य किये हैं।

होयसल के पश्चात् बड़े राजवंशों में राष्ट्रकूट का नाम आता है, इस वंश के प्रतापी राजाओं के आश्रय से जैनधर्म का अच्छा अभ्युदय हुआ। मान्यखेट इनकी राजधानी थी, इस वंश में अनेक राजा जैनधर्मानुयायी हुए हैं और सभी ने अपने अपने शासन काल में जैनधर्म की प्रभावना की है। अमोघवर्ष प्रथम का नाम दि० जैनधर्म की उन्नति करने वालों में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। यह राजा दि० जैनधर्म का बड़ा भारी श्रद्धालु था, इसने अन्तिम अवस्था में राज-पाट छोड़कर जिनदीक्षा अपने गुरु जिनसेनाचार्य से ले ली थी। अमोघवर्ष ने जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्राचार्य को भी प्रश्रय दिया था। सम्राट् अमोघवर्ष ने अपने उत्तराधिकारी कृष्णराज द्वितीय गुणभद्राचार्य को गुरु के लिये नियुक्त किया था। श्रवणबेल्गोल की पार्श्वनाथबसति शिलालेख से प्रकट है कि सम्राट् कृष्णराज की राजसभा में जैन गुरुओं का आगमन होता था तथा वह उनका यथोचित सत्कार करता थे। इस वंश में उत्पन्न हुए चारों इन्द्र राजाओं ने जैनधर्म को धारण किया था तथा उसके प्रचार और प्रसार के लिये अनेक यत्न भी किये थे। यद्यपि अन्तिम राजा इन्द्र को राज्य की व्यवस्था करने में पूर्ण सफलता नहीं मिली थी, जिससे उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली थी।

कलचुरि वंश—के नरेशों ने तामिल देश पर चढ़ाई की थी और वहाँ के राजाओं को परास्त करके अपना शासन स्थापित किया था। ये राजा जैनधर्म के अनुयायी थे, इनके पहुँचने से तामिल देश में जैनधर्म का प्रसार हुआ था। इस वंश के राजाओं का राष्ट्रकूट नरेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी हुए थे।

इन प्रधान राजवंशों के अतिरिक्त नोलम्ब, सान्तार, चांगल्व, व्योङ्गल्व, पुन्नाट, सेनवार सालुव, महाबलि, एलिनका रट्ट, शिलाहार, चेल्लकेतन, पश्चिमी चालुक्य प्रभृति राजवंशों के अनेक राजा जैनधर्मानुयायी थे। इन वंशों के जो राजा जैनधर्म का पालन नहीं भी

करते थे, उन्होंने भी जैनधर्म की उन्नति में पूरा सहयोग प्रदान किया था। इस प्रकार कर्णाटक के सभी राजाओं ने जैनधर्म का विस्तार किया।

जैन कला और साहित्य—राष्ट्रकूट प्रभृति उपर्युक्त राजाओं के काल में जैन साहित्य और कला की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि जैन कला और जैन साहित्य का विकास इस समय में बहुत हुआ है। राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशों के राज्यकाल में जैनधर्म के प्राबल्य ने समस्त कर्णाटक को अहिंसामय बना दिया था; जिसके फलस्वरूप राष्ट्र खूब फलाफूला, देश में सुख समृद्धि की पुण्यधारा बही। फलतः मानव समाज के हृदय का आनन्द अपनी संकुचित सीमा को पार कर बाहर निकलने लगा, जिससे कला और साहित्य का प्रणयन अधिक हुआ। कला और साहित्य प्रेमी इन राजाओं के दरबार में साहित्यिक ज्ञान गोष्ठियाँ होती थी, इन गोष्ठियों में होने वाली चर्चाओं में राजा लोग स्वयं भाग लेते थे। राष्ट्रकूट वंश के कई राजा कवि और विद्वान् थे, इससे इनकी सभा में कवि और विद्वान् उचित सम्मान पाते थे। धवला और जयधवला टीकाओं का सृजन राष्ट्रकूट वंशीय राजाओं के जन साहित्य प्रेम का ज्वलन्त निदर्शन हैं। दर्शन, व्याकरण, काव्य, पुराण, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद प्रभृति विभिन्न विषयों पर अनेक मौलिक रचनाएँ लिखी गईं।

इस काल के जैन कवियों ने दूतकाव्य और चम्पूकाव्य की परम्परा प्रकट कर काव्य-क्षेत्र में श्रृंगार रस के स्थान पर शान्तिरस का समावेश किया। जिनसेनाचार्य का पार्श्वाभ्युदय, आदिपुराण, वर्द्धमानपुराण, पार्श्वस्तुति; सोमदेवाचार्य का यशस्तिलक चम्पू, नीतिवाक्यामृत; गुणभद्राचार्य का आत्मानुशासन, उत्तरपुराण, जिनदत्तचरित्र; वादिराज का यशोधरचरित, पार्श्वनाथचरित, एकीभावस्तोत्र, काकुत्स्थचरित, न्यायविनिश्चय विवरण और वादमंजरी; महावीराचार्य का गणितसार संग्रह; शाकटानाचार्य का शाकटायन व्याकरण तथा उसकी टीका अमोघवृत्ति प्रभृति संस्कृत जैन रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश भाषा में कवि पुष्पदन्त का महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ; कवि धवल का हरिवंश पुराण, कवि स्वयंभू का हरिवंशपुराण, पउम चरिय, देवसेन का सावयधम्म दोहा और अभयदेव सूरि का जयतिहुयण स्तोत्र इत्यादि ग्रन्थ भी जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कन्नड़ भाषा में भी काव्य, पुराण, नाटक, वैद्यक, ज्योतिष, नीति प्रभृति विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

साहित्य की उन्नति के साथ जैनों ने कला के क्षेत्र में भी प्रगति की थी। राष्ट्रकूट, चालुक्य, कदम्ब, होयूसल इत्यादि वंश के राजाओं ने अनेक जैन मन्दिर और जैन मूर्त्तियों का निर्माण कराया था। यद्यपि जैनों ने अपनी कला को शान्तरस से ओत-प्रोत रखा था तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार मूर्त्ति और मन्दिरों पर बीतरागता की ही भावनाएँ अंकित की थीं, फिर भी सर्वसाधारण के लिये आकर्षण कम नहीं था। अमरेश्वरम् में एक

मन्दिर की छत में संग्राम के दृश्य से अंकित एक पत्थर लगा है, जिसमें किला बना हुआ है, धनुषवाण चल रहे हैं। नगर और कोट का ऐसा सजीव अंकन किया गया है, जो दर्शकों के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। श्रवणगुडी में एक जैनमठ के पास पड़े हुए पाषाणों में एक घुड़सवार अपने भाले से एक पियादे के तलवार के वार को रोकता हुआ दिखलाया गया है। कई चित्र तो शान्ति के मूर्तिमान प्रतीक हैं।

ऐहीले और इलोरा के जैनमन्दिरों के मानस्तम्भ भी मिलते हैं। जैन मानस्तम्भों के विषय में विलहौस सा० ने लिखा है :—

"The whole capital and canopy of Jain pillors are a wonder of light, clegant, highly decorated stone work; and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillors, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends."

अर्थात् जैन स्तम्भों की आधार शिला तथा शिखिर बारीक, सुन्दर और समलंकृत शिल्पचातुर्य की आश्चर्यजनक वस्तु हैं। इन सुन्दर स्तम्भों की दिव्य प्रभा से कोई भी वस्तु समानता नहीं कर सकती। ये प्राकृतिक सौन्दर्य के अनुरूप ही बनाये गये हैं। नक्कासी और महत्ता इनकी सर्वप्रिय है।

कला परिपूर्ण मन्दिर और मूर्त्तियों की प्रशंसा भी अनेक विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है। इस तरह जैनधर्म दक्षिण भारत में अपना प्रभुत्व १३ वीं सदी तक स्थापित किये रहा। शंकराचार्य, शैवानुयायी राजा एवं अन्य धार्मिक विद्वेषों के भयंकर झौंके लगने पर भी इस धर्म का दीपक आज भी दक्षिण में टिमटिमा रहा है।

विविध विषय

(१)

सुहोनिया या सुधीनपुर

प्राचीन समय में सुहोनिया जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। यह ग्वालियर से २४ मील उत्तर की ओर तथा कुतवर से १४ मील उत्तर-पूर्व अहसिन नदी के उत्तरी तट पर स्थित है। कहा जाता है कि पहले यह नगर १२ कोस के विस्तार में था और इसके चार फाटक थे। यहां से एक कोस की दूरी पर विलौनी नामक गाँव में दो खम्भे अभी तक खड़े मिलते हैं; पश्चिम में एक कोस दूर पर वोरीपुरा नामक गाँव में एक दरवाजे का अंश अभी तक वर्तमान है। दो कोस पूर्व पुरवास में और दो कोस दक्षिण बाढ़ा में अभी तक दरवाजों के ध्वंसावशेष स्थित हैं। इन सीमा बिन्दुओं की दूरी नापने पर सुहोनिया का प्राचीन विस्तार बिल्कुल ठीक मालूम होता है।

ग्वालियर के संस्थापक सूरजसेन के पूर्वजों द्वारा आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस नगर का निर्माण किया गया था। कहते हैं कि राजा सूरजसेन को कुष्ठ रोग हो गया था, उसने इससे मुक्ति पाने के लिये अनेक उपाय किये, पर उस भयानक रोग का शमन नहीं हुआ। अचानक राजा ने एक दिन अम्बिका देवी के पार्श्व में स्थित तालाब में स्नान किया, जिससे वह उस रोग से छुटकारा पा गया। इस स्मृति को सदा कायम रखने के लिये उसने अपना नाम शोधनपाल या सुद्धनपाल रखा तथा इस नगर का नाम सुद्धनपुर या सुधानियापुर रखा; आगे चलकर यही नगर सुहानिया, सिहोनिया या सुधानिया नामों से पुकारा जाने लगा। कोकनपुर मठ का बड़ा मन्दिर जो ग्वालियर के किले से दिखलाई देता है, उसकी रानी कोकनवती के द्वारा बनवाया गया था। इस मन्दिर का निर्माण काल ई० २७५ है, इस रानी ने एक विशाल जैन मन्दिर भी सुहानिया के पास बनवाया था। इसका धर्म के ऊपर अटल विश्वास था। सुहोनिया में उस समय सभी सम्प्रदाय-वालों के बड़े-बड़े मन्दिर थे। जैन यक्षिणी देवियों के मन्दिरों का पृथक् निर्माण भी किया गया था। १० वीं शताब्दी तक ब्राह्मण मत के साथ जैनधर्म का प्रसार इस नगर में होता रहा। ४ थी और ५ वीं सदी में सिहोनियाँ के आस-पास ११ जैन मन्दिर थे; जिनका निर्माण जैसवाल जैनों ने किया था।

सन् ११६५-११७५ के बीच में कन्नौज के राजा अजयचन्द ने इस नगर पर आक्रमण किया। इस समय इस नगर का शासन एक राव ठाकुर के अधीन था जो कि ग्वालियर के अन्तर्गत था। इस युद्ध में राव ठाकुर का पराजय हुआ, और कन्नौज

का शासन स्थापित हो गया। लेकिन सुहानिया के दुर्भाग्य का उदय हो चुका था, उसकी उन्नति और श्री सदा के लिये रूठ गयी थी; फलतः कन्नौज के शासक भी वहाँ अधिक दिन तक नहीं रह सके तथा यह सुन्दर नगर उजड़ने लगा। इसका शासन पुनः ग्वालियर के अन्तर्गत पहुँचा, पर इसके अधिकांश मन्दिर, मठ धराशाही होने लगे। मुसलमान बादशाहों की सेना का प्रवेश भी इधर हुआ, जिसने सुन्दर मूर्त्तियों को भग्न किया और मन्दिरों को धूलिसात् कर दिया।

अभी हाल में इस नगर में भूगर्भ से श्री शान्तिनाथ भगवान् की एक विशालकाय १६ फुट ऊँची प्रतिमा निकली है तथा और भी अनेक जैन मूर्तियाँ वहाँ पर विद्यमान हैं। सुनने में आया था कि ब्र० गुमानीलाल को शासन देवता ने स्वप्न में मूर्त्तियों की बात कही थी; उन ब्रह्मचारी जी के कहने पर ही वहाँ के समाज ने उस बीहड़ जंगल में खुदाई की जिसमें अनेक प्रतिमाएँ निकलीं। आज इस क्षेत्र का प्रबन्ध मुरेना के बा० महीपाल जी जैन के मन्त्रित्व में हो रहा है, प्रतिवर्ष अत्र यहाँ पर वार्षिक मेला भी लगता है। खुदाई करने पर अभी और भी मूर्त्तियाँ तथा जैन संस्कृति की अन्य वस्तुएँ निकल सकती हैं। पुरातत्त्वज्ञों ने जंगल में पड़ी हुई जैन मूर्त्ति को देखकर ग्वालियर की रिपोर्ट में लिखा है कि यह मूर्त्ति आज से कम से कम एक हजार वर्ष पहले की अवश्य है।

(२)

कवि वृन्दावन कृत सतसई—सप्तशती

कविवर वृन्दावनजी प्रतिभाशाली कवि थे, इनका जन्म सं० १८४८ में शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में गोयल गोत्रीय अग्रवाल कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द और माता का नाम सिताबी था। इन्होंने चौबीसी पाठ, वृन्दावन विलास,, प्रवचनसार टीका, तीस-चौबीसी-पूजा-पाठ आदि ग्रन्थ लिखे हैं। 'भवन' में उक्त कविवर की एक सतसई है; इसमें ७०० दोहे हैं। इस ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति दी गई है :—

इति वृन्दावनजी कृत सतसइया चैत्र कृष्ण १५ संवत १९५३ गुरुवार आठ बजे रात्रि को आरामपुर में बाबू अजितदास के पुत्र हरीदास ने लिखकर पूर्ण किया सो जैवंत होहु शुभं शुभं शुभं ॥

अतः कविवर के पौत्र द्वारा लिखित इसको प्रामाणिक मानना चाहिये। किन्तु इसके भीतर ऐसे भी अनेक दोहे हैं, जो कविवर के पूर्वकालीन गिरधर, विहारी, रहीम,

तुलसी आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। पता नहीं सतसई के भीतर ये दोहे कैसे आगये ? ग्रन्थ का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है :—

श्रीगुरनाथ प्रसाद तैं, होय मनोरथ सिद्ध।
वर्षा तैं ज्यो तरुवेलिदल, फूलफलन की वृद्धि ॥
किये बृन्द प्रस्ताव को, दोहा सुगम वनाय।
उक्त अर्थ दिष्टान्त करि, दिढ़ करि दिये बताय ॥१॥
भाव सरल समझत सवै, भले लगै हिय आय।
जैसे अवसर की कहो, वानी सुनत सुहाय ॥२॥
नीकीहु फीकी लगै, विन अवसर की बात।
जैसे वरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात ॥

इनकी यह सतसई विहारी के समान शृंगारिक कृति नहीं है, प्रत्युत नीति और वैराग्य से ओत-प्रोत है। इनकी यह रचना जनहिताय ही हुई है, मानव के चरित्र को विकसित करना ही इनका ध्येय रहा है। लौकिक ज्ञान समाज को प्रदान कर उसे व्यवहार कुशल और संयमित बनाने का प्रयत्न कवि का है। वास्तव में साहित्य क्षेत्र में नीति काव्यों का स्थान भी उतना ही ऊँचा और श्रेष्ठ है जितना शृंगारिक रचनाओं का। इस रचना में कवि ने सहृदय मानव समाज में भावों की सभी वृत्तियाँ जागृत कर करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि कोमल वृत्तियों के विकास पर जोर दिया है। यह रचना अत्यन्त सरल, सरस और सद्य प्रभावोत्पादिनी है।

(३)

दूबकुण्ड का ध्वंस जैन मन्दिर

ग्वालियर से दक्षिण-पश्चिम में दूबकुण्ड नामक पुराना जैन मन्दिर है। यह कुनू और चम्बल के बीच में ग्वालियर से ७६ मील दक्षिण-पश्चिम और शिवपुरी से ४४ मील उत्तर-पश्चिम में एक उपत्यका के ऊपर स्थित है। ग्वालियर की सड़क से ९८ मील दूर है। श्री बा० ज्वालाप्रसाद, जो सन् १८६६ में कप्तान मेलविल के साथ उस स्थान का अवलोकन करने गये थे, उन्होंने वहाँ उत्कीर्ण एक लेख को पढ़कर मन्दिर का निर्माण सं० ७४१ बताया; परन्तु कुछ पुरातत्त्वज्ञों ने उसका समय सं० १०८८ या ११४५ कहा है। क्योंकि अन्य उत्कीर्ण शिलालेखों से इस मत की पुष्टि हो जाती है। यह समय श्री विक्रमसिंह महाराजाधिराज के काल में पड़ता है। ग्वालियर के राजाओं की नामावली में इस नाम के राजा का उल्लेख नहीं है, किन्तु ग्वालियर के

युवराज 'कच्छप वंश घट तिलक' कहे जाते हैं, अतः इस कच्छवाह वंशी राजा का सम्बन्ध ग्वालियर से रहा होगा।

दूबकुण्ड का मन्दिर ७५० फीट लम्बा और ४०० फीट चौड़ा अण्डाकार घेरे में है। पूर्व की ओर प्रवेश द्वार है, द्वार के सामने पत्थर में कटा हुआ ५० वर्गफीट का एक तालाव है। यह मन्दिर बिल्कुल गिर गया है। इसके भीतर शिव-पार्वती के मन्दिर का ध्वंसावशेष भी है। वेर और बबूल के पेड़ों का जंगल इतना घना है कि समस्त मन्दिर में घूमना कठिन है। यहाँ की सभी मूर्त्तियाँ जैन हैं। एक मूर्त्ति पर चन्द्रप्रभु का नाम भी लिखा हुआ है। किम्बदन्ती है कि यहाँ प्राचीन काल में जैनियों का मेला भी लगता था। प्राचीन समय में पश्चिम के किसी राजा ने आक्रमण कर यहाँ के मन्दिर को तोड़ दिया था, तथा अनेक मूर्त्तियों को तालाव में डुबा दिया और सोने-चाँदी की मूर्त्तियों को वह ले गया था। मूर्त्तियों को डुबाने के कारण ही इस मन्दिर का नाम डुबकुण्ड अर्थात् दूबकुण्ड पड़ गया है। प्रसिद्धि है कि दोवाशाह और भीमाशाह नामक जैन श्रावकों ने इस मन्दिर को बनवाया था। किन्तु शिलालेख में बताया गया है कि मुनि विजयकीर्त्ति के उपदेश से जैसवाल वंशी दाहड, कूकेक, सूर्पट, देवधर और महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने मन्दिर का निर्माण कराया था जिसके पूजन, संरक्षण एवं जीर्णोद्धार आदि के लिये कच्छवाह राजा विक्रमसिंह ने भूमि दान भी दी थी। मराठा सरदार अमर सिंह ने धर्मान्ध होकर जैन संस्कृति के स्तम्भ इस मन्दिर को नस्त-नाबूद किया था। इस मन्दिर के सम्बन्ध में कहा गया है 'The Jain temple of Dubkund is square enclosure of 81 feet each way; on each side there are ten rooms. The four corner rooms have doors opening outwards, but all the rest open inwards into a corridor, supported on square pillars. The entrance is on the east side, which has, therefore only seven Chapels, there being exactly eight chapels on each of the other three sides. Each chapel is 5 feet 8 inches square.''

अर्थात्—जैन मन्दिर ८१ फीट के घेरे में है, इसमें चारो ओर दस कमरे हैं, चारो कोनों के दरवाजे बाहर की ओर खुलते हैं, बाकी सभी दरवाजे भीतर बरामदे की ओर खुलते हैं, जो कि चोकोर स्तम्भों के ऊपर स्थित है। पूर्व की तरफ सात वेदियाँ हैं और शेष सभी ओर आठ-आठ वेदियाँ हैं। प्रत्येक वेदी ५ फीट ८ इंच के वर्ग की है।

इस मन्दिर में ३१ कमरे जो बाहर की ओर खुलते हैं, उनमें ३१ वेदियाँ और चार कमरे जो भीतर की ओर खुलते हैं, उनमें चार वेदियाँ हैं, इस प्रकार इस मन्दिर में कुल ३५ वेदियाँ हैं। वेदियों में चित्रकारी की गई है, दरवाजों पर भी सुन्दर कारीगरी

है। प्रत्येक दरवाजे के दोनों ओर चार-चार बड़ी मूर्त्तियाँ हैं तथा दरवाजे के ऊपर तीन-तीन बड़ी पद्मासन मूर्त्तियाँ हैं। खम्भे चोकोर हैं, ये ऊपर और नीचे चौड़े हैं, इनके ऊपर चार-चार ब्रेकिटें हैं, जो छत को संभाले हुए हैं। इन खम्भों की ऊँचाई ७ फीट ५ इंच है। दक्षिण-पूर्व के कोने के कमरे की वेदी पर तीन ऊँची खड़ी मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। इनमें बीच की मूर्त्ति १२ फीट, ६ इंच ऊँची और ३ फीट ८ इंच चौड़ी है। यह जमीन में नीचे धसी हुई है। शेष दोनों बगल-वाली मूर्त्तियाँ ९ फीट ९ इंच ऊँची और २ फीट ४ इंच चौड़ी हैं।

मन्दिर भूमिसात् है, इसकी छत गिर गई है, वरामदे की छत के कुछ किनारे के हिस्से लटक रहे हैं। बाहर में तीन यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ भग्न मूर्त्तियों के साथ पड़ी हुई हैं, ये भग्न सभी मूर्त्तियाँ दिगम्बर सम्प्रदाय की हैं। एक स्तम्भ पर तीन पंक्तियों का लेख उत्कीर्ण है—

प्रथम पंक्ति—सं० ११५२ वैशाख सुदि पञ्चम्यां
द्वितीय पंक्ति—श्रीकाष्ठासंघ महाचार्यवर्य श्रीदेव
तृतीय पंक्ति—सेनपादुका युगलम्

नीचे के हिस्से में एक भग्न मूर्त्ति है, जिसपर श्रीदेव लिखा है। एक खड्गासन मूर्त्ति के नीचे निम्न लेख उत्कीर्ण है, इस लेख में संवत और तिथि का जिक्र नहीं है—

लघु श्रेष्ठिनो कार्त्ति श्रीमान वसु प्रतिमा
श्रेठिनी लक्ष्मीः

अर्थात इस लेख में बताये गये 'वसु' वासुपूज्य भगवान हैं, जो कि १२ वें तीर्थंकर हैं। दक्षिण की तरफ १६ इंच के तोरण पर ५९ पंक्तियों का लम्बा लेख उत्कीर्ण है। यह संवत ११४५ का है। इसका प्रारम्भ "ॐ नमो वीतरागाय" से हुआ है। श्रीशान्तिनाथ जिन और श्रीमज्जिनाधिपति आदि नाम भी आये हैं तथा इसमें लाडवागड गण के देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अंबरसेन और शान्तिषेण इन पाँच आचार्यों के नाम भी पाये जाते हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

साहित्य-समालोचना

षटखण्डागम, धवला-टीका-समन्वितः ८ वीं जिल्द—सम्पादकः श्री० प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, डी० लिट्, नागपुर; सहसम्पादकः श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री; प्रकाशकः श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन-साहित्योद्धारक-फण्ड-कार्यालय, अमरावती (बरार); पृष्ठ संख्याः २०+३९८+२८; मूल्य दस रुपये।

यह धवला टीका की आठवीं जिल्द भाषानुवाद समन्वित हमारे समक्ष है। इसमें बन्ध स्वामित्व विचय का प्ररूपण किया गया है। ग्रन्थ के आदि में इस प्रकरण के निरूपण की ओघ—गुणस्थान और आदेश—मार्गणा इन भेदों द्वारा प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् प्रथम प्रकरण में गुणस्थानों में प्रकृतिबन्ध व्युच्छेद, व्युच्छेद के भेद और उनका निरुत्यर्थ, प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति, प्रकृतियों के बन्धोदय की पूर्वापरता, सान्तर, निरन्तर और सान्तर-निरन्तररूप से बंधनेवाली प्रकृतियों का निर्देश, ध्रुव-बंधी प्रकृतियाँ, प्रकृतियों के बंध के स्वामी और तीर्थङ्कर प्रकृति के बंध के कारण आदि बातों का प्ररूपण किया गया है।

दूसरे प्रकरण से लेकर ग्रन्थान्त तक चौदह मार्गणाओं में विस्तार से बन्ध स्वामित्व का विचार किया गया है। कर्मबन्ध के विषय में इस जिल्द से पूरा-पूरा ज्ञान हो सकता है। बात यह है कि बन्धन के चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान इस बन्ध-विधान के भेद प्रकृतिबंध के मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध ऐसे दो भेद होते हैं। उत्तर प्रकृतिबन्ध के एकैकोत्तर प्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ उत्तरप्रकृति बन्ध ये दो भेद हैं।

प्रस्तुत बन्ध स्वामित्व विचय एकैकोत्तर प्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्त्तनादि चौबीस अनुयोग द्वारों में बारहवाँ अनुयोग द्वार है। इस जिल्द में धवलाकार ने तेईस प्रश्नों द्वारा स्वोदय-परोदय, सान्तर-निरन्तर, सप्रत्यय-अप्रत्यय, सादि-अनादि, ध्रुव-अध्रुव आदि बन्धों की व्यवस्था का स्पष्टीकरण किया है।

इस जिल्द का सम्पादन अच्छा हुआ है। टीका का हिन्दी अर्थ शब्दशः दिया गया है, पर कहीं-कहीं भावानुवाद भी है। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय प्रारम्भ में लिखा गया है। बन्धोदय-तालिका जिज्ञासुओं के लिये बड़े काम की है, इसके सहारे भीतर के विषय को सरलतापूर्वक हृदयंगम किया जा सकता है। कागज, मुद्रण तथा अन्यान्य कठिनाइयों के होने पर भी श्री प्रो० हीरालाल जी अपने सत्प्रयत्न में संलग्न हैं, इसके

लिये उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। समाज जिस ग्रन्थराज के दर्शनों के लिये लालायत था वही ग्रन्थराज सभी के समक्ष स्वाध्याय के लिये सुलभ्य है। छपाई-सफाई सुन्दर है, प्रूफ में एकाध जगह अशुद्धियाँ रह गई हैं; फिर भी ग्रन्थ की उपादेयता और सुन्दरता के समक्ष नगण्य हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को अवश्य मंगाकर इसका स्वाध्याय कर पुण्यलाभ लेना चाहिये।

मोक्षमार्ग प्रकाश का आधुनिक हिन्दी रूपान्तर—रचयिताः स्व० पं० टोडरमल; सम्पादक और रूपान्तरकारः पं० लालबहादुर शास्त्री; प्रकाशकः मंत्री साहित्य विभाग भा० दि० जैन संघ चौरासी मथुरा; पृष्ठ संख्याः ८+६०+३६८; मूल्यः आठ रुपये।

यह भा० दि० जैन संघ ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प है। समाज में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो मोक्षमार्ग प्रकाश के नाम से अपरिचित हो। आजतक स्वाध्याय प्रेमियों के सामने इस ग्रन्थ की प्राचीन मारवाड़ी भाषा स्वाध्याय में बाधक थी, पर अब यह कठिनाई दि० जैन संघ मथुरा के प्रयास से दूर हो गई; जिससे साधारण शिक्षित भी जैनधर्म के गहन विषयों का अध्ययन कर सकेंगे। ग्रन्थ के आरम्भ में ही श्री टोडरमल जी लिखित मोक्षमार्ग प्रकाश की प्रति के पत्र का चित्र मुद्रित है, जिससे उनकी हस्तलिपि का परिचय हो जाता है। अनन्तर सम्पादक जी की विस्तृत प्रस्तावना है, इसमें आपने ग्रन्थ का विषय, रचनाशैली, भाषा, भावों का प्रकटीकरण, पं० टोडर-मलजी की कवित्व शक्ति, प्रतिभा उनका गम्भीर अध्ययन तथा उनके जीवन की अन्यान्य घटनाओं पर सुन्दर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ की विषयगत विशेषताओं का निरूपण बड़े अच्छे ढंग से किया है।

श्री पं० लालबहादुरजी ने हिन्दी रूपान्तर इतना सुन्दर और समुचित किया है जिससे ग्रन्थ की मौलिकता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण बनी हुई है और पाठक को उतना ही आनन्द आता है जितना मूल पुस्तक के अध्ययन में। ग्रन्थ के अस्पष्ट विषय को स्पष्ट करने के लिये पाद टिप्पण भी दिये हैं, जिससे ग्रन्थ का आशय भली भाँति हृदयंगम हो जाता है।

ग्रन्थ के अन्त में दो महत्वपूर्ण परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनमें ग्रन्थ के सूत्र वाक्यों को विशदार्थ देकर खुलासा किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ के हृद्य को इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी बुद्धि पर बिना जोर दिये सरलता से जैनागम के उच्चतम विषयों को अवगत कर सकेगा। वास्तव में इसके सम्पादन में अत्यन्त परिश्रम किया गया है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर बन गया है। ऐसे सर्वाङ्गीण

सुन्दर सम्पादन के लिये सम्पादक अभिनन्दनीय है। पाठकों को इसे मंगाकर स्वाध्याय करना चाहिये। छपाई-सफाई, गेटप आदि समस्त चीजें आकर्षक हैं।

कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय-ग्रन्थसूची—सम्पादकः विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री मूडबिद्री; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्याः ३०+३२४; मूल्य तेरह रुपये।

श्री पं० के० भुजबली शास्त्री जैन समाज के माने हुए पुरातत्त्वज्ञ हैं, आपके द्वारा सम्पादित यह सूचि बहुत सुन्दर निकली है। प्रस्तुत सूची-पत्र में जैनमठ मूडबिद्री, श्री वीरवाणी-विलास जैन-सिद्धान्त-भवन मूडबिद्री, जैनमठ कारकल, आदिनाथ ग्रन्थ-भाण्डार अलियूर एवं सिद्धान्त वसदि मूडबिद्री आदि ग्रन्थागारों के ताड़पत्रीय ग्रन्थों की सविवरण नामावली है। सिद्धान्त, अध्यात्म, धर्म, योगशास्त्र, प्रतिष्ठा, व्रतविधान आराधना, न्याय तथा दर्शन, व्याकरण, कोश, काव्य, नाटक, अलंकार, छन्दःशास्त्र, नीति तथा सुभाषित, पुराण, चरित्र, कथा, इतिहास, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित-शास्त्र, मन्त्रशास्त्र, लोक विज्ञान, शिल्पशास्त्र, लक्षण, समीक्षा, पाकशास्त्र, क्रियाकाण्ड, स्तोत्र, भजन तथा गीत एवं प्रकीर्णक विषयिक ग्रन्थों की आकरादि क्रम से सूची दी गई है। इसमें ३५३८ ग्रन्थों की संक्षिप्त परिचय सहित अनुक्रमणिका है तथा लगभग १२५ ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थों की नामावली दी है, जो जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। सम्पादक की प्रस्तावना महत्वपूर्ण और मौलिक है, इससे जैन साहित्य का सामान्य आभास मिल जाता है।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने दक्षिण प्रान्तीय भाण्डारों की ग्रन्थ तालिका का यह प्रथम भाग तैयार कराकर जैन साहित्य का महान् उपकार किया है। क्योंकि जैन साहित्य के प्रमुख निर्माताओं ने दक्षिण प्रान्त को ही गौरवान्वित किया है। दि० जैन साहित्य की शुद्धतम प्रतियाँ दक्षिण के शास्त्रागारों में ही वर्तमान हैं। वहाँ प्रत्येक मन्दिर में ही श्रुत देवता की निधि वर्तमान नहीं है, प्रत्युत कुछ व्यक्तियों के पास भी वाङ्मय के अमर रत्न हैं; जिनके अन्वेषण की नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत अनुक्रमणिका में प्रत्येक ग्रन्थ के सम्बन्ध में कर्त्ता का नाम, पृष्ठ संख्या, प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या, प्रति पंक्ति अक्षर संख्या, लिपि, भाषा, विषय, लेखन काल, दशा, पूर्ण-अपूर्ण, शुद्ध-अशुद्ध आदि बातें दी गई हैं, जिससे पाठक प्रत्येक ग्रन्थ के सम्बन्ध में सामान्य परिचय प्राप्त कर सकता है। तालिका निर्माण में अच्छा परिश्रम किया गया है, कुछ ग्रन्थों के मंगलाचरण भी दे दिये गये हैं। अनुक्रमणिका को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी है।

इस सुन्दर और उपयोगी प्रकाशन के लिये ज्ञानपीठ तथा सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं। प्रत्येक मन्दिर में इसे मगाना चाहिये, जिससे प्रकाशकों को प्रोत्साहन हो और इस तालिका का द्वितीय भाग तैयार कराया जाय। चीज निस्सन्देह अच्छी है, इस एक ही ग्रन्थ से ४००० ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अन्तरंग के समान इसका बाह्य कलेवर भी रमणीय है। साहित्य-प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

मदनपराजय [हिन्दी अनुवाद सहित]—रचयिताः कविवर नागदेव; सम्पादकः प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्याः ६४+१४८; मूल्यः आठ रुपये।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रो० राजकुमार की ७८ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें आपने भारतीय आख्यान-साहित्य को धर्मकथा, नीतिकथा, लोककथा और रूपात्मक आख्यान इन चार भागों में विभक्त किया है। धार्मिक कथा साहित्य का वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों सम्प्रदायों के अनुसार अच्छा ऐतिहासिक वर्णन किया है तथा धर्मकथाओं के विकास को बतलाते हुए जीवन के साथ उनका अनुस्यूत सम्बन्ध बतलाया है। शेष तीन प्रकार के आख्यान साहित्य का भी विकासक्रम की दृष्टि से सुन्दर विवेचन किया है।

प्रस्तावना के अगले अंश में मदन पराजय ग्रन्थ की कथा, उसका आलोचनात्मक परिचय, पात्रों का समीक्षात्मक चरित्र चित्रण, रूपकयोजना, ग्रन्थ की भाषा एवं अन्य रूपकों में प्रस्तुत ग्रन्थ का स्थान, नागदेव कवि का परिचय आदि विषयों का समावेश बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

अनुवाद अच्छा हुआ है, पाठक भाषानुवाद पर से मूल ग्रन्थ को हृदयंगम कर सकते हैं। पारिभाषिक और विशेष शब्दों के अर्थ को अवगत करने के लिये अकारादि क्रम से एक कोश दिया है, जिसके सहारे संस्कृत भाषानभिज्ञ भी ग्रन्थ के भाव को सरलता पूर्वक समझ सकते हैं। ग्रन्थ को सर्वाङ्गीण सुन्दर बनाने का प्रयत्न प्रतिभाशाली, विद्वान् सम्पादक का प्रशंसनीय है। छपाई, सफाई और गेटप अत्यन्त सुन्दर हैं। पाठकों को इसे मंगाकर स्वाध्याय करना चाहिये।

कर लक्खण [सामुद्रिक शास्त्र]—सम्पादकः प्रो० प्रफुल्लकुमार मोदी, एम० ए०; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्याः १४+२२; मूल्यः एक रुपया।

इस ग्रन्थ में ६१ प्राकृत की गाथाएँ हिन्दी अनुवाद सहित दी गई हैं। यह सामुद्रिक शास्त्र की एक छोटी-सी रचना है, इसमें अंगुली और नखों की परीक्षा, मणिबन्ध,

विद्या, कुल, धन, ऊर्ध्व, सम्मान, समृद्धि, आयु, सहोदर-सहोदरा, सौभाग्य, धर्म, व्रत, मार्गण आदि विभिन्न रेखाओं के फलों का निर्देश किया गया है। छोटी-सी कृति में अनेक विषयों का समावेश रचयिता के तज्ज्ञ होने का समुज्ज्वल प्रमाण है। इस रचना के आरम्भ में डा० ए० एन० उपाध्ये का प्राक्कथन संक्षिप्त और मौलिक है, आपने सामुद्रिक शास्त्र की परिभाषा और उसके पूर्वत्य-पाश्चात्य ढाँचे में अन्तर थोड़े ही शब्दों में बता दिया है। सम्पादक की प्रस्तावना भी ग्रन्थ-परिचयात्मक है, इससे साधारणतया विषय का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद मूलानुगामी है, पर इसमें विषय को स्पष्ट करने के लिये हाथ के चित्रों का न देना विषय समझने में अड़चन डालता है। सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञान परिभाषाओं के आधार से कदापि नहीं किया जा सकता है, चित्रों के आश्रय से विषयानभिज्ञ भी इस विषय को समझ सकता है। इसके सिवा एक कमी यह भी रह गई है कि विषय को बिल्कुल स्पष्ट नहीं किया गया है। अन्य सामुद्रिक ग्रन्थों का आधार लेकर यदि प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण किया जाता तो पाठकों को अधिक लाभ होता। अभी तक जैन ज्योतिष शास्त्र के अनेक ग्रन्थरत्न अप्रकाशित पड़े हैं, आज की जैन प्रकाशन संस्थाओं का ध्यान इस ओर नहीं के बराबर है। ज्ञानपीठ ने इस साहित्य के प्रकाशन का श्रीगणेश किया है, इसके लिये अधिकारी वर्ग साधुवादार्ह हैं। ग्रन्थ की छपाई-सफाई अच्छी हैं; अनेक त्रुटियों के रहने पर भी अपने भविष्य फल के जानने के इच्छुक व्यक्तियों को इसे मंगाकर स्वयं अपने सम्बन्ध में भावी शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सामुद्रिक शास्त्र से बिना जन्मपत्री के मात्र हस्तरेखाओं से अपने भविष्य को ज्ञात किया जा सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न [पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार का विषय परिचय]—लेखकः गोपालदास जीवाभाई पटेल; अनुवादकः शोभाचन्द्र-भारिल्ल; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृष्ठ संख्याः १४२; मूल्यः दो रुपये।

प्रस्तुत रचना में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रमुख तीन ग्रन्थ—पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार का सार व्यावहारिक और आध्यात्मिक दृष्टि से संक्षिप्त और नपे-तुले शब्दों में वर्णित है। यह मूल पुस्तक गुजराती में लिखी गई थी, लेखक ने पारिभाषिक और कठिन स्थलों को पादटिप्पणों द्वारा स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। अनुवादक श्री भारिल्लजी ने परिश्रम कर हिन्दी भाषा-भासी जनता के लिये इसे उपस्थित कर बड़ा उपकार किया है। इस पुस्तक के आधार से निश्चय नय और

व्यवहार नय के स्वरूप को पाठक आसानी से समझ सकते हैं, तथा जीवन में इन दोनों का प्रयोग कर उसे उन्नत और विकसित कर सकते हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री बा० लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए० के द्वारा लिखा गया एक वक्तव्य है, जिसमें आपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को समझाया है। पश्चात् उपोद्घात के प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द की जीवनी और उनकी रचनाओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर व्यवहार खण्ड में द्रव्य की व्याख्या, गुण-पर्याय का विवेचन, छहकाय के जीव, आत्मा का स्वरूप, कर्मबन्धन, सर्वज्ञता, चारित्र आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय पारमार्थिक खण्ड में ज्ञान और आचरण का निरूपण बहुत सुन्दर ढंग से किया है। वास्तव में इस रचना से जैनधर्म के प्रौढ़ सिद्धान्तों का ज्ञान थोड़े श्रम से प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञानपीठ ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर स्वाध्याय प्रेमियों के लिये ज्ञानवर्द्धन का अच्छा साधन उपस्थित किया है। छपाई-सफाई अच्छी है, ज्ञान-पिपासुओं को मगाना चाहिये।

वर्णी-वाणी [पं० श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के विचारों का संकलन]— संकलयिता और सम्पादकः वि० 'नरेन्द्र' जैन; प्रकाशकः श्री साहित्य-साधना समिति, जैन विद्यालय काशी; पृष्ठ संख्याः २२+१३३ मूल्यः एक रुपया दस आना।

पुस्तक के प्रारम्भ में श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री की श्रद्धाञ्जलि है, आपने वर्णी जी के जीवन की दो-एक रश्मियों का दिग्दर्शन कराया है।

पश्चात् श्री बालचन्द्र जैन विशारद ने वर्णीजी के जीवन पर यत्किञ्चित् प्रकाश डाला है। पुस्तक में आत्म-शक्ति आत्मनिर्मलता, निराकुलता, रागद्वेष, परिग्रह, पुरुषार्थ धर्म, त्याग की महिमा, मोक्षमार्ग, भक्ति का रहस्य, चारित्र का फल, श्रद्धा, मानवता, शान्ति, स्वदेश, स्वोपकार, परोपकार, आदि विषयों पर वर्णीजी के विचारों का संकलन किया गया है। वास्तव में वर्णीजी का लोकोत्तर व्यक्तित्व महान है, उनकी अन्तरात्मा से निकले हुए प्रवचन संसारी प्राणियों के लिये अत्यन्त कल्याणकारी हैं। श्री नरेन्द्रजी ने पूज्य वर्णीजी के वचनामृतों का संकलन कर मानव समाज का महान् उपकार किया है, जो व्यक्ति वर्णीजी के समक्ष नहीं रहते, वे भी उनके इस संकलन से जीवन में सम्बल प्राप्त कर सकेंगे। यह केवल जैनों की वस्तु नहीं, प्रत्युत मानव मात्र के लिये स्वास्थ्यकर है। इस उपयोगी और सफल प्रकाशन के लिये संग्राहक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। हर्ष तो इस बात का कि स्या० वि० काशी के छात्र श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के सत्त्वावधान में ज्ञानार्जन के साथ-साथ

साहित्य सेवा की ओर भी प्रवृत्त हो रहे हैं; यह जैन ज्ञान-ज्योति के संवर्द्धन और प्रसार का शुभ लक्षण है। हम इस सर्वाङ्गीण सुन्दर प्रकाशन के लिये साहित्य-साधना-समिति की कलाभिरुचि का स्वागत करते हैं। गेटप, छपाई-सफाई आदि निहायत सुन्दर और आकर्षक हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

जैनधर्म—लेखकः श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, काशी; प्रकाशकः भा० दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा; पृष्ठ संख्याः ७+३+३७२; मूल्यः चार रुपये।

इस उपयोगी और महत्वपूर्ण पुस्तक की भूमिका संयुक्तप्रान्तीय शिक्षा-विभाग के मंत्री बा० सम्पूर्णानन्दजी ने लिखी है। आपने इस पुस्तक के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए इसे जैनधर्म के ज्ञान के लिये अतीव उपयोगी बतलाया है। इसमें जैनधर्म के इतिहास, दर्शन, आचार, साहित्य, पन्थ, पर्व, तीर्थ-क्षेत्र आदि विषयों पर समुचित प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक पाँच खण्डों में विभक्त है—प्रथम खण्ड में जैनधर्म का सारगर्भित इतिहास; द्वितीय में जैन दर्शन के अनेकान्त, द्रव्य व्यवस्था, ईश्वर, सृष्टि और कर्म-सिद्धान्त की मीमान्सा; तृतीय में श्रावकाचार और मुन्याचार का विस्तृत विवेचन; चतुर्थ में दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य के दर्शन, व्याकरण, आचार, काव्य, ज्योतिष, वैद्यकप्रभृति विभिन्न अंगों का समुल्लेख, एवं पंचम में जैन संघ, संघ भेद, दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरहपन्थ, बीसपन्थ, तारण-पन्थ, जैन पर्व, जैन-तीर्थ-क्षेत्र, जैनधर्म की इतर धर्मों से तुलना तथा अन्तर इत्यादि बातों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। वास्तव में यह पुस्तक जैनधर्म के सम्बन्ध में सर्वाङ्ग पूर्ण है, इसे किसी भी अजैन विद्वान के हाथों में देने पर गौरव का अनुभव होता है। आजका पाठक आलोचनात्मक ढंग से जिस चीज को पाना चाहता है, इसमें पा लेता है। इस पुस्तक के आद्योपन्त पढ़ने से लेखक की जैन दर्शन विषयक अलौकिक विद्वत्ता एवं जैन इतिहास विषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

आजके लेखक को जिस संयम और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में उसका पूर्णतः निर्वाह है। इसीलिये पुस्तक में अनावश्यक विस्तार नहीं है। निस्सन्देह अबतक इस सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तकों में यह सर्वोत्तम है। पुस्तक का भाषा प्रवाह ऐसा खर है, जिससे पाठक प्रारम्भ करने पर अन्त किये बिना नहीं छोड़ सकता है; वह बरबस बीच में रोकने की इच्छा करने पर भी लुढ़कता-

पुदकता किनारे लग ही जाता है। धार्मिक साहित्य जो कि आज की दुनिया के पाठकों के लिये उपेक्षा की चीज है, इस पुस्तक के अध्ययन से यह बात भ्रान्त सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगी। ग्रन्थ की शैली रोचक और आशु बोधगम्य है, व्यवस्थित विषय का अंकन हृदय पटल पर पढ़ते ही होता चला जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इस सुन्दर और उपयोगी पुस्तक को शीघ्र हाथों हाथ खरीद कर अन्य दूसरी इस विषय की अनुपम रचना लिखने के लिये शास्त्रीजी बाध्य करें; जिससे जैन साहित्य आजके राष्ट्रीय और नैतिक साहित्य में अपना उचित स्थान पा सके। छपाई-सफाई, गेटप आदि सुन्दर हैं।

ब्र० चन्दाबाई जैन

राजुल काव्य—रचयिताः कवि बालचन्द्र जैनः प्रकाशकः साहित्यसाधना-समिति, जैन विद्यालय काशी। पृष्ठ १२२, छपाई-सफाई और कागज उत्तम, मूल्य १॥)

पुस्तक के प्रारम्भ में श्री० ब्र० पं० चन्दाबाई जी की आलोचनात्मक विद्वत्तापूर्ण सुन्दर भूमिका है। आपने इसमें राजुल काव्य की विशेषताओं पर पूरा प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ का कथानक—"द्वारकाधीश समुद्र विजय के सुपुत्र—भगवान नेमि का विवाह, गिरिनगर की राजकुमारी राजुल के साथ हो रहा था, बारात अभी पहुंच रही थी, भगवान नेमि ने देखा और सुना कि—ये बहुत से पशु बाराती मांसाहारी राजाओं की तृप्ति के लिए लाये गये हैं। करुणा-समुद्र उमड़ा, पशुओं को प्राणदान दिया और आप साधु होने के लिए गिरिनार पर्वत चल दिये। राजुल समझाने गई और स्वयं साध्वी होगई।

भाषा सरल, भाव कोमल, गुण प्रसाद, कल्पनाएं मधुर और इतिवृत्त संक्षिप्त है पौराणिक कथानक परिवर्त्तन से निखर उठा है; राजुल की विरह, वेदना और टीस को कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है।

सुकुमार काव्याङ्गों के उपयुक्त अलंकार भी हैं। कहीं २ "विचर रहे" "विसार रहे" "अवरोध हुआ" आदि में अनुप्रास या तुकबन्दी का पालन नहीं हुआ। "हास औ प्रति (!) हास" (७७ पद्य) "किन्तु स्मरण (!) भी" "मैं न (!) मानूं (९४ पद्य) आदि में मात्राओं की कमी, "तुम्हारे (!) को क्यों प्रेमी मानूं" "पद्य की—अनुगामी (!) व्याकरण-विरुद्ध, "परिणीत कियातूने (!) मुझको, "अधिकार कहां तुझको (!)" आदि में एक वचन-प्रयोग सौन्दर्य-विरूपक हैं; तथापि प्रथम प्रयास में ही कवि बहुत कुछ

सफल हुआ है। राजुल के त्याग और आत्म-सम्मान को कवि [illegible] में लाने के लिए अनुप्राणित हुए हैं और "नारी तो तन, मन, जीवन दे" नारी न कभी इतनी ओछी होती जितना नर बन जाता" आदि पद्यों को उन्होंने लिखा है परन्तु भगवान् नेमी के उच्च आदर्श को "जितना ओछा नर बन जाता" कह कर विरुद्ध—अर्थ प्रतिपादन किया है। हम कवि और उनकी कलम के प्रति शुभ कामना रखते हैं। रचना सरस, सुन्दर और हृदय स्पर्शी है। इसका अधिक प्रचार होना आवश्यक है।

[illegible]कुमार काव्यतीर्थ

भाग्यफल [भाग्य-प्रकाशक मार्तण्ड] —ले० पं० नेमिचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य; प्रकाशकः कान्तकुटीर आरा; पृष्ठ संख्याः १३१, मूल्यः सजिल्द एक रुपया दस आना, अजिल्द एक रुपया आठ आना।

जिसके पास जन्मपत्री नहीं है, वे व्यक्ति भी अपने शुभाशुभ फल को इस पुस्तक के आधार से जान सकते हैं। लेखक ने इसमें भारतीय ज्योतिष के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधारपर स्वभाव, चरित्र, विवाह, आय-व्यय, सन्तान, रोग, उन्नति, अवनति, मृत्यु आदि विभिन्न बातों का सुन्दर प्रतिपादन किया है। साधारण जनता भी केवल अपने उत्पत्ति के महीने से ही सारे फलादेशों को अवगत कर सकती है। पुस्तक की शैली रोचक, और आकर्षक है। वास्तव में लेखक ने इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी में ज्योतिष विषय का सृजन करके हिन्दी भाषा-भाषी जनता का उपकार किया है। देश को आज राष्ट्र भाषा में विभिन्न प्रकार के साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। ज्योतिष भारत वर्ष का प्राचीन विज्ञान है, आज इसका प्रचार हिन्दी में अवश्य होना चाहिये। यह पुस्तक नितान्त उपयोगी है, साधारण जनता के काम की है, इससे साक्षर या निरक्षर सभी प्रकार के व्यक्ति अपने भाग्य को बिना ज्योतिषी के अपने आप जान सकते हैं। फल प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है और आशा है कि बिल्कुल यथार्थ घटेगा। छपाई-सफाई अच्छी है, भाषा साहित्यिक है। पाठकों को इसे मगाकर अपना फल स्वयं ज्ञात करना चाहिये।

तारकेश्वर त्रिपाठी, ज्योतिषाचार्य

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का वार्षिक विवरण

[२५-५-४७—११-६-४८]

वीर संवत् २४७३ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी से वीर संवत् २४७४ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी तक 'भवन' के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ७१५४ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। इधर जबसे भारत को स्वातन्त्र्य की प्राप्ति हुई है, समाचार-पत्र पढ़नेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। नगर के मध्य में 'भवन' के रहने से समाचार-पत्रों के पढ़नेवाले पाठक अधिकाधिक संख्या में आते हैं, इनमें से अधिकांश ऐसे भी हैं जो दर्शक रजिस्टर में हस्ताक्षर नहीं करते; अतः इस प्रकार की कृपा करनेवाले व्यक्तियों की संख्या भी हस्ताक्षर करनेवाले व्यक्तियों से कहीं अधिक है।

विशिष्ट दर्शकों में श्रीमान् वाई० सी० पद्मराजैय्या, प्रोफेसर महाराजा कालेज मैसूर; श्रीमान् पं० जनार्दन मिश्र वेदाचार्य डुमरांव, श्रीमान् पं० रामदास ज्योतिषाचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी; श्रीमान् एम० बी० इन्सपेक्टर पंजाब नेशनल बैंक; श्रीमान् सी० बूलके रिसर्च स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी; श्रीमान् पी० सी० खुशाल जैन एम० ए० साहित्याचार्य काशी एवं बाबा राघवदास आदि विद्वानों के नाम उल्लेख योग्य हैं। इन विद्वानों ने अपनी शुभ सम्मतियों द्वारा 'भवन' की सुव्यवस्था और उसके संग्रह की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। 'भवन' के प्राचीन मूल्यवान संग्रह का विवरण विश्वमित्र और आर्यावर्त दैनिक पत्रों में भी प्रकाशित हुआ है।

प्रकाशनः—'भवन' के इस विभाग से जैन-सिद्धान्त भास्कर तथा जैन एण्टीक्वेरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है, इसके भाग १४ के सम्बन्ध में प्रो० सुरेन्द्रनाथ घोषाल, प्रो० जगन्नाथराय शर्मा, और श्रीमान् तेजनारायणलाल सदाकत आश्रम पटना ने अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मतियाँ भेजी हैं। आप लोगोंने भास्कर की ठोस सामग्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसे जैन इतिहास का एक उपयोगी ग्रन्थ बतलाया है।

परिवर्तनः—इस वर्ष भी प्रतिवर्ष के समान 'भवन' के प्रकाशन से परिवर्तन में ग्रन्थ लिये गये। निम्नलिखित पत्र पत्रिकाएँ भी 'भास्कर' के परिवर्तन में आती रही हैं—

हिन्दी—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) सम्मेलन पत्रिका (३) साहित्य सन्देश (४) अनेकान्त (५) विज्ञान (६) आजकल (७) किशोर (८) वैद्य (९) हिमालय (१०) जिनवाणी (११) जनवाणी (१२) संगम (१३) जैन महिलादर्श (१४) दिगम्बर जैन (१५) आरोग्य (१६) आत्मधर्म (१७) जैन जगत (१८) जैन बोधक (१९) वीर-वाणी (२०) महावीर सन्देश (२१) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (२२) वीर (२३)

भारतीय समाचार (२४) वीर लोंकाशाह (२५) जैन मित्र (२६) जैन सन्देश (२७) जैन गजट (२८) जयहिन्द—दैनिक का साप्ताहिक विशेषाङ्क (२६) भविष्य फल।

गुजराती—जैन सत्यप्रकाश

कन्नड़—(१) जयकर्णाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

तेलगु—आन्ध्र साहित्य परिषद् पत्रिका।

अंग्रेजी—(1) Annalas of the Bhandarkar oriental research istitute Poona (2)The journal of the university Bombay. (3)Karnatak historical revew. (4) The Adhyar library bulleten (5) The journal of the United province historical society. (6) The journal of Annamalia university. (7) The Poona orientalist. (8) The quarterly of my wic society. (9) (10) The journal of the Rayalasiatic society of Bengal. (11) The journal of the Royalasiatic society of Bombay. (12) The Fergusson Cellege magazin (13) The journal of the Bihar and Orissa research society. (14) The journal of the Benares Hindu university. (15) The Andhra university college magazine and chronical. (16) The journal of the Sindh historical society. (17) The journal of tanjore saraswati library. (18) The Bombay theosophical bulletin. (19) The Jain jezele (20) The Indian litrary review. (21) The Journal of the Ganganath Jha research institute Allahabad. (22) The Brahim bidya (23) Himalayant imes.

इस प्रकार भास्कर के परिवर्तन में कुल ५७ पत्र-पत्रिकाएँ आती रही हैं। इनके अतिरिक्त the Indian historical quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक संसार (५) दैनिक संसार (६) आज (७) सन्मार्ग (८) विश्वमित्र (९) आर्यावर्त (10) The Searchlight (11)The Indian nation (12) भारत (१३) लीडर ये पत्र मूल्य देकर 'भवन' में मँगाये जाते रहे हैं।

पाठक—भवन के सामान्य पाठक वे हैं, जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं; क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इन पाठकों के अतिरिक्त विशेष नियम से कुछ लोगों को घर ले जाने के लिये भी ग्रन्थ दिये गये हैं। इन ग्रन्थों की इस वर्ष की संख्या ४५२ है। इनमें स्थानीय व्यक्तियों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री स्याद्वाद विद्यालय काशी; श्रीमान् प्रो० गो० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य काशी विद्यापीठ बनारस; श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री वर्णी-ग्रन्थ माला काशी, श्रीमान् बा० कामताप्रसादजी जैन एम० आर० ए० एस०; श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट् कोल्हापुर; श्रीमान् रामसिंह तोमर एम० ए० रिचर्स स्कालर शान्तिनिकेतन बंगाल; श्रीमान् अगरचन्द नाहटा बीकानेर;

श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी, श्रीमान् कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' पटना; श्रीमान् बा० रामबालक प्रसाद पटना; श्रीमान् रजनीकान्त शास्त्री बक्सर; श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द शाह घड़ियालीपोल, बड़ोदा; श्रीमान् प्रो० राजकुमार साहित्याचार्य बड़ौत; श्रीमान् पं० परमानन्द शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; श्रीमान् सी० बूलच्छे जर्मन स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी।

संग्रह—पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित संस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती एवं हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ५० ग्रन्थ और अंग्रेजी के १०, इस प्रकार कुल ६० ग्रन्थ संग्रहीत हुए।

'भवन' को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करनेवालों में दिगम्बर जैन स्त्री समाज आरा, श्रीमान् बा० हेमेन्द्रचन्द्र जैन आरा एवं व्यवस्थापक आर्चेलोजिकल मैसूर आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ—(१) महाबन्ध (महाधवल-सिद्धान्त-शास्त्र) (२) दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ (३) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त जैन इतिहास (४) आत्म समर्पण (५) आधुनिक जैन कवि (६) मुक्तिदूत (७) पथचिन्ह (८) षट्खण्डागम (धवला टीका ८ वीं जिल्द) (९) मदन पराजय (१०) कल्लक्खण (११) कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थ-सूची (१२) कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (१३) तत्त्वार्थ सूत्र (१४) मोक्षमार्ग प्रकाश (१५) जैनधर्म (१६) वर्णी वाणी (१७) राजुलकाव्य (१८) भाग्यफल।

साहित्यिक और धार्मिक सभाएँ—आरा नगर में भवन के जैसा विशाल और सुरम्य दूसरा प्राङ्गण नहीं है, इसलिये इस प्राङ्गण में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक समारोह प्रायः प्रत्येक महीने में होते रहते हैं। श्रुतपंचमी और महावीर जयन्ती इन धार्मिक समारोहों के साथ-साथ शाहाबाद जिला-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन और सांस्कृतिक जागरण समिति के नैमित्तिक समारोह भी होते रहे। शाहाबाद जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से तुलसी जयन्ती का समारोह इस भवन में ऊँचे पैमाने पर मनाया गया था, जिसमें बाहर के विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे।

इस वर्ष लगभग दो सहस्र रुपये व्यय करके 'भवन' की पूरी बिल्डिंग पर 'रंग' कर दिया गया है तथा अलमारियोंपर पालिस भी करा दी गयी है; जिससे भव्य भवन की शोभा और भी अधिक बढ़ गयी है।

देवाश्रम, आरा
१२-६-४८

चक्रेश्वर कुमार जैन
बी० एस-सी०, बी० एल०
मंत्री, श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIV JULY, 1948. No. I

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at :

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XIV No. I | ARRAH (INDIA) | July. 1948.

MOHEN-JO-DARO ANTIQUITIES & JAINISM.

By

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Mohenjodaro antiquities mark an epochmaking discovery in regard to the civilisation of India. It pushes back the begininng of our historical data by thousands of years; but it is not sound to consider the Indus civilisation as pre-Aryan or non-Indian. We have reasons to believe that Indus civilisation is a creation of Aryans, whose home was nowhere else than India. To wit in the words of Prof. Humayun Kabir, "there have been scholars who doubt whether Mohenjodaro represents a pre Aryan culture at all. They believe that India was the original home of the Aryans and Mohenjodaro marks only an early stage in the development of Aryan culture."[1] Ofcourse the Aryans, who created the high level of civilisation in Indus valley, were not of Vedic pursuasion. Sir John Marshall was emphatic on the point when he remarked that "a comparison of the Indus and Vedic cultures shows incontestably that they were unrelated...... The Vedic religion is normally aniconic. At Mohenjodaro

1. *Humayun Kabir*, 'Our Heritage (Bombay), p. 12.

and Harappa iconism is everywhere apparent. In the houses of Mohenjodaro the fire pit is conspicuosily lacking"[2] However it has been pointed out somewhere that a reference to the image of Indra is traceable in Rigveda, but it certainly does not establish the fact that iconism was in vogue among the Rigvedic people, as it was within the folds of Indus valley.[3] At any rate the Vedic people never worshipped and made such images of Yogis as are found at Mohenjodaro. Viewing the numerous seals, terracotta figures and icons of the Mohenjodaro and Harappa antiquities, which form the concrete evidence to determine about the religious belief of the people, one finds a parallel line of two streams of human thought working among the Indus people. One section of people was not highly civilised. It observed premitive ideas and conventions and had little regard for Ahimsa, They worshipped Shiva Linga, Mother Goddess & trees and offered goats to them in sacrifice. Shiva as a deity is obscure in Vedic literature. Reference to Rudra does not signify the prevalance of Shiva worship in the Rigvedic society. Rather the Rigvedic people were antigonastic towards those who worshipped Shishnadeva (phallus) as deity.[4] Thus Mohenjodaro people of the non-Ahimsa purpuasion were not related with the Aryans of Rigvedic culture. But at the same time in contrast to these people, there existed a more civilised and cultured society of people at Mohenjodaro, who were true followers of Ahimsā and Yoga. They observed Yogadharma and their Yogis lived a life of abstinence and penance, which was more akin to the religious observance of a Jaina Yogi. There are reasons to believe that they were followers of Rishabha cult of yore, which afterwards came to be known as Jainism.

Regarding the racial affinity of the Mohenjodaro people, it is said that they were either connected with Sumerians or came from Dravidian stock. Prof Pran Nath deciphired a copperplate grant

---

2. *Sir John Marshall.* Mohenjo-daro, Vol. I. pp. 110-111.
3. cf. 'मा शिश्नदेवा अपि गुर ऋतं नः'—ऋग्वेद, ७।२१।५
'स वाजं या ताप दुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परिषदत् सनिष्यन् ।
4. अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभिवर्पसा भूत् ॥
—ऋग्वेद १०।९९।३

of the Babylonian king Nebuchadnezzar I (circa 1140 B. C.) found in Kathiawar, which disclosed that that king belonged to Sumer tribe and was the lord of Rewānagar. Nebuchdanezzar is mentioned in it, as to had visited Mt. Revata and paid homage to Tirthankara Nemi.[5] According to certain Indian opinion the Sumerians originally belonged to Surashtra tract of India and their religion was akin to Jainism.[6] It shows that Sumerians were not totally unacquainted of Jainism, rather they betray Jaina influence in their early beliefs. Hence if Sumerians were concerned with Indus civilisation then it is not strange to find similarities between the Jaina and Indus people observances.

But the general tendency of the scholars is towards the hypothesis that the Indus people were of Dravidian stock. In this respect Western scholars uphold that Dravidians were not Aryans and came from Tūrāna But Indian tradition regards them as Kṣatriyas, who were degraded to Vraṣalhood owing to having remained out of touch of Vedas and Brahmanas. It shows that although these Dravidians were Ksatriya Aryans, but they were not the followers of the Vedic religion Manu makes them along with Lichhavi Jñātra and other Kṣatriyas as Vrātyas[7], who again can be the Jainas and none else.[8] The Jaina tradition too, claims that the progeny of Prince Dravida who was the son of Rishabha, the first Tirthankara, came to be known as Drāvidas and there had been prince-ascetics, known as Dravida Narindas in to Jain tradition, who are worshipped even today by the Jainas.[9] It is evident also from Tholkappyam the ancient grammar of the Tamils that the Dravidians were equally civilised like Aryans and were acquainted with the tenets of Jainism[10] Jainism played an important role among the Dravidians So rightly remarks Major General J G.R

5. 'Times of India', 19th March, 1935, p. 9 & "जैन" (गुजराती) भा०
—३६ अंक २ पृ० २

6. 'विशालभारत' भा० २८ पृ० ६६२
7. Manu.
8. *A. Chakravarti,* Jaina Gazette, Vol. XXI. pp. 6 *K. P. Jayaswal,*
—Modern Review, 1929, p. 499.

9. Satrunjaya-mahātmya.
10. Jaina Literature in Tamil (Arrah) pp. 10-14.

Furlong that "All Up or, Western, North Central India was then-say 1500 to 800 B. C. and, indeed, from unknown times—ruled by Turanians, convinient called Dravids and given to tree, serpent and Phalik worship......but there also then existed thoughout Upper India an ancient and highly organised religion, philosophikal, ethikal and severely ascetikal, viz., Jainism, out of which clearly developed the early ascetikal features of Brahmanism and Buddhism."[11] Thus Dravidians, too, were under the influence of Jainism from a very early period and as such, if they are the real founders of Indus civilisation, they would naturally betray the influence of Jainism in their creations.

The antiquities of Mohenjodaro & Harappa, if studied in keeping the above facts in view and giving credit to the Jaina tradition that Jainism prevailed long before Pārsvanātha and Mahāvīra, betray evidence of the Jaina influence in the following aspects :—

1. *Nudity*—Nudity had been an essential characteristic of the Jaina Sramanas.[12] Rishabha, the first Tirthankara, observed the vow of the nudity and his images are found as nude. People of Mohenjodaro also held nudity with esteem and as a sacred thing. Nude figures of male as well as of a certain female are found at Mohenjodaro. These figures depict personages who are but no other than Yogis.[13]

2. *Yogadharma*—A number of statuettes have been recovered at Mohenjo which are characteristic by halfshut eyes, the gaze being fixed on the tip of the nose. "These statuettes clearly indicate that ......the people of the Indus Valley in the Chalcolithic period not only practised Yoga but worshipped the images of the yogis.[14]" We are informed that "Not only the seated deities engraved on some of the Indus Seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus Valley in that remote age, the standing deities on the seals also show Kayotsarga posture of Yoga

11. Short Studies in the Science of Comparative Religions, pp. 243-4.
12. 'Nudity of the Jain Saints' by C. R. Jain (Delhi).
13. Mohenjodaro, Vol. I. pp. 33-34.
14. Survival of the Pre-historic Civilisation of the Indus Valley. (Memoir of the Arch: Survey of India).

......**A standing image of Jina Rishabha in Kayotsarga posture on a stele showing four such images assignable to the second century A. D. in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura (was reproduced in the "Modern Review" for August 1932).** It will be seen that the pose of this image closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals ...The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jina Rishabha. The standing deity figured on seals three to five (pl. II) with a bull in the foreground may be the proto-type of Rishabha."[15] In the Digambara Jaina text ADIPURANA, (Book xxi) a full exposition of Dhyana (Meditation) is given and in it there is an instructive account of the Yoga postures. Regarding the pose of the eyes it is stated in it (xxi, 62) "Natyunisan na catyamtam nimisan"— 'Neither keeping the eyes wide open nor totally shutting them up.' As to Yoga postures, the author of Adipurana (xxi. 71) writes: with the mind distracted, how can one practise Dhyana? Therefore the easy postures Kāyotsarga and Paryank are desirable: other postures are painful." This Kāyotsarga (dedication of body in standing) posture is peculiarily Jaina Hence it is most probable that the people of Indus Valley followed the Yoga cult of Tirthankara Rishabha, who according to the Hindu Purāṇa was responsible to introduce the Yoga system of Paramhaṃsa type and was counted as eighth Avatār of Vishṇu.[16]

3 *Adorable Deities*—Apart from the Mother Goddess & phallus worship the people of Indus adored some other deities, which can be traced in the figures on seals. Prof. Pran Nath deciphired the inscription of the Indus seal No. 449 and he read on it the word 'Jinesvara" (जिनइइसरः)[17], which is a peculiar term by which a Jaina Tirthankara is known. It points out that worship of Jaina Tirthankaras was not obscure at that period. Besides this, Prof. Prān Nāth was of opinion that Indus people worship such Tantrik deities as Śrī, Hṛī, Klīṃ etc.[18] In the Jain pantheon Śrī, Hṛī Dhrati, Kîrti, Buddhi and Lakshmî are important female deities.[19] Hence we

---

15. *R. P. Chanda,* Modern Review, August 1932, pp. 155-160
16. Bhāgavata,
17. Indian Historical Quarterly, Vol. VIII Supplement, p. 18,
18. Ibid
19. Tattwārthdhigama-Sūtra,

think Prof. Pran Nath was right to remark that "the names and symbols on plates annexed (IHQ. viii, supl.) would appear to disclose a connection between the old religious cults of the Hindus and Jainas with those of the Indus people...... It is interesting to note that the Puranas and the Jaina religious books both assign high places to these gods (of the Indus people)."[20]

4. *Mode of worship*—There is nothing to show the mode of worship, which the people of Indus Valley observed. But, however, a certain vessel similar to those used in Jaina temples for Ārati ceremony were found at Mohenjodaro,[21] which indicates that Indus people observed the Arati worship like Jainas.

5. *Sacred Symbols*—Mohenjodaro seals and tablets contains representations of the bull, buffalo, rhinoceras, tiger, elephant, crocodile, goat, svastika and tree. Animals portrayed on these seals, whether mythical or real, had some sacred or magical import in the eyes of their owners.[22] Those are the very representations which are found on the images of the Tīrthankaras as their respective emblems.[23]

6. *Traditional Data*—Details of the impressions on the Indus seals reveal the traditional data vogue among the people. Seal No. 1 on plate cxvi, and 7 on pl. cxviii represent six nude human figures on the obverse in the upper register, standing in a row. A kneeling figure in the lower register holds a bladed object in one hand. A goat stands in front of the figures and a partly defaced tree in front of the goat There is a human figure in the centre of the tree. The same scene is found on the reverse. "The scene has been interpreted as showing a priest about to sacrifice a goat to a tree-spirit."[24] But why the priest is hesitating? And what the six Yogis have to do with the scene? This has not been explained. I think the six nude human beings are Yogis of Rishabha cult, who proclaimed Ahimśa culture and are depicted in the impression to have influenced the priest, who is hesitating to sacrifice the goat. Such pictures are

---

20. Indian Hist. Quarterly' Vol. VIII Supplement, pp.
21. Mohenjodaro, I. p. 69.
22. Ibid, p. 71.
23. Pratiṣṭhāsāroddhāra.
24. *Law*, Ind. Hist. Qrly. Vol.

seen among the Jainas. The nudity and Kāyotsarga posture of these Yogis are essential characteristics of a Jaina Śramaṇa. In the Jaina pantheon six Chāran-Yogis, who were Yādava princes are held in great reverence.[25] It is probable that those very Charan-Yogis are shown here propagating the Ahinsā culture.

7. *Images*—Nude images had been unearthed at Mohenjodaro and Harappa. Image No. 15 & 16 of plate xiii represents a seated image with a hood over its head. A Jaina at the very first glance will say that this image is either of Tīrthankara Supārśva or Pārśva. Images similar to it are found in abundance in the Jaina temples. An interesting terra-cotta figure also represents a man standing full front in complete nudity, (HR 5368, pl. xciv, pp 11) which probably represents a naked Jaina Yogi. A statuette from Harappa (pl. x) likewise seems to represent a Jaina Yogi in Kayotsarga posture. Unfortunatily this statuette is broken and its portions of head and legs are missing, yet its nudity and position of both the arms indicate that it was a representation of a Digambar Jain Yogi.

Thus viewing these similarties of Mohenjodaro antiquities, one is justified to regard Jaina tradition as concrete, which claims a hoary antiquity to its Tirthankaras. I hope, the scholars will make thorough research in this respect.*

---

25. Antagada-Dasao (Ahmedabad) p. 10.

*Submitted to the Indian History Congress for reading in its Bombay session of Decr. 1947.

HEROES OF THE JAIN LEGENDS.

By

(Dr. Harisatya Bhattacharya, M.A., B.L, Ph. D)

Contd from Vol. XIII No. II. pp. 18-29.

There was a talk of Sitā's being taken back. To disarm popular suspicions, Rāma proposed the ordeal of fire for Sitā. Sitā agreed. According to the Jaina account, the gods made Sitā's fire cool and when Sītā entered it,—lo! there was a beautiful tank and an extensive lotus in it, upon which Sītā was found sitting. There could not be any possible objection now. But Sitā herself was disgusted with the ways of the world; so when her innocence and chastity were established beyond all possible cavils, she took initiations from Prithvīmati, the bader of nuns and entered the order. The Jaina account of Prithvīmatī, the nun, initiating Sitā is scarcely less poetic, though more realistic, than Vālmiki's story of Prithvī, the mother-earth, taking her away. We need hardly remind the readers that Vālmiki's Rāmāyaña discribes Sitā's fire-ordeal as happening at Lankā, after the battle with Rāvaña and her rescue

As regard the death of Rāma and Lakshmaña, the Jainas say that a god, wanting to test the affection of the two brothers for each other, came down and kept Rāma senseless. He informed Lakshmaña that his brother was dead, which was more than Lakshmaña could bear. Lakshmaña died. Rāma coming back to his senses became mad at the sight of Lakshmaña's corpse. He carried the dead body on his shoulder for full six months on the belief that it was still alive. At last some gods convinced him of the utter futility of his act, where upon he got himself initiated into the religious order. Sugrīva, Bibhīshaña, Śatrughna etc. did also the same thing. Rāma attained Salvation.

Perhaps the most important thing to be noticed in the Jaina version of the Rāma-story is the fact that the Rākshasas and the Vānaras there, are not conceived as beings in any way other than man. They are discribed as Vidyādharas i. e., men, endowed with Vidyā or knowledge of extraordinary arts. They are also regarded

as firm believers in the Jaina cult. Ordinary people of the Brāhmaṅic faith look upon the Rākshasas as superhuman demons of man-eating and other evil habits and the Vānaras, as monkeys. But instead of looking upon them as imaginary beings like the devils of the Jewish testaments, one may feel tempted to hold that the Rākshasas and the Vānaras, at least of the Rāmāyaṅa, were human beings, perhaps, with a culture and civilisation, lower than that of the pure Aryans and perhaps, of a stock, different from theirs. While giving support to this view, we may point out that the descriptions of Lankā and Kishkindhyā, which we meet with in Vālmiki's Rāmāyaṅa, do not show that the Rākshsas and the Vānaras were uncivilised barbarians. As a matter of fact, in the Vēdic Śāstras, notably in the Mahābhārata, there are indications in many places that the Rākshasas were very wise, even exceptionally pious people. There are instances, cited in the Vēdic Śāstras, where a full-blooded Indo-Aryan became a Rākshasa; there are also passages in those books to show that some of the Rākshasas were descendants of high-caste Aryans of India. All these facts go to show that the Rākshasas (and the Vānaras) of the Rāmāyaṅa were not legendary creatures of imagination but were actually human people with a culture, scarcely lower than that of the Indo-Arvans and constantly coming in contact with them. It is needless to mention that the Jaina scriptures expressly and in so many words, maintain this view,—viz, that the Rākshasas and the Vānaras were but human beings. Perhaps, the attribution of an Indo-Dravido-Aryan character to this human stock of the Rākshasas and the Vānaras may not be very wrong.

The Rākshasas, as is well known, are generally painted in darkest colours in the Brāhmaṅic literature. In Vālmiki's Rāmāyaṅa, they are described as disturbers of the sacrificial ceremonies. At many places, they are made to appear as thoroughly bad, cruel and immoral people. In the Jaina Purāṅas, as we have said already, the Rākshasas are described as believers in the Jaina faith. Considering these two accounts together, some of the present day scholars vehemently urge that the Vēdic people denounced the Rākshasas, *because they were Jainas*. One of the protagosnits of this remarkable theory goes so far as to say that the descriptions of the Rākshasas in Vālmiki's Rāmāyaṅa clearly show that they could not be other

than Jaina and that the author of the Rāmāyaṅa presented them in hideous forms, simply out of religious bigatry. Notwithstanding the attractiveness which all startling theories have, we confess we are unable to subscribe to this position. It is impossible that Jainism as a positive faith,—i e., as a religion, clearly distinguished from other religions, as in modern times,—existed in the days of the Rāmāyaṅa, so that the question of religious animosity cannot arise in the case of Vālmiki. This does not necessarily mean that Brāhmiṅism is the earlier faith from which Jainism grew up at a later determinable epoch of time. We are of opinion that the religion which was prevalent in the days of the Rāmāyaṅa,—may for the matter of that, in times, earlier than the 6th or the 7th centuries B.C.—was one in which the essentials of Brāhmiṅism, Jainism and Buddhism were embedded. This ancient faith, cult or religion which was conglomerate of all the three systems and various other minor persuasions which flourished in India at later times, was none of them in their full-fledged and distinctive forms but was inclusive of all, embodying the most fundamental elements of each. We are supported in our contention by the testimony of the sacred literature of each of the three faiths. In the Vēdic Purāṅas of comparatively older ages, for instance, we do not find references to any other rival faith. The princes and the people of the various countries of India are represented as believers in the Vēdic religion. Similarly, in the Buddhist legendary accounts of the pre-Buddha days, we hear only of previous Buddhas, Pratyika-Buddhas, Bōdhi-Sattvas and people, believing in Buddha. The existence of any religion, antagonistic to Buddhism,—is very seldom referred to. In the Jaina Purāṅas too, we come across accounts of Jaina sages, Jaina prophets and people, professing the Jaina faith. Very rarely, if at all, we hear of the prevalence of any other religion. The one conclusion, which seems to be irresistible, from the above accounts is that in those days the religion which was prevalent in India was an all-embracing one and that Brāmiṅism, Jainism and Buddhism, as we understand them now i.e., as distinctive faiths, exclusive of each other, did not exist. This is the reason why Rishabha, the first Jaina Tīrthaṁkara is found to have been honoured as an incarnation of Vishṅu in the Vēdic literature. The place of honour accorded to each of Bharata, Sagara,

Bhagīratha, Krishña, the Pāñdavas and numerous other personages in both the Jaina and the Brāhmañic literature is to be explained in this way. The denunciation of Rāvaña and his Rākshasa hordes with equal emphasis by the Jaina and the Brāhmañic sacred books can be explained in no other way. The description of Rāma as an ideal man, which we meet with in the Brāhmañic, the Jaina and the Buddhist literatures, points to the same thing. Had Jainism been a positive and distinctive religion, existing in antagonism with the Brāhmañic cult in the days of Rāma, we could not have expected to have Rāma, who is described as a Jaina in the Jaina Purāña, accepted as the best of mortals by the Brāhmañic literature; in other words, if Vālmikī be held to have been actuated in any way by a spirit of religious hatred against Jainism, we would have found him denouncing Rāma in the same way as he did the Rākshasas. The fact is that distinctive religions did not exist in India before the 6th and the 7th centuries B. C. and religious spite and bigatry cannot be attributed to Vālmikī and other writers of his age.

In this connection, we may be permitted to make a short digression and say that even at a later time when Brāhminism, Buddhism and Jainism began to flourish as rival faiths,—sword was very seldom resorted to by any of them to establish its supremacy. We are no doubt told that king Śaśānka of Karña-Suvarña cut off the Bōdhi-tree. We are also treated with the story that the celebrated Śankarāchāryya was thrown into a cauldron of boiling oil by the Buddhist high priest. In the inscriptions of Aśōka, we get references to his discrediting the Brāhmañas. Stories of religious persecutions are no doubt met with in the literature of rival faiths. We do not deny that at times and at places, there were strong feelings against a particular faith; there might have been local and temporary persecutions. But we believe, the stories of persecutions which we meet with in the religious literature of India, are mostly exaggerated. Generally speaking, there was no serious quarrel among the three faiths in India. Ethics and moral practices were the same among them. The theory of Karma and the faith in re-incarnation were common. The gods, Indra etc., were admitted by all of them and the social structure also was very probably not seriously interfered with by any of the so-called protestant faiths. Under the circums-

tances, religious toleration, perfect amity between the faiths may be expected to have been the rule in ancient India. Religious persecutions, if there were any at all in the accepted sense of the term,—were only local and temporary. This is perhaps the reason why even at the later times i.e., after the 6th century B.C., when the three faiths of India began to flourish on independent lines,—we find the self-same kings acknowledged as the upholders of the rival faiths. King Bimbisāra, for instance, is nowhere represented as the supporter of any non-Vēdic faith in the Vēdic literature. Buddhist literature, on the contrary, shows that he was the pillar of Buddhism. In the Jaina literature, again, it is distinctly said that without Śreñika,—the Jaina name of Bimbisāra,—Jainism could not have been a flourishing faith. In the case of Chandra-gupta, Brāhmañic literature does not repudiate him as a renegade. The Buddhist literature speaks of the Buddhist Mōriya Chandra-gupta, while in Jainism the place of king Chandra gupta as a Jaina saint is very high. Emperor Aśōka similarly is claimed by each of the three faiths. Emperor Vikramāditya who defeated the Scythian hordes, is claimed by both the Brāhmañic and the Jaina people. About the Emperor Harsha-varddhana, who is described as the most glorious Buddhist monarch of the day, it is also said that he honoured the Brāhmañas and used to carry on ceremonial occasions the images of Śiva and Vishñu publicly. The Pāla kings of Bengal were of a similar religious frame of mind. All these and similar anecdotes go to show that religious animosity was a rare exception in India, even at later times when Jainism, Buddhism and Brāhmañism came to be recognised as distinct faiths.

There remains only one point to be considered in connection with the Rāma-Story. Does the story represent any real historical fact? Some thinkers, both ancient and modern, contend that the Rāma-Story has only an esoteric philosophical significance. It has no basis in real facts but only shows how the human soul,—Sītā (the offspring of the earth) or Sītā, the Śakti or the creative power,—is estranged from and re-united with Rāma (the absolute Soul, the paramount reality). We are unable, we confess, to admit the soundness of this position. One may read an allegory or esoteric significance into any system of facts but that is no reason why the

facts themselves should be held to be unreal. It may not be impossible to foist an alligorical interpretation on the Rāma-Story but the question is whether this is what the authors of the Rāmāyaña intended. First of all, there is the unbroken tradition about the truth of the Rāma-Story. There are ruling princes even now in India who claim to have descended from Rāma himself. All places connected with the Rāma-Story are geographically real and well-known. There is no inherent improbability of the facts of the Rāmâyañna. Under the circumstances, one would not be unjustified in holding that the Rāma-Story has atleast a core of historical truth.

The story of the Rāmāyaña, appearing in the Jaina Purāñas, points to the same conclusion. Rāma is the Para-Brahmañ, Sītā is his Māyā or Śakti or Jīvātmā; and the story of the Rāmāyaña may be interpreted as the Līlā of the All-Highest. This may be in consonance with the principles of the histic Vēdāntā philosophy. But Jainism is opposed to the Vēdānta philosophy on important points. There is no reason why Jainism would choose to glorify the Rāma-Story, if it were nothing more than an allegorical discription of Vēdāntic principles. Thus the very fact that the Jainas have respectfully embodied the Rāma-story in their sacred lore is almost a proof conclusive that it is more than philosophical speculation in symbolic garb and that it may have a historical basis.

The appearance of the Rāma-Story in the Buddhist literature is another fact corroborating what we have said above. We admit that in Buddhist hands, the story has been changed almost beyond recognition. We are told, for instance, by the Buddhist that Sitā was Rāma's sister. Still, the substance of the Rāma-Story, given by Vālmiki, is there. The fact of Rāma being the prince of Ayōdhyā and Sītā, his consort, that of his exile and Sīta's abduction, that of Sita's recovery and Rāma's ascending the throne of Ayōdhyā are found in the Buddhist version also. Had the Rāma-Story been nothing more than a penniworth of the Vēdānta philosophy, so to say, how could we expect to find it with those substantial details in the literature of the Buddhist who are antagonist to the doctrine of the Jivātmā and the Paramātmā?

For essentially the same reasons as above, we are unable to subscribe to R. C. Dutt's theory that the Rāmāyaña is but an elaborate

and highly rhetorical expression in an epic poetry, of the Vēdic legend of the Rain-god, Indra, delivering the bows (Rain-clouds) from Vritra who had stolen them. We may point out, *inter alia*, that Buddhism and Jainism repudiated and broke away from the Vēdās and that consequently, if we find the Rāma Story in the Buddhist and the Jaina leterature, it would certainly not be for the reason that the Rāma-Story was a symbolical representation of a Vēdic legend !

It is thus that the description of the Rāma-story in the Jaina literature helps us to arrive at important conclusions regarding many debated points of Indian history. Take, for instance, the curious theory, propounded of late, that the incident of the Mahābhārata are earlier than those of the Rāmāyaña. We need not enter into the details of the arguments in support of that theory nor the ground on which it is stoutly controverted. It may simply be pointed out here that the sacred literature of the Jainas unambiguously support the Brāhmañic literature and traditions in holding that the exploits of Rāma were much earlier than those of the Kuru-Pāñdavas. There is no reason why the recorded testimony of the whole Brāhmañic literature regarding the priority of Rāma to the Pāñdavas should be disbelieved; it is not always safe to brush aside the unbroken tradition like that of the Brāhmañic, to the effect that the events of the Rāmāyaña preceded those of the Mahābhārata. When, however, we find the literature of Jainism,—a rival faith, not always friendly with Brāhmañism,—supporting the current traditional doctrine that the incidents of the Mahābhārata were subsequent to those of the Rāmāyaña, we may definitely say that the modern theory to the contrary, sensational as it is, is against the weight of evidence and such, is not to be seriously taken

II

Like the elegant Rāma-story, the Krishña-story also has inspired the hearts of millions in India from the remotest past. The mystic devotee is lost in ecstacy in the contemplation of Krishña as the amorous youth of Brindāvana and the philosopher find in the Krishña of Kurukshītra the wisest of teachers, while to the man of world, he is the bravest of fighters, the shrewdest of politicians and

the foremost upholder of a righteous cause. It is no wonder that his life story, acts and exploits have been the perennial source of the sweetest poetry in India and the saying. "There is no song but that about Kāñu (Krisnña)' is literally true.

As in the case of the Rāmāyaña, the Jainas also have a version of the Krishña-story. Krishña according to them, was the ninth Nārāyaña and Balabhadra, his elder brother, similarly, the ninth and the last of the Balabhadras. Jarāsandha, the king of Magadha was the Prati-Nārāyaña or the born antagonist of the Krishña-Nārāyaña of that age.

The Krishña-story, as we find it in the Jaina literature, is not different from the story in the Vēdic Purāñas, in essential particulars. According to the Jainas also, Krishña was the son of Basudēva, a prince of the Yādava clan, by his wife Dēvakī and Balabhadra, by Rōhiñī, another wife of Basudēva. Kaṁsa, who was the son of king Ugrasēna of Mathurā and brother of Dēvaki, deposed his father and himself ascended the throne. He, however came to have the fore knowledge that he would meet his death at the hands of Dēvakī's son. This led him to keep both Dēvaki and Basudēva confined in Mathurā. Dēvaki gave birth to several children one after the other, all of whom were snatched away by the cruel Kaṁsa for killing them. The last was Krishña who was secretly taken by Basudēva to Brindāvana and made over to Nanda. Krishña was brought up at Brindāvana among cowherd-boys where he was joined by his elder brother. Kaṁsa, however, came to know that his mortal enemy was coming of age in Brindāvana and sent many of his demoniac emissaries there to kill Krishña. but all in vain. At last, Krishña came to Mathurā, killed Kaṁsa and re-instated Ugrasēna. Jarāsandha, king of Magadha, was infuriated at the slaying of Kaṁsa. He became the enemy of Krishña but at last met his death. Krishña removed to Dvārakā, was a great hero and ruled a pros-perous kingdom from Dvārakā. The great Pāñdavas were his friend and kinsmen. He had eight principal queens, Rukmiñī, Satyabhāmā etc. Rukmiñī had been enamoured of him and so, Krishña went to her place secretly and carried her away and married her against the wishes of her brother, Rukmiñī who had decided to give her in marriage to Śiśupāla of Chēdi. Krishña's sons, Śāmba, Pradyunmna etc. were also brave princes. The Yādavas

however, gave offence to a holy man, for which they met disastrous deaths and their metropolis was destroyed. Krishña was killed by a hunter through mistake.

As in the case of the Rāma-story, the Jainas make various interesting additions,—some alterations too,—in the Krishña-story. The first of these additions is the account of the Yadu clan which they give. Instead of describing Yadu as a son of Yayāti, a king of the lunar dynasty, as according to the Vēdic Purānas, the Jaina sacred books state that there was a ruling dynasty which traced its descent from one Hari. "The kings of the Hari dynasty ruled at Mathurā. There was a king named Yadu in this dynasty, after whom the Hari kings were also called the kings of the Yadu dynasty. Yadu's son was Śura who had Śauri and Suvīra as his sons. Śauri gave his kingdom of Mathurā to Suvīra and himself founded a kingdom at Śauryapore in the Kuśārta country. King Śauri had Andhaka-Vrishñi and others as his sons while Bhōja-Vrishñi and others were the sons of Suvīra. King Suvīra gave his kingdom to prince Bhōja-Vrishñi and used to live in the city Sauvīrapore which he founded in the country of Sindhu. Bhōja-Vrishñi had a son named Ugrasēna, whose son was the notorious Kaṁsa Andhaka-Vrishñi had ten sons viz, Samudra-Vijaya, Akshōbhya, Stimita, Sagara, Himavān, Achala, Dharana, Pūrana, Abhichandra and Basudēva. Besides these sons, Andhaka Vrishñi had two daughters, Kuntī and Madrī who were respectively married to Pāñdu and Damaghōsha. Krishña was the son of Basudēva by his wife, Dēvakī while Balabhadra was another son of Basudēva by his wife, Rōhinī. The sons of Pāndu were known as the Pāndavas while Śiśupāla was the son of Damaghōsha."

The romantic peregrinations of Basudēva form a long and interesting episode in the Krishna-story, as narrated in the Jaina Purānas. It is said that Basudēva was an extremely beautiful prince, so much so, that any lady happening to look at him was sure to be enamoured of him. To keep the chastity of ladies unsullied became thus a serious problem for the Yādavas and the citizens and they represented the matter before king Samudra-Vijaya. King Samudra-Vijaya was fond of his brother, Basudēva and so, instead of doing any thing which might hurt the feelings of the prince, he asked

Basudēva not to stir out of his house but master the fine arts. The unsuspecting Basudēva gladly agreed. One day, however, a maid-servant of the palace told him the real reason of his virtual confine-nent, upon which Basudēva fled from the palace in disguise. At the outskirt of the city, he made a funeral pyre and burnt a dead body there. He left there writings to show that Basudēva, grieved at heart, committed suicide The Yādavas believed what the writings showed while really Basudēva wandered in distant lands *incognito*. It is impossible to describe here all the places which Basudēva visited and the damsels he married. It will be sufficient to state that towards the close of his peregrinations, he visited the city of King Rudhira, where all the renowned princes of India including Samudra-Vijaya and Jarā-Sandha were assembled in order to have their chance in the Svayamvara (the selection of a husband) ceremony of Rōhini, the daughter of the king Rudhira. Basudēva attended the assembly, disguised as a drummer. It so happened, however, that the choice of the princess fell upon the humble drummer. At once the assembled princes raised a clamour and gave out that they would not tolerate a Kshatriya princess being given in marriage to a low-class non-descript. A battle ensued in which king Samudra-Vijaya took the lead at the instance of Jarāsandha. Soon, however, Basudēva made himself known to Samudra-Vijaya, whereupon the two brothers were united again and the battle ended in merry making in which Jarāsandha himself joined. Balabhadra, the elder brother of Krishna was the son of Basudēva by Rōhinī.

Another wife of Basudēva was Dēvakī. She was the daughter of Kaṁsa's uncle. According to the Jaina Purānas, Kaṁsa was devoted to Basudēva and it was at Kaṁsa's earnest desire, will and effort that Basudēva was married to Dēvakī. Krishna was Basudēvas son by Dēvakī.

The Jaina account of Kamsa's life and character may be stated in this connection. Kamsa was one of the sons of king Ugrasēna of Mathurā. His mother was Dhārinī. When he was in his mother's womb, his cruel and blood thirsty character was indicated by many of the uncommon longings of the queen one of which was her uncontrolable vish to eat the flesh of her husband. So when the

child was born, the queen thought it fit to put it in a small box with the names of the king and the queen written in a script within it and to let it float away in a river. It was given out that the queen gave birth to a dead child. It so happened that a merchant had no child so that when he saw the box in the river and looked at its contents, he carried the child to his wife. The merchant and his wife brought up the child with great care and fondness. But the boy grew to be very mischievous and every one dreaded him When he came of age, he was given over to prince Basudēva as one of his attendants. Both Basudeva and Kamsa loved each other dearly and with the former, the latter learnt the arts of warfare.

King Jarāsandha of Magadha was acknowledged to be the foremost of the ruling chiefs of those days and his wish or order was not to be disobeyed on any account. One day he sent an order to king Samudra-Vijaya to bring to him king Simha-ratha of Simhapura bound hand-and-foot. King Jarasandha declared at the same time that whoever would succeed in complying with his order would get the hands of his daughter, Jivad-yaśā together with any kingdom he would pray for. King Simha-ratha was a mighty monarch but king Jarāsandha also was by no means to be displeased. King Samudra-Vijaya accordingly prepared for a war on Simha-ratha, when Basudēva implored him for being permitted to lead the invasion. King Samudra-vijaya granted his prayer and Basudēva marched against Simharatha with Kamsa. A great battle ensued in which Simha ratha was defeated and Kamsa took the lead in binding him hand-and-foot. King Jarāsandha was satisfied but Samudra-vijaya did not like that his brother would marry Jīvad-yaśā because he had heard of a prediction that that princess would be the cause of ruin of both her husband's and her father's families. Kamsa, ont he other hand, was known to have come of a comparatively low-caste merchant family, so that an offer of marriage of the princess of Magadha with Kamsa would but greatly irritate Jarāsandha. At this juncture, the reputed merchant-father of Kamsa appeared with the script and on a reference to queen Dhārinī of Mathurā, it was established that Kamsa belonged to the respected clan of the Yādavas. King Jarāsandha gladly gave his daughter in marriage to him. Kamsa, however, burnt with rage against his parents, when he came to know

his real origin. He asked for help against king Ugrasēna which was readily given by the mighty Jarāsandha. With the help of the army of Magadha, Kamsa defeated his father, kept him confined in a cage and himself became the the king of Mathurā. He did not forget his friend and master, prince. Basudēva; so, it was at his instance that Basudēva was married to the princess, Dēvakī who was the daughter of his uncle.

A great banquet took place at the marriage of Basudēva with Dēvakī and every one was making merry. Kamsa's wife, queen Jīvad-yaśā, drank too much wine. Intoxicated she came across Atimuktaka who was one of the sons of the ex-king Ugra-sēna and who had taken to the religious orders, being disgusted with the ways of the world. Jīvad-yaśā asked her cousin-in-law to join in the revelries importunately, where upon the sage uttered the imprecation that Kamsa would die at the hands of one of the offspring of the very marital union which she was thus shamelessly celebrating in wine. When Jīvad-yaśā came to her senses, she told Kamsa what had happened. Kamsa was frightened. So, without telling Basudēva the real fact, he simply requested him to hand over to him the children, as soon as they would be born to him. The unsuspecting Basudēva agreed to it. Afterwards, when he came to know the real facts, his grief knew no bounds.

Dēvakī gave birth to six sons, one after the other. It is said that at the very times when these sons were born, Sulasā, wife of the merchant Nāga of Mahilā-pura-nagara, gave birth to six dead children. At the instance of a god of the heavens, the sons of Dēvakī were taken to and kept with Sulasā whose dead children were in a similar manner taken to and kept with Dēvakī. The cruel Kamsa took away the dead children thinking them to be Dēvakī's and smashed them on a stone. Dēvakī's real children were thus saved and not killed,—as according to the Vēdic Purānas.

The Jaina Purānas state that Krishna was the seventh child of Dēvakī. Krishna was stealthily taken to Yasōdā, wife of Nanda of Gōkula and Yasōda's daughter was handed over to Kamsa. Kamsa, however, did not attempt to kill the female child, as described in the Vēdic Purānas. He thought that the prediction was false, in as

much as it had been predicted that a male child of Dēvakī, the seventh in order, would be his distroyer,—and not a daughter. He returned the female child to Dēvakī.

Krishna's killing of Putana and emissaries of Kamsa and his amorous dealings with the beautiful milkmaids of Gōkula are also described in the Jaina sacred books. The Jaina account of killing Kamsa and re-installing Ugrasēna as the king of Mathura is substantially similar to that in the Vēdic Purānas. It is to be noticed, however, that according to the Jainas, Satyabhāmā was a sister of Kamsa. She became enamoured of Krishna and was the first princess to be married to him upon the accession of Ugrasēna.

We pass by the numerous beautiful stories which the Jainas connect with the marriages of Krishna with Rukminī, Lakshanā and his other wives. The addition which the Jainas make to the Krishna-Story is the account of their twenty-second Tīrthaṁkara, Arishtanēmi, which has already been noticed.

The more important and perhaps of greater interest is the account of the great tragic battle of India which the Jainas give and which is not a little different from the well-known version of the Mahabhārata. According to the latter, it was a great fight that took place at Kurukshētra between the Kouravas on the one side and the Pāndavas on the other and the cause of it was the systematic attempts on the part of the Kouravas to deprive the Pāndavas of their just possessions. The Jainas admit that in that great battle the Kouravas and the Pāndavas fought on opposite sides but they say that it was not primarily a contest between the Kouravas and the Pāndavas. Their account of the battle is as follow:—Kansa's widow, Jīvad-yaśā, on the sad end of her husband went to her father, Jarāsandha, king of Magadha, who was the most powerful of the rulers of the day and instigated him against Krishna and the Yādavas. The Yādavas, led by Krishna found Dvāraka and ruled over an extensive territory. Jarāsandha marched against Krishna. He had a great army and on his side, among others, was Śiśupâla, king of Chēdi, a sworn enemy of Krishna. The Kouravas also were on his side. Krishna and the Yādavas were similarly joined by a host of kings, among whom there were the Pāndavas. The great

battle that ensued was thus primarily a battle between Jarāsandha and Krishna, in which Jarāsandha was killed,—not by one of the Pāndavas but by Krishna himself.

The Jaina account of the end of Krishna, the Yādavas and their metropolis is also different from what is narrated in the Vēdic Purānas, although scarcely less tragic. We prefer to describe the Jaina version by extensevely quoting from "Lord Arishtanēmi."

"Every one was startled to hear from the Lord (Lord Arishtanēmi) that Dvaipāyana would destroy Dvārakā and Krishna was to die at the hands of Jarākumāra (a son of Basudēva and step-brother of Krishna). Lest wine would be the cause of ruin of Dvārakā, Krishna stopped its drink in his kingdom. At his order, the people of Dvārakā went out and poured all the wine they had, in a cave called Kādambarī in the Kadamba forest near the Girinara mountain. Hearing of the dreadful prediction of the Lord Nēmi, the sage Dvaipāyana left the city of the Yādavas and in order that he might not injure it in any way, immersed himself in profound contemplation in a distant lonely forest.

'And being a son of Basudēva, how shall I kill my own brother? This shall not be. Rather shall I take care that none can touch a hair in Krishna's head.' Determined thus, Jarākumāra roamed outside the limits of Dvārakā, armed to the teeth and ready to die for its safety.

"But the prophecy of Nēminātha was not to be false."

"One day, troubled by the scorching rays of the Baiśakha sun, a companion of the prince Śāmba came near the Kādambarī cave, while wandering in the forest. He was extremely thirsty and consequently drank the wine there to his heart's content. The immense quantity of wine,—that had been at Dvāraka and poured out there,—became extremely delicious to taste on account of its being kept confined within the stony cave in a cool forest; the season-flowers of the forest fell into it and enhanced its sweet taste and smell quite a thousand fold. To please his Lord Śāmba, that attendant of his, secretly brought some quantity of the wine for his master.

(To be Continued)

NEW LIGHT ON ANTIQUITY OF JAINISM

[By L. A. Phaltane Esq., B. A. LL. B. Pleader
Islampur, District Satara.]

Many have expressed their opinions about the antiquity of Jainism. Devout Jains cling to the belief that Jainism has no beginning while the non-Jaina scholars bring its starting time to a very late stage. The non-Jain scholars believed in the beginning that Jainism arose in the seventh century A. D. as a branch of Buddhism. But the modern research has taken the origin of Jainism back even before Lord Buddha and has assumed that Lord Pārshvanātha must have been its founder. They are unwilling to give to it a date which would be earlier than the date of Lord Pārshvanātha. If we were to depend upon the traditions mentioned in each religious literature we would find that excepting Zoroastrianism Christianity and Muhamedanism all religions claim that they existed from the beginning of the universe. But it does not stand to reason to assume that Almighty Nature contrived to send into this world several religions possessing most inconsistent idealogies traditions and modes of thinking at one and the same time. In this age of scientific and historical mode of reasoning the scholars are most unwilling to accept anything as true which is not supported by reliable proof and if anything is propounded before them without the backing of sound evidence that is considered by them as a tradition or a thing of imaginary importance. It is contended by the non-Jain scholars that the assumption that the Jainism was most ancient would necessitate references about this faith, its Tirthankars, and other important personages in the literatures of the neighbouring countries and as such references have not been traced, it is but natural and proper to assume that Jainism cannot lay any claim to prehistoric antiquity. It has been found that the civilizations of Egypt, Babylon and China are the most ancient civilizations and the Vedic religion also claims to go back over a long antiquity. As references to Jainism have not, upto now, been traced in the literatures of those countries it would be most improper to assign to Jainism a date which would be as ancient as the dates of those civilizations.

We intend to approach this subject from an altogether different point of view which has not, as yet, attracted the attention of the eastern or western scholars.

In ancient days writing was scarcely used for spreading and preserving knowledge. The sages of old used to commit to memory the then existing knowledge and send it down to posterity by oral teaching from—preceptor to disciple. It was from Kundakundāchārya that a systematic attempt appears to have been made to preserve knowledge by reducing the same to writing. Āchārya Kundakunda says :—

मग्गो मग्गफलं तिह् दुविहं जिणसासणे समक्खादो ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ निव्वाणम् ॥

Maggo Maggaphalṃ tiha duirhaṃ Jinasāsṇe Samakkhādo
Maggo mokkha uvāo tassa phalaṃ hoi Nivvāṇaṃ.

Meaning:—Magga (way) and Maggaphal—(fruit of the way) are the two things mentioned in Jainism. Magga means a remedy for liberation and its fruit is complete contentment.

In the commentary below of the above Prakrit verse the commentator says :—

मार्गस्तावत् रत्नत्रयात्मकः

Mārgastavāt ratnatrayātmakah.

Meaning:—Mārga however consists of three jewels i.e. Samyakdarshan Samyakgñyan and Samyaga charitrya. Jainism is the religion of the three jewels. This means that the author of Niyamsāra calls Jainism as 'mārga'. After ācharya Kunda Kunda flourished ācharya Umāswati who, in his book 'Tatwarth Sutra', gives the first Sûtra as (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः ।) 'Samyagdarshana gñyāna Chāritrani Mokshamārgah.' Here also the word Mārga has been used in the sense of religion. It will be marked that the word 'Dharma' has nowhere been used in Tatwārth Sutra in the sense of 'religion'. This book uses the word 'dharma' to denote one of the six primordial substances which this world is composed of. Later on, the word Magga or Mārga fell out of use and in its place the word dharma came to be used in later literature.

Having thus firmly kept in mind that the ancient name of Jainism was *Mārga* we shall proceed further.

When the sister and neighbouring communities realise that the tenets of a rising faith possess elements which would—secure communal good or enlighten the powers of the soul if adopted and practised they begin to adopt and incorporate into their lives the tenets, requisite methods of behaviour, rites and religious practices introduced by the rising faith and those methods gradually came to be named after the faith from which they were adopted. In ancient times the hûmanity was most disordered and promiscuous in sexual and other relations between man and man, and man and woman It is the leaders of the Jain thoughts who were the first to introduce into the society a well-controlled and balanced marriage system. The conception of brotherhood of man arose out of the teaching of Jainism and the 'Anagāra Dharma' of Lord Rishabhadeva was its climax. In order to illustrate the above contentions by concrete examples I am proposing to enumerate below certain facts of importance. Before those facts are given however it would be abvisable to bear in mind the following propositions of historical and geographical importance.

(1) The time about which we are writing is very ancient and we cannot ascertain its date at present.

(2) In ancient times humanity lived in small groups The people were not known by the country of their occupation as at present but the countries were known by the tribes which populated the same whenever unfavourable circumstances made it impossible for a tribe to continue to inhabit the country the whole tribe used to move out of that country.

(3) The small tribes in which the people were divided were constantly on enmical terms with one another. This enmity and exclusiveness developed in them specialities of behaviour, dress, likings etc. with a result that each tribe looked quite distinct from the rest. For instance Nāga tribes distinguished themselves by using a head dress which resembled the hood of a cobra.

(4) The phonetic and other similarities between languages current in Baluchistan and those spoken in Karnāṭaka have led Linguists to come to the conclusion that the people of Baluchistan and those of Karnāṭaka must have come from the same stock. It

appears from their opinion that owing to some unforseen circumstances the Dravidians of the province of Karnāṭaka must have come down to the south from their original home which must have been somewhere near the province of Baluchistan. From this one can imagine that in ancient times about which we are writing these Dravidians must have been living in a province from which they could not escape the touch of the teachings of the followers of the '*Mārga*' religion.

With these suggestions we shall proceed further :—

The word 'Magga' (Sanskrit Mārgā) appears to have been in use in several countries of the Asiatic continent. But while being incorporated in other languages it has gone through the various influences of those languages. In Persian language we find the word 'Maga' used in the sense of a priest. In canarese also the word is used. Monk (Christian Catholic priest) and Manga are its two different forms. The Sāraswat Brahmanas of India name their god of worship as Mangesha (मंगेश) and consider him to be an incarnation of God Shiva. The Burmans use the word Mamga (मँग) in the sense of brother. Makalā (मकला) in dravidian language means children. It may be argued by some that this attempt is like building castles in the air taking advantage of some similarities of names of various languages. But the further explanations would show that it is not so.

In Persia or Shak continent the 'Magas' formed an important section of the people. They were the worshippers of the Sun and has three classes among them (1) those born of fire (2) Samakas born of Soma and (3) Bhojakas i.e. those born of Aditya (Sun God).

अग्निजाता मगाः प्रोक्ताः ।
सोमजाता द्विजातयः ॥
भोजका आदित्यजाताः ।
दिव्यास्तेपरिकीर्तिताः ॥

भाविष्यपुराण बाह्यपर्व अ० १३९

शिरसाधारयेत्केशान् सज्ञेयो भोजकाध्मः ।
भुजंते न च ये रात्रौ भोजकास्ते प्रियाभम ॥
Agnijāta Magah proktāh
Somajāta duijātayah

Bhojakā Ādityajātāh
Divyāste parikīrtitāh

Bhavishya Purāṇa Bāhyaparva part 136.

Shirasā Dhārayet Keshān sa jñyego Bhojakādhamah
Bhunjante na cha ye ratrau Bhojakāste priyā mama.

Meaning:—'Magas are those who are born of fire. There are others—Brāhmans who are born af soma. Bhojakas are born of the Sun they are famed as celestial'.

'That Bhojaka is the worst who allows the hair on his head to grow. Those Bhojakas who do not dine at night are dear to me.'

We learn from Bhavishya Purāna that Bhojakas and Magas were one, that they had the practice like Jain saints of shaving the head completely and not taking food at night and that they carried in their hands a brush like the Jain saints. Thus they had adopted some of the practices of the Jain saints and as they bore respect towards the 'magga' relegion they were called 'Magas'.

It has been remarked above that marriage system was originally introduced by the Jain thinkers. The Dravidians appear to have adopted the sacred ceremony of marriage from the 'magga' people. This is testified by the fact that the son born of marriage wedlock is called 'Maga' (मग) in kanarise language. While a male offspring born in any other way is termed as 'huduga' (हुडुगा) which means an orphan.

Manga or Mangesha (मंगेश)—The Saraswat Brahmanas call their deity of worship as 'Mangesha' (मंगेश) which is considered by them as an incarnation of God Shiva. But on closer observation it will be found that the image of God Mangesha is not an artificial image but a naturally grown stone slab which is ornamented by them on ceremonial occasions with an artificial face of God Shiva This conception of the deity of the Saraswat Brahmanas appears to have been based on an idea which looks similar to the idea of Akritrima Jina Chaity (अकृत्रिम जिन चैत्य) of the Jainas.

Moghal and Mongolia.—The Mongols or Moghals are the people of Mongolia. The Sanskrit form of Mongolia would be Mangalavati and would mean 'a country of purity or brotherhood'. These names appear to have been given to those people and their country owing

to their acceptance of many rites and ceremonies of the 'Magga' people.

Mākala (माकल) – Even at present there is an advanced community in the Dravidian province which is known as 'Mâkala' It has been shown by rules governing languages that the word 'Mākala' is derived from the Sanskrit word 'Markala' or Marāthi 'Makada'. In the Rāmāyana of Valmiki there appears a community which is described as Markata which, according to that Rāmāyana, was monkey like. But on modern research it has been found that these markatas were not monkeys but human beings. The Jain Rāmāyana says that they were like ordinary men and followed Jainism.

Mongi Tungi.—According to the Jaina tradition Shri Rāmchandra Sugriva and thousands of others attained liberation on the mount of Mongi Tungi after going through the austerities prescribed by the Jaina faith. Why should the mount be called Mongi-Tungi is a question which cannot be solved unless the following explanation is accepted. The word 'Mongi' means sacred or belonging to the sacred religion 'Magga' and Tungi means a mount or mountain. Thus the joint word 'Mongi-Tungi' would mean 'a sacred mount of the Jainas'. This is, according to this writer, a strong proof that Jainism was known as 'Mārga' at least up to the time of Shri Rāmachandra the hero of Rāmāyana.

The above points are sufficients, according to this writer, to hold that 'Marga was the name by which Jainism was pre-eminently known until at least the time of Shri Rāmāchandra, that the Persians of Iran, the Dravidians, Mongolians and the Burmans were at that time inhabiting terretories not far off from the country in which the Magga (Marga) religion stood shining in full splendour, that they accepted and incorporated among them much of the learning by studying in Marga seals of education and that they or important sections of those people came to be styled and named after the civilization which imparted education to them.

ASTINASTI VADA.

This doctrine of Astināsti Vāda may be considered to be the central idea of Jaina metaphysics. Unfortunately, it is also the view which is very often misunderstood by the non-Jaina writers. The non-Jain thinkers cannot easily appreciate how it is possible to predicate two contradictory attributes to the same object of reality. Prima facie it is impossible. You cannot say about the same object of nature that it is and that it is not. Naturally it is extremely confusing and the non-Jaina thinkers very often consider this doctrine to be the weakest point in Jaina metaphysics. Even great thinkers like Śankara and Rāmānuja without appreciating the true significance of this principle condemn this as merely prattling of a mad man. Hence it is necessary for every student of Jainism to explain this principle clearly and make it within the reach of the ordinary man's understanding

Astināsti Vāda implies the predication of contradictory attributes of Asti and Nāsti, 'is' and 'is not' to the same object of reality. Jaina thinkers certainly did not make the statement that the same object can be described in terms of two contradictory attributes without any limitation. What the Jaina doctrine of Astinasti Vada implies is that you can describe an object from one point of view that it is, exists, and from another point of view that it does not exist. It is certainly paradoxical to speak of the same thing from a single point of view that the object is both 'is' and 'is not'. Jaina thinkers take a practical point of view even in explaining intricate principles of metaphysics. Take the case of a piece of furniture. It may be made of ordinary jungle wood and it may be given painting to make it appear as if it is made of rose wood. Naturally a purchaser who wants to know the price of that piece of furniture would like to know the exact timber which is made use of in making that piece of furniture. If he depends upon the mere appearance he would have to pay more than what it is worth. Therefore, he may naturally enquire somebody who knows these things to find out whether the piece of furniture is made of rose wood. The expert's answer would

certainly be 'no'. The piece of furniture is not made of rose wood in spite of its appearance. The appearance is due to painting whose object is merely to hide the real nature of the timber utilised. Hence he would assert that the table is not made of rose wood. If the expert by scraping the paint in a small corner of the furniture in order to expose tha true nature of the wood employed then it will be made evident that the timber used for making the furniture is some jungle wood of an inferior type. Then the purchaser will learn from the expert the exact answer to his question, 'What is the timber of which this piece of furniture is made?' The answer to the question would be an affirmative proposition stating that the table is made of jungle timber. Thus, two propositions, one an affirmative and another negative are asserted with reference to the same piece of furniture and both propositions are certainly valid. With reference to the true nature of the timber utilised for making the table the statement that it is made of jungle wood is a valid affirmative proposition. When we want to make a proposition from the mere appearance whether it is made of rose wood, the valid answer is a negative proposition, it is not made of rese wood. Thus, the negative proposition arises when the object is related to another nature which is not its true nature. The true substance is jungle wood and another substance with reference to which the negative proposition is made is rose wood. This point is explained by Jaina thinkers in a technical way.

Self and Alien :—

In the case of the two contradictory propositions the affirmative proposition is valid with reference to 'Svadravya', its own substance, the negative proposition is valid with reference to 'Paradravya', the alien substance. The illustration may be multiplied. If we have an ornament made of pure gold and the question is asked what is the nature of the substance, the valid answer would be, it is made of gold. But, if the similar ornament is made of imitation gold the answer would be, 'No, it is not made of gold.' Here also the object from its own 'Svadravya' point of view would be described by an affirmative proposition, from the 'Paradravya' point of view by a negative proposition. Similarly, if you are interested in finding out whether your cow is in the cattle shed and if you ask your servant

"Where is the cow?" his answer would be affirmative if the cow is in the cattle shed and negative proposition if it is not so, he will simply say, "The cow is not in the cattle shed." If it is taken away by the cow-boy for the purpose of grazing in the field the negative proposition will be true with reference to the cattle shed, but if the question is whether the cow is in the grazing field the answer would be affirmative, just because the cow is grazing in the field and it is not tied up in the cattle shed. You may have similar illustrations with reference to any object. If you want to find where a particular book of yours is and if it is not found in the book-shelf, we have to assert the book is not in the book-shelf. If it is there you will say, 'Yes, it is'

Place :—

Historical propositions will have true validity according to their relation to the place. If you say that Socrates was an Athenian Philosopher, the affirmative proposition will be true, because the historical Philosopher Socrates lived in Athens. But, if some student writes that Socrates was a Roman Philospher, the proposition would be erroneous, because Socrates was never connected with the city of Rome. In this respect the technical term is used 'Kshetra'. A proposition with reference to a particular object of reality is true from the point of view of Swakshetra, its own locality or place of existence, and the negative proposition is valid from the point of view of Parakshetra, the alien place or locality in relation to the object. In the above example, Athens is the Svakshetra of Socrates and Rome is Parakshetra.

Time :—

Similarly, in relation to time it is possible to make two contradictory predications with reference to the same object of reality. A historical event would be true with reference to its own appropriate time in the period of history and false with reference to some other time. If somebody makes a statement that Charles I was King of England in the 19th century, it would be historically false. Charles I did not belong to the 19th century. Similarly, if somebody speaks of Socrates as a Philosopher who lived in Greece in the 4th century after Christ, it would be a false statement He did not live in the 4th century A. D. would be a valid negative proposition, just

as the affirmative proposition that he lived in the 4th century B. C. would be a valid affirmative proposition. Here the point of view is technically said to be 'time'. Any historical event would be capable of affirmative assertion with reference to its own time or Svakāla and it would admit of negative assertion with reference to Parakāla or alien time, not its own.

Form :—

Similarly, in the case of the modification of a substance, according to its modification it may be asserted affirmatively or negatively. Speaking of water you may have it as a liquid or solid. Ice is the solid form of water and if you are interested in knowing the nature of ice you have to assert that it is solid from its own Bhāva. But, if it is heated, it changes its form, it may become liquid. Then you have to say that ice is not liquid or gas. From its own Bhāva a substance is capable of being described by an affirmative proposition, from the nature of an alien form or Bhava it must be described by a valid negative proposition. You must say that ice is not liquid or gas or vapour, because the form in which you are concerned with is solid.

Interpretation :—

These are the four points of view which form the foundation of this 'Astināsti Vāda' and these are the ways in which an object may be affirmatively described from the point of view of Svadravya, Svakshetra, Svakāla and Svabhāva, and the same object may be validly described in the negative from the point of view of Paradravya, Parakshetra, Parakāla and Parabhāva. When the matter is understood in this way, it is quite obvious why the affirmative proposition will be true and why the negative proposition also will be true with reference to the same object of reality. There is no chance of confusion here and there is no mysterious metaphysical maze to be unravelled. Simply we may say that it is so common-place that we very often wonder why serious thinkers should find it difficult to appreciate this principle of Astināsti Vāda. Here we have to point out that the doctrine is applicable only with reference to a real object, Take the following example. A cow ordinarily has horns. The cow, when it was an young calf, cer-

tainly should not be described to have had horns. There would be no horns in the head of a young calf. Therefore, with reference to the same individual animal we have to say that at one time it had no horns and later on it had horns. The existence of horns is asserted and denied with reference to the same individual, according to its life history. The calf in its own time had no horns. The cow when it is grown up, the horns are asserted to exist, because you can assert the horns and deny horns, the existence of horns can be asserted and denied with reference to the same individual cow according to its period of growth. You cannot turn and say that the horns may be asserted and denied with reference to a horse or a hare. Very often it is a point of objection; such a dilemma is presented to the Jaina thinker since you can assert and deny the same thing. Can you assert the horns and deny horns with reference to the same horse or the same hare ? The question proposed by the opponent is meaningless, Horns of a horse or a hare are non-existent and they cannot be considered as real. The doctrine of Astināsti Vāda is distinctly confined to the world of reality, only to an object in the world of reality. The doctrine should not be applied to non-existing things. A mythological animal like the centaur or unicorn cannot be brought under this doctrine of Astināsti Vāda. Hence such an objection is rejected as irrelevant and meaningless by the Jaina thinkers.

Relative Qualities.—

Exactly analogous to this principle of Astināsti is the doctrine that the same object of reality may be described as 'Nitya' and 'Anitya', permanent and impermanent, Bheda and Abheda, identical and different. These predications which are contradictory in themselves are no doubt applied to the same object of reality certainly from different points of view. A thing may be described to be Nitya, permanent, from the point of view of the substance of which it is made. The same object may be described as Anitya, impermanent, if we attend to the modification of the shape to which the substance is transformed. A particular ornament made of gold may be melted and a new ornament made out of the gold. Here the particular ornament will certainly be described as Anitya because at any moment it may be changed by the goldsmith according to the

wish of the owner. But neither the skill of the goldsmith nor the desire of the owner can altogether destroy the substance, gold. It is indestructible and permanent and therefore it must be described as Nitya. Therefore, from the nature of the underlying substance the thing must be described as Nitya and from the point of view of the particular mode or shape it is given to, it must be described as Anitya. Thus, the two attributes Nitya and Anitya can be intelligently predicated of the same object of reality as was shown above.

Matter & Form:—

This point of view will become much clearer when we attend to the nature of organic things, the tree or an animal. The life history of a tree may be said to begin with the seed, and at every stage of its growth there is a corresponding change in its structure. From the seed to the sprout, from the sprout to a little plant, from the little plant to a growing tree; and at every stage there is a change of structure and also change of function of the particutar parts. Here you have an instance of continuous change in the same identical organism which must be considered to be unchanging and permanent. A margosa seed can grow into a margosa tree marking out all the changes in its growth but at no point in its life history could it change so fundamentally as to become a mango tree. A mango seed can grow into a mango tree and a margosa seed can grow into a margosa tree. Each one has its own permanent nature marked by its different stages of growth which are distinctly impermanent. Thus, if for example the margosa declines to grow further, will not shoot forth new sprouts, will not shed away the old leaves, it will be an attempt to secure permanency for that stage in the history of the plant; but this attempt to secure permanency must end in death because a growing organism, if it attempts to crystallize itself at that particular stage, it will only seek its own death warrant. Thus organic growth must necessarily imply change at every stage different from the previous stage and different form the next stage and at the same time secure a permanent identity. Nature cannot be transcended during the growth of the organism. Here you have in the life history of an organic, say a tree, both identity and difference, Bheda and Abheda.

Nitya and Anitya. In fact, that is the nature of reality as understood by Jaina thinkers.

Review:—

Every object of reality implies a difference with an underlying identity, a change associated with a permanency, a unity associated with multiplicity. It is because of the structure of reality that it is possible for us to describe it by contradictory attributes, Asti and Nāsti, Nitya and Anitya, Bheda and Abeda and so on. This fundamental metaphysical doctrine which is the central idea of Jaina thought differenciates this system of philosophy from other schools of thought, Indian or European. No Indian school of thought has accepted this doctrine. Every Indian school takes up one particular point of view of reality and asserts it to the exclusion of other aspects. Vedāntism, for example, emphasises the permanent sub-stratum of reality, of the permanent substance, the Brahma. It is always one unchanging Nitya At the opposite pole of thought you have the Buddhistic Kshaṇika Vāda which emphasises the momentary nature of reality and is blind to the underlying permanent sub stratum. To the Buddhistic thinker every object of reality is Anitya, momentary. It appears and disappears the very next moment. There is no such thing as Nitya or permanent sub-stratum either in the outer world of nature or in the inner world of consciousness. This kind of one-sided emphasis to the exclusion of the other aspect of reality is described by Jaina thinkers as Ekānta Vāda, one sided assertion, while they claim their metaphysics to be a Anekānta Vāda viewing reality from all its aspects. Thus, the Astināsti Vāda with which we began is the natural corrolary of the nature of reality which is many sided and hence could be described accurately and completely only by taking into conside ration all its aspects or technically by Anekānta logic. Forgetting this aspect of reality and attempting to describe the nature of reality piecemeal would end in a similar confusion as the description of an elephant by the various blind men each describing the animal from his own point of contact and thus making a ridiculous mess of reality.

Conclusion:—

In short, a complex nature of reality must be the necessary

approach by the principle of Anekānta Vada, if it is to be understood accurately. Thus, we see the Jaina metaphysics has got a more rational view in its approach to reality than the other schools of thought which obstinately cling to one particular aspect. The latter schools of thought create a readymade framework and attempt to squeezing the nature of reality in the readymade framework which serves as a sort of Procrustian bed and thinkers do not hesitate to chop the inconvenient corners to make reality fit in with their framework. Such a method of unwarranted interference with the nature of reality to make it suit one's own theory is neither science nor philosophy. It is merely a dogmatic assertion of one's own prejudice and wishing reality to squeeze into the readymade scheme of things. It is not necessary for us to repeat that such an irrational attitude will be inconsistent with true principles of metaphysics. The function of man is to understand the nature of reality; not to interfere with its nature to suit his liking. Judged from this point of view, the only school of thought which may be said to resemble the Jaina metaphysics is the Hegelian doctrine of the Dialectic. Hegel's direct approach to the nature of reality is more or less analogous to the Jaina approach. Hegel's Dialectic consisting of thesis, antithesis and synthesis, which may be described as, identity of the opposites, or the resolution of the contradictories, exactly correspond to the Jaina doctrine of Astināsti Vāda. But in other respects Hegelian idealism is quite different from the Jaina metaphysics and hence we cannot afford to emphasise the similarity between the two schools beyond this one particular fact. This method of philosophy, the method of philosophical approach must be adequate and suitable to the nature to reality, which is the object of study. This general principle is observed to be true in the Jaina approach to the study of reality.

[Published by the kind permission of Varni Abhinandan Granth editor]

ACHRYA SAMANTABHADRA AND PATLIPUTRA.

[By—D. G. Mahajan, Esqr, M.R A.S, (London) Working President,
C. P. & Berar Jain Research Institute, YEOTMAL.]

The great Jain Acharya Samantabhadra's name has been associated with PATALIPUTRA and it has been a belief of the Scholars till late, that Acharya Samantabhadra had visited Patliputra named PATNA at present. This belief has a basis in the following rhyme in Sanskrit in the inscription :—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ॥
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहंन्नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥[1]

1. It is an inscription found at Sravanabelgola, a most famous holy place-Thirthakhetra of the Jain Religion since the Christan Era, in Mysore State, South India. This being the only one of its kind, naturally much importance is given to it. My learned friend Pandit Jugalkisor Mukatiyar[2] and others, on the strength of this inscription are led to belive, that Acharya Samantabhadra visited this Pataliputra-PATNA during the travel he made in the country of the then Bharatavarsha, as refered to in the above inscription.

2. While on tour of South India, on the occassion of the Indian History Congress sessions held at Madras and Annamalai University in the years 1945 and 1946 respectively, the research in the Jain culture in the ages before, I came across a town called CUDDALORE, which was then known as Patliputra and hence a doubt arose in my mind to find out whether the reference to Patliputra in the above inscription as the place to which Acharya Samantabhadra visited is

1. Sravanabelgola inscription No. 54 old and 67 new. It is also called "Mallisen Prashasti" which was written in Sak Samvat 1050, i. e. 1100 century A. D.

2. "Atmamimansa" page 4, refered in "Swami Samatbhadra" a Hindi book by Pandit Jugal Kisor Mukatiyar.

refered to this Patliputra, a new find or to other which is now known as Patna in Behar-North India.

3. For this one has to test the question from the following point of view :—(A) Why should Acharya has gone to Patliputra in North India and whether it was a seat of learning and centre of religious activities then-in his times? Whether at all the town was in a flourishing condition as it was a capital of the Magadha in that period? No doubt that Pataliputra was a flurishing city in the times of Chandragupta Maurya, as the capital of MAGADHA Empire, it lost its importance after the overthrow of the Imperial thrown of Mauran Dynasty, some times in second century B. C. (184 B. C.) when Pushyamitra and his son Agnimitra the founder of the Sunga Dynasty, occupied it, invading Magadha and tremendous destruction has been suffered by the capital-Pataliputra, and Agnimitra took his capital to Vidisha in Malva, the modern Besanagar near Bhilsa in Gwalior State. The other capital was Avanti-Ujjain being at the other end of the Magadha Empire.[3]

4. Again Pataliputra was invaded by King KHARAVEL of Kaling Desh and of Hatigumfa fame and complete destruction was made in the 1st century B. C. of the city of Patliputra, due to the severe blow at the hands of King Kharavel, when he invaded Magadha and made Agnimitra as his vassal. Thus evidently it will be proved that Pataliputra was under complete destruction and never regained its importance and magnificience, glory and grandeur for ever. All these events took place before the Christian Era and since then there is nothing to the credit of Pataliputra to show that it had regained the same past days, up to the times of Acharya Samantabhadra, which means a very long and most considerable gap of time of nearly five hundred years or so. (B) Whether it was a seat of learning at the time of the visit of Acharya? Samantabhadra's time is as far as fixed or supposed as Saka Samvat 60, i.e. 138 A. D.[4]

3. (a) Ancient India Vol. No. IV, pages 113 and 114, by Dr. T. L. Shah.
(b) " " " " " "

4. Mr. Levis Rise in his "Inscription at Sravanabelgola" and preface to "Karnatak Shabdanusasan"; "Pattavali" published in Bhandarkar Oriental Report 1883-84, page 320 and "Swami Samantbhadra" page 196 a Hindi Book by Pandit Jugal Kisor Mukatiyar.

From the above discussion it is clear that as Pataliputra was under complete destruction, it cannot be a seat of learning and of importance in religious activities. Secondly why should Acharya go to Pataliputra at such length from the place in Tamilnadu when there were other more important places of learning, namely Kanchanpuram-Kanchi-Canjeeveram, Madura, etc, so near from place from which Acharya came in Tamil land, the ancient Thondayamandalam. In the time of Acharya, Urayur, Kanchi, Madura, Bhadalpur, and others were big centres of learning to fulfill his object and all were in South India, full of Jain Mathas-monastaries, temple Basties and Pallies, schools, etc of the Jain religion. It is also presumed that Acharya might have taken Dikshya and became MUNI at Kanchipuram or near about it as it appears from the later part of the said inscription[6]. (C) Was Acharya in a position to undertake such a long and hazardous travel, when he was suffering from a deadly disease "Bhasmakavyadhi" and hence can not be said to have undertaken such a risky travel at the cost of life, a good for nothing. From the sequence of the text of the inscription it appears probable that Acharya might have visited Pataliputra of Sourthern India-Tamilnadu, which was very near to his birth place and Dikshyasthanam etc.[7] This will be clear from following posibilities.

5. Pataliputra in Tamilnadu is made out as follows:—(A) In South India Kanchipuram or Kanchanapuram the present Canjeeveram, Madura, Urayur, Bhaddalpur, Pataliputra, Uragapur, etc were the great centres of learning, religion, activities and debates used to take place amongst Jains, Buddhists, Saivaits, and Vaisnwaits on religious subjects. "Bhaddalpur" refered in other inscriptions and

---

5 "Swami Samatbhadra" page No. 12. by Pandit Jugal Kisor Muktiyar.

6. Sravanabelgola inscription No 54 old and 67 new as thus:—

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पांडुपिंडः ।
पुंण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट् ॥
वाराणस्यामभूवं शशिधरधवलः पांडुरांगस्तपस्वी ।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः सवदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

7. Studies in South Indian Jainism page No 30.

Prof: A. F. Rudolf Hearnle-Indian Antiquity Vol XXI. There fathe. ; att. valis of the Diga. bars pages 60 and 61.

manuscripts was no other than Pataliputra or Patalipur, the ancient name in Tamil language was "THIRUPADARIPULIYUR", the corrupt form of which is "Thiruppapuliyur" the present town of CUDDALORE, the headquarter of the South Arcot Dist. of the Madras Presidency.[8]

In my tour in the last January 46, I visited the town of Cuddalore and made survey of the most ancient sites of the old city of Pataliputra. The "PETTAI" is the very ancient suberb of the town, nearly two miles away. There is a very old Jain idol nearly 4½ ft. high in Padmasan posture, placed in the premises of a private person of Mandom Village, who celebrate the function supposing it the idol of Visnu. The idol is placed on a raised platform under a big tree. It is coated with dark coating, due to the applying oil by the villagers at the time of worship. No animal sacrifice is made before the said idol, the identity of the idol having not known by them. From here a straight road goes to "THRIAHINDRAPURAM" a very ancient site, at the foot of a hill 100 ft. in height on the bank of the river Gadilam. There are several ruins and relics of the old times, spread all over area of 12-15 miles of the old city of Pataliputra. There are ancient caves, temples, palaces, shrines, Mathas-monastaries etc, in ruins buried under earth and debries, showing their existence in the past by old pillars and stone out of the said ruins. The main temple of Visnu is also ancient and main shrine dates to the Pallav period and fine specimen of ancient artitecture is seen. The river Gadilam that flows on the North of Thiruppapuliyur at present used to run by the South of it in olden says, along with the Eastern Ghat Valley and even today we can notice the bed of the river, which is very fertile land under cultivation at present. Visit to this place will quite convince a person that river was flowing on the South of the town in olden days. Some years before there was one Jain Idol in the premises of the temple, but it is not found now. This idol was brought from the ruins in the part of the place.[9]

---

8. Prof: A. F. Rudolf Hornel-Reports on the Archaeplogical Survey of India Vol No. 1906-0-7.

9. Epigrafica India Vol No. 6 and Vol 331.

5. The environment of THIRUVEDIPURAM, the most ancient spot Pataliputra, can be verified fully and satisfactorily on the strength of the Tamil works, [10] **which deal with information regarding the existence of ancient Pataliputra, in** the heart of the Tamil country, from the very beginning of the Christain Era to the period of King Mahendravarman I, who was converted from Jainism to Saiva Sect at the instance of Saint Appar, who himself was a convert from Jain religion. The Visnu temple in Thiruvendipuram has a very lofty Gopuram and large Sabhamandapam, Garbhagraham, etc, about which it is said that Muni Vyagrapad worshipped Siva under the tree of "PADARI" or Padali or Patali and since then it got this name.

From Cuddalore the town of Panruti is nearly 15 miles away, which can be conveniently visited by railway train on main line. A straight road goes to THIRUVADIKAI, an ancient suberb of the city of Pataliputra, nearly 1½ mile from the town of Panruti. This is a small village now a days having a most ancient temple, which originally belonged to Jain Religion. The temple is famous by the name "GUNADHAR ECCHARAM" which might have been worshipped by a great Jain Acharya GUNADHARA or GUNABHADRA; or the idol in the temple might have been installed by him; or the temple might have been built at his instance. Besides it, can not give a sound interpretation by calling so. The temple is under utter ruins. In the Mulagraham there is Siva Lingam of a very large size, made of black granite with shining polish and Shalunka the Yonipitham below it is very beautifully and artistically carved. There is also a Visnu image in sabhamandapam nearly 5½ ft. high. The original Jain Tirthankar idol which was in the Mulagraham of the temple, on the main Vedisthanam, has been thrown away and placed just out side the temple, under the Neem tree by the side of the main-road. The image is nearly 3½ ft. high in Padamasan posture. Its original pedastal and upper portion of the head and face has been damaged badly. There is no inscription and Lanchanam on the pedestal of the image, but from the artitecture it can be assigned to the Pallava time.[11]

---

10. Tamil "Periya Puranam", "Sthal Puranam", and "Thevaram Rhims"
11. South Arcot District Gazettier of the Madras Government.

At a distance of few furlongs there is a big temple named "VIRATESWARAM". It has a very lofty Gopuram in the rampart walls, inside there is a little tank and further there is main Temple of Sri Virateswaram. In the compound premises there is one JAIN IMAGE in Padamasan posture without any Lanchanam and inscription on the pedestal, nearly as large as the JAIN IMAGE of the "GUNADHAR VICCHARAM" temple and of the same type but not mutilated or damaged or obliterated, but in good condition from all points of view. This is the same temple where a famous saint Appar was converted from his original religion to Saiva Sect.[12] In fact this Appar who was Jain by birth became Jain Muni and was named as "DHARMASENACHARYA", but he was very badly displeased with, due to the difference of opinion amongst the Jain Sangha, to whom he was leading as a head of it, while he was on the way to visit Jain Thirthakhetra-holy place named, "THIRUNA-RUNKUNRAM or THIRUNARUNGONDAI" on the banks of the river Gadilam, only 40 miles from Pataliputra from where he had started. He returned back from the middle of his way, to this Sri Virateswaram Temple and got converted himself and accepted the new sect Saivism. Afterwards he converted the said Virateswaram temple which was originally Sri Mahavir temple. This Jain Mahavir temple was in the Western part of the city of Pataliputra the then known and famous "THIRUPADRIPULIYUR—Thiruppapuliyur, which is now a days 25 miles away from the present town of Cuddalore on the main spot of ancient city of Pataliputra; in the above mentioned small ancient suberb-village THIRUVADIKAI or THIRUVADI, on the river Gadilam, the same which flows at present too near Cuddalore and it must be noted that all above refered ancient suberbs are on the banks of the river GADILAM itself.

In support of the above investigation of the old sites of ancient city of PATALIPUTRA, let us examine some of the ancient Tamil and other works. They throw light on the existence of the city of Pataliputra in Tamilnadu in the days of Acharya Samant-Bhadra. It is well known fact that the city of Kacchipuram was the capital of

12. Tamil "PERIYA PURANAM" and "TEVARAM RHIMES" sung by Tamil Saints.

Pallava Kings, who ruled over the country of Thondaimandalam and the Telagu country upto the river Krishna. The country between two "PINARAS" was called THONDAYAMANDALAM or THONDAINADU. The Present North Arcot Dist of the Madras Presidency, was called the Sourthern "PINAR" and the part of the Nellore District and the Eastern Ghats were called the Southern "PINAR". This conntry was divided into so many "NADUS" and each "NADU" in many "KOTTAMS". This was the land which produced many great men and personalities, such as Pandits, Scholars, Munis, Yatis, Logicions, Philosophers, administraters, Naiyaiks, Vedantis and verious religions and sects that existed in the country.[13] Almost the whole Tamil literature is full of work of merit in literary field and civic life of the country—THONDAYA-MANDALAM and thus Kanchipuram was one of the big centre of learning in the north of the country, with PATALIPUTRA in the centre and Madura in the sourthern part of the TAMILANADU.[14]

It is quite clear from the Tamil works[15] that Pataliputra as was a very large and flurishing city, equally famous as the Pataliputra the capital of Magadha, in the times of Chandragupta Maurya. The city was spread far and wide, nearly 15 miles. This ancient Pataliputra is mostly described in almost all the Tamil works and literature as the city of "THIRUPADARIPULIYUR"—Thiruppa-puliyur. Now let us see how for Thiruppapuliyur means a city of Pataliputra. The city was called after a tree 'PADARI" in Tamil, while Puliyur means a tiger village (i. e. Puli-a tiger and Ur or Or-a place) Puliyur is the suffix given to those places-villages, towns, cities etc, where Muni Vyagrapad (Muni having a tiger like legs with lower body and above a human body) worshipped Siva Lingam under the tree "PADARI". The pecularity of this tree PADARI is said that it bears only flowers and no fruits, the leaves and flowers have got the value of disinfecting and hence it is used in Homas of the Saivaits, as combination of Vibhuties, i. e. sacred ashes. The

13. Rao Bahadur Prof: A. Chakravarti, M. A. Madras,—his Historical Preface to "THIRUVALLUVAR KURAL" translated in English.

14. South Arcot District Gazettier of Madras Province.

15. Tamil "Patalipur Puranam" manuscript No. 1136/5.

16. Tamil "Puliyur Puranam" in Sanskrit language.

tree Padari is also called as PADALI or PATALI in Sanskrit and **the place as "PATALIPUR or PATALIPUTRA** and the forest **round about the place is called "PATALIVANA."** or as given in **Sanskrit. Such type of discription has been found** in almost all the Tamil works and literatures.[17(A)]

Also we learn from Poranas[17(B)] in Tamil and other works, very fine description of this Pataliputra, written at different times by the different writers. While giving account of Patalivanam, which was round about the city of Pataliputra in those days, through which the famous river GADILAM was flowing near the city, it is said that the Patalivanam was the abode of the Great Munis and Yatis, Rishis, for centuries. We get even today a great number of Samadhisthanams or the NISHADHIS of the ancient times with the prehistorical burial grounds spread throughout the PATALIVANAM area.[18]

The existence of the city of Pataliputra is also supported by the Archiaeological finds such as inscriptions and other material found in excavation made by the Government Amongst which are found two inscriptions from the ruined ancient temples at Pataliputra Out of which one was in the Garbhagraham of the said temple. This inscription gives two stanzas about the description of the temple, which begins with "TALAITYA THIRUPADARIPULIYUR......" and states that the temple in the town of Patali of thick foliage has been founded for the diety named "KADAINYALAI MAHADEVA" etc. Thus it is clear that "THIRU" in Tamil meens "SRI" in Sanskrit; 'Puli' in Tamil means a form of tiger like and Ur in Tamil means a "PURA" in Sanskrit. In short it gives complete reference to the existence of the ancient Pataliputra.[19]

---

17. (a) Tamil "Parijatakachal Mahatam" Mass No. 11303.

(b) Tamil "Kanchi Puranam" all manuscripts from the Maharaja Sarafoji Bhonsala Sarasvati Mahal Library at Tanjore City, South India.

18. Tamil work "Thirupadaripuliyur-Kalambakam", a work verified Structive Directory by Mr. Tukapiat Tewar.

19. Tamil "Periyapuranam" part II page 52 under the heading as "Tirupuliyur" and "Tirupuriyuratam" or "Tiruviuttam", both manuscripts in the above Tanjore Library.

Even the Government records also give us the information that throw sufficient light over the existence of the ancient Pataliputra in South India, as described up till now in the above paras. It says thus" In Cuddalore which is the old THIRUPADARIPULIYUR, there is the big temple honoured by the songs of Siva Saints. There is the CHOLA inscription in the temple. It appears that during the times of Appar, the JAIN TEMPLE in this place was dimolished and a Temple of Siva called "GUNAPATISWARAM" was built by Mahendravarman[20] at THIRUVADIHAI, on the river Gadilam. Further we get reference in the publications that Pataliputra was being called also as "PALIBOTRA"[21] which was destroyed by the river that was flowing by, near the town in the middle of the 8th century A. D. Besides the distruction made by the nature-river etc. of the old city of Pataliputra, it was more the scene of dreadful and tremendous distruction made by the Kind Mahendravarman I of Madura and Saint Appar, the new converts to Saiva Sect, and jointly began to give such a crushing blow to Jain religion that it was absolutely rooted out from the land of Tamil, by converting the Jains and their associations and possessions and ultimate result was no ancient Jain temples-Bastis or Pallis, Mathas-monastaris, Chaityas, Caves, Caverns, Holy places, Jain Idols and images carved on the Jain temple pillars, Mahamandapams, etc, remained safe but completely distroyed, which can be seen by any layman with his nacked eyes clearly, even this day bright light. It is said that thousands of Jains had to sacrifice to save their most valuable religion with all its possessions and associations from the hands of these new converts.

In the vicinity of this ancient Pataliputra there are good many ancient Jain places still in existence, such as Thirunarunkundram, Thirukkoilur, Devanur, Tondur, Perumdur, etc. In some of the villages round about them there are many ancient Jain Samadhi-sthanam NISHADHIS and as such a tradition is that nearly 6000

20. "District History of South Arcot" by Mr. P. V. Jagadisha Ayya of the Archaeological Survey of India, page No. 35.

21. (a) Mr. Apte's Dictionary page 1046 and "Clasical Account of India.

(b) The Geographical Dictionary of Ancient and Medival India by Mr. Nundalal Day, M.A.B.L.

MUNIS Samadhisthanams or Nishadhis are at THIRUVANNA-MALAI and THIRUKKOILUR, in South Arcot District. No doubt that there are prehistorical burial grounds spread all over the part in great number as compared to any other place in Tamilnadu. There are also ancient natural caverns and caves still in delapidated conditions at KALARAYAN HILLS This district specially was a great centre of the Jain and their religion quite at zenith from the very begining of the Christian Era, upto the times of King Mahendra-varman I (6th Cent. A. D.)[22]

From the above discussion the following facts are clear :—

(1) Pataliputra—the present Patna was at zenith and important place in the 2nd century A. D. when Acharya Samantabhadra is said to have lived. (2) Acharya Samantabhadra might have visited Pataliputra in Tamil land the ancient Thondaimandalam-South India, which is associated with other cities when Jain Religion and culture has attended the highest degree of importance

Therefore I have made an attempt to show in my humble way, I have nothing to say about other scholars who also must have based their ideas about Pataliputra-Patna, on some other records. I have given this only with a view that the scholars may again try to find the truth in the light of observations made by me on the subjeet matter.

---

22. (a) Gazettier of the South Arcot District and archaeological reports of the Southern circle, Survey Office, Madras.

(b) Rao Bahadur Prof: A Chakravarti M. A.—preface to "Thiruvalluvar Kural" English Translation.